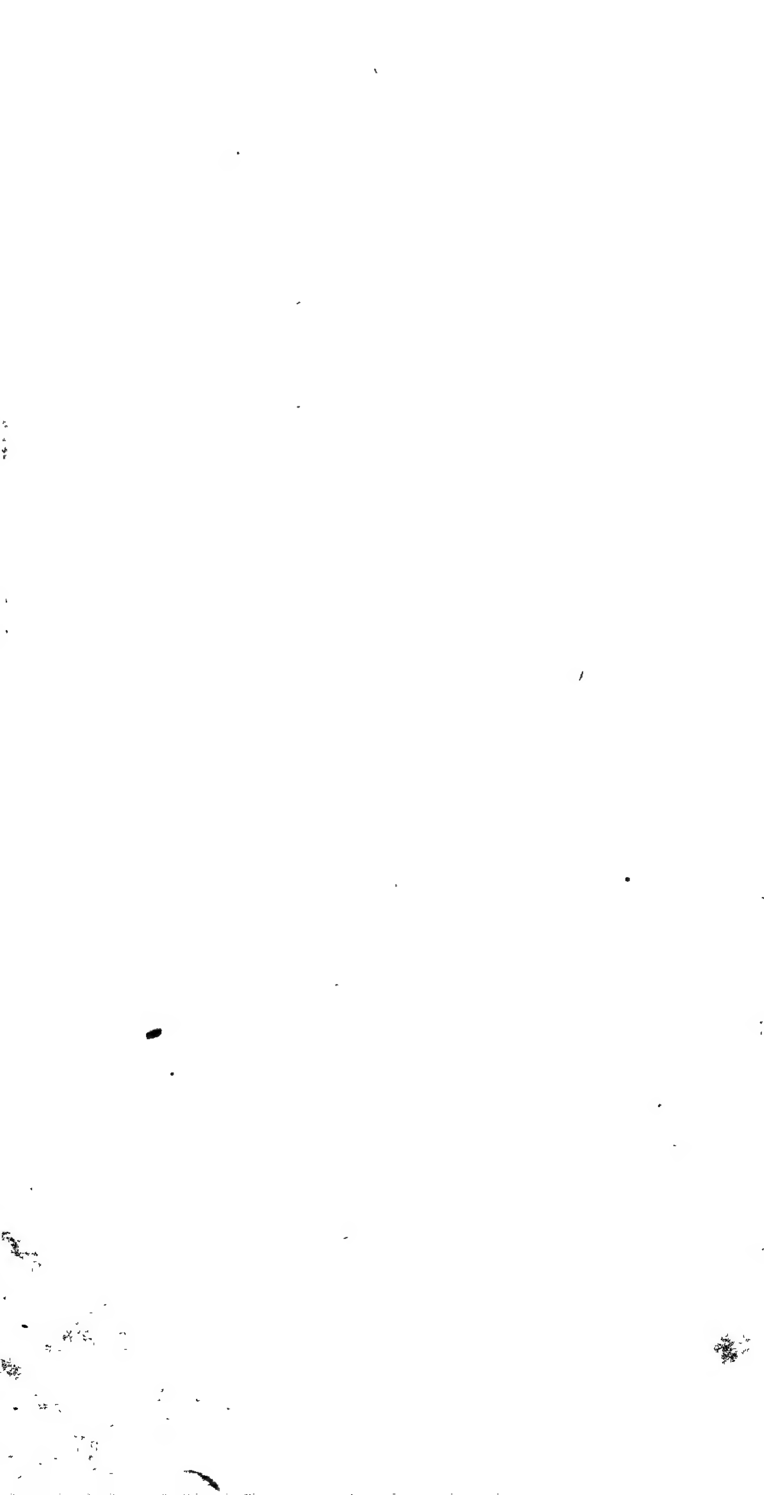




योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त



लेखक

भीखनलाल आत्रेय, एम. ए., डी. लिट्.,
प्रोफेसर ऑफ फिलॉसोफी
(दर्शनाध्यापक)
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस



तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस

१९५७

प्रकाशक—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
बनारस।

मुद्रक—
रामेश्वर पाठक
तारा यन्त्रालय, बनारस।

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त का प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र ही समाप्त हो गया था। पाठकों ने इस पुस्तक का आशातीत आदर किया। उनमें से बहुतों को इसके द्वारा जीवन में सान्त्वना और शान्ति मिली। ग्रंथ के कहीं से भी प्राप्य न होने पर लेखक के पास पत्र पर पत्र आने लगे। किन्तु अनेक कारणों से इसका दूसरा संस्करण नहीं निकल पाया। तारा प्रिन्टिंग प्रेस (वाराणसी) के श्री रमाशंकर पण्ड्या के सहयोग से यह पुस्तक अब पुनः पाठकों के सामने उपस्थित है। इसके पुनःप्रकाशन में जो अत्यन्त विलम्ब हुआ उसके लिये लेखक क्षमा चाहता है।

आत्रेय निवास
गंगा दशहरा
सं० २०१४



भीखनलाल आत्रेय

भारतीय धर्म और दर्शन के परम भक्त

सेठ जुगल किशोर बिड़ला के

करकमलोंमें

सादर समर्पित

एतच्छास्त्रघनाभ्यासात्पौनःपुन्येन वीक्षणात् ।
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी ॥ १ ॥
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ।
जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते ॥ २ ॥
(योगवासिष्ठ २।१८।३६,८ ; ३।८।१३, १५)

इस शास्त्रके बार बार पढ़नेसे और इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंको भलीभाँति व्यवहारमें लानेसे मनुष्यमें महान् गुणोंवाली नागरिकताका उदय होता है। इस ग्रन्थके श्रवणसे बुद्धिमें परम ज्ञानका उदय हो जाता है और जीवन्मुक्तिका अनुभव होने लगता है।

लेखककी अन्य पुस्तकें

—:*:—

1. The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
2. Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy
3. Yogavāsiṣṭha and Modern Thought
4. Vasiṣṭhadarṣanam (Sanskrit, with an Introduction in English)
5. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृतभूमिकासहितम्)
6. वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी)
7. An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
8. Deification of Man
9. Self-realization
10. The Elements of Indian Logic
11. वासिष्ठयोगः (संस्कृत)
12. श्रीशङ्कराचार्यका मायावाद
13. The Place of the Screen in Schools
14. Yogavāsiṣṭha and Some of the Minor Upanishads
15. Address on Jainism
16. Notes on Human Physiology
17. Philosophy and Theosophy
18. Spiritual and moral foundations of Peace
19. The Spirit of Indian culture
20. An Introduction to Para-psychology
21. Practical Vedanta—the Philosophy of Swami Ram Tirtha.

Available at

प्रस्तावना

परमात्माका अनेक बार धन्यवाद है कि लेखक आज पाठकोंके सामने "योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त" नामक पुस्तक को रखनेका सौभाग्य प्राप्त कर रहा है। योगवासिष्ठ महारामायण संस्कृत साहित्य में एक अद्भुत, महान्, और अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। जिस जिसने इस महाग्रन्थका विचारपूर्वक अध्ययन किया है उसीने इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इस परम पावन ज्ञान-गङ्गासे लेखकके इस जन्मका प्रथम परिचय ११ वर्षकी आयु-में पतितपावनी श्रीजाह्नवी के तटपर स्थित परम पुण्य स्थान हरि-द्वारमें एक मित्र के घरपर हुआ था। तभी से अबतक बराबर किसी न किसी रूपमें लेखक इस ग्रन्थरत्नका अनुशीलन करता चला आ रहा है। इसके अति उच्च और गहन दार्शनिक विचारोंकी ओर ध्यान देते हुए लेखकको सदा ही इस बातका बड़ा आश्चर्य रहा है कि इतने उत्तम ग्रन्थ के सम्बन्धमें अभी तक क्यों किसी आधुनिक वैज्ञानिक-समालोचना-निष्णात भारतीय दर्शनके व्याख्याता भारतीय अथवा पाश्चात्य पण्डितने अंग्रेजी या जर्मन भाषामें कोई पुस्तक नहीं लिखी—जबकि इसकी अपेक्षा बहुत क्षुद्र ग्रन्थों तककी व्याख्याएँ और समालोचनाएँ लिखी जा चुकी हैं। भारतीय दर्शनके सम्बन्धमें लिखनेवाले अधिकतर बड़े बड़े विद्वानोंने योगवासिष्ठका नाम तक भी अपने ग्रन्थोंमें कुछ दिन पहिले तक नहीं लिया था। सन् १९२३ में एम. ए. की परीक्षा पास करके, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें सहा-यक दर्शनाध्यापकके पदपर नियुक्त होते ही, लेखकने यथा अवकाश योगवासिष्ठका नियमित और विचारपूर्वक अध्ययन आरम्भ किया, और इस ग्रन्थके सम्बन्धमें आधुनिक रीतिसे अंग्रेजी भाषामें कुछ लिखनेका

प्रबन्धकोंके सामने लेखककी प्रकाशित पुस्तकोंकी बहुत प्रशंसा की, और उनसे उसकी बृहत् पुस्तकके प्रकाशित करनेका सफल अनुरोध किया। वहाँ के मैनेजर महोदयने तुरन्त ही लेखकसे उस पुस्तककी हस्तलिखित प्रति मँगाई, और पुस्तकको प्रकाशित करनेकी स्वीकृति एक सप्ताहके भीतर ही भेज दी। लेखक श्री सुब्बराव साहबकी इस कृपाका जन्म-भर ऋणी रहेगा। थियोसोफिकल पब्लिशिङ्ग हाउसका भी लेखक सदाके लिये कृतज्ञ है, क्योंकि उसके मैनेजर महोदयने इस बृहत् पुस्तकके छपवाने और प्रकाशित करानेमें विशेष कष्ट उठाया है, और इसको बहुत सुन्दर और शुद्ध रूपमें निकालनेका प्रयत्न किया है। दिसम्बर सन् १९३६ में यह बृहत् ग्रन्थ "दी फिलॉसोफी ऑफ दी योगवासिष्ठ" (The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha) नामसे प्रकाशित हुआ। पृथ्वी-मण्डलके प्रायः सबही सभ्य देशोंमें इसको आशातीत सम्मान मिल रहा है। विद्वानों, समालोचकों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी दिल खोल कर प्रशंसा की है। इसके लिये वे सब लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। इस पुस्तक के अनेक पाठकोंके पाससे लेखक के पास जो समय समयपर चिट्ठियाँ आती रहती हैं, उनसे ज्ञात होता है कि योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंसे कुछ लोगोंके संतप्त चित्तको बहुत शान्ति मिली है*। अंग्रेजी पुस्तक "The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha" के साथ साथ ही गवर्नमेण्ट कालेज बनारसके भूतपूर्व प्रिंसिपल विद्वच्छिरोमणि पं० गोपीनाथ कविराज जीकी कृपासे लेखककी संस्कृत

---

*बहुत सी ऐसी चिट्ठियोंमें से केवल एकको ही जैसीकी तैसी (अंग्रेजी भाषामें) पाठकोंके सामने प्रस्तुतकर देना यहाँपर अनुचित नहीं जान पड़ता :—

"Dear Dr. Atreya,

Allow me a stranger to address you and to express deep obligations that I owe you for writing such a splendid book, "The Philosophy of the Yogavasistha." I read a large number of theosophical books, and also Krishnamurti, Trine Marden, James Allen, Buddhism, a number of Commentaries on the Bhagwadgita and Upanishads etc., but nowhere I got satisfy

पुस्तक "श्रीवासिष्ठदर्शनम्" नामक भी यू० पी० गवर्नमेण्टकी "प्रिन्सेस ऑफ़ वेल्स टेक्स्ट्स" मालामें प्रकाशित हो गई। इस कृपाके लिये लेखक कविराज जी का बहुत कृतज्ञ है।

राष्ट्र-भाषा हिन्दीमें भी योगवासिष्ठ पर एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित करनेकी अभिलाषा लेखकके मनमें बहुत दिनोंसे थी, लेकिन अन्य कार्योंकी अधिकतासे अवकाश न मिलनेके कारण यह अभिलाषा बहुत दिनों तक पूरी न हो सकी। प्रस्तुत पुस्तकके आरम्भ होनेका सबसे अधिक श्रेय काशीके पत्र "सनातनधर्म" के सहकारी सम्पादक पण्डित गया प्रसाद ज्योतिषी जीको है। उनके अनुरोधसे ही यह पुस्तक "सनातनधर्म" में एक लेखमालाके रूपमें १ मार्च सन् १९३४ को आरम्भ हुई थी। कुछ दिनों तक तो यह लेखमाला चलती रही, किन्तु फिर अवकाशके अभावसे बन्द हो गई। उस मालामें जितने लेख छपे थे वे ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी की कृपासे साथ साथ पुस्तका-कारमें भी छप गये थे। लेखमाला स्थगित होनेसे पुस्तक भी स्थगित हो गई। इस बीचमें सनातनधर्मका टाइप भी बदल गया। पुस्तक कब प्रकाशित होगी इस सम्बन्धमें अनेक चिट्ठियाँ आनेसे, और श्रीमती आत्रेयके पुस्तकको पूरा कर देनेके बारबारके अनुरोधसे, जब जितना

---

and peace. I am now 47 years of age and have struggled through many crises in life. But your book has given me a new insight of life and I have found peace, solace and rest which I could not succeed in getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. Yogavasistha in original was in itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling Your book has cleared up everything and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude. May I make one request ? Will you bring out a Hindi Edition of the book for the understanding of those who do not know English ? It is clear that it was the teaching of Yogavasistha which made India so great. We are now fallen because we have quite forgotten it. May this book of yours infuse a new life into the decaying nerves of India ! Every step should be taken to popularise this teaching. Kindly excuse me for writing this letter. Yours truly,

........................"

अवकाश मिला उतना ही अंश इस पुस्तकका लिख कर छपवाया गया। इस रीतिसे आज इस पुस्तकका प्रथम भाग समाप्त हो पाया है। पहिले तो विचार यही था कि पूरा ग्रन्थ एक ही जिल्दमें छपे। लेकिन इस विचारसे कि ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाएगा, इसको दो भागोंमें विभक्त कर दिया है। प्रथम भाग पाठकों के सामने है। दूसरे भागमें योग-वासिष्ठका तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन होगा। सारी पुस्तक एक साथ न लिखे जाने और छपनेके कारण इस पुस्तकमें शैली, क्रम और व्याख्याके कुछ दोषोंका आ जाना स्वाभाविक ही है। आशा है कि पाठक और समालोचक उनके लिये लेखकको क्षमा करेंगे। इस पुस्तकमें लेखकने योगवासिष्ठके संस्कृत श्लोकोंका अक्षरशः हिन्दी अनुवाद करनेका साहस नहीं किया; पर जहाँतक हो सका है योगवासिष्ठके भावोंको ही हिन्दुस्तानी भाषामें पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया है। श्लोकोंके अनुवादके साथ यदि लेखकने अपनी ओरसे कोई बात लिखी है, तो उसको कोष्ठोंके भीतर लिखा है। श्लोकोंके आगेवाले कोष्ठोंके भीतर निर्णयसागरप्रेस बम्बईसे प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ योगवासिष्ठके प्रकरण, सर्ग, और श्लोकोंके अङ्क दिये गये हैं, ताकि पाठकोंको यह ज्ञात हो जाए कि अमुक श्लोक मूलग्रन्थमें किस स्थानपर है।

इस पुस्तककी अनुक्रमणिकाके बनानेमें लेखकके प्रिय शिष्य और मित्र, श्री श्यामसुन्दर खत्री "सुन्दर" और उनकी सुयोग्य बहिन कुमारी सावित्रीने सहायता दी है। इसके लिये वे दोनों लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। पुस्तकके इस समय समाप्त हो जानेका बहुत सा श्रेय लेखककी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी आत्रेयको है, इसलिये लेखक उनको भी धन्यवाद देकर इस प्रस्तावनाको समाप्त करता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
विजयदशमी
सम्वत् १९९४ वि०

भी० ला० आत्रेय

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त



विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

परिच्छेद १

योगवासिष्ठ का भारतीय दार्शनिक साहित्य में स्थान

श्री योगवासिष्ठ संस्कृत भाषा का एक बृहत् ग्रन्थ है जो योगवासिष्ठ महारामायण, महारामायण, आर्षरामायण, वासिष्ठरामायण, ज्ञानवासिष्ठ और वासिष्ठ आदि नामों से भी ज्ञात है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका पाठ, मूल तथा भाषानुवाद में, बहुत काल से होता चला आ रहा है। जो महत्त्व भगवद्भक्तों के लिए श्रीमद्भागवत और श्रीरामचरितमानस का, और कर्मयोगियों के लिये श्रीमद्भगवद्गीता का है, वही महत्त्व ज्ञानियों के लिये श्री योगवासिष्ठ का है। सहस्रों स्त्री-पुरुष—राजा से लेकर रङ्क तक—इस विचित्र ग्रन्थ के अध्ययन से अपने जीवन में आनन्द और शान्ति प्राप्त करते हैं। प्रायः सब ही प्रकार के पाठकों के अनुमोद के लिये इस ग्रन्थ में सामग्री प्रस्तुत है। जहाँ अबोध बालक भी इसकी कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं, वहाँ बड़े बड़े विद्वानों की समझ से बाहर की उलझनों और गहनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन है। हमारी समझ में तो यह ग्रंथ महान् और विशाल हिमाचल के सदृश है। पृथ्वी तल पर स्थित होने से प्रायः सभी लोगों की पहुँच हिमालय तक है, लेकिन विरले ही साहसी और पुरुषार्थी खोजक उसके उत्तुङ्ग शृङ्गों को स्पर्श करते हैं। यही हाल योगवासिष्ठ का है। यह ऐसा अद्भुत ग्रंथ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन, सभी का आनन्द वर्तमान है। भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम कृतियों में से यह ग्रंथ एक है। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने और ब्रह्म भाव में स्थित रह कर संसार में व्यवहार करने के निमित्त इस ग्रंथ का पाठ, मनन और निदिध्यासन सर्वोत्तम साधन है।

ऐसा मत केवल हमारा ही नहीं है, वरन् उन सब महापुरुषों

का है जिन्होंने इस ग्रन्थ का अमृतरस पान किया है। आधुनिक समय के परमहंस ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी रामतीर्थजी महाराज ने अमेरिका में अपने एक व्याख्यान "भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता" में योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में कहा है, "भारत की सर्वोत्तम पुस्तकों में से एक—और मेरे मतानुसार तो संसार की सभी पुस्तकों से अद्भुततम पुस्तक—योगवासिष्ठ है। यह असम्भव है कि कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन कर ले और उसको ब्रह्मभावना न हो और वह सबके साथ एकता का अनुभव न करे" (इन दी वुड्स ऑफ गॉड-रिअलाइजेशन, वॉल्यूम ७, पञ्चम संस्करण १६३२, पृ० ६५)। काशी के जगद्विख्यात विद्वान् श्री डाक्टर भगवान्दास जी योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक (मिस्टिक एक्सपीरिएन्सेज़) की भूमिका में लिखते हैं—"संस्कृत के ग्रन्थ योगवासिष्ठ का—जिसमें कि ३२ सहस्र श्लोक हैं—भारतीय वेदान्तियों में, इसके दार्शनिक सिद्धान्त, आत्मानुभवप्राप्ति के साधनों तथा इसके साहित्यिक सौन्दर्य और काव्यमय होने के कारण बहुत ही आदर है। वेदान्तियों में तो यह उक्ति प्रचलित है कि यह ग्रंथ सिद्धावस्थामें अध्ययन करने के योग्य है और दूसरे ग्रन्थ भगवद्गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र साधनावस्था में अध्ययन किए जाने योग्य हैं।" योगवासिष्ठ के भाषानुवाद की भूमिका में, ब्रह्माभ्यासियों में प्रसिद्ध स्व० लाला बैजनाथ जी ने लिखा है—"वेदान्त में कोई ग्रन्थ ऐसा विस्तृत और अद्वैत सिद्धान्त को इतने आख्यानों और दृष्टान्तों और युक्तियों से ऐसा दृढ़ प्रतिपादन करनेवाला आजतक नहीं लिखा गया, इस विषय में सभी सहमत हैं कि इस एक ग्रन्थ के विचार से ही कैसा ही विषयासक्त और संसार में मग्न पुरुष हो वह भी वैराग्य-सम्पन्न होकर क्रमशः आत्मपथ में विश्रान्ति पाता है। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आई है कि इस ग्रन्थ के सम्यक् विचार करनेवाले यथेच्छाचारी होने के स्थान में अपने कार्य को लोकोपकारार्थ, उसी दृष्टि से कि जिस दृष्टि से श्री रामचन्द्रजी करते थे, करते हुए उनकी नाईं स्व-स्वरूप में सदा जागते हैं।" (योगवासिष्ठ महारामायण—भाषानुवाद समेत—भाग २, भूमिका, पृ० ७)

"वह वेदान्त के सब ग्रंथों में शिरोमणि है और कोई मुमुक्षु उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता" (यो०प०, भा०, भाग १, भूमिका, पृ० ७)। पंजाब के वर्तमान ब्रह्मनिष्ठ उर्दू कवि मुन्शी सूर्यनारायण 'महर' ने लघु योगवासिष्ठ के अपने उर्दू अनुवाद की भूमिका में लिखा है—"जो योगवासिष्ठ पढ़ता है वह जरूर ही ज्ञानी हो जाता है"। (योग-वासिष्ठसार (उर्दू) पृष्ठ ६)।

योगवासिष्ठ का लेखक—वह चाहे जो कोई हो—स्वयं अपने ग्रंथ के महत्त्व को अच्छी तरह जानता था। स्वयं वह कहता है, और ठीक ही कहता है:—

> शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
> काव्य रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम् ॥१॥ (२।१८।३३)
> अस्मिन्श्रुते मते ज्ञाते तपोध्यानजपादिकम्।
> मोक्षप्राप्तौ नरस्येह न किंचिदुपयुज्यते ॥२॥ (२।१८।३५)
> सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः। (२।१०।६)
> सुखदुस्त्क्षयकरं महानन्दैककारणम् ॥३॥ (२।१०।७)
> य इदं शृणुयान्नित्यं तस्योदारचमत्कृतेः।
> बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ॥४॥ (३।८।१३)

अर्थात्—यह शास्त्र सुबोध है। अलङ्कारों से विभूषित है। सुंदर और रसपूर्ण काव्य है। और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं ॥१॥ मोक्ष प्राप्ति के लिए इस ग्रंथ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लेने पर तप, ध्यान और जप आदि किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती ॥२॥ यह ग्रंथ सब दुःखों का क्षय करने वाला, बुद्धि को अत्यन्त आश्वासन देने वाला, और महा आनन्द प्राप्ति का एकमात्र साधन है ॥३॥ जो इसको नित्य श्रवण करता है उस प्रकाशमयी बुद्धि वाले को बोध से भी परे का बोध हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥४॥

वेदान्त के प्रायः सभी मध्यकालीन लेखकों के ऊपर इस ग्रंथ का किसी न किसी रूप से प्रभाव पड़ा है। योगवासिष्ठ के साथ साथ यदि भर्तृहरि के **वैराग्यशतक** और **वाक्यपदीय**, गौड़पादाचार्य की **माण्डूक्यकारिका**, श्री शंकराचार्य की **विवेकचूडामणि**,

आत्मबोध, स्वात्मनिरूपण, शतश्लोकी तथा **अपरोक्षानुभूति** और सुरेश्वराचार्य के **मानसोल्लास** का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो भलीभाँति ज्ञात हो जायगा कि अद्वैत वेदान्त के मध्य कालीन आचार्यगण योगवासिष्ठ के कितने ऋणी हैं (इस विषय का प्रतिपादन आगे किया जायगा। नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही—जब कि श्री शंकराचार्य वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का पुनरुद्धार करने में सफल हो चुके थे—इस वृहत् ग्रन्थ का एक संक्षेप—लघु **योगवासिष्ठ** नामक—लगभग ६००० श्लोकों में, कश्मीर के पण्डित अभिनन्दन गौड़ द्वारा किया गया (**टर्निट्ज़-गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर** वॉ. ३, पृ. ४४३)। उस समय से योग वासिष्ठ का—जो कि पहले वृहत् होने के कारण कठिनता से उपलब्ध होता था—खूब प्रचार हो गया। वेदान्त के प्रसिद्ध लेखक विद्यारण्य स्वामी के **जीवन्मुक्तिविवेक** और **पंचदशी**, नारायण भट्ट के **भक्ति-सागर**, प्रकाशात्मा की **वेदान्तसिधान्तमुक्तावली**, और **शिवसंहिता**, **हठ-योगप्रदीपिका** तथा **रामगीता** इत्यादि ग्रंथों में योगवासिष्ठ की उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। केवल **जीवन्मुक्ति विवेक** में ही योगवासिष्ठ के २५३ श्लोक उद्धृत हैं।

केवक इतना ही नहीं, गहरी खोज करने पर लेखक को यह भी पता चला है कि १०८ प्रसिद्ध उपनिषदों में से कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जो कि—सब के सब अथवा जिनके कुछ (प्रधान) भाग—योगवासिष्ठ में से चुने हुए श्लोकों से ही बने हैं, अथवा जिनमें कहीं कहीं पर योगवासिष्ठ के श्लोक भी पाए जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में हस्तलिखित पुस्तकें होने से योगवासिष्ठ जैसा बड़ा ग्रंथ आसानी से उपलब्ध न होने के कारण, लोगों ने इसमें से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार श्लोकों को छाँट कर उनका संग्रह करके उसका नाम उपनिषत् रख लिया। लेखक के अनुसार निम्नलिखित उपनिषदों में योगवासिष्ठ के श्लोक पाए जाते हैं (देखिए **सरस्वतीभवन स्टडीज़** १९३२ में हमारा लेख "योगवासिष्ठ और कुछ उपनिषद्")।

१ महा उपनिषद्—केवल पहिला, छोटासा भूमिकामय अध्याय छोड़ कर सारा उपनिषद् योगवासिष्ठ के ही (५१० के लगभग) श्लोकों से बना है।

२ अन्नपूर्णा उपनिषद्—सम्पूर्ण। (आरम्भ के १७ श्लोक छोड़ कर)

३ अक्षि उपनिषद्—सम्पूर्ण।

४ मुक्तिकोपनिषद्—दूसरा अध्याय जो कि मुख्य अध्याय है।

५ वराह उपनिषद्—चौथा अध्याय।

६ बृहत्संन्यासोपनिषद्—५० श्लोक।

७ शांडिल्य उपनिषद्—१८ श्लोक।

८ याज्ञवल्क्य उपनिषद्—१० श्लोक।

९ योगकुण्डली उपनिषद्—३ श्लोक।

१० पैङ्गल उपनिषद्—१ श्लोक।

इनके अतिरिक्त दूसरे कुछ ऐसे उपनिषद् भी हैं जिनमें योगवासिष्ठ के श्लोक तो अक्षरशः नहीं पाये जाते लेकिन योगवासिष्ठ के सिद्धान्त अवश्य ही मिलते हैं। अभी तक यह कहना कठिन है कि ये योगवासिष्ठ के पहिले के हैं अथवा पीछे के। वे ये हैं :—

१ जाबाल उपनिषद्—समाधिखण्ड।

२ योगशिखोपनिषद्—१।२४-२७; १।५६, ६०; ४ (समस्त) ६।५८, ५६-६४।

३ तेजोबिन्दूपनिषद्—समस्त।

४ त्रिपुरतापिनी उपनिषद्—उपनिषद् ५, श्लोक १-१६।

५ सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्—द्वितीयखण्ड, श्लोक १२-१६।

६ मैत्रायण्युपनिषद्—प्रपाठक ४, श्लोक १—११।

७ अमृतबिन्दूपनिषद्—श्लोक १—५।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन में योगवासिष्ठ का बहुत ऊँचा स्थान है और भारतीय दर्शन के इतिहास

में इसका महत्त्व उपनिषद् और भगवद्गीता से किसी प्रकार कम नहीं वरन् अधिक ही रहा है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतीय दर्शन के आधुनिक विद्वानों का इसकी ओर कम ध्यान गया है। हमारे दर्शन के इतिहास लेखकों ने इसकी अक्षम्य अवहेलना की है। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के **भारतीय दर्शन के इतिहास** के प्रथम भाग में, जहाँ कि इस ग्रन्थ का उच्च स्थान होना चाहिए था, योगवासिष्ठ का नाम तक भी नहीं आया। हर्ष की बात है कि दूसरे भाग में उन्होंने अब इसको स्थान दे दिया है। प्रो० राधाकृष्णन् के **भारतीय दर्शन** में भी योगवासिष्ठ पर कुछ भी नहीं लिखा गया। प्रो० हिरियण्ण की पुस्तक **आउटलाइन ऑफ इण्डियन फिलासोफी** में भी योगवासिष्ठ का नाम तक नहीं आता। प्रो० अभ्यङ्कर ने अपने सम्पादन किए हुए **सर्व दर्शन संग्रह** के अन्त में दी हुई भारत के दर्शन ग्रन्थों की नामावली में भी योगवासिष्ठ का नाम नहीं दिया। यही सबसे बड़ा कारण है कि लेखक को इस विषय में अपनी लेखनी उठानी पड़ी।

यही बात नहीं है कि योगवासिष्ठ की ओर आधुनिक लेखकों का ध्यान नहीं गया, वरन् कुछ लोगों ने इसका जिक्र करते हुए इसके प्रति अपनी विपरीत भावना का भी परिचय दिया है। डा० विण्टर्निज ने अपने 'भारतीय साहित्य के इतिहास', **गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ, ३** के ४४२ पृष्ठ पर लिखा है, "वेदान्त के कुछ ग्रंथों के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि वे दार्शनिक ग्रंथ हैं अथवा धार्मिक (साम्प्रदायिक)। यही बात योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह अधिकतर साम्प्रदायिक ही पुस्तक है।" इसी प्रकार डा० फर्कुहार साहब अपने ग्रन्थ **'एन आउटलाइन ऑफ रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया'** में २२ वें पृष्ठ पर कहते हैं— "**योगवासिष्ठ रामायण** १३ वीं या १४ वीं शताब्दी में लिखी हुई उन पुस्तकों में से है जो कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने के निमित्त लिखी गई थीं, लेकिन यह **अध्यात्मरामायण** की टक्कर की नहीं है।" प्रो०

राधाकृष्णन् साहब को शायद यह मत मान्य है, क्योंकि उन्होंने भी अपने **भारतीय दर्शन (इंडियन फिलॉसोफी)** के दूसरे भाग के ४५२ वें पृष्ठ के फुट नोट में लिखा है—"पीछे लिखे हुए बहुत से उपनिषद्—यथा **महोपनिषद्**—और **योगवासिष्ठ** तथा **अध्यात्म रामायण** जैसे साम्प्रदायिक ग्रंथ भी अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।" ये विचार योगवासिष्ठ के भलीभाँति अध्ययन करने पर काफ़ूर हो जाते हैं। योगवासिष्ठ में किसी प्रकार की भी साम्प्रदायिकता नहीं है। वह सर्वथा एक दार्शनिक ग्रंथ है, किन्तु अन्य दार्शनिक ग्रन्थों की नाईं रूखी और सूत्रमयी भाषा में नहीं लिखा गया, बल्कि इस ग्रन्थ में रसमय काव्य के रूप में उपाख्यानों और दृष्टान्तों द्वारा उच्च से उच्च और गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

यदि इसके गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के अपनाने और मानने के लिये नहीं, तो भी अद्वैत वेदान्त के इतिहास से भलीभाँति परिचित होने के लिए, विद्वानों को इसका अध्ययन करना आवश्यक ही है। क्योंकि लेखक का पूरा विश्वास है (जैसा कि आगे चल कर सिद्ध किया जायगा) कि यह ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य और श्रीगौड़पादाचार्य के पहिले का है। हमारा यह विचार शरवाट्सकी, कीथ, विण्टर्निज और शरेडर आदि यूरोप के पण्डितों ने मान लिया है। जैसा कि शरेडर साहब (कील, जर्मनी) ने हम को एक चिट्ठी में लिखा है, "यदि यह बात प्रायः मान ली गई, तो अवश्य ही इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ जायगा और प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों का ध्यान इसकी ओर अवश्य ही जायगा।" यदि इस लेखमाला से कुछ विद्वानों की रुचि इस अद्भुत ग्रंथ का अमृत पान करने की ओर हो गई तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

परिच्छेद २

योगवासिष्ठ कब लिखा गया होगा

संस्कृत भाषा के अधिकतर ग्रन्थों का लेख-समय निर्धारित करना बहुत ही कठिन काम है क्योंकि लेखकों ने अपने और अपने समय के सम्बन्ध में अपने ग्रंथों में कुछ नहीं लिखा। आजकल के लेखकों की नांई वे लोग अपना नाम विख्यात करना इतना आवश्यक नहीं समझते थे जितना कि अपने ग्रंथ और तद्गत सिद्धान्तों का प्रचार। उनके इस उच्च कोटि के आत्मत्याग से भारत के ऐतिहासिक ज्ञान को अत्यन्त क्षति पहुँची है। इसी कारण से भारत का प्राचीन इतिहास बहुत अन्धकारमय है, और बड़े बड़े विद्वानों का समय और उनकी शक्ति भारत के प्राचीन इतिहास की खोज में व्यय होती है। कितने दुःख की बात है कि हमको महाकवि कालिदास और आचार्य शङ्कर तक के समय का भी निश्चय नहीं है। यही हाल योगवासिष्ठ का भी है। जितना मतभेद इस ग्रंथ के लेखन-समय के सम्बन्ध में है उतना शायद ही और किसी ग्रंथ के सम्बन्ध में होगा। एक ओर तो यह मत प्रचलित है कि यह ग्रन्थ रामायण के रचयिता महर्षि आदि कवि श्री वाल्मीकि जी की कृति है, और दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् समझते हैं कि यह ग्रन्थ १३वीं अथवा १४वीं क्रिष्टीय शताब्दी में लिखा गया होगा। निर्णय सागर प्रेस से जो ग्रन्थ छपा है उसके आरम्भ में लिखा है "श्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिप्रणीतः योगवाशिष्ठः" और प्रत्येक सर्ग के अन्त में "इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु" इत्यादि लिखा रहता है। इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय में जो योगवासिष्ठ की हस्तलिखित प्रतियाँ मौजूद हैं (देखिये एगलिङ्ग की सूची भाग चौथा, पृष्ठ ११२, संख्या २४०७—२४१४) उनमें भी ऐसा ही लिखा हुआ है। लेकिन यदि फर्कुहार साहब का ग्रन्थ रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया पढ़ें तो उसमें यह लिखा हुआ मिलता है कि "योगवासिष्ठ महारामायण उन संस्कृत काव्यों में से है जो १३वीं या १४वीं शताब्दियों में लिखे गये थे" (पृष्ठ २२८)। अब हमको यहाँ पर यथासंभव यह निश्चय करना है कि यह ग्रन्थ कब लिखा गया होगा। प्रथम

हम आधुनिक विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे और पीछे उस मत की जो कि भारत में प्रायः प्रचलित है।

फर्कुहार साहब ने अपने मत के समर्थन में कोई भी युक्ति नहीं दी। किन्तु एक और विद्वान्—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य—ने योगवासिष्ठ के लेखन काल पर मद्रास में हुई दूसरी ओरियेण्टल कान्फरेन्स में एक पाण्डित्यपूर्ण लेख पढ़ा था। उसमें उन्होंने युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया था—"इन सब विचारों से यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ १०—१२वीं शताब्दियों में लिखा गया होगा" (**रिपोर्ट** पृष्ठ ५५४)। हमारी समझ में योगवासिष्ठ इतने पीछे का ग्रन्थ नहीं है क्योंकि :—

(१) विद्यारण्य स्वामी के समय (१४ वीं शताब्दी के पूर्व भाग) तक योगवासिष्ठ काफ़ी प्रसिद्ध और आदरणीय ग्रन्थ हो चुका था। उनके सर्वप्रिय ग्रन्थ **पञ्चदशी** में योगवासिष्ठ से बहुत सी उक्तियाँ हैं और उनका **जीवन्मुक्तिविवेक** ग्रन्थ तो योगवासिष्ठ के आधार पर ही लिखा हुआ है। इसमें योगवासिष्ठ से कम से कम २५२ श्लोक अपने मत-समर्थन के लिये उद्धृत किए गए हैं। प्रो० भट्टाचार्य जी को शायद यह बात मालूम नहीं थी—क्योंकि उन्होंने अपने लेख में लिखा है—"विज्ञान भिक्षु से पहिले का कोई भी दार्शनिक लेखक या भाष्यकार इस ग्रन्थ को प्रमाण ग्रन्थ नहीं समझता मालूम पड़ता है" (**प्रोसिडिङ्ग की रिपोर्ट** पृष्ठ ५४६)। विज्ञान भिक्षु का समय १६ वीं शताब्दी समझा जाता है, लेकिन विद्यारण्य तो १४ वीं शताब्दी ही में माने जाते हैं।

(२) नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही इस बृहत् ग्रन्थ योगवासिष्ठ का कश्मीर देश के पण्डित अभिनन्द गौड़ ने एक सार—**लघु योगवासिष्ठ** अथवा **योगवासिष्ठसार**—लोकोपकारार्थ ६००० श्लोकों में कर दिया था। यह घटना प्रायः सभी विद्वान् जानते हैं। इसका उल्लेख कोनो साहब की **कर्पूरमंजरी** (पृष्ठ १६७), कीथ साहब की बोडलियन पुस्तकालय की **पुस्तकसूची** (नं० ८४०), विण्टर्निज साहब के **भारतीय साहित्य के इतिहास** (जर्मन—**गेशिख्टे डेर**

इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ ३, पृष्ठ ४४४) और हाल साहब की बिब्लियोग्राफी (वेदान्त, नं० १४४) में है। यह ग्रन्थ सन् १८८७ में निर्णय सागर प्रेस से छपा था और बाजार में मिलता है। मालूम पड़ता है कि प्रो० भट्टाचार्य को इस ग्रन्थ की सत्ता का ज्ञान नहीं था क्योंकि वे लिखते हैं—"लघु योगवासिष्ठ अथवा मोक्षोपायसार, जिससे किसी पूर्व ग्रन्थ का होना सिद्ध होता है, एक बंगाली लेखक का लिखा हुआ ६२ श्लोकों का ग्रन्थ है। इस लेखक का नाम अभिनन्द है। लेकिन यह अभिनन्द कश्मीर के प्रसिद्ध गौड अभिनन्द से अतिरिक्त कोई दूसरा ही व्यक्ति है" (प्रोसीडिंग्स्—पृष्ठ ५५३ ,फुटनोट)

डा० विण्टर्निज साहब ने अपने गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर (भारतीय साहित्य का इतिहास) के तीसरे भाग के ४४४ वें पृष्ठ पर योगवासिष्ठ का समय निर्धारण करते हुए लिखा है—"योगवासिष्ठ का एक सार संस्करण—योगवासिष्ठसार नामक—गौड़ अभिनन्द का किया हुआ है। अभिनन्द गौड़ ६वीं शताब्दी के मध्य काल में हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि योगवासिष्ठ इस समय से पुराना है लेकिन शंकराचार्य ने इसका कहीं भी जिक्र नहीं किया। इस लिए योगवासिष्ठ शंकराचार्य के किसी समकालीन लेखक ने लिखा होगा।" यह युक्ति हमको ठीक नहीं मालूम पड़ती। शंकराचार्य का समय आजकल के विद्वानों के अनुसार—जो कि डा० विण्टर्निज को भी मान्य है (गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, भाग ३, पृष्ठ ४३४)—७८८—८२० क्रिष्टीय है, और गौड़ अभिनन्द की बाबत भी यह निश्चित सा ही है कि वह ६वीं शताब्दी के मध्य में हुए हैं (देखिये कोनो की कर्पूरमञ्जरी पृष्ठ १६७)। जरा विचार करना चाहिए कि शंकराचार्य के और गौड़ अभिनन्द के समय में कितना थोड़ा अन्तर है—एक तो ६वीं शताब्दी के प्रथम पाद में और दूसरे उसके मध्य में हुए हैं। यदि विण्टर्निज साहब की बात मान लें तो यह मानना पड़ता है कि इस थोड़े से समय में एक ३२००० श्लोकों

का ग्रन्थ (यद्यपि आजकल इसमें केवल २७६८७ श्लोक ही हैं), जिसमें उत्तम काव्य के बहुत से गुण वर्तमान हैं, इस समय में बन भी गया होगा और उस हस्त लेखन के समय में उसका खूब प्रचार भी हो गया होगा और उसका इतना आदर भी हो गया होगा कि गौड़ अभिनन्द जैसा पंडित उसको अध्ययन करे, और उसको भली-भाँति अध्ययन करके उन्होंने उसका सार भी इसी थोड़े समय के भीतर तैयार करके संसार के समक्ष रख दिया होगा। हमको तो यह सब इतने थोड़े से समय में उस ज़माने में होना नितान्त ही असंभव प्रतीत होता है।

प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने मद्रास ओरियण्टल कान्फ्रेन्स में पढ़े हुए लेख में लिखा है, "योगवासिष्ठ में 'वेदान्तिनः' और 'वेदान्त-वादिनः' से एक सम्प्रदाय का कथन करना इस बात का सूचक है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पहले का नहीं है" (रिपोर्ट पृष्ठ ५५२)। हमारी समझ में केवल 'वेदान्तिनः' अथवा 'वेदान्तवादिनः' शब्दों के योगवासिष्ठ में होने से योगवासिष्ठ का शंकराचार्य से पीछे का होना सिद्ध नहीं होता। 'वेदान्त' शब्द शंकराचार्य के पीछे का नहीं है वरन् बहुत पुराना है। मुण्डक उपनिषद् (३।२।६) और श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।२२) में भी 'वेदान्त' शब्द उपनिषद् के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'वेदान्तिनः' शब्द अवश्य ही शंकर से पहिले भी उस सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा जो उपनिषदों के सिद्धान्तों को अध्ययन करते थे और उनको ही मानते थे। गौडपादाचार्य की—जिनका शंकर से पूर्व होना सिद्ध ही है—माण्डूक्यकारिका (२।३१) के पढ़ने से भी मालूम पड़ता है कि उनसे पूर्व भी अद्वैतवाद को अथवा 'वेदान्त' के सिद्धान्त को प्रतिपादन करनेवाला कोई सम्प्रदाय था। और शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य को पढ़ने से भी यही ज्ञात होता है कि वे किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार ही वेदान्त सिद्धान्तों की व्याख्या कर रहे हैं, अपना वैयक्तिक मत का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं। कोई कारण नहीं है कि वह पूर्ववृत्त सम्प्रदाय तथा वे आचार्य जिनका मत गौडपादाचार्य तथा शङ्कराचार्य ने प्रतिपादन किया है 'वेदान्तिनः' अथवा 'वेदान्तवादिनः' के नाम से

न पुकारे जाते हों या योगवासिष्ठकार ने उनको इन नामों से न पुकारा हो। इसलिये प्रो० भट्टाचार्य की यह युक्ति योगवासिष्ठ के शङ्कराचार्य के पीछे का ग्रन्थ होने को सिद्ध नहीं करती।

योगवासिष्ठ शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ है

१—एक विशेष कारण जिसकी वजह से हमको योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पश्चात् का ग्रन्थ नहीं जान पड़ता, यह है कि योगवासिष्ठ यद्यपि अद्वैत सिद्धान्त और औपनिषद् अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक है,—जिसका प्रतिपादन शङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में किया है—तथापि उसमें उन पारिभाषिक शब्दों का अभाव है जिनका श्री शंकराचार्य ने प्रायः और विशेषतया प्रयोग किया है और जिनका प्रयोग शंकराचार्य के पीछे के सभी अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक लेखकों ने किया है, और जिनका प्रयोग योगवासिष्ठकार भी करता यदि उसको वे शब्द ज्ञात होते। और यदि वह शंकराचार्य के पीछे का लेखक होता तो कोई कारण ही नहीं कि श्री शंकराचार्य के शब्दों का उसको क्यों ज्ञान न होता जब कि अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही वह अपने इस महान् ग्रन्थ में कर रहा था। उदाहरणार्थ, शंकराचार्य के प्रयोग किए हुए ऐसे शब्दों और संज्ञाओं में से कुछ हम यहाँ देते हैं:—'अध्यास', 'साधन चतुष्टय—विवेक, विराग, षट्सम्पत् (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) तथा मुमुक्षुत्व', 'सगुण' तथा 'निर्गुण' ब्रह्म, 'अपर ब्रह्म' 'सविशेष' और 'निर्विशेष ब्रह्म' 'उपाधि', 'क्रममुक्ति', 'प्रारब्ध' तथा 'संचित' कर्म 'बाध', 'पञ्चकोश', ईश्वर की उपाधि रूप से 'माया' और 'अविद्या', अविद्या का 'अनादित्व', 'कर्म का अनादित्व', ब्रह्म से जगत् का शङ्कराचार्य के अनुसार विकास जो कि सांख्य के अनुसार विकास से भिन्न है, महावाक्यों का एक विशेष प्रकार से अर्थ लगाना इत्यादि।

२—दूसरा कारण यह है कि योगवासिष्ठ का अद्वैतवाद इतने सुसंज्ञित शब्दों में और इतनी निश्चितार्थ तथा दार्शनिक भाषा में नहीं है जितना कि शंकराचार्य का तथा उनके सब अनुयायियों का है। योगवासिष्ठ में प्रायः सभी दार्शनिक संज्ञाएँ कई कई अर्थों की द्योतक हैं।

३—तीसरा कारण यह है कि शङ्कराचार्य जी और उनके अनुयायियों ने जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन किए हैं उन सबको

श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है। श्रुति उन सब के लिये अद्वैत सिद्धान्तों का परम प्रमाण है। किन्तु योगवासिष्ठ में कहीं पर भी श्रुति की इतनी महानता नहीं मानी गई। सब प्रमाणों के ऊपर अनुभव ही को प्रधानता दी गई है। किसी स्थान पर भी श्रुति की उक्ति के आधार पर किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया। लेकिन शङ्कर के पश्चात् किसी भी अद्वैतवाद के समर्थक ने ऐसा नहीं किया। योगवासिष्ठ के अनुसार तो प्रत्यक्षानुभव ही एक परम प्रमाण है। यथाः—

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥१॥ (२।१६।६)
वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥२॥ (६।१६७।१५)

४—चौथा कारण यह है कि शंकराचार्य से लेकर उनके सभी अनुयायियों तक ने अपने ग्रन्थों में दूसरे मतों का यथाशक्ति खंडन कर के अपने मत का प्रतिपादन और अपने मत को सब से उत्तम सिद्ध करने का यत्न किया है। और जहाँ जहाँ युक्तियाँ सफल नहीं हो सकीं वहाँ वहाँ पर श्रुति को परम प्रमाण मान कर उसका पूरा सहारा लिया है। योगवासिष्ठ में ऐसा नहीं पाया जाता। उसके लेखक ने प्रायः सभी अपने समय में वर्तमान मतों को आदरणीय दृष्टि से देखा और उनका अपने मत में समावेश किया है। शंकर का अद्वैत वेदान्त तो केवल उपनिषद् के ही सिद्धान्तों का समन्वय है, लेकिन योगवासिष्ठ अपने समय के सभी दर्शनों का समन्वय है। किसी मत के ऊपर भी योगवासिष्ठकार ने आक्षेप नहीं किया।

५—पाँचवाँ कारण इस विषय में यह है कि यद्यपि योगवासिष्ठ में शङ्कराचार्य के विशेष सिद्धान्त, और उनकी विशेष संज्ञाएँ नहीं पाई जातीं, तथापि शङ्कराचार्य के छोटे छोटे पद्य-ग्रन्थों में योगवासिष्ठ के बहुत सिद्धान्त, बहुत सी विशेष संज्ञाएँ ही नहीं, बहुत से श्लोक भी मिलते हैं। भाष्यों में, जो कि गद्य में लिखे गए हैं, शङ्कराचार्य जी को भाष्य-कृत ग्रंथों के ही विचारों तक परिमित रहना आवश्यक था, किन्तु अपनी स्वतन्त्र पद्य रचनाओं में वे अपने विचारों तथा शब्दों में स्वतन्त्र थे। इस लिये इन ग्रंथों में कुछ विशेषता

है। यदि शङ्कराचार्य के **विवेकचूडामणि, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी** आदि पद्य-ग्रंथों का योगवासिष्ठ के साथ साथ अध्ययन किया जाय तो अवश्य ही यह निश्चित हो जायगा कि शङ्कराचार्य को अवश्य ही योगवासिष्ठ के सिद्धान्त मालूम थे और उसके बहुत से श्लोक उनके स्मृति चित्र पर अंकित थे। इस विषय में यह कह देना भी उचित है कि यह सम्भव हो सकता है कि ये ग्रंथ शङ्कराचार्य के लिखे हुए शायद न हों। लेकिन विद्वान् लोग प्रायः इन ग्रन्थों को उन्हीं के मानते चले आ रहे हैं (देखिये अभ्यङ्कर सम्पादित **सर्वदर्शनसंग्रह** के अन्त में दी हुई सूची तथा राधाकृष्णन् की **इण्डियन फिलासोफी,** वा० २, पृष्ठ ४५०—जहाँ पर कि **विवेकचूडामणि** शङ्कराचार्य का ग्रन्थ मान लिया गया है)। दूसरी बात यह भी कह देना उचित है कि शङ्कराचार्य जी को योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और श्लोक स्वयं योगवासिष्ठ से न प्राप्त होकर अपने आचार्यों या सम्प्रदाय द्वारा मौखिक पथ द्वारा प्राप्त हुए हों, और योगवासिष्ठ के पढ़ने का स्वयं उनको सौभाग्य और समय न प्राप्त हुआ हो, क्योंकि उस ज़माने में पुस्तकें—विशेष कर बड़े ग्रन्थ—सुलभतया नहीं मिलते थे। हम यहाँ पर पाठकों के निश्चय के लिये कुछ थोड़े से ऐसे श्लोक, वाक्य और सिद्धान्त यहाँ पर इन ग्रंथों से उद्धृत करते हैं जो योगवासिष्ठ में प्रायः उसी रूप में पाए जाते हैं:—

विवेकचूडामणि—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३०॥

योगवासिष्ठ—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३।९।११॥

विवेकचूडामणि—

लीनधीरपि जागर्ति जाग्रद्धर्मविवर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

योगवासिष्ठ—

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२॥ (३।९।४)

विवेकचूडामणि—बीजं संसृतिभूमिजस्य । (१४५)

योगवासिष्ठ—संसृतिवृततेर्बीजम् । (५।६१।८)

विवेकचूडामणि—

नह्यस्त्यविद्या मनोऽतिरिक्ता मनोह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥ (१६९)

योगवासिष्ठ—

चित्तमेव सकलभूताऽडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि ।
सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति । (३।११६।१८)
मनोविजृम्भणमिदं संसार इति संमतम् । (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम् ।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥ (१७०)

योगवासिष्ठ—

मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः ।
मायामात्रदृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतयः ॥ (३।६२।५४)
यथास्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नास्त्यत्र संशयः । (३।५७।५०)
मनोविजृम्भणमिदम् । (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

मुक्तिप्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत् । (२६९)

योगवासिष्ठ—वासनातानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः । (२।२।५)

विवेकचूडामणि—सर्वत्र सर्वतः सर्वम् । (३१६)

योगवासिष्ठ—सर्वत्र सर्वथा सर्वम् । (३।१५९।४१)

विवेकचूडामणि—

वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते । (३१७)

योगवासिष्ठ—

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
असुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्तितोच्यते ॥ (३।२२।८)

विवेकचूडामणि—पृथङ्नास्ति जगत्परमात्मनः । (२३५)

योगवासिष्ठ—न जगत्पृथगीश्वरात् । (३।६१।४)

विवेकचूडामणि—स्वयं विश्वमिदं सर्वम् । (३८८)

योगवासिष्ठ—आत्मैवेदं जगत्सर्वम् । (३।१००।३०)

विवेकचूडामणि—

बाह्याभ्यन्तरं शून्यं पूर्णं'''ब्रह्माद्वितीयमहम । (४६२)

योगवासिष्ठ—

अन्तःपूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे । (१।१२६।३८)
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ (१।१२६।३९)

विवेकचूडामणि—

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ॥ (५७३)

योगवासिष्ठ—

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा ।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ (३।१००।३९)

शतश्लोकी—अतो दृष्टिसृष्टं किलेदम् । (८१)

योगवासिष्ठ—दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः (३।११४।५६)

आत्मबोध—

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्र भासते ।
बुद्धावेवावभासते स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ (१७)

योगवासिष्ठ—

सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथाऽत्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ (५।७१।३९)

स्वात्मनिरूपण—

व्यवहारदशेयं विद्याऽविद्येति वेदपरिभाषा ।
नास्त्येव तत्त्वदृष्ट्या तत्त्वं ब्रह्मैव नान्यदस्त्यस्मात् ॥ (९७)

योगवासिष्ठ—

अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदाम्वरैः॥ (३।४६।१)
शास्त्रसंव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः। (४।४०।१)
नाऽविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयाऽनया॥ (३।६।१७)

शतश्लोकी—

यः कश्चित्सौख्यहेतोस्त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतोः। (१५)

योगवासिष्ठ—

आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानि चित्। (३।१०८।२०)

शतश्लोकी—

न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्यात्,
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम्।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्,
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि॥ (१०)

योगवासिष्ठ—

एकाभावादभावोऽत्रैकत्वद्वितीयत्वयोर्द्वयोः।
एकत्वं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता॥ (३।३३।४)
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना।
अशून्यत्वात्संभवतः शून्यताशून्यते कुतः॥ (३।१०।१४)

दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया॥१॥

योगवासिष्ठ—

रूपालोकमनस्कारैरन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम्।
सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः॥ (३।२२।२७)
बाह्यमभ्यन्तरं भाति स्वप्नार्थोऽत्र निदर्शनम्। (३।४४।२०)

अपरोक्षानुभूति—

भावितं तीव्रवेगेन वस्तु निश्चयात्मना।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत्॥ (१४०)

योगवासिष्ठ—

भावितं तीव्रवेगेन यदेवाशु तदेव हि। (१।२८।३७)
यथैव भावयत्यात्मा तथैव भवति स्वयम्॥ (४।११।२६)

अपरोक्षानुभूति—यथा कनके कुण्डलाभिधा। (६०)

योगवासिष्ठ—हेम्नीव कटकादित्वम्। (३।१।४२)

अपरोक्षानुभूति—यथा नीरं मरुस्थले। (६१)

योगवासिष्ठ—यथा नास्ति मरौ जलम्। (३।७।४३)

अपरोक्षानुभूति—यथैव शून्ये वेतालः। (६२)

योगवासिष्ठ—यथा नास्ति नभोयक्षः। (३।७।४४)

अपरोक्षानुभूति—गन्धर्वाणां पुरं यथा। (६२)

योगवासिष्ठ—यथा गन्धर्वपत्तनम्। (३।३।३०)

अपरोक्षानुभूति—सर्पत्वेन यथा रज्जुः। (७०)

योगवासिष्ठ— यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिः। (२।१७।६)

अपरोक्षानुभूति—कनकं कुण्डलत्वेन तरङ्गत्वेन वै जलम्। (७२)

योगवासिष्ठ—कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथांभसि। (३।२१।६५)

अपरोक्षानुभूति—यथाऽकाशे द्विचन्द्रत्वम्। (६२)

योगवासिष्ठ—

यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षिमलाविलम्। (३।६६।७)

अपरोक्षानुभूति—जलत्वेन मरीचिका। (७३)

योगवासिष्ठ—मृगतृष्णाम्बिवासत्यम्। (४।१।७)

६—हमारे इस मत की पुष्टि कालीपुर आश्रम कामाक्षा के स्वामी भूमानन्दजी ने अपने, एक लेख 'Priority of Yogavasishtha to Sankaracharya' में की है। उन्होंने शांकर भाष्य में से ही कुछ वाक्य उद्धृत करके यह बतलाया है कि श्री शंकराचार्य को योगवासिष्ठ के अस्तित्व का ज्ञान था। उदाहरणार्थ दो वाक्य यहाँ दिये जाते हैं।

(१) श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऊपर भाष्य में (८.१) शंकराचार्यजी ने लिखा है 'तथा च वासिष्ठयोगशास्त्रे'।

(२) महाभारत के सनत सुजातीय भाग के ऊपर भाष्य करते हुए (१.१५ और १.३१) श्रीशंकराचार्यजी ने लिखा है कि 'तथा चाह भगवान् वसिष्ठः' और 'तथा चाह भगवान् वसिष्ठः'।

योगवासिष्ठ गौडपादाचार्य और भर्तृहरि के पूर्व का ग्रन्थ है

गौडपादाचार्य की **माण्डूक्यकारिका** का भलीभाँति अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य से पूर्व का अद्वैत वेदान्त—जो कि **माण्डूक्यकारिका** में प्रतिपादित है—**योगवासिष्ठ** प्रतिपादित अद्वैतवाद से शङ्कराचार्य और उनके अनुयायियों के अद्वैतवाद की अपेक्षा अधिक मिलता जुलता है। **योगवासिष्ठ** और **माण्डूक्यकारिका** के विचारों और भाषा में बहुत कुछ समानता है (देखिए—बम्बई में हुई फिलासोफिकल कांग्रेस में पढ़ा हुआ हमारा लेख—"गौडपाद ऐण्ड वसिष्ठ," **रिपोर्ट** पृष्ठ १८८)। यहाँ पर हम दोनों में से कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं :—

माण्डूक्यकारिका—

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे॥ (२।१५)

योगवासिष्ठ—समस्तं कल्पनामात्रमिदम्। (३।२१०।११)

माण्डूक्यकारिका—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्। (३।३१)

योगवासिष्ठ—

मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। (४।११।२३)

माण्डूक्यकारिका—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा॥ (४।४७)

योगवासिष्ठ—सस्पन्दे समुदेताव निस्पन्दान्तर्गतेन च ।
इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता ॥ (३।६।५८)

माण्डूक्यकारिका—
स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ (२।३१)

योगवासिष्ठ—
मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्या स्वप्नानुभूतयः । (३।५७।५४)
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ (३।३३।४५)

माण्डूक्यकारिका— स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां च समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ (२।५)

योगवासिष्ठ—
जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ (४।१६।११)

माण्डूक्यकारिका—
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (२।६)

योगवासिष्ठ—
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (४।४५।४५)

माण्डूक्यकारिका—
न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ (३।४८)

योगवासिष्ठ—
बुद्धानामस्मदादीनां न किञ्चिन्नाम जायते । (३।१४६।१८)
जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चास्ति न च दृश्यते ॥ (३।७।४०)

माण्डूक्यकारिका—
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो न निवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥ (२।१८)

योगवासिष्ठ—

यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिर्विनश्यत्यवलोकनात् ।
तथैवैतत्प्रेक्षणाच्छान्तिमेति संसारदुःखिता ॥ (२।१७।६)

माण्डूक्यकारिका—मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते । (३।३१)

योगवासिष्ठ—

चित्तसत्तैव जगत्सत्ता......एकाभावाद्द्वयोर्नाशः । (४।१७।१६)

माण्डूक्यकारिका—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ (३।४०)

योगवासिष्ठ—

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्पोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥ (४।३५।२)

कल्पनावाद, भ्रमवाद, अजातवाद तथा मनोनाशवाद योगवासिष्ठकार और गौडपाद दोनों ही को मान्य हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों ग्रन्थों—**योगवासिष्ठ** और **माण्डूक्यकारिका**—में कौनसा ग्रन्थ पूर्वकाल का है। हमारे विचार में, निम्नलिखित कारणों से, योगवासिष्ठ **माण्डूक्यकारिका** से पूर्व का ग्रन्थ है।

१—**माण्डूक्यकारिका** अद्वैत सिद्धान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। वह **माण्डूक्य उपनिषद्** के ऊपर एक प्रकार का वार्तिक है। उसमें माण्डूक्य उपनिषद् के सिद्धान्तों का किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार प्रतिपादन है। वे पूर्ववृत्त अद्वैतवादी लोग **माण्डूक्यकारिका** में "वेदान्तेषु विचक्षणाः" (२।३१) "तत्त्वविदः" (२।३४) "नायकाः" (४।६८) और "बुद्धाः" (४।८८) आदि शब्दों से संकेत किए गए हैं। इन लोगों के जो सिद्धान्त **माण्डूक्यकारिका** में प्रतिपादन किए गए हैं वे सब योगवासिष्ठ में योगवासिष्ठकार के ही सिद्धान्तों के रूप में वर्तमान हैं।

२—योगवासिष्ठगत सिद्धान्त किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के रूप में नहीं हैं। वे 'वसिष्ठ' ऋषि के सिद्धान्त हैं जो कि उन्होंने

किसी उपनिषद् अथवा किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय से प्राप्त नहीं किए बल्कि स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किए थे, और अपने आप ही उनका अनुभव किया था (देखिए—मुमुक्षुप्रकरण का १० वाँ सर्ग)

माण्डूक्यकारिका में दूसरे मतों का तिरस्कार और खण्डन तथा अद्वैतवाद का मण्डन है। योगवासिष्ठ में किसी मत का तिरस्कार अथवा खण्डन नहीं पाया जाता। सब ही मतों का समन्वय है, किसी मत के प्रति भी घृणा का लेश नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि **योगवासिष्ठ उपनिषद् और भगवद्गीता** की शैली का ग्रन्थ है और **माण्डूक्यकारिका** शंकराचार्य और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों की शैली का है जिसमें अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन और दूसरे सम्प्रदाय तथा धर्मों के मतों का तिरस्कार और खण्डन है। योगवासिष्ठ के इस प्रकार के भाव के हम यहाँ पर कुछ उदाहरण देते हैं:—

(१) 'विज्ञानवाद' और 'बाह्यार्थवाद' की अविरोधिता का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार कहते हैं:—

> बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः।
> वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदा सदसंस्थितेः॥ (३।३८।४)

(२) मन का स्वरूप न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, चार्वाक, जैमिनीय, आर्हत और पाञ्चरात्र आदि दर्शनों के अनुसार बतला कर योगवासिष्ठकार कहता है—

> सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
> विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)
> अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीतावबोधतः।
> केवलं विवदन्त्येते विकल्पैराकुलत्वतः॥ (३।९६।५२)
> स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा।
> विचित्रदेशकालोत्था मार्गं स्वं पथिका इव॥ (३।९६।५३)

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से बटोही नाना देशों से चले हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगरको जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पदको नाना देश और कालमें ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकारसे उस परम पदको पहुँचते हुए वे लोग,—

परमार्थ का किसीको भी ठीक ज्ञान न होनेके कारण और उसका विपरीत ज्ञान होनेसे भी—परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार मार्ग चलने वाले लोग अपने अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने दर्शनों की प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलने से उसको किसी प्रकार की सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्ग को छोड़ कर दूसरे किसी मार्गपर चलना ठीक नहीं है—

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला॥ (६।१३०।२)

(४) परमतत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है कि वही एक तत्त्व नाना दर्शनों में नाना नामों द्वारा वर्णित है—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम्॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम्॥ (५।८७।१८)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम्॥ (५।८७।१९)

प्रोफेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यजी का कहना है कि 'इस प्रकारके विचार और इस प्रकार का आदर्श बौद्धकाल में बङ्गाल के पाल राजाओं के समय से पहिले किसी हिन्दू लेखक के लिये सम्भव नहीं थे" (मद्रास फिलॉसोफिकल कांग्रेसकी रिपोर्ट, पृष्ठ ५५१)। पाल राज्य १० वीं शताब्दी के क़रीब हुआ है। लेकिन हर्षचरित्र का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही मध्य देश में (जो आजकल यू० पी० कहलाता है) इस प्रकार के आदर्शों और विचारों का होना संभव था। बाण ने उस समय की सभ्यता और विचारों की उदारता का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। अपनी यात्रा में राजा हर्ष दिवाकरमित्र नामक एक बौद्ध साधुके

आश्रमपर आकर उनके यहाँ अनेक विद्वानों को अपने अपने मतों और सम्प्रदायों के ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए पाते हैं। वे लोग बड़ी उदारता और बड़े प्रेम से एक दूसरे के साथ अपने अपने सिद्धान्तों पर विचार करते हैं। वहाँपर देश देशान्तरों से आए हुए बौद्ध भिक्षु, श्वेत वस्त्रधारी जैन लोग, कपिल के अनुयायी, लोकायतिक, उपनिषदोंके माननेवाले, नैयायिक, वैशेषिक, मनुस्मृति और पुराणोंके अध्ययन करनेवाले, यज्ञ करानेमें दक्ष और व्याकरण के पण्डित— सभी प्रकार के विद्वान् मौजूद थे। वे अपने अपने शास्त्रों का अध्ययन करते थे और दूसरे शास्त्रों का भी। बड़े ही मेल और सहानुभूति का उनका जीवन था। किसीको किसीके प्रति घृणा नहीं थी। सब लोग मित्रता और प्रेम से एक दूसरे से अपने अपने सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करते थे। चाहे यह बात काल्पनिक ही क्यों न हो, तो भी, जैसा कि डा० कार्पेण्टर ने अपने **थीस्म इन् मेडीवल इण्डिया** में लिखा है, यह इतना तो अवश्य ही सूचित करती है कि उस देश के उस समय के लेखक इस प्रकार का विचार अपने मनमें ला सकते थे (पृष्ठ ११२)। इस प्रकार के विचारोंके लिये हमको बंगाल के पाल राज्य में जाने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य कहते हैं।

गौडपादाचार्यके काल से पहिले अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय का होना केवल हमारी कल्पना ही नहीं है। इसका लेखबद्ध प्रमाण भी है। डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त का यह विचार हमको ठीक मालूम नहीं होता कि उपनिषदों के पश्चात् गौडपादाचार्य ही अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक हुए हैं (**ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी**, वॉ १, पृष्ठ ४२२)। भवभूति कवि के **उत्तर-रामचरित** में ऐसे विचार पाए जाते हैं जिनका प्रचार गौडपाद और शंकराचार्यने किया है। भवभूति का समय शंकराचार्यसे पूर्वका होना निश्चित ही है (देखिए—भण्डारकर की **मालतीमाधव** की अंग्रेजी भूमिका)। **उत्तररामचरित** में दो श्लोक ऐसे हैं जिनमें कि अद्वैत वेदान्त के दो विशेष सिद्धान्तों का जिक्र है—एक विवर्तवाद

और दूसरा ज्ञान द्वारा समस्त अज्ञानरूपी संसार का लय हो जाना। वे ये हैं :—

(१) एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥ (३।४७)

(२) विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि।
ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः ॥ (४।६)

इससे यह मालूम पड़ता है कि ये दोनों सिद्धान्त शंकर और गौड़पाद से पहिले के हैं। ये दोनों सिद्धान्त योगवासिष्ठ में प्रचुरता से उन्हीं शब्दों में पाए जाते हैं—

(१) यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि ॥ (३।११।४०)
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ।
या भावरचना योऽर्थस्तथा तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ (३।११।४१)
तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा च विवर्तते। (३।१००।२८)
तरङ्गमालयाऽम्भोधिर्यथात्मनि विवर्तते।
तथा पदार्थलक्ष्म्येत्थमिदं ब्रह्म विवर्तते ॥ (११।१८-१६)

(२) यथोदिते दिनकरे क्वापि याति तमस्विनी।
तथा विवेकेऽभ्युदिते क्वाप्यविद्या विलीयते ॥ (३।११४।६)
येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते।
अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते ॥ (३।४६।१८)

भवभूति के श्लोकों से ही यह जान पड़ता है कि इस प्रकार का अद्वैतवाद अवश्य ही उनको ज्ञात था और उनके समय से पहिले ही इसका प्रतिपादन हो चुका था। इसलिये हमें योगवासिष्ठ को भवभूति के समय से पूर्व का कहने में कुछ भी सन्देह नहीं होता।

यह हमारा विचार योगवासिष्ठ का भर्तृहरि के ग्रंथ वाक्यपदीय और वैराग्यशतक के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से और भी दृढ़ हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थों में कुछ श्लोक योगवासिष्ठ के पाए जाते हैं। और इनके और योगवासिष्ठ के विचार भी बहुत

मिलते जुलते हैं। जैसा कि आगे के वाक्यों से व्यक्त हो जायगा—

वैराग्यशतक—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालनातनुभृतामित्याकलय्यद्रुतम्
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥

योगवासिष्ठ—

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलाम्बाम्बुवद्भङ्गुरम्
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला ।
लोला यौवनलालनाजलरयः कायः क्षणापायवान्
पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥ (६।१२६।२२)

वैराग्यशतक

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ (७८)

योगवासिष्ठ—

पुनर्दिनैककलना शर्वरीसंस्थितिः पुनः ।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥ (५।२२।३१)
तमेव भुक्तविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः ।
दिवसे दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥ (५।२२।३३)

वाक्यपदीय—विवर्त्ततेऽर्थभावेन । (१।१।१)

योगवासिष्ठ—विवर्त्तेऽर्थभावेन । (६।६३।४६)

वाक्यपदीय—

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ (३।७।४१)

योगवासिष्ठ—

द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ (५।५६।३५)

वाक्यपदीय— नैकत्वमस्ति नानात्वं विनैकत्वेन नेतरत् ।
परमार्थे तयोरेष भेदोऽत्यन्तं न विद्यते ॥ (३।६।२८)

योगवासिष्ठ—एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ।
एकाभावादभावोऽत्रैकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः ॥ (६।३३।५)

वाक्यपदीय—

न चैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता ।
आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते ॥ (३।१।२१)

योगवासिष्ठ—

न च नास्तीति तद्वक्तुं युक्तं ते तद्वपुर्यदा ।
नचैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ (६।५३।६)

वाक्यपदीय—सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः । (३।१।२२)

योगवासिष्ठ—समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा । (३।६७।२)

वाक्यपदीय—यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम् । (३।३।७०)

योगवासिष्ठ—द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम् । (३।१२१।५३)

वाक्यपदीय—न तदस्ति न तन्नास्ति । (४।२।१२)

योगवासिष्ठ—न तदस्ति न तन्नास्ति । (६।३१।३६)

वाक्यपदीय—

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ (१।१।१३१)

योगवासिष्ठ—इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता । (३।६।५८)

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों—भर्तृहरिकृत ग्रन्थ और योगवासिष्ठ-में कौनसा पूर्व कालका है ? हमारा विचार तो यह है कि योगवासिष्ठ ही पूर्वकालीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें भर्तृहरि के 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त का नाम तक भी नहीं आता और 'शब्द ब्रह्म' **वाक्यपदीय** का विशेषतया प्रतिपादित विषय है। यदि योगवासिष्ठ **वाक्यपदीय** से पीछे लिखा गया होता तो अवश्य ही उसमें भी 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त

का वर्णन होता। इसलिये हमारा खयाल है कि योगवासिष्ठ भर्तृहरि के समय में वर्त्तमान था। भर्तृहरि के मरण का साल ६५० क्रिष्टीय समझा जाता है (देखिए—मैक्समूलर के **सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी,** पृष्ठ ६०, और कीथ का **क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर** पृ० ११८)। इससे यह निश्चय है कि क्रिष्टीय सप्तम शताब्दी के आरम्भ से पूर्व योगवासिष्ठ अवश्य ही वर्त्तमान रहा होगा।

पाठक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि लेखक का यह मत कि योगवासिष्ठ शङ्कराचार्य से और सम्भवतः भर्तृहरि से प्राचीन ग्रन्थ है। प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य और डा० विएटर्निज़ ने भी जिनके मतों का यहाँ पर खण्डन किया गया है मान लिया है। और शरबाटस्की, शरडेर और कीथ प्रभृति यूरोप के बड़े बड़े पण्डितों ने हमारी इस खोज की भूरि भूरि प्रशंसा की है। प्रो० कीथ ने एक चिट्ठी में लिखा है "आपने योगवासिष्ठ का शंकर से प्राचीनतर होना तो साफ़ तौर से सिद्ध कर दिया है और आपकी इसके भर्तृहरि से पूर्व काल का होने की युक्तियाँ भी ठीक ही जान पड़ती हैं।" प्रो० शरेडर ने अपने एक पत्र में लिखा है "मैं अपनी ओर से आपको इस बात पर बधाई देना चाहता हूँ कि आपने योगवासिष्ठ का शंकर से और सम्भवतः गौडपाद से पूर्व का ग्रन्थ होना साबित कर दिया है।"

वर्त्तमान योगवासिष्ठ वाल्मीकिकृत नहीं है

यहाँ तक यह सिद्ध हो चुका है कि योगवासिष्ठ के निर्माणकाल के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में जो विचार प्रचलित हैं वे ठीक नहीं हैं। योगवासिष्ठ अवश्य ही **वाक्यपदीय** और **वैराग्यशतक** के रचयिता भर्तृहरि से पहिले का है। अब हमको यह विचार करना है कि यह ग्रन्थ कितना प्राचीन है, और यह कहाँ तक सत्य है कि यह **रामायण** के रचयिता श्री वाल्मीकि जी की कृति है जैसा कि प्रायः समझा जाता है।

इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है कि कोई प्राचीन ग्रन्थ ऐसा था जिसमें वसिष्ठजी के वे सिद्धान्त वर्णित थे जो उन्होंने

श्री रामचन्द्रजी को सिखाए थे और जो कि उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से सीखे थे। यह हमारा विश्वास निम्नलिखित दो कारणों पर निर्भर है :—

१—महाभारत के अनुशासन पर्व के छठे अध्याय में युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से प्रश्न किया है: "आप महाप्राज्ञ और सब शास्त्रों के पण्डित हैं। मुझे बतलाइये कि भाग्य (दैव) प्रबल है अथवा पुरुषार्थ ?" इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा "धर्मराज ! इस विषय में ब्रह्मा और वसिष्ठ का संवाद सुनो" इतना कह कर उन्होंने इस विषय में वे बातें कहीं जो कि ब्रह्मा ने वसिष्ठ को सुनाई थीं। ये बातें प्रायः वे ही हैं जो कि वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को कही थीं (देखिए योगवासिष्ठ—मुमुक्षु प्रकरण सर्ग ४९)। रामचन्द्रजी को यह शिक्षा देकर वसिष्ठजी ने उनसे यह भी कहा है कि यह ज्ञान उनको ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था :—

इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना। (२ १०।९)

इस प्रकार की शिक्षा देने से पहिले भी वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीसे यह कहा था कि जो ज्ञान वे उनको देंगे वह ज्ञान उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किया था:—

पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम्॥ (२।३।१)

२—वर्त्तमान योगवासिष्ठ के सर्वप्रथम सर्ग—जो कि प्रस्तावना-रूप है—पढ़ने से भी यह निश्चित होता है कि वाल्मीकिकृत कोई एक ऐसा ग्रंथ मौजूद था जिसमें कि उन्होंने रामचन्द्रजीको वसिष्ठजी द्वारा किए हुए उपदेश का वर्णन किया था। इस ग्रन्थ को बनाकर वाल्मीकिजी ने अपने शिष्य भरद्वाजको सुनाया था। और फिर बहुत काल पीछे उसी ग्रन्थको उन्होंने राजा अरिष्टनेमी को सुनाया था:—

शृणु राजन्प्रवक्ष्यामि रामायणमखण्डितम्।
श्रुत्वावधार्य यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि॥ (१।१।५२)
वसिष्ठरामसंवादं मोक्षोपायकथां शुभाम्।
ज्ञातस्वभावो राजेन्द्र वदामि श्रूयतां बुध॥ (१।१।५३)
एतांस्तु प्रथमं कृत्वा पुराहमरिमर्दनः।
शिष्यायास्थामि विनीताय भरद्वाजाय धीमते॥ (१।२।४।५)

इन दो प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अवश्य ही वाल्मीकि-कृत कोई

ऐसा प्राचीन ग्रन्थ मौजूद रहा होगा जिसमें कि वसिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन हो। लेकिन जिस रूप में योगवासिष्ठ ग्रन्थ हमारे सामने उपस्थित है उस रूप में यह न बहुत प्राचीन ही है और न वाल्मीकि ऋषि की कृति है। हमारा विचार यह है कि वह कोई प्राचीन ग्रन्थ, पुनः पुनः आवृत्त होने से, और उसमें समय समयपर दूसरे लेखकों द्वारा वृद्धि होने से, इस बृहत् रूप को प्राप्त हो गया है। योग-वासिष्ठ के प्रस्तावनारूप प्रथम सर्ग का अध्ययन करने से ही यह विचार निश्चित हो जाता है कि इस ग्रन्थ की बहुत सी आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। (१) वाल्मीकिजी ने इसको रचकर भरद्वाज को सुनाया था और फिर उन्होंने ही इसको कुछ दिन पीछे अरिष्टनेमी राजा को सुनाया (१।२।४; १।२।५३)। (२) जो उपदेश वाल्मीकिजी ने अरिष्ट-नेमी को दिया था उसका वर्णन इन्द्र के एक दूत ने सुरुचि नाम की एक अप्सरा के सामने किया था (१।१।२३)। (३) यह बात अग्निवेश्य ने अपने पुत्र कारुण को सुनाई थी (१।१।१८) और (४) अग्निवेश्य और कारुण का यह प्राचीन इतिहास अगस्ति ने सुतीक्ष्ण ब्राह्मण को सुनाया था (१।१।६)। बार बार केवल अपनी स्मृति से पुरानी कथाओं और उपदेशों को दूसरों के प्रति सुनाने में अवश्य ही बहुत सी नई बातें कहने में आ जाया करती हैं और बहुत सी पुरानी बातें विस्मृत हो जाया करती हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध के ५२-५८ सर्गों में महाभारत के संग्राम और श्रीकृष्ण के गीता-उपदेश का भी वर्णन मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि वर्तमान रूप में भी योगवासिष्ठ पूर्णतया और यथार्थ ही श्री वाल्मीकिजी की कृति है।

दूसरा बहुत महत्त्वपूर्ण कारण जिसकी वजह से हम वर्त्तमान योगवासिष्ठ को बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं कह सकते यह है कि इसमें बौद्धमत के 'विज्ञानवाद', 'मध्यमवाद' और 'शून्यवाद' का केवल वर्णन ही नहीं आता बल्कि इन मतों का वर्त्तमान योगवासिष्ठ में बहुत सुन्दरता के साथ सम्मिश्रण और समन्वय है। (देखिए योगवासिष्ठ ५।८७।१८-२० और ३।५।६ इत्यादि)। योगवासिष्ठ का अध्ययन करने-पर यह पूरे तौर से निश्चित हो जाता है कि इसमें अश्वघोष, नागा-र्जुन, असङ्ग और वसुबन्धु आदि बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ

औपनिषद् अद्वैतवाद तथा आत्मवाद का बहुत ही उत्तम समन्वय है। नागार्जुन का समय आधुनिक विद्वानों के अनुसार द्वितीय क्रिष्टीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, और विज्ञानवाद के प्रवर्तक वसुबन्धुका समय तत्तु के अनुसार ४२० से ५०० ईस्वी सन् मानना चाहिए। (देखिए दी जर्नल ऑफ़ रुआयल एशियाटिक सोसोइटी, १९०५ पृष्ठ १ आदि)। इसलिये वर्त्तमान योगवासिष्ठ का पाँचवीं ईस्वी शताब्दी के पीछे का ही मानना पड़ता है।

इस विचार को पुष्टि इस कारण से भी होती है कि योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध के ११९ वें सर्ग के १–६ श्लोकों में महाकवि कालिदास के "मेघदूत" का बहुत हो संक्षेप में वर्णन है। केवल मेघदूत का विचार ही नहीं बल्कि कवि कालिदास के शब्द भी इस संक्षिप्त वर्णन में मिलते हैं। पाठकोंके निश्चय के लिये इन श्लोकों को हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं :—

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके।
प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम्॥ (६।११९।१)
एकत्र शृणु किं वृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम्।
दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम्॥ (६।११९।२)

अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात्।
नैवात्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै
प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत॥ (६।११९।३)

आ एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः।
विद्युल्लता विलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः॥ (६।११९।४)

भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वो न सोढुं क्षमा
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः॥ (६।११९।५)

चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वालिङ्गिता सती।
न जाने क्वाधुनैवेतः पयोद दयिता गता॥ (६।११९।६)

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार कालिदास पाँचवीं शताब्दी के

पूर्वार्द्ध में हुए हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठ इस समय के पीछे का ही होना चाहिये।

ऐसा मालूम पड़ता है कि वर्त्तमान योगवासिष्ठ गुप्त साम्राज्य के पतन होने के समय लिखा गया था। इसके तीसरे और छठे प्रकरणों में बहुत-सी लड़ाइयों और आक्रमणों का वर्णन है। उत्पत्ति प्रकरण में विदूरथ और सिन्धु का संग्राम और निर्वाण प्रकरण में वर्णित विपश्चित् के राज्य पर चारों ओर से आक्रमणों का उल्लेख इस बात के द्योतक हैं कि वह समय महा अशान्ति का था। हूणों और पारसीकों का भी जिक्र इन स्थानों पर आता है। युद्ध का वर्णन बहुत ही क्लिष्ट भाषा में है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ महाकवि कालीदास के पीछे और भर्तृहरि के पूर्व समय का ग्रन्थ है। यदि योगवासिष्ठ की भाषा और उसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं का गहरा अध्ययन किया जाए तो हमें पूर्ण आशा है कि इस विचार अधिकतर पुष्टि हो जायगी। विद्वानों से आशा है कि वे इस ओर ध्यान देकर इस विषय पर अपना मत प्रकट करेंगे।

———

परिच्छेद ३

योगवासिष्ठ-साहित्य

इस बीसवीं शताब्दी में भी, जब कि पुस्तकों की प्रचुरता से पढ़नेवालों का नाक में दम है, योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। आजकल भारतीय साहित्य और दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकें दिन पर दिन अधिकता से छपती जा रही हैं किन्तु अभी तक योगवासिष्ठ-सम्बन्धी कोई भी उत्तम पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई। यहाँ तक कि संस्कृत भाषा के योगवासिष्ठ की भी एक आवृत्ति को छोड़कर कोई दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। लेखक ने इस ग्रन्थ के विषय में सन् १९२५ ई० से लिखना आरम्भ किया है। उससे पहिले इस महान् ग्रन्थ पर प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया था। केवल बाबू (अब डाक्टर) भगवान्-दासजी ने शायद 'ल्यूसीफ़र" नामक अंग्रेजी पत्रिका में योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों के ऊपर कोई लेख लिखा था। तब से लेकर अब तक भी योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में बहुत ही कम लेख छपे हैं। यहाँ पर हम उस समस्त साहित्य का उल्लेख करना चाहते हैं जो कि योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में पाठकों को उपलब्ध हो सकता है।

(१) योगवासिष्ठ के काल-निर्णय के सम्बन्ध में—

१—डा. जे. एन्. फर्कुहार के एन आउटलाइन ऑफ़ दी रिलीजस लिट्रेचर ऑफ़ इण्डिया में २२८ पृष्ठ पर कुछ पंक्तियाँ जिनमें योगवासिष्ठ को १३-१४ शताब्दियों का रचा हुआ माना है।

२—डा० विण्टर्निज के गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर बा० ३, पृष्ठ ४४३-४४४ पर एक पेराग्राफ़, जिसमें योगवासिष्ठ को श्री शङ्कराचार्य के किसी समकालीन व्यक्ति का लिखा हुआ माना है।

३—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा मद्रास ओरियण्टल कान्फरेन्स में पढ़ा हुआ और उसकी प्रोसीडिंग्स में छपा हुआ एक लेख—"योगवासिष्ठ रामायण, इसका समय और लिखने का स्थान"—जिसमें

कि उन्होंने योगवासिष्ठ को १०-१२ शताब्दियों में किसी बङ्गाली लेखक के द्वारा लिखा हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

४—डा० बी० एल्० आत्रेय के **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फिलासोफी** में दूसरा लेक्चर जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि योगवासिष्ठ कवि कालिदास से पीछे और भर्तृहरि पहिले का लिखा हुआ ग्रन्थ है।

५—डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के **ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी,** वॉ० २, में "फ़िलासोफ़ी ऑफ़ दी योगवासिष्ठ" नामक अध्याय में उन्होंने अपना यह मत प्रकट किया है कि योगवासिष्ठ तो आठवीं या सातवीं शताब्दी में लिखा गया होगा। यही मत उन्होंने अपने ग्रन्थ **"इण्डियन आइडीयलिज़्म"** में भी पृष्ठ १५४ पर प्रकट किया है। वहाँ पर उन्होंने लिखा है "योगवासिष्ठ का काल निर्णय नहीं हो सकता, लेकिन मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शताब्दि के पीछे का नहीं हो सकता।"

६—डा० बी० एल्० आत्रेय का बड़ोदा ओरियण्टल कान्फ़रेन्स में भेजा हुआ लेख "दी प्रोबैबिल डेट ऑफ़ कम्पोजीशन ऑफ़ योगवासिष्ठ", जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योगवासिष्ठ छठी शताब्दी में लिखा गया होगा।

७—श्री प्रह्लाद सी० दीवानजी का बड़ोदा ओरियण्टल कान्फ़रेन्स में पढ़ा हुआ लेख, "दी टेड एण्ड प्लेस ऑफ़ ओरिजिन ऑफ़ योगवासिष्ठ", जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योगवासिष्ठ दसवीं शताब्दी के मध्य में कश्मीर देश में लिखा गया होगा।

(२) योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में—

१—लाला बैजनाथ द्वारा कराए हुए योगवासिष्ठ के हिन्दी भाषानुवाद में उनकी लिखी हुई भूमिका, जिसमें उन्होंने योगवासिष्ठ के छहों प्रकरणों के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र कराया है।

२—श्री नारायण स्वामी अइयर के **इंगलिश ट्रांसलेशन**

लघु योगवासिष्ठ की भूमिका, जिसमें कि लघु योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

३—डा० बी० एल० आत्रेयका प्रथम (कलकत्ता) इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस (१९२५) में पढ़ा हुआ लेख—"फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ योगवासिष्ठ" जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। यह लेख इस कांग्रेस की **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

४—डा० बी० एल० आत्रेय का बनारस इण्डियन फिलॉसोफिकल कांग्रेस (१९२६) में पढ़ा हुआ लेख—"डिवाइन इमेजिनिज्म ऑफ़ वसिष्ठ"—जिसमें योगवासिष्ठ के कल्पनावाद का वर्णन है। यह लेख बनारस फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस की **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

५—डा० बी० एल० आत्रेय का बम्बई इण्डियन फ़िलॉसोफिकल कांग्रेस में पढ़ा हुआ लेख--"गौड़पाद ऐण्ड वसिष्ठ"– जिसमें गौड़-पादाचार्य और योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों की तुलना की है। यह लेख भी इस कांग्रेस की **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

६--डा० बी० एल० आत्रेय का **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फ़िलासोफ़ी**-जो कि काशी तत्व सभा में योगवासिष्ठ पर दिए हुए १० व्याख्यानों में से पांच का संग्रह है। यह पुस्तक 'इण्डियन बुक शॉप', बनारस से मिल सकती है। इस पुस्तक में योगवासिष्ठ के सिद्धांतों का सरल अंग्रेज़ी भाषा में प्रतिपादन किया गया है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इस लेखक की अंगरेज़ी में बड़ी पुस्तक (६०० पृष्ठ की) **फ़िलासोफ़ी ऑफ़ योगवासिष्ठ** छप रही है।

७—डाक्टर बी० एल० आत्रेय की हिन्दी पुस्तक **श्री वासिष्ठ दर्शनसार** जिसमें योगवासिष्ठ का १५० श्लोकों में, जिनके नीचे उनका सरल हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है, सार सिद्धान्त रखने का प्रयत्न किया गया है। इसकी भूमिका में योगवासिष्ठ सम्बन्धी और बातों का भी वर्णन है। यह पुस्तक भी इंडियन बुक शॉप, बनारस, से मिल सकती है।

८—डा० बी० एल० आत्रेय का लिखा हुआ कल्याण शिवाङ्क में "शिव-शक्ति-वाद" नामक लेख जिसमें योगवासिष्ठ के "शिव-शक्ति-वाद" का, और मतों की दार्शनिक समालोचना के साथ, समर्थन किया गया है।

९—डा० बी० एल० आत्रेय का कल्याण के भगवद्गीता में लिखा हुआ लेख—"योगवासिष्ठ में भगवद्गीता"—जिसमें योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण में अर्जुन को दिए जाने वाले श्रीकृष्ण गीता-उपदेश का वर्णन किया गया है।

१०—डा० बी० एल० आत्रेय का यू० पी० गवर्नमेण्ट की प्रिंस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़ १९३२ में छपा हुआ एक लेख "योगवासिष्ठ एण्ड सम ऑफ़ दी माइनर उपनिषद्स", जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि बहुत से उत्तर कालीन उपनिषद् योगवासिष्ठ के ही सार श्लोकों से बने हैं।

११—डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी के दूसरे भाग में योगवासिष्ठ के दर्शन के ऊपर एक ४० पृष्ठों का अध्याय।

१२—डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के इंडियन आयडीयलिज़्म में योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त का ५ पृष्ठों में वर्णन।

१३—डा० भगवान् दास की पुस्तक मिस्टिक एक्सपीरियन्स जिसमें योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण में से चार कहानियाँ अङ्गरेजी में वर्णन है। इसमें कहीं-कहीं उपयोगी फुट नोट भी हैं।

१४—डा० बी० एल० आत्रेय का संस्कृत ग्रन्थ वासिष्ठदर्शन जिसको यू० पी० गवर्नमेंट अपने प्रिंस ऑफ वेल्स संस्कृत टेक्स्ट्स सीरीज़ में छपवा रही है। यह ग्रन्थ इस समय प्रेस में है। इसमें योगवासिष्ठ के समग्र दार्शनिक सिद्धान्त योगवासिष्ठ ही के करीब २५०० श्लोकों में संग्रह करके क्रमबद्ध रीतिसे रक्खे गए हैं। यह ग्रन्थ योगवासिष्ठ के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों को योगवासिष्ठ के प्रेमियों के सम्मुख रखने का प्रथम प्रयत्न है। इसके आदि में एक अङ्गरेजी की भूमिका

भी है जिसमें योगवासिष्ठ के समग्र आख्यान संक्षेप रूप से दिए हैं।

१५—डा० भी० ला० आत्रेय का हिन्दी ग्रन्थ **योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त** जो आजकल प्रेस में है। इस ग्रन्थ में योगवासिष्ठ सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विवेचना की गई है।

१६—कन्हैयालाल मास्टर की **कल्याण** में लिखी हुई 'योगवासिष्ठ-सार' नामक लेखमाला। इसमें हिन्दी भाषा में योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का भली भाँति वर्णन है।

१७—डा० बी० एल० आत्रेय लिखित **योगवासिष्ठ एण्ड मोडर्न थॉट** जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों की अर्वाचीन वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ तुलना की है और यह दिखलाया है कि अर्वाचीन विचार योगवासिष्ठ के विचारों से बहुत मिलते हैं।

३—योगवासिष्ठ के अनुवाद—

हिन्दी—

१—योगवासिष्ठ—भाषा टीका सहित—श्रीठाकुर प्रसाद आचार्यकृत भाषा अनुवाद सहित संस्कृत योगवासिष्ठ। यह ग्रन्थ दो भागों में संवत् १९६० में, ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से छपा था। यह अनुवाद स्व० लाला बैजनाथजी की प्रेरणा से हुआ था और दोनों भागों के आदि में लाला बैजनाथजी की लिखी हुई उत्तम भूमिका है जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। हमको यह अनुवाद अच्छा नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इसमें मनमाना अर्थ किया गया है। जो बातें योगवासिष्ठ के श्लोकों में नहीं हैं वे भी अर्थ में लिख दी हैं। योगवासिष्ठ में अनुवादक ने शाङ्कर वेदान्त के बहुत से सिद्धान्त, जो कि योगवासिष्ठकार को ज्ञात नहीं थे, घुसेड़ दिए हैं। अनुवादक को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। इस पुस्तक का काग़ज़ इतना जल्द टूटने वाला है कि हम किसी को भी इस पुस्तक के खरीदने की राय नहीं देंगे। इसके दाम २२) रु० हैं।

२—योगवासिष्ठ भाषा—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से छपा हुआ। दाम ८) रु०। यह ग्रन्थ बम्बई के वेङ्कटेश्वर प्रेस से भी

छपा है। इसमें योगवासिष्ठ के संस्कृत श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा में ही योगवासिष्ठ की कथा है। भाषा कुछ पुराने ढङ्ग की है। इस ग्रन्थ की बाबत यह कहा जाता है कि क़रीब १७५ वर्ष के हुए कि पटियाला रियासत के महाराजा-साहेब सिंह की दो बहिनें विधवा हो गई थीं। उन्होंने साधु रामप्रसाद निरञ्जनी से योगवासिष्ठ सुनाने प्रार्थना की। उन्होंने सारा ग्रन्थ उन देवियों को पञ्जाबी भाषा में उल्था करके सुना दिया। जो कुछ वे सुनाते थे दो गुप्त लेखक नोट करते जाते थे। जब ग्रन्थ पूरा सुनाया जा चुका तो यह उल्था छपवा दिय गया। पीछे इस पञ्जाबी उल्था को खड़ी बोली हिन्दी में शुद्ध कराकर लोकोपकार के लिये नवलकिशोर प्रेस ने १९१४ ई० में छाप दिया इस ग्रन्थ का पञ्जाब और पश्चिमीय यू० पी० में बहुत प्रचार है ग्रन्थ है भी बहुत ही उत्तम। इसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्त उसी ग्रन्थ की भाषा में वर्णित हैं। कुछ सर्ग, जिनका दार्शनिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है, छोड़ दिये गए हैं। दोष इस ग्रन्थ में यह है कि इसमें जिन श्लोकों का अनुवाद किया गया है उनका अंक नहीं दिया गया। इसके सर्गों के अङ्क भी योगवासिष्ठ के सर्गों के अङ्कों से नहीं मिलते क्योंकि कहीं २ पर वे सर्ग छोड़ दिए गए हैं जिनमें युद्ध, वन इत्यादिक वर्णन था।

३—योगवासिष्ठ-भाषा—वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण—वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। इसमें योगवासिष्ठ के केवल प्रथम दो प्रकरणों का ही भाषा में अनुवाद है। इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। अनुवाद भी अच्छा है। इसमें भी श्लोकों के अङ्क नहीं दिये गये।

उर्दू—

१—योगवासिष्ठसार—लघु योगवासिष्ठ का मुंशी सूर्यनारायण मेहर का किया हुआ उर्दू अनुवाद, १९१३ में दिल्ली से प्रकाशित। यह लघु योगवासिष्ठ का उर्दू भाषा में बहुत अच्छा अनुवाद है।

२—योगवासिष्ठायन—म० शिवव्रतलाल द्वारा किया हुआ लाहोर से छपा हुआ लघु योगवासिष्ठ का उर्दू अनुवाद। यह अनुवाद भी बहुत ही उत्तम है। इसमें विशेषता यह है कि किताब के किनारे पर हरएक पैरेग्राफ़ के सिद्धान्त दिए हैं।

अंग्रेज़ी—

१—इंग्लिश ट्रांस्लेशन ऑफ़ योगवासिष्ठ महारामायण—बिहारीलाल मित्र का ४ भागों में किया हुआ अनुवाद सन् १८६१ में कलकत्ते से छपा हुआ। इस अनुवाद के करने में अनुवादक ने प्रयत्न तो बहुत ही श्रेष्ठ किया है किन्तु खेद है कि अनुवाद किसी भी काम का नहीं है। इसको पढ़कर कोई भी योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकता। यही कारण है कि अंग्रेजी भाषामात्र जाननेवालों को अभी तक योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का भली-भाँति ज्ञान नहीं हो सका।

२—ए ट्रांस्लेशन ऑफ (लघु) योगवासिष्ठ—मद्रास से १८६६ में छपा हुआ के० नारायण स्वामी अइयर का किया हुआ लघु योगवासिष्ठ का अंग्रेजी अनुवाद। यह अनुवाद ऊपरवाले अनुवाद से कुछ अच्छा है, किन्तु इसमें भी बहुत जगहों पर ठीक अनुवाद नहीं है और इसमें श्लोकों का नम्बर नहीं दिया है।

४—मूल ग्रन्थ—संस्कृत योगवासिष्ठ

१—आनन्द बोधेन्द्र कृत टीका सहित सम्पूर्ण योगवासिष्ठ—संवत् १६३६ वि० में गणपत कृष्णजी प्रेस बम्बई से प्रकाशित। यह खुले पत्रों के रूप में छपा है। टाइप भी उत्तम नहीं है और एक श्लोक दूसरे से अलहदा नहीं है। सब श्लोक लगातार एक ही साथ मिले हुए छपे हैं जिससे पढ़नेवालों को कष्ट होता है।

२—श्रीमद्वाल्मीकि महर्षि प्रणीत **योगवासिष्ठ**—श्रीवासिष्ठ महारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्या सहित। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर द्वारा संपादित निर्णयसागर प्रेस बम्बई से सन् १६१८ में दो भागों में प्रकाशित। इसमें आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती भिक्षु की व्याख्या है। यह व्याख्या उत्तर कालीन शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुसार है। यह ग्रन्थ अच्छा छपा है। पाठकों को इसी का पाठ करना उचित है। यह केवल संस्कृत में ही है। इसका दाम १४) है।

संस्कृत लघु योगवासिष्ठ—

१. लघु योगवासिष्ठ—गौड अभिनन्दकृत निर्णयसागर प्रेस बम्बई से संवत् १९४४ में खुले पत्रों में छपा हुआ। इसमें पहले तीन प्रकरणों (वैराग्य, मुमुक्षु और उत्पत्ति) पर आत्मसुखकृत वासिष्ठ चन्द्रिका नामक व्याख्या है और आखरी तीन (स्थिति, उपशम और निर्वाण) पर मिम्मदीदेव की संसारतारिणी नाम की व्याख्या है। इस लघुयोगवासिष्ठ में योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार नहीं है। यह ग्रन्थ भी उत्तम है।

योगवासिष्ठ की कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ—

यहाँ तक हमने पाठकों को योगवासिष्ठ सम्बन्धी प्रकाशित पुस्तकों और लेखों का परिचय दे दिया। अब हम उनको योगवासिष्ठ और उसके संक्षेपों की कुछ हस्तलिखित प्रतियों से भी परिचित कराना चाहते हैं। वे ये हैं :—

१—योगवासिष्ठ (सम्पूर्ण)

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लण्डन में। देखिये ज्यूलियस ऐग्लिङ्ग रचित "दी कैटालोग ऑफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रप्ट्स इन दी लाइब्रेरी ऑफ़ इण्डिया ऑफिस" लण्डन, पार्ट (भाग) ४, पृष्ठ ७७२ आदि पर वर्णित :—

योगवासिष्ठ—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत वासिष्ठ-तात्पर्य-प्रकाश नामक व्याख्या समेत। (नं० २४०७—२४१४) इस प्रति में

१. वैराग्य प्रकरण में (नं० ३०२ अ) ३३ सर्ग हैं और लगभग ११३० श्लोक हैं।

२. मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण में २० सर्ग और उनमें ६००० के लगभग श्लोक हैं।

३. उत्पत्ति प्रकरण में १२२ सर्ग और उनमें लगभग ६००० श्लोक हैं।

४. स्थिति प्रकरण में ६२ सर्ग हैं जिसमें २४०० के लगभग श्लोक हैं।

५. उपशम प्रकरण में ९३ सर्ग हैं जिनमें ४२७० के लगभग श्लोक हैं।

६. निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध में १२९ सर्ग हैं जिनमें ५४६० के लगभग श्लोक हैं।

७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग हैं जिनमें ८८०० के लगभग श्लोक हैं।

यहाँ पर यह उचित जान पड़ता है कि हम पाठकों को यह भी बतला दें कि निर्णय सागर बम्बई से प्रकाशित ग्रन्थ में सर्गों और श्लोकों की संख्या क्या है। उसमें

१. वैराग्य प्रकरण में ३३ सर्ग, ११७६ श्लोक हैं।
२. मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण में २० सर्ग, ८०७ श्लोक हैं।
३. उत्पत्ति प्रकरण में १२२ सर्ग, ५२९५ श्लोक हैं।
४. स्थिति प्रकरण में ६२ सर्ग, ४१५ श्लोक हैं।
५. उपशम प्रकरण में ९३ सर्ग ४१६७ श्लोक हैं।
६ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध में १२८ सर्ग, ५१११ श्लोक हैं।
७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग, ८७१६ श्लोक हैं।

इस पुस्तकालय में योगवासिष्ठ की और भी प्रतियाँ हैं (२४१५। २९४१; २४१६—२४२०; २४२१ और २४२२) किन्तु उनमें कोई भी सम्पूर्ण नहीं है।

(२) ऑक्स्फोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय में—(देखिये आफ-फेरेख्ट का "कैटालोगी कोडिकम मैन्युस्क्रप्टोरम् बिब्लियोथी की बोडलियने" नं० ८४०)। यहाँ पर जो प्रति वर्त्तमान है उसमें निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्द्ध नहीं है। इस प्रति के प्रारम्भ के शब्द "दिवि भूमौ" हैं।

(३) महाराजा बीकानेर के पुस्तकालय में (देखिये राजेन्द्रलाल मित्र का बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० १२१६)। इस प्रति में भी निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्द्ध नहीं है इसके आदि के शब्द हैं—"दिक्कालाद्य-नवच्छिन्न"।

(४) अल्वर नरेश के पुस्तकालय में (देखिए पिटर्सन का बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० ५४८,५४९)। इन प्रतियों पर योगवासिष्ठ के नाम,

'योगवासिष्ठ', 'आर्षरामायण', 'ज्ञानवासिष्ठ', 'महारामायण', 'वासिष्ठ रामायण' और 'वासिष्ठ' हैं। इनके साथ आनंद बोधेन्द्र सरस्वती की व्याख्या भी है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय, क्वीन्स कालिज, बनारस में (देखिए—यहाँ की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, नं० १८०८—१८१०, १८२० और ५०३७)। यहाँ पर ६ प्रतियाँ हैं किन्तु केवल एक ही, नं० १८२०, सम्पूर्ण है।

(६) मद्रास के गवर्नमेण्ट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट पुस्तकालय में। (देखिए रंगाचार्य की बनाई हुई पुस्तक सूची वॉ० ४, भाग १, नम्बर १६१०—१६१४) :—

नं० १६१०, वासिष्ठ रामायणम् सव्याख्यानम्—देवनागरी लिपि। केवल वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु प्रकरण और स्थिति प्रकरण।

नं० १६११, वासिष्ठरामायणम्—सव्याख्यानम्। ग्रन्थ लिपि। उपशम प्रकरण, असम्पूर्ण।

नं० १६१२, वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। देवनागरी लिपि। इसमें निर्वाण प्रकरण के १२२ सर्ग तक ही हैं।

नं० १६१३ वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। इसमें निर्वाण प्रकरण के ३६ वें अध्याय से लेकर अन्त तक है। देवनागरी लिपि।

(७) एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के ओरियण्टल पुस्तकालय में (देखिये कुञ्जविहारीकृत सूचीपत्र, कलकत्ता १६०४, पृष्ठ १५६) :—

१—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्या सहित वासिष्ठ रामायण, बङ्ग लिपि में।

२—अद्वयरत्नकृत योगवासिष्ठ टीका (वासिष्ठ पददीपिका) देवनागरी लिपि।

२—संक्षिप्त योगवासिष्ठ

१—लघु योगवासिष्ठ, योगवासिष्ठसार, मोक्षोपायसार—

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी (एग्लिङ्गकृत सूची भाग ४, नं० २४२४।२१२० और २४२५।१३४२)

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (ऑक्स्फोर्ड) कीथ कृत सूची-अपेण्डिक्स। नं० ८४० (एम० एस० फ़रेज़र ६)। इसके लेखक के सम्बन्ध में कीथ साहब कहते हैं "अभिनन्द के पितामह का पिता काश्मीर के मुक्तापीड राजा के समय (करीब ७२४ ईस्वी) में था। लेखक काश्मीर में पैदा हुआ था किन्तु वह गौड देश में विक्रमशील के पुत्र युवराज हरवर्ष के यहाँ रहता था। देखिए पिटर्सन की सुभाषितावली पृष्ठ ६७।"

(३) अलवर पुस्तकालय में पिटर्सन की सूची नं० ५५०।

(४) सरस्वती सदन पुस्तकालय, क्वीन्सकालिज, बनारस में। हाल के सूचीपत्र "कन्ट्रीब्यूशन टुवर्ड्स एन इंडेक्स टू दी बिब्लियोग्राफ़ी आफ़ इण्डियन फ़िलासोफ़िकल सिस्टम्स" में वेदान्त, नं० १४८ में वर्णित योगवासिष्ठ का संक्षेप "अभिनन्द आफ़ काश्मीर" द्वारा कृत। इसके साथ एक संसारतारिणी नाम की व्याख्या भी है।

(५) मद्रास की गवर्नमेंट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में—(रङ्गाचार्य की सूची नं० १८९२-१८६५)। इसका नाम लघु योगवासिष्ठ और ज्ञानवासिष्ठ है। "यह ४४ सर्गों में बड़े वासिष्ठ-रामायण का सार है। सार करनेवाले का नाम तैलङ्गी लिपि में 'काश्मीर पण्डित' दिया है"।

२— योगवासिष्ठसार

यह बिना रचयिता के नाम का है। किसी किसी प्रति में बनारस के महीधर की व्याख्या है—

(१) इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी में—ऐग्लिङ्ग कृत सूची, भाग ४, नं० २४२६।२५३२ फ। इसमें २२० श्लोक और १० प्रकरण हैं। इसके आदि की पंक्ति है "दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये"। नं० २४२८।१५२१, २४२=।१३६४ सी, और २४२६।२४३६ महीधर कृत योगवासिष्ठ सार वृत्ति अथवा योगवासिष्ठ सार विवरण की प्रतियाँ हैं। यह वृत्ति बनारस के महीधर ने संवत् १६५४ (१५६७ ईस्वी) में लिखी थी।

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (आक्सफ़ोर्ड) में कीथकी सूची में नं० १३०२ और आउफरेख्ट की सूची में नं० ५६३। इसके साथ भी

महीधर कृत वृत्ति है। इसमें भी १० प्रकरण हैं।

(३) सरस्वती भवन पुस्तकालय बनारस में हाल के "इण्डेक्स" में पृष्ठ १२१ पर नं० ११६ और ११७।

(४) एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल के ऑरियण्टल पुस्तकालय में—कुञ्जविहारी कृत सूची में नं० आई. जी. २५। इसका नाम योगवासिष्ठ सार है और इसके साथ महीधर कृत वृत्ति है जो बङ्ग लिपि में है।

(५) इस ग्रंथ का वर्णन राजेन्द्रलाल मित्र ने अपने "नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स" में भी किया है (वॉ १, पृष्ठ १६२ पर नं० ३४०) इसके आदि का श्लोक यह है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

३—योगवासिष्ठसार-संग्रह

यह माधवाचार्य कृत, २३०० श्लोकों में, योगवासिष्ठ का सार है और बनारस की क्वीन्स कालेज की संस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वती भवन) में है। देखिए सूची नं० १८०७।७० हाल का इंडेक्स भी देखिए, पृष्ठ १२१ नं० १४८।

४—ज्ञानवासिष्ठसमुच्चय

यह तैलङ्गी लिपि में लिखा हुआ ७०० श्लोकों में ज्ञानवासिष्ठ (लघु योगवासिष्ठ) का कृष्णाव्य कृत सार है। इसकी एक प्रति गवर्नमेंट ऑरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास में है (देखिये—रङ्गाचार्य कृत सूची वॉ ४, भाग १, नं० १६८८)।

५—निर्वाणस्थिति

यह योगवासिष्ठ में से ३०४ श्लोकों में किया हुआ एक संग्रह है जिसमें मुक्ति और उसके साधनों का वर्णन है (देखिए मित्र का "नोटिसेज" वॉ ६, पृष्ठ २८३, नं० ३२०८)

६—नानाप्रस्थानात्माखिलमोक्षोपायाः

योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के साथ परिशिष्ट रूप से यह ग्रंथ १४ सर्गों और ५५० श्लोकों में रचा हुआ इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में है। (देखिए एग्लिङ्ग की सूची भाग ४, नं० २४२३।२४४२ बी.)

३—लघु योगवासिष्ठ का फ़ारसी अनुवाद

यह दाराशिकोह का कराया हुआ लघु योगवासिष्ठ का फ़ारसी भाषा में अनुवाद है। इसकी एक प्रति मालती सदन पुस्तकालय बनारस में है। इसमें बड़े बड़े १२० पृष्ठ हैं। इसकी यह नक़ल संवत् १८५५ के श्रावण महीने की नवीं तिथि को बनारस के लाला कुंवरसिंह द्वारा की गई थी। इसकी फ़ारसी बहुत सरस और सुंदर है।

परिच्छेद ४

योगवासिष्ठ और कुछ उत्तर कालीन उपनिषद्

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तर कालीन उपनिषदों में से कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जिनके सारे अथवा कुछ श्लोक योगवासिष्ठ में वर्त्तमान हैं। लेखक का मत यह है कि ये श्लोक योगवासिष्ठ ही के हैं और उनको योगवासिष्ठ में से बहुत से स्थलों से चुन कर एकत्र करके उस संग्रह का नाम संग्रहकर्त्ता ने उपनिषद् रख दिया। उस समय में पुस्तकों का, विशेषकर बड़ी पुस्तकों का, मिलना कठिन था क्योंकि सब ग्रंथ हाथ से ही लिखे जाते थे। इस कारण से योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थ को पढ़कर लोगों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार इसमें से सार श्लोकों का संग्रह कर लिया, पीछे उसी संग्रह को उन्होंने उपनिषद् नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया, और दूसरे लोगों ने इस उपनिषद् को अपने पाठ के लिये नक़ल कर लिया होगा। इस प्रकार से ये उपनिषद् विख्यात हुए। आजतक इस घटनाका पता किसी विद्वान् को इस कारण से नहीं चला कि योगवासिष्ठ और उपनिषदों का तुलनात्मक गहन अध्ययन किसी ने नहीं किया। शायद ही कोई विद्वान् ऐसा होगा जो किसी श्लोक को पढ़कर यह कह सके कि यह श्लोक योगवासिष्ठ में अमुक स्थलपर है। इस महान् ग्रन्थ के श्लोकों की सूची भी अभीतक नहीं तैयार हुई। लेखक को ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उसने कई सालों के कठिन परिश्रम से बहुत से उपनिषदों के श्लोकों को योगवासिष्ठ में पाया है। यह गहरी और महत्त्वपूर्ण खोज पाठकों के समक्ष रखने का यहाँ प्रयत्न किया जाता है। स्थानाभाव से केवल उन श्लोकों का जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठ में पाए जाते हैं यहाँ पर अङ्कमात्र दिया जाता है। जो पाठक अधिक उत्सुक हों वे इन नम्बरों के श्लोकों को दोनों ग्रन्थों में से देख कर मुक़ाबला कर लें।

केवल इस घटना से ही कि कोई श्लोक योगवासिष्ठ और किसी उपनिषद् में पाया जाता है यह सिद्ध नहीं होता कि वह मूलतः योगवासिष्ठ का है और उपनिषद्-कर्ता ने उसे योगवासिष्ठ से ही

लिया है। कुछ और कारण ऐसे हैं जिनकी वजह से हमारा यह विश्वास है कि ये श्लोक जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठ दोनों में पाये जाते हैं योगवासिष्ठ के हैं और उनको संग्रह करके ही ये उपनिषद् बनाये हैं। उनमें से कुछ ये हैं :—

१—बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो कि कई उपनिषदों में नाना स्थलों और नाना सम्बन्धों में मिलते हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि संग्रहकर्ताओंने ये श्लोक किसी एक ही जगह से लेकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार सज्जित किए हैं। ये सब श्लोक ऐसे हैं जो कि योगवासिष्ठ में मिलते हैं। यथा :—

योगवासिष्ठ	महोपनिषद्		अन्नपूर्णोपनिषद्
५।७४।३३, ३६	२।४७		२।२५,२६
५।९१।८१	२।४८		४।६९
५।५९।३२	४।१०		१।४७
३।७।१०	४।८२		४।३१
	मुक्तिकोपनिषद्		
५।९०।४	२।३२		४।१४
५।९०।१६	२।३४ (आधा)		४।१६
५।९०।१८	२।३४ (आधा)		४।१७
५।९०।२०	२।३५ (आधा)		४।१८
५।९०।२३	२।३५ (आधा)		४।१९
५।९१।३७	२।२९		४।४८
५।९१।१४	२;४८		४।४१
५।९१।२९	२।५७		४।४६
५।९२।१७	२।१०		४।८३
५।९२।२२	२।१३		४।८४
५।९२।३४	२।४३		४।९०
	महोपनिषद्		वराहोपनिषद्
३।११८।५–१५	५।२४–३४		४।१–१०
	मैत्रेय्युपनिषद्		
३।११७।९	५।६	२।३०	योगकुण्डल्युपनिषद्
३। ९ ।४७	२।६५	१।१०	३।२४

यो० वा०	मुक्तिकोपनिषद्	म० उ०	पैङ्गलोपनिषद्	यो० कु० उ०
३।९।१४	२।७६	२।६३	३।११	३।२४
४।२३।१८	२।४२	५।७५		
			याज्ञवल्क्योपनिषद्	
६।२।११ १,२,५,६, ११,१२,१८, २०,२३,३५		३।३९-४८	५:१५	
४।२४।८-१०	२।४०,४१	५।७७-७८		
४।३५।१८	२।२९	५।९७-९८		
		वराहोपनिषद्		अद्युपनिषद्
६।१२६।६०-६७		४।१२-१७		३१-३९

२—बहुत से उपनिषदों में इन श्लोकों के आदि में "अत्र श्लोका भवन्ति" ऐसा लिखा है जिससे साफ़ ज़ाहिर है कि उपनिषत्कारों ने ये श्लोक किसी दूसरे स्थल से लिए हैं।

३—योगवासिष्ठ के उस स्थलपर जहाँ से कि उपनिषदों के श्लोक चुने गए हैं बहुत से और श्लोक उसी प्रकार के वर्तमान हैं जैसे कि वे जोकि चुने गए हैं।

४—उपनिषदों में योगवासिष्ठ से चुने हुए श्लोकों की तरतीब प्रायः ठीक नहीं है। बहुत से स्थलों पर तो योगवासिष्ठ की ही तरतीब ज्यों की त्यों रक्खी गई है, किन्तु बीच के बहुत से श्लोक छोड़ देने पर वह तरतीब जोकि योगवासिष्ठ में ठीक जान पड़ती है उपनिषदों में ख़राब हो गई।

५—इन उपनिषदों में से कोई भी उपनिषद् पुराना नहीं है। सब ही योगवासिष्ठ से पीछे के बने हुए हैं क्योंकि इनमें से कोई भी श्री शंकराचार्य से पूर्व का नहीं है और हमने ऊपर यह सिद्ध कर दिया है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ है।

६—इन श्लोकों में से जो कि योगवासिष्ठ और इन उपनिषदों में मिलते हैं कोई भी श्लोक ऐसा नहीं है जो लघुयोगवासिष्ठ में न मिलता हो। लेकिन योगवासिष्ठ के बहुत से उत्तम श्लोक लघु योगवासिष्ठ में नहीं पाए जाते और वे ही श्लोक इन उपनिषदों में भी

नहीं मिलते। इससे यह मालूम पड़ता है कि इन उपनिषदों के बनाने वालों को केवल लघुयोगवासिष्ठ ही देखने में आया होगा।

महा-उपनिषद् और योगवासिष्ठ

महा-उपनिषद्—जैसा कि इसके नाम से ही जाहिर है—एक बहुत बड़ा उपनिषद् है। इसमें ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय एक छोटा सा भूमिका रूप गद्य में लिखा हुआ अध्याय है। बाक़ी ५ अध्याय पद्य में हैं और उनमें ५३५ श्लोक हैं। इन ५३५ श्लोकों में से हमको ५१० श्लोक योगवासिष्ठ में मिल गए। जैसा कि निम्नलिखित अंकों से जाहिर है:—

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
२	१,२	२	१	८,१०
२	३,५	३	८०	४,६,७
२	९,१०,११	३	८१	२,३,३
२	१३-३५	२	१	११-३४
२	३८-४०	१	३	६,८,१५
२	४१,४२	२	२	५,६
२	४३,४६	५	१६	१८,२१,११,१९
२	४७	५	७४	३३,३६
		५	७५	५२
२	४८	५	९१	८१
२	४९-६०	६	११५	१२,१३,१५,३७,३८,२८ २५,३३,१६,३४,२०,२१
२	६१-६९	३	९	१२-१५,४७-५०,७५
२	७०-७७	२	१	३५-३७,४१-४५
३	१-७	१	१२	४,५।७-९,१६,२१,२६
३	८	१	१३	१
३	९-१५	१	१४	१,२,५,१०-१३
३	१६,१७	१	१५	३,९

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	१८-२१	१ ।	१६	। २,१५,२४,२५
३ ।	२२-२५	१ ।	१७	। ८,२९,३१,३२
३ ।	२६-३२	१ ।	१८	। ४,१८,१९,३१,३८,६१
३ ।	३३	१ ।	१९	। ३०
३ ।	३४	१ ।	२०	। ३
३ ।	३५,३६	१ ।	२२	। ६,८
३ ।	३७,३८	१ ।	२३	। ३,१९
३ ।	३९-४८	१ ।	२१	। १,२,५,६,११,१२,१८, २०,२३,३५
३ ।	४९-५१	१ ।	२६	। २३,२५,२९
३ ।	५२-५४	१ ।	२८	। २१,३१.३५
३ ।	५५	१ ।	२९	। १३
३ ।	५६	लघुयोगवासिष्ठ	१	। १६५
३ ।	५७	कई श्लोकों का संक्षेप (देखिये)		
		१ ।	३१	। २४
४ ।	२-४	२ ।	११	। ५९,६१,६७
४ ।	५	२ ।	१३	। ११
४ ।	६	५ ।	५०	। १७
४ ।	७,८	५ ।	५६	। १५,२१
४ ।	९	५ ।	५७	। २२
४ ।	१०	५ ।	५९	। ३२
४ ।	११,१२	५ ।	६२	। ६,८
४ ।	१३-१५	४ ।	५६	। ३०,३१,३३
४ ।	१७-२३	४ ।	६१	। १-३, ५-७, १२-१४, १६
४ ।	२४	५ ।	१३	। २०
४ ।	२६	२ ।	१२	। १६,१७
४ ।	२८-३४	३ ।	१३	। ३८-४०, ५८,६१,६७,७२, ७५,८१
४ ।	३५-३७	२ ।	१५	। ३, ६, १२

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
४ ।	३८	२ ।	१८	। २६
४ ।	३९	२ ।	१९	। ९, १०, ११
४ ।	४२,४३	२ ।	१९	। २९, ३१
४ ।	४४-४९	३ ।	१	। १०,१२,१७,१९,२२,२३
४ ।	५०	३ ।	३	। २५
४ ।	५१,५२	३ ।	४	। ३९,४२,४४
४ ।	५३,५४	३ ।	४	। ४४,५८
४ ।	५५,५७	३ ।	५	। ३–५
४ ।	५८,६०	३ ।	१७	। १०,१२,१३
४ ।	६१-६३	३ ।	२२	। ३६,२९,३१
४ ।	६४,६५	३ ।	२०	। ९,१०
४ ।	६६	३ ।	८४	। ३६
४ ।	६७	३ ।	८९	। ३
४ ।	६८	३ ।	१०३	। १४
४ ।	८२	३ ।	७	। १०
४ ।	८७	३ ।	१०९	। २५
४ ।	८८–९८	३ ।	१११	। १,२,८,१२,१५,१९,२० २२,२३,३५,३६,४०,४२
४ ।	९९–१११	३ ।	११२	। ५–७,११,१६,१७,१९–२५
४ ।	११२	३ ।	११३	। २
४ ।	११३–१३२	३ ।	११४	। ३–५,७,८,१२,१४,१५, १६–१८,२३,२९,३१,३४, ५१,५३,६०,६१,७५,७६,
४ ।	१३३	३ ।	११५	। ४–५
५ ।	१–२०	३ ।	११७	। २,५,६-१९,२१-२३,२५
५ ।	२१–४०	३ ।	११८	। १-३,५-१९,२१-२३
५ ।	४१,४२	३ ।	११८	। २८-३० (संक्षिप्त) लघुयोगवासिष्ठ, ४।१३।१३०
५ ।	४३	लघुयोगवासिष्ठ, ३।१३।१३२,१३३		

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
५ ।	४४-४६	३ । ११९ । २१-२३
५ ।	४८-५१	३ । १२१ । ५३-५६,६८
५ ।	५२-५३	३ । १२२ । ५४,५३
५ ।	५४	४ । १ । ३
५ ।	५५–५८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१४।२,४–६
५ ।	५९	४ । १४ । ४३
५ ।	६०,६१	४ । १५ । २१,२५
५ ।	६२–६९	४ । २२ । १–३,७–१०,३२
५ ।	७०–७५	४ । २३ । ४४,४१,४३,५५–५८
५ ।	७६–८२,८४	४ । २४ । १,८–१४,१८,१९
५ ।	८५,८६	४ । २७ । २५,३५
५ ।	८८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१६।७
५ ।	८९–९५	४ । ३३ । ५०–५७,५९
५ ।	९६,९७	४ । ३५ । ३,१८
५ ।	९८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१७।६
५ ।	९९–१०३	४ । ३५ । ३,७,८,१४,१५
५ ।	१०४–१०७	४ । ३९ । २३–२५,४३
५ ।	१०८–११२ ११४,११७	४ । ४१ ४,१३–१५,२०,३२
५ ।	११३	लघु योगवासिष्ठ ४।१७।४०
५ ।	११८–१३५	४ । ४२ ११,१३–१६,२१ २३–२६,३१,३४, ३६–३८,४४,४५,५०
५ ।	१३६–१४३	४ । ४३ । १,२,५,९–१२
५ ।	१४४–१६४	४ । ४४ । १४–२८,३०,३१,४२–४९
५ ।	१६५,१६६	४ । । ४५,१४,२५,२६
५ ।	१६७–१७७	४ । ४६ । २,४,५,७,१४, १६,१७,२१,२६
५ ।	१७८–१८५	४ । ५४ । २–५,१२,१३,

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग	श्लोक
				१८,२२,३७,३८
६ ।	१–५	४ ।	५६	। २५,३४,३७,४१–४७
६ ।	६–९	४ ।	५७	। २२–२५,२९,३७
६ ।	१०	४ ।	५८	। ७,४०
६ ।	११	लघु योगवासिष्ठ ४।१८।४०		
६ ।	१२-१५	५ ।	५	। ३९,४३,६१
६ ।	१६	५ ।	६	। ८
६ ।	१७-२१	५ ।	८	। ९-११,१३,१७
६ ।	२२-२७	५ ।	९	। २५,३३,३६,४१, ४४,५२,६०
६ ।	२८-३४	५ ।	१३	। २१,२८,३१,३२, ३३,३५,३८
६ ।	३५-३८	५ ।	१४	। ४६,४८,५०,५२
६ ।	३९-४०	५ ।	१५	। २३,२४,२७
६ ।	४१-४९	५ ।	१६	। ७-१२,१५,१८-२१
६ ।	५०-६२	५ ।	१७	। ५,७,९,१३-१७, १९,२०,२२,२७
६ ।	६३-७१	५ ।	१८	। ५-९,१७,१८,२२,२४, १९,२१,६१
६ ।	७२	५ ।	१८	। ६१ और ५,२०,३७
६ ।	७३।७५	५ ।	२१	। २,८,११,१५
६ ।	७६	५ ।	२२	। ३३
६ ।	७७,७८	५ ।	२६	। १३,१४
६ ।	७९-८२	५ ।	२७	। २,२०,२५,३२,३३

अन्नपूर्णोपनिषद् और योगवासिष्ठ

अन्नपूर्णा उपनिषद् में ३३७ श्लोक हैं, जिनमें से प्रथम १७ श्लोक भूमिका के हैं और बाकी श्लोक उपनिषद् के सिद्धान्तों के हैं। प्रथम १७ श्लोकों को—जो कि भूमिकामात्र हैं—छोड़ कर इस उपनिषद् के प्रायः सभी श्लोक योगवासिष्ठ के उपशम और निर्वाण (पूर्वार्द्ध) प्रकरण से संग्रह किए हुए हैं।

अन्नपूर्णोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
१ ।	१८-१९	६ ।	११५ ।	१,४०
१ ।	२०-२२	६ ।	११७ ।	९,१०,११
१ ।	२३-२६	५ ।	५५ ।	२,३,७,८
१ ।	२८-३९	५ ।	५६ ।	१७-१९,३२,३०,३१,३३, ३४,४३,४९,५५,५६
१ ।	४०-४६	५ ।	५८ ।	३२,३३,३९,४१,४४,४७
१ ।	४७	५ ।	५९ ।	३२
१ ।	४८-५०	५ ।	६२ ।	९-११
१ ।	५१,५२	५ ।	६४ ।	४९-५१
१ ।	५३	५ ।	६५ ।	१
१ ।	५४,५५	५ ।	६४ ।	५५,५४
१ ।	५६,५७	५ ।	६७ ।	३३,४२
२ ।	१-७	५ ।	६८ ।	१,२,४,५,६,८,९
२ ।	८-११	५ ।	६९ ।	२,७-११
२ ।	१२-१६	५ ।	७० ।	१२,२६,३१-३३
२ ।	१७	५ ।	७१ ।	५६
२ ।	१८	५ ।	७२ ।	३६
२ ।	२०-२२	५ ।	७२ ।	४०,४१,३३,४३,४४
२ ।	२३	५ ।	७३ ।	३५।३६
२ ।	२४-२६	५ ।	७४ ।	९,१०,३३,३५
२ ।	२७	५ ।	७५ ।	२२
२ ।	२८-३१	५ ।	७७ ।	७,१३,१४,१६
२ ।	३२,३३	५ ।	७८ ।	४६,४९
२ ।	३४-४४	५ ।	७९ ।	२,८-१३,१५-१७,२०
३ ।	४-९	५ ।	८२ ।	९,११,१२,१५,१६,२१,२३
३ ।	९,१०	५ ।	८३ ।	४३,४४
३ ।	१०,११	५ ।	८४ ।	३
३ ।	११,१२	५ ।	८६ ।	३,५,६
३ ।	१३-२४	५ ।	८७ ।	३,७,११-१६,१८,१९,२१-२४

अन्नपूर्णोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
४ ।	१–८	५ ।	८९ ।	९,१२–१४,२३,२७,३१, ३२,३३
४ ।	९	लघु योगवासिष्ठ ४।२७।६६		
४ ।	११	५ ।	८९	। ६३
४ ।	१२–२४	५ ।	९०	। १२,१५,४,९,१६,१८,२०, २३–२८,३०,३१
४ ।	३१	३ ।	७	। १०
४ ।	३९–७२	५ ।	९१	। ८,१०,१४,१९,२०,२१,२६ २७,२९,३६,३७,३९,४२,४३, ४६,४७,६६,७४–७७,८१–८७,१०२,१०५,१०८,११०, १११–११३,११२
४ ।	७३–९१	५ ।	९२	। २–६,९,११–१७,२२,२५, २६,२७,२९,३०,३२,३४, ४९,५०
५ ।	१–७	५ ।	९३	। १५,५५,५६,८२,८४,८५,९१
५ ।	८–१३	६/१ ।	२	। २४–२६,३१,४६,५६
५ ।	१४	६/१ ।	४	। ४
५ ।	१५–१९	६/१ ।	१०	। १४,२०–२२,४४
५ ।	२०,२२,२३	६/१ ।	११	। ७७,९९
५ ।	२४	६/१ ।	१२	। २
५ ।	२५–३२	६/१ ।	२५	। ३–५,७,३४,६३,६७,६८
५ ।	३३,३४	६/१ ।	२८	। ४७,६८
५ ।	३५,३६	६/१ ।	२९	। ६७,१३४
५ ।	३७–४६	६/१ ।	४४	। २,१०,१४,१६–१८, २४–२६,३०
५ ।	४७,४८	६/१ ।	५३	। १९,२२
५ ।	४९–५३	६/१ ।	६९	। १८–२०,४०,४५,४७
५ ।	५५,५६	६/१ ।	७८	। ३२–३४

अन्नपूर्णोपनिषद् अध्याय, श्लोक		योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक		
१ ।	५७-६०	६/१ ।	२६	। ८,१२,१४,१६,२०
१ ।	६२	६/१ ।	२५	। २६
१ ।	६३	६/१ ।	९३	। ४४
१ ।	६५, ६६	६/१ ।	१११	। ३६, ४०
१ ।	६८	६/१ ।	११३	। २०
१ ।	६९	६/१ ।	११८	। ७
१ ।	७०	६/१ ।	११९	। ८
१ ।	७१	६/१ ।	१२०	। १
१ ।	८१-९५	६/१ ।	१२०	। १–१०, १२–१६, २२
१ ।	९६-१०१	६/१ ।	१२२	। ४-८, ११
१ ।	१०२-१०६	६/१ ।	१२३	। ६-८, १०, ११
१ ।	१०७-१११	६/१ ।	१२४	। २३-२७
१ ।	११२-११८	६/१ ।	१२५	। १, २, ४-८

मुक्तिकोपनिषद् और योगवासिष्ठ

मुक्तिकोपनिषद् में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय भूमिका-मात्र है। इस अध्याय में १०८ उपनिषदों के नाम दिए हैं। दूसरे अध्याय में, जोकि उपनिषद् का मुख्य भाग है, ७६ श्लोक हैं। ये श्लोक सारे के सारे योगवासिष्ठ से चुने हुए हैं। लेकिन वे इस क्रम से संग्रह किए गए हैं कि उनको योगवासिष्ठ से ढूँढ निकालना बहुत कठिन है। इनमें से बहुत से श्लोकों का हमको पता चल गया है, जैसा कि नीचे के अंकों से प्रतीत होगा। उपनिषत्कार ने इन श्लोकों के आरम्भ में यह लिखकर "अत्र श्लोका भवन्ति" इस बात को सूचित भी कर दिया है कि ये श्लोक किसी दूसरे स्थान से लिए गए हैं।

मुक्तिकोपनिषद् अध्याय २, श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक		
१	२ ।	९	। ४
३-९	२ ।	९	। २५-२७,३०-३३,३५,३८
१०-१४	५ ।	५२	। १७,१६,१८,२२,२३

मुक्तिकोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय २, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१६,१७	५ । ३४ । ३२,२८
१८-२१	५ । ५७ । १९,२६,२८
२५-२७	५ । ९१ । ३५,५३,६४,४८
२९	५ । ९१ । ३७
३०,३१	२ । ९ । ४१।४२
३२-३५	५ । ९० । ४,११,१६,१८,२०,२३
३६-३८	५ । ९ । ५५,५६
३९	४ । ३५ । १८
४०	४ । २४ । ८-१०
४२	४ । २३ । ५८
४३,४४	५ । ९२ । ३३-३५
४५,४७	५ । ९२ । ३६-३९
४८	५ । ९१ । १४
५१-५२	[illegible] । २५ । ८,१६,१७
५७-६०	५ । ९१ । २९-३२
६१,६२	१ । ३ । ११,१२
६८-७१	४ । ५७ । १९,२०-२२
७६	३ । ९ । १४

वराहोपनिषद् और योगवासिष्ठ

वराहोपनिषद् में पाँच अध्याय हैं, जिनमें से चौथा अध्याय जिसमें कि ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन है, योगवासिष्ठ के श्लोकों से बना है। इन श्लोकों से पहले इस उपनिषद् में यह लिखा है: "तत्रैते श्लोका भवन्ति", जिससे यह प्रकट है कि ये श्लोक उपनिषत्कार ने किसी दूसरे स्थान से लिए हैं। वे ये हैं:—

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग श्लोक
१-१०	३ । ११८ । ५,६,८-१५

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
११-१८	६/१ । १२६ । ५२,६०-६९
२१-२७	३ । ९ । ४,६-९,११,१३

अक्ष्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

अक्षि-उपनिषद् एक छोटा सा उपनिषद् है। इसमें ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन है। छोटी सी प्रस्तावना को, जो कि गद्य में है, छोड़ कर इस उपनिषद् में ४८ श्लोक हैं। जिनमें से ३६ श्लोक योगवासिष्ठ के एक ही सर्ग में से, जिसमें कि और बहुत से श्लोक इसी विषय के हैं, चुने हुए हैं। वे ये हैं :—

अक्ष्युपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
२-४०	६/१ । १२६ । ५८,९९,८-३०,३२,३३,३६ ३८,४१,४२,५८-६८, ७०,७१

संन्यासोपनिषद् और योगवासिष्ठ

संन्यासोपनिषद् में, जिसमें संन्यास का वर्णन है, १०४ श्लोक हैं। जिनमें से आधे के लगभग योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण में से चुने हुए हैं। वे ये हैं :—

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१३-५१	५ । ३४ । ९,२०,६८,६९,९०,१००, १०१,१०४,११२,११४
	५ । ३५ । ४,११,३८,३९,७७,७८,८१
	५ । ३९ । ४७,४८,४९
	५ । ४० । १९
	५* । ४२ । १४,१५
	५ । ५० । २१,२२२,२९,३४ ३५,३९,४२

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
६१-६७	६ । ९१ । ३१,३३,३६
	६ । ९३ । ६७,७६,७८,७९

याज्ञवल्क्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

याज्ञवल्क्योपनिषद् में कुल २४ श्लोक हैं जिनमें से १० श्लोक योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण के २१ वें सर्ग में से चुने हुए हैं। वे ये हैं।

याज्ञवल्क्योपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
६-१४	१ । २१ १,२,६,६,११, २,१८, २०,२३,३६

शाण्डिल्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

शाण्डिल्योपनिषद् में योगवासिष्ठ के १३ श्लोक हैं इनका विषय प्राणनिरोध द्वारा मनोनिरोध है। इनके आदि में "तदेते श्लोका भवन्ति" लिखा है। वे ये हैं :—

शाण्डिल्योपनिषद्		योगवासिष्ठ	
अध्याय, खण्ड	श्लोक	प्रकरण, सर्ग	श्लोक
१ । ७	। २४-३६	६ । ७६	। ८,१६,१६,१८-२१,२६, २७-३१,३९

मैत्रेय्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

मैत्रेय्युपनिषद् में भी योगवासिष्ठ के बहुत से श्लोक मालूम पड़ते हैं। किन्तु हमको निम्नलिखित अङ्कों वाले श्लोक मिल गये हैं।

मैत्रेय्युपनिषद्		योगवासिष्ठ	
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण, सर्ग,	श्लोक
१ ।	१०	३ । ९ ।	४७
२ ।	२७	३ । १२६ ।	३८-३९
२ ।	३०	३ । ११७ ।	९

योगकुण्डल्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

योगकुण्डल्युपनिषद् में हमको केवल दो श्लोक योगवासिष्ठ के मिले हैं। वे ये हैं:—

योगकुण्डल्युपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	२४	३ ।	६	। ४७
३ ।	३४	३ ।	६	। १४

पैङ्गलोपनिषद् और योगवासिष्ठ

पैङ्गलोपनिषद् में हमको अभी तक केवल १ श्लोक योगवासिष्ठ का मिला है। यह श्लोक और कई उपनिषदों में भी आया है। वह यह है:—

पैङ्गलोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	११	३ ।	६	। १४

परिच्छेद ५

योगवासिष्ठ की शैली

योगवासिष्ठ की दार्शनिक ग्रन्थों में गणना न होने का विशेष कारण उसकी लेखशैली ही जान पड़ती है। इस ग्रन्थ में दार्शनिकों के बाल की खाल निकालने वाले तर्क-वितर्कों और नीरस और शुष्क सूत्रमयी भाषा का सर्वथा अभाव है। न इसमें उत्तरकालीन लेखकों की नाईं अनुमान की परिभाषा का ही प्रयोग पाया जाता है, न प्रमाण-ग्रन्थों की उक्तियों। इस ग्रन्थ का लेखक जो कुछ कहना चाहता है, सरल और सीधी भाषा में कहता है, और इस ढङ्ग से कहता है कि उसका कथन हृदय में तीर की नाईं प्रवेश करके मन में बैठ जाता है, और फिर पढ़ने अथवा सुननेवाले को न किसी प्रमाण की आवश्यकता रहती है और न किसी शास्त्र की उक्ति की। वह जो कुछ कहता है अपने अनुभव से कहता और सरल और सुन्दर, सरस और काव्यमयी भाषा में कहता है, और दृष्टान्तों और उपाख्यानों द्वारा अपने कथन का समर्थन करता है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ और दार्शनिक ग्रन्थों की नाईं दार्शनिक विद्वानों को ही प्रिय नहीं बल्कि साहित्य के रसिकों को भी प्रिय है। दृष्टान्तों की प्रचुरता के कारण प्रायः सभी कक्षाओं के पाठक इसका रस ले सकते हैं और इसके सिद्धान्तों को समझ सकते हैं। उपाख्यानों के कारण सर्वसाधारण मनुष्य भी इसमें आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। इस कथन में किञ्चिन्मात्र भी अत्युक्ति नहीं है कि यह ग्रन्थ एक उत्तम और सरस काव्य है। योगवासिष्ठकार का यह कहना बिल्कुल ठीक है:—

शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम् ।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम् ॥ (२।१८।३३)

अर्थात् यह शास्त्र सुबोध है, अलङ्कारों से विभूषित है, रसमय सुन्दर काव्य है, और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित हैं।

योगवासिष्ठकार को रसहीन, रूखी और कठिन भाषा पसन्द नहीं है, क्योंकि वह श्रोता के हृदय में न प्रवेश ही कर पाती है और न वहाँ पर जाकर प्रकाश करती है।

यत्कथ्यते हि हृदयंगमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम् ॥ (३।८४।४५)
त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम्।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम् ॥ (३।८४।४६)

अर्थात् जो कुछ ऐसी भाषा में कहा जाता है जो कि मधुर शब्दों वाली और समझ में आने वाले दृष्टान्तों (उपमाओं) और युक्तियों वाली हो, वह सुनने वाले के हृदय में प्रवेश करके वहाँ पर इस प्रकार फैल जाती है जिस प्रकार कि तेल की बूँद जल के ऊपर, और सुनने वाले की सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। इसके विपरीत वह भाषा जो कि कठिन, कठोर, कठिनाई से उच्चारण किए जाने वाली, सरस शब्दों और उपमाओं (दृष्टान्तों) से रहित है, वह सुनने वालों के हृदय में प्रवेश नहीं कर सकती और वह इस प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार राख में पड़ा हुआ घृत।

उचित दृष्टान्तों के द्वारा ही कठिन से कठिन विषय का हृदय में प्रवेश कराया जा सकता है।

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्रकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव ॥ (३।८४।४७)

अर्थात्—संसार में जितनी कथाएँ और आख्यान हैं और जो जो विषय उचित और गहन हैं, वे सब दृष्टान्त-रीति से कहने से ऐसे प्रकाशित होते हैं जैसे कि संसार सूर्य की किरणों द्वारा।

इन विचारों को अपने हृदय में रख कर योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म-विद्या को काव्य के रूप में संसार के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। काव्य, दर्शन और आख्यायिका का यह सुन्दर सङ्गम—त्रिवेणी के समान महत्त्व वाला है। तीर्थराज जिस प्रकार पापों का विनाश करता है उसी प्रकार योगवासिष्ठ भी अविद्या का विनाश करता है।

इसका पाठ करने वाला यह अनुभव करता है कि वह किसी जीते जागते आत्मानुभव वाले महान् व्यक्ति के स्पर्श में आ गया है, और उसके मन में उठने वाली सभी शंकाओं का उत्तर बालोचित सुबोध, सुन्दर और सरस भाषा में मिलता जा रहा है, दृष्टान्तों द्वारा कठिन से कठिन विचारों और सिद्धान्तों का मन में प्रवेश होता जा रहा है, और कहानियों द्वारा यह दृढ़ निश्चय होता जाता है कि वे सिद्धान्त, जिनका इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है, केवल सिद्धान्त मात्र और कल्पना मात्र ही नहीं हैं बल्कि जगत् और जीवन में अनुभूत होने वाली सच्ची सच्ची घटनाएँ हैं।

इस ग्रन्थ में किसी दूसरे मत अथवा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का न खण्डन है और न किसी के ऊपर आक्षेप। क्योंकि योगवासिष्ठकार को दृष्टि इतनी उदार और विस्तृत है कि वह सब मतों में ही सत्य को वर्तमान पाता है। उसके विशाल दर्शन में सभी मतों का स्थान है। उसको किसी का भी विरोध नहीं करना है। उसको तो वह सिद्धान्त प्रतिपादन करना है, जिसमें सभी इतर सिद्धान्तों का समावेश है और जिसके विशाल मन्दिर में सभी मत और सम्प्रदाय अविरोधात्मक रूप से अपना अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकते हैं। सत्य तो सत्य ही है। प्रत्येक व्यक्ति और सम्प्रदाय को उसके प्राप्त करने का अधिकार है क्योंकि सभी कोई सत्य की खोज में हैं। उसको कोई किसी एक दृष्टिकोण से देखता है कोई किसी दूसरे से। लड़ाई और विरोध क्यों होना चाहिए। योगवासिष्ठकार के इस प्रकार के भावों के कुछ उदाहरण हम यहाँ पर देते हैं।

(१) बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः। (६।३८।४)

अर्थात् बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद में हमको कोई भेद नहीं जान पड़ता। ऊँची दृष्टि से देखने से दोनों एक ही हैं।

(२) मन के स्वरूप के विषय में नाना दर्शनों के मतों का वर्णन करके योगवासिष्ठकार कहता है :—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)
अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीतावबोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैराकुलाशयाः॥ (३।९६।५२)

स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा।
विचित्रदेशकालोत्थं मार्गं स्वं पथिका इव ॥ (३।९६।५२)

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से मुसाफिर नाना देशों से चले आए हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पद को नाना देश और काल में ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकार से उस परमपद को पहुँचते हुए वे लोग—परमार्थ का किसी को भी ठीक ज्ञान न होने के कारण, और उसका विपरीत ज्ञान होने से भी-परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार बटोही लोग अपने अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने सिद्धान्तों की ही प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलने से उसे किसी प्रकार की सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्ग को छोड़कर किसी दूसरे मार्ग पर चलना ठीक नहीं है।

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥ (३।१३०।२)

अर्थात्—जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है उस मार्ग पर चले बिना उसकी गति न शोभा देती, न सुख देती है, न उसके हित के लिये है और न शुभ फलवाली होती है।

(४) परम तत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है :—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ (५।८७।१९)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ (५।८७।२०)

अर्थात्—परम तत्त्व वही है जिसको शून्यवादी लोग शून्य, ब्रह्मवादी ब्रह्म, विज्ञानवादी विज्ञानमात्र, सांख्यदृष्टिवाले पुरुष,

योगवाले ईश्वर, शैव लोग शिव, कालवादी काल, आत्मवादी आत्मा का आत्मा, अनात्मवादी अनात्मा, माध्यमिक लोग मध्यम और सब ओर समानदृष्टि रखनेवाले सर्व कहते हैं।

योगवासिष्ठ में सब गुण होते हुए भी आधुनिक पाठकों की दृष्टि से एक दो बड़े भारी दोष हैं। इसमें पुनरुक्ति बहुत है और किसी प्रकार की भी विषय सम्बन्धी तरतीब नहीं है। सब बातें सब जगह मौजूद हैं। न कोई क्रम है और न कोई विषयों का उचित स्थान। इस कारण से पढ़नेवालों को इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक और साफ़-साफ़ ज्ञान नहीं होने पाता। प्रकरण विभाग केवल नाममात्र है। प्रत्येक प्रकरण में प्रायः सभी प्रकरणों के सिद्धान्तों का वर्णन है—कितनी अच्छी बात होती कि प्रत्येक प्रकरण में उसी प्रकरण सम्बन्धी बातें होतीं। लेकिन ऐसा नहीं है। तीसरा दोष आजकल के पाठकों की दृष्टि से इस ग्रन्थ में यह है कि यह ग्रन्थ बहुत ही बड़ा है। बहुत-सी बातें बार-बार कही गई हैं और उसी रूप में कही गई हैं। बहुत जगहों पर तो लेखक यही भूल गया है कि वह एक दार्शनिक ग्रन्थ लिख रहा है। उसको यही ध्यान रहा है कि वह एक काव्य लिख रहा है और काव्योचित सौन्दर्य की रचना करने में वह अपने आपको पूर्णतया भूल गया है। यह ग्रन्थकार का गुण और दोष दोनों ही है।

इन सब कारणों से हमने उन पाठकों के लाभ के लिये जो केवल इस ग्रन्थ के दार्शनिक सिद्धान्त ही संपूर्णतया और क्रमबद्ध रीति से जानना चाहें, इस बृहत् ग्रन्थ में से २५०० श्लोकों के लगभग चुनकर उनको दार्शनिक दृष्टिकोण से तरतीब देकर और उनको नाना विषयों में विभाजित करके एक ग्रन्थ **वासिष्ठदर्शन** नामक तैय्यार किया है। यह ग्रन्थ "प्रिन्स आफ़ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट सिरीज" में यू० पी० गवर्नमेण्ट द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसमें योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ, दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी २५०० श्लोकों का संग्रह किया गया है। यह संग्रह अपने ढङ्ग का प्रथम प्रयास है। इस संग्रह का भी एक सार १५० श्लोकों में वर्तमान लेखक ने **श्रीवासिष्ठदर्शनसार** नाम से किया है जो कि हिन्दी अनुवाद और भूमिका समेत प्रकाशित हो चुका है।

योगवासिष्ठ के और भी अनेक संक्षेप किए जा चुके हैं। उनमें

कुछ के नाम हम यहाँ पर देते हैं। इन सब में आजकल के पाठकों की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ हैं।

सबसे उत्तम और सबसे प्रथम संक्षेप काश्मीर के गौड अभिनन्द द्वारा नवीं शताब्दी में किया हुआ लघु **योगवासिष्ठ** नामक है। इस में ४८२६ श्लोक हैं (६००० श्लोक कहे जाते हैं)। उन्हीं ६ प्रकरणों में जो कि योगवासिष्ठ में हैं, संक्षेपकार ने बृहत् ग्रन्थ की कहानियों और सिद्धान्तों का सार, ४८२६ श्लोकों में रखने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न बहुत ही सराहनीय है, किन्तु इसमें योगवासिष्ठके बहुतसे दार्शनिक विषय छूट गए हैं, और निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार बिल्कुल ही नहीं दिया गया। यह निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध तक का ही सार है। इस ग्रन्थ में भी यह दोष है कि विषयों का कोई उचित क्रम नहीं है। जो तरतीब बृहत् ग्रन्थ में है वही इसमें है। जो लोग योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और कहानियाँ—दोनों—संक्षेप से जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है, किन्तु जो लोग योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त ही पूर्णतया जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ पर्याप्त नहीं है। प्रायः लोग इसी ग्रन्थ का पाठ करते हैं।

एक और सार, जो कि दार्शनिक दृष्टि से लघु योगवासिष्ठ से उत्तम है किसी अज्ञात व्यक्ति का किया हुआ है। उसका नाम **योगवासिष्ठसार** है। इसमें २२५ श्लोकों में निम्नलिखित शीर्षकों में बृहत् ग्रन्थ का सार किया गया है:—१—वैराग्य, २—जगन्मिथ्यात्व, ३—जीवन्मुक्तलक्षण, ४—मनोनाश, ५—वासनाक्षय, ६—आत्मध्यान, ७—आत्मार्चन, ८—आत्मस्वरूप, ९—जीवन्मुक्ति। यह भी एक उत्तम प्रयास है। लेकिन इसमें योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का अंश मात्र ही आता है। तरतीब भी ठीक नहीं है। यह ग्रन्थ विलायत के कई हस्तलिखित पुस्तकों के पुस्तकालयों में मौजूद है, और कई वर्ष हुए मुरादाबाद के लक्ष्मीनारायण प्रेस से छपा भी था।

योगवासिष्ठ के और संक्षेप—जिनका पता अभीतक किसी को भी नहीं था—**महोपनिषद्** और **अन्नपूर्णोपनिषद्** नामक हैं। इनमें से प्रथम सार ५३५ श्लोकों में और द्वितीय ३३१ श्लोकों में है। इनमें भी ऊपरवाले सार की नाईं कहानियाँ नहीं हैं, केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही संग्रह है। किन्तु दोनों में मिलाकर भी योगवासिष्ठ

के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं होता। और किसी प्रकार का यथोचित क्रम नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद् में योगवासिष्ठ के 'वासनात्याग' के सिद्धान्त का ही ७६ श्लोकों में सार है। **वराहोपनिषद्** में "योगकी सात भूमिकाओं" और "जीवन्मुक्त के लक्षणों" का ही ३० श्लोकों में वर्णन है। "योगकी सात भूमिकाओं" सम्बन्धी योगवासिष्ठ के ४० श्लोकों को लेकर किसी पाठक ने उनका नाम **अक्षि-उपनिषद्** रख लिया। योगवासिष्ठ के इन सब संक्षेपों में यही त्रुटियाँ हैं कि न तो उनमें कोई ठीक क्रम है और न उसके सारे सिद्धान्त उनमें रखने का प्रयत्न किया गया है। जो बातें जिसको पसन्द आईं उनको उसने योगवासिष्ठ में से निकाल कर अलग कर दिया और उस संग्रह को कोई नाम दे दिया।

इनसे भिन्न प्रकार का हमारा **वासिष्ठदर्शन** और उसका सार हमार **वासिष्ठदर्शनसार** है। इन दोनों में योगवासिष्ठ के सिद्धांत समग्र, क्रमबद्ध, यथोचित शीर्षकयुक्त रूप में रखने का प्रयास है। इनके एक बार पाठ से ही पाठक को योगवासिष्ठ के दर्शन का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

परिच्छेद ६

योगवासिष्ठ और भगवद्गीता

योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध के ५२-५८ सर्गों में "अर्जुनोपाख्यान" नामक एक कहानी है। उसमें वसिष्ठजी ने रामचन्द्र जी को यह कहा—

पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः।
क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा त्वेपय जीवितम् ॥
(६/१।५२।९)

अर्थात्—जिस प्रकार पाण्डु का पुत्र अर्जुन अपने जीवन को बिना दुःख के बितावेगा उसी प्रकार तुम भी अपने जीवन को बिताओ।

तब राम ने प्रश्न किया :—

भविष्यति कदा ब्रह्मन् सोऽर्जुनः पाण्डुनन्दनः।
कीदृशीं च हरिस्तस्य कथयिष्यत्यसक्तताम् ॥
(६/१।५२।१०)

अर्थात्—हे ब्रह्मन्! वह पाण्डुपुत्र अर्जुन कब होगा और हरि उसको किस प्रकार की असक्तता का उपदेश देंगे।

तब वसिष्ठजी ने राम को यह बतलाया कि एक समय ऐसा आवेगा कि लोग बहुत ही घोर पापवृत्ति के हो जायँगे और युधिष्ठिर और दुर्योधन में बड़ा भारी संग्राम होगा। उस संग्राम के आरम्भ में अर्जुन को विषाद होगा और वह युद्ध नहीं करेगा। तब हरि उसको प्रबोधित करेंगे—यह प्रबोध वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को सुनाया है। इन सात सर्गों में इसी का वर्णन है।

भगवद्गीता के साथ इन सर्गों का अध्ययन करने पर यह मालूम पड़ता है कि भगवद्गीता के ७०० श्लोकों में से केवल २७ श्लोक ही ऐसे हैं जो कि पूर्णतया अथवा अंशतः योगवासिष्ठ में पाए जाते हैं। वे ये हैं:—

भगवद्गीता	योगवासिष्ठ (निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध)
२।८	९९।१४
२।१४	९४।२

भगवद्गीता	योगवासिष्ठ (नि० पू०)
२।१६	५५।१२
२।१७	५५।१३
२।१७-१८	५३।२
२।१९	५२।३७
२।२०	५२।२६
२।४७/२-२।४८/२	५४।२६
२।४८।१	५३।१६।१
२।७०	५४।३८
३।६	५४।३६
३।७	५४।३७
३।२७।२	५३।५/२
४।१८	५४।२५
४।२०	५४।३३
५।११	५३।९
६।२९	५३।४३
६।२९/१	५३।६०।१
८।१	५८।१
९।२७	५४।२२
९।३४	५३।३४
१०।१	५४।१
१५।५	५३।६६
१५।९	५५।२१
१७।४।१	५५।१८।१

भगवद्गीता के ७०० श्लोकों में से केवल इतने ही श्लोक योगवासिष्ठ में क्यों उद्धृत हैं जब कि वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को अर्जुनोपाख्यान ७ सर्गों में सुनाया, जिसमें कि २६३ श्लोक हैं ? इस उपाख्यान में वर्णन किए हुए सब विचार भी भगवद्गीता के विचारों से नहीं मिलते। कहीं कहीं पर ही भगवद्गीता के विचार योगवासिष्ठगत विचारों से मिलते हैं।

कुछ लोग तो अवश्य ही यह मान लेंगे कि उस समय में भगवद्गीता का उपदेश लेखबद्ध नहीं था, भविष्य में होनेवाला था।

वसिष्ठजी ने उसे अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा ही जानकर रामचन्द्रजी को बतलाया था जैसा कि योगवासिष्ठगत भविष्यकालीन भाषा से प्रकट है। किन्तु इतिहासज्ञ पण्डित यह नहीं मानेंगे। वे तो यही कहेंगे कि भगवद्गीता योगवासिष्ठ के रचना काल में अवश्य ही वर्तमान रही होगी। यह सम्भव है कि उसमें आजकल प्राप्त होनेवाले सभी ७०० श्लोक न रहे हों। हमें यहाँ पर इस विषय में और कुछ नहीं कहना है। यह विषय भगवद्गीता के विद्वानों के लिए छोड़ते हैं। (देखिये हमारा कल्याण के गीताङ्क में "योगवासिष्ठ में भगवद्-गीता" नामक लेख)।

परिच्छेद ७

योगवासिष्ठ के उपाख्यान

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं। योगवासिष्ठकार ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वानुभव, दृष्टान्त और उपाख्यानों द्वारा किया है। समस्त ग्रन्थ में ५५ उपाख्यान हैं। इनमें से कुछ उपाख्यान तो बहुत ही अच्छे, रोचक और उपदेशप्रद हैं। वसिष्ठ और रामचन्द्रजी का संवाद भी एक उपाख्यान ही के रूप में है। योगवासिष्ठ की दृष्टान्तों और कहानियों द्वारा ब्रह्मज्ञान के उपदेश करने की इस रीति का गुजराती भाषा में चन्द्रकान्त, उर्दू में बहल दरवेश और हिन्दी में ज्ञानवैराग्यप्रकाश नामक पुस्तकों में भली-भाँति अनुसरण किया गया है। यहाँ पर हम पाठकों को योगवासिष्ठ के सब उपाख्यानों का दिग्दर्श मात्र कराना चाहते हैं।

(१) योगवासिष्ठ की कथा

एक समय सुतीक्ष्ण नामक एक ब्राह्मण के मनमें यह शंका उत्पन्न हुई कि मोक्ष प्राप्ति का साधन कर्म है अथवा ज्ञान, अथवा दोनों। इस संशय की निवृत्ति के लिये वह अगस्ति के आश्रम पर गया और उसने उनसे यही प्रश्न किया। अगस्ति ने उत्तर दिया :—मोक्ष न केवल कर्म से प्राप्त होता है, न केवल ज्ञान से ही। पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता। जैसे उसे आकाश में उड़ने के लिए दोनों पंखों की आवश्यकता है, ऐसे ही ज्ञान और कर्म दोनों ही मोक्ष प्राप्ति-के साधन हैं। मैं इस विषय में तुमको एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ :—अग्निवेश्य का वेदवेदाङ्ग जानने वाला एक पुत्र गुरु के घर से विद्या पढ़कर लौट आने पर इसी प्रकार की शंका से व्यथित होकर सब नित्य नैमित्तिक कर्मों को त्याग कर चुपचाप रहने लगा। अग्निवेश्य ने अपने पुत्र को इस अकर्मण्य दशा में देखकर उससे कहा :—पुत्र! तुम कर्म क्यों छोड़ बैठे? कर्म किए बिना तुमको सिद्धि कैसे प्राप्त होगी। कारुण ने कहा :—पिताजी! कुछ शास्त्र तो परमार्थ सिद्धि के लिए कर्म करने का उपदेश देते हैं और कुछ कर्म त्याग का। मेरी समझ में नहीं आता कि कौन सा मार्ग ठीक है। आप ही इस विषय में मुझे यथोचित उपदेश दीजिए। अग्निवेश्य बोले :—इस सम्बन्ध में

मैं तुमको एक पुरानी कथा सुनाता हूँ। उसको सुनकर तुम्हारी यह शंका पूर्णतया निवृत्त हो जावेगी :—एक समय सुरुचि नाम की एक सुन्दर अप्सरा हिमालय के शिखर पर बैठी हुई प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रही थी। उसने इन्द्र के एक दूत को अन्तरिक्ष में जाते हुए देखकर बुलाया और उससे पूछा—हे दूत, तुम कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे? दूत ने उत्तर दिया :—सुभगे! भूलोक में अरिष्टनेमी नामका एक राजा था। उसने अपने पुत्र को राज्य देकर अपने भविष्य कल्याण के लिये गन्धमादन पर्वत पर घोर तप करना आरम्भ कर दिया था। मेरे स्वामी इन्द्र को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने अपने दूतों को भेजकर उनको बड़े आदर और सत्कार के साथ अपने यहाँ बुलवा लिया और स्वर्ग में रहने के लिये उनको निमंत्रित किया। राजा ने इन्द्र से यह प्रार्थना की :—हे देव! स्वर्ग में वास करने से पहिले मैं यह जानना चाहता हूँ कि स्वर्ग में वास करने के गुण और दोष क्या हैं। इन्द्र ने कहा :—राजन्, स्वर्ग में नाना प्रकार के भोग हैं, पर वे सब अपने-अपने शुभ कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। उत्तम कर्मोंवालों को उत्तम भोग, मध्यम कर्मोंवालों को मध्यम, और कनिष्ठ प्रकार के पुण्य कर्मोंवालों को कनिष्ठ प्रकार के भोग स्वर्ग में प्राप्त होते हैं। ऊँची श्रेणी के व्यक्तियों को नीची श्रेणी वालों के प्रति अभिमान, नीची श्रेणीवालों को ऊँची श्रेणीवालों के प्रति ईर्ष्या और मन में वेदना होती है, बराबर श्रेणी के व्यक्तियों में एक को दूसरे के प्रति स्पर्धा होती है। पूर्वकृत पुण्य कर्मों का फल भोग द्वारा क्षीण हो जाने पर स्वर्गवासियों को फिर मर्त्यलोक में वापिस जाकर जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है। यह सुनकर राजा ने इन्द्र से कहा :—देव! इस प्रकार के स्वर्ग में रहने की मेरी इच्छा नहीं है। मुझे आप कृपया गन्धमादन पर्वत पर वापिस भेज दीजिए। वहीं पर मैं तप करते-करते किसी प्रकार की भोगेच्छा न रखते हुए अपने शरीर का त्याग कर दूँगा। हे देवि! इन्द्र ने तब मुझसे यह कहा :—हे दूत! यह राजर्षि तो तत्त्वज्ञान का अधिकारी है। इसको तुम वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर ले जाओ वे इनको आत्मज्ञान का उपदेश देंगे, जिसके श्रवण करने से इनको मोक्ष की प्राप्ति होगी। हे सुरुचि! देवराज इन्द्र की यह आज्ञा पाते ही मैं राजा अरिष्टनेमी को वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर ले गया। वहाँ पर पहुँच कर राजा ने वाल्मीकिजी को साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया—हे

ऋषि! कृपया मुझे वह मार्ग बतलाइए जिसके द्वारा मैं संसार के बन्धन और दुःखों से निवृत्त हो जाऊँ। ऋषि ने कहा—हे राजन्! मैं तुमको मोक्षप्राप्ति का वह सारा उपदेश सुनाता हूँ जो कि किसी समय पर वसिष्ठ ऋषि ने अपने शिष्य श्री रामचन्द्रजी को दिया था। उसको सुनकर तुमको आत्मबोध होगा और तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। इस मोक्षोपाय नामक वसिष्ठ-राम-संवाद का मैंने बहुत दिन हुए संग्रह किया था। इसकी रचना करने पर मैंने इसे अपने विनीत शिष्य भरद्वाज को सुनाया था। भरद्वाज इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, और ब्रह्माजी के पास जाकर उन्होंने इसको ब्रह्माजी को सुनाया। ब्रह्माजी इसको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यह आशीर्वचन कहा:—श्री वाल्मीकिजी ने संसार के उपकार के लिये यह ऐसा उत्तम ग्रन्थ बनाया है कि इसके श्रवणमात्र से ही मनुष्य भवसागर से सहज में पार हो जावेंगे। राजन्! वही ग्रन्थ मैं तुमको अब तुम्हारे हित के लिये सुनाता हूँ। दूत ने सुरुचि को वह सारी कथा कह सुनाई जो कि उसने वाल्मीकि ऋषि के मुँह से सुनी थी।

(२) वसिष्ठ-राम-संवाद की कथा

अरिष्टनेमी ने वाल्मीकिजी से पूछा:—हे भगवन्! राम कौन थे और उनको वसिष्ठजी ने क्यों और क्या उपदेश किया? ऋषि बोले—शाप के कारण अज्ञ मनुष्य का रूप धारण किए हुए श्री विष्णु भगवान् ही रामचन्द्र थे। एक समय विष्णु भगवान् ब्रह्मलोक में गए। सब लोगों ने उठकर उनको प्रणाम किया, किन्तु सनत्कुमार शान्तचित्त स्थिरभाव से बैठे रहे। यह देखकर विष्णु को उनपर क्रोध आ गया और उन्होंने उनको शाप दिया—हे सनत्कुमार! तुमको अपने निष्काम होने का गर्व है इसलिये इस गर्व को दूर करने को मैं तुमको शाप देता हूँ कि तुम शरजन्म नाम के कामी राजा के रूप से पृथ्वी-लोक में जन्म लोगे। सनत्कुमार ने यह सुनकर विष्णु भगवान् से कहा—मैं भी आप को शाप देता हूँ कि आप अपनी सर्वज्ञता को छोड़-कर, जिसका कि आप को गर्व है, कुछ दिनों तक अज्ञानी जीव बनकर भूमण्डल पर वास करोगे। वही विष्णु अयोध्या के राजा दशरथ-के यहाँ रामचन्द्र नामक पुत्र के रूप में आए थे, और अबतक वसिष्ठ जी द्वारा उनको आत्मज्ञान का उपदेश नहीं हुआ था, अज्ञानी ही रहे थे।

इस उपदेश के दिए जाने की कथा इस प्रकार है:—एक समय,

जब कि रामचन्द्रजी शैशवावस्था को समाप्त करके युवावस्था में पदार्पण कर रहे थे, उनके मन में यह विचार उठा कि जीवन में क्या सार है, यहाँ मनुष्य सुखरूपी मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते-दौड़ते अपना सारा जीवन बिता देते हैं, किन्तु किसी को दुःख से रहित सुख की प्राप्ति नहीं होती। रात दिन संसार की उलझनों में फँसे रहते हैं और कभी शान्ति का अनुभव नहीं करते। उत्पन्न होते हैं और कुछ दिन जीवित रहकर मर जाते हैं। कोई भी नहीं जानता कि कहाँ से आते हैं और कहाँ जाते हैं। यह संसार क्यों बना, कैसे बना और कब बना? इससे छूटने का कोई उपाय है अथवा नहीं है? इत्यादि प्रश्न रामचन्द्रजी के मन में उठे और वे इनको सोचने में इतने लीन हो गए कि उनको अपने नित्य कर्मों और अपने खाने-पीने, शयन और विहार करने में किसी प्रकार की भी रुचि न रही। जड़ शिला की मूर्ति की नाई दिन रात बैठे हुए सोचते रहते थे।

रामचन्द्रजी की यह दशा देखकर उनके नौकर-चाकरों ने बहुत ही घबराकर दरबार में आकर महाराज दशरथ के प्रति उनकी शोचनीय दशा का इस प्रकार वर्णन किया:—हे राजन्! कुँवर रामचन्द्रजी की दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गई है। हमारी समझ में ही नहीं आता कि उनको हो क्या गया है। बहुत बार याद दिलाने पर वे अपने नित्य कामों को करने में प्रवृत्त होते हैं, और उनको किसी प्रकार का उत्साह नहीं है। सदा ही खिन्न वदन रहते हैं। स्नान, देवार्चन, दान, भोजन आदि कभी करते हैं, कभी नहीं करते। जरा जरा सी बातों पर उनको क्रोध आ जाता है, क्योंकि जो कुछ भी उनको करना पड़ता है वे मन से नहीं करते। कोई भूषण उनको पसन्द नहीं आता। जो युवतियाँ उनको प्रसन्न करने के लिये उनके पास आती गई हैं, उनसे उनको बहुत ही घृणा होती है। उनको नाचते गाते और झूले में झूलते देखकर उनसे उनको द्वेष होता है। जितने सुन्दर स्वादु और मनोहर पदार्थ हैं उनको देखकर वे नाक चढ़ा लेते हैं। सदा ही मौन रहते हैं। हास-प्रहास से चिढ़ते हैं। एकान्त पसन्द करते हैं। यदि कभी उनको हम बोलते हुए सुनते हैं तो ऐसे शब्द हमारे कानों में पड़ते हैं:—सम्पत्ति से क्या! विपत्ति से क्या! घर बार से क्या! राग रङ्ग से क्या! सब कुछ व्यर्थ है; किसी वस्तु से परमानन्द नहीं मिलता। हम नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं।

किस चीज़ का ध्यान करते हैं। हम केवल यही जानते हैं कि वे प्रतिदिन कृश होते जाते हैं, पीले पड़ते जाते हैं, और ऐसे प्रभाहीन होते जा रहे हैं जैसे कि शरद ऋतु के अन्त में वृक्ष। उनकी हालत को देखकर उनके और भाई भी दुखी रहते हैं। माताओं को भी बड़ी चिन्ता लग रही है। हे राजन्, हम नहीं जानते कि उनके लिए क्या किया जाय। अतः आपको सूचित करने आए हैं।

राजा को रामचन्द्रजी की ऐसी दशा सुनकर बहुत शोक हुआ। राजसभा में विश्वामित्रजी, जो कि राजा दशरथ से अपनी यज्ञरक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने आए थे—और वसिष्ठजी जो कि उनके राजगुरु थे, बैठे हुए थे। यह सब बातें सुनकर और राजा को चिन्तित देखकर विश्वामित्रजी बोले—हे राजन्, यदि रामचन्द्रजी का ऐसा हाल है तो उनको यहाँ बुलवाओ—हम उनका दुःख निवृत्त करेंगे। वसिष्ठजी उनको ऐसा उपदेश देंगे कि उनका सब शोक निवृत्त हो जावेगा, और उनको तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होगी। और वे संसार में एक आदर्श पुरुष होकर अपने जीवन को इस प्रकार बितावेंगे कि संसार उनका अनुकरण करेगा।

यह सुनकर राजा दशरथ की चिन्ता कुछ कम हुई। उन्होंने रामचंद्रजी को बुलवा लिया। रामचन्द्र वहाँ आए और सबको यथायोग्य प्रणाम करके बैठ गए। वसिष्ठ और विश्वामित्र के पूछने पर उन्होंने अपने मन की व्यथा विस्तारपूर्वक सुनाई। संक्षेपतः उनका कथन यह था:—ज्यों ज्यों मेरी शैशावावस्था व्यतीत हो रही है मेरे मन में यह विचार दृढ़ होता जाता है कि संसार में कोई भी सार वस्तु नहीं है। जगत् में मुझे कुछ भी आस्था नहीं रही। मेरी समझ ही में नहीं आता कि राज्य करने से, भोगों के पीछे दौड़ने से, लक्ष्मी का उपार्जन करने से, सुंदर स्त्रियों के सङ्ग से, मनुष्य को किस सुख की प्राप्ति होती है। रातदिन मैं देखता हूँ कि जिनको यह सब वस्तुएँ प्राप्त हैं वे भी महा दुखी हैं। संसार के भोगों से सुख की आशा करना भ्रम है, मृगतृष्णारूप है। इन्द्रियों के भोग विषैले सर्प के फण की नाईं दुखदायी हैं। मनुष्य को इस जीवन में कभी और कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवन के पीछे क्या होता है हम नहीं जानते। हम कहाँ से आते हैं, कहाँ जाते हैं, कुछ मालूम नहीं है। यह संसार क्या है, क्यों है, और इसका क्या अन्त है, हम कुछ नहीं जानते। मनुष्य को किसी अवस्था में चैन नहीं है। शैशावावस्था मोहपूर्ण और दुःखदायी है। युवा अवस्था की रूपी

मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में नष्ट हो जाती है। वृद्धावस्था में सब शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। काल सबको खा जाता है। तब फिर किस लिये मनुष्य संसार के पीछे दौड़ता रहता है ? हे ब्रह्मन्, मुझे तो संसार की किसी भी वस्तु की वाञ्छा नहीं है। न मुझे इस जीवन से कुछ प्रेम है—क्योंकि मुझे इसमें कुछ भी सार नहीं दिखाई पड़ता। यदि आप जानते हों तो, कोई ऐसा मार्ग बताओ जिससे मुझे परम शान्ति और परम पद की प्राप्ति हो। मुझे आप वह मार्ग बताओ जिस पर चलने से मुझे संसार रूपी गड्ढे में न गिरना पड़े, जिससे मैं संसार में रहते हुए भी संसार के दुःखों में न फँसूँ। यदि आप मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं बतलायेंगे, तो मैं स्वयं अपने आप ही सोच कर किसी ऐसे उपाय को ढूँढूँगा। और यदि मैं अपने निज के प्रयत्न से भी संसार से बाहर न हो सका और परम पद और सत्य की प्राप्ति न कर सका, तो, मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अन्न और जल का त्याग करके एक स्थान पर बैठ कर चिन्तन करते करते इस शरीर का त्याग कर दूँगा।

वसिष्ठ और विश्वामित्र रामचन्द्रजी की इस तीव्र जिज्ञासा को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और वसिष्ठजी ने रामचन्द्र को उस तत्वज्ञान का उपदेश दिया जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। इस उपदेश को सुन कर रामचन्द्रजी को आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे जीवन्मुक्त हो कर परम आनन्द को प्राप्त हुए, और संसार में, जल में कमल की नाईं रह कर आदर्श पुरुष बने। रामचन्द्रजी के जीवन को आदर्श बनानेवाला वसिष्ठजी का उपदेश ही योगवासिष्ठ नामक ग्रंथ का विषय है।

३—शुक की कथा

श्रीरामचन्द्रजी का विवेक और वैराग्य और तत्त्वज्ञान के लिये उनकी तीव्र जिज्ञासा देख कर विश्वामित्र राम से बोले - हे राम ! तुम तो तत्त्वज्ञान के योग्य अधिकारी हो, तुम को ज्ञान प्राप्त करने में कुछ भी आयास और समय नहीं लगेगा। तुम्हारा अज्ञान का परदा बहुत ही पतला हो गया है, वसिष्ठजी के उपदेश मात्र से ही तुम्हारा अज्ञान नष्ट होकर आत्मज्ञान का प्रकाश होगा, और तुम जीवन्मुक्त हो कर इस संसारमें जीवन व्यतीत करोगे। व्यास के पुत्र शुक की नाईं तुम ज्ञान के उत्तम अधिकारी हो और उनकी नाईं ही तुमको क्षण भर में ज्ञान हो जावेगा।

राम ने पूछा—हे मुने ! शुक के ज्ञान प्राप्त होने की कथा आप मुझे सुनाइये।

विश्वामित्र बोले—

भगवान् व्यास के पुत्र शुक सब शास्त्रों में निपुण थे। एक समय उनके मनमें यह विचार आया कि मैंने सब कुछ पढ़ लिया, किन्तु अभी तक मुझे न परमानन्द का ही अनुभव हुआ और न यही मालूम हुआ कि यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ है और कैसे इसकी निवृत्ति होगी। यह सोच कर कि उनके पिता व्यासजी सर्वज्ञ हैं वे ही उनकी शङ्काओं की निवृत्ति करेंगे, शुक अपने पिता के पास गए और उनके सम्मुख उन्होंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की। व्यासजी ने उनको कहा—पुत्र! मैं सर्वतत्त्वज्ञ नहीं हूँ, राजा जनक सर्वतत्त्वज्ञ हैं। तुम उनके पास जाओ। वे ही तुम्हारी शंकाओं को निवृत्ति करेंगे। शुकदेवजी पिता की आज्ञा पा कर मिथिला नगरी पहुँचे, और राजा जनक के द्वार पर आ कर उन्होंने द्वारपाल से राजा से मिलने का आशय प्रकट किया। द्वारपाल ने जा कर राजा से कहा कि द्वार पर शुकदेवजी खड़े हैं और आप से मिलना चाहते हैं। जनक समझ गए कि शुकदेवजी तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के निमित्त आए हैं। कुछ सोच कर उन्होंने कहा—खड़े रहने दो। शुकदेवजी सात दिन तक द्वार पर ही खड़े रहे। आठवें दिन राजा ने पूछा - शुकदेवजी खड़े हैं या चले गए? द्वारपाल ने कहा—महाराज वे तो उसी प्रकार निश्चल और निस्तब्ध खड़े हैं जैसे कि आने वाले दिन थे। राजा ने कहा—उनको ले आओ और अन्तःपुर में रानियों और सुंदर स्त्रियों के मध्य में उनको रख कर उत्तम प्रकार के भोजन कराओ और सब प्रकार के भोग भुगवाओ। शुकदेवजी इस परिस्थिति में भी सात दिन रहे किन्तु न उनको वहाँ रहने से हर्ष हुआ और न शोक। न किसी वस्तु से उनको घृणा हुई, और न किसी के लिये इच्छा। राजा को उनके व्यवहार की सब सूचना मिलती रही। आठवें दिन फिर राजा ने उनको अपने पास बुलवाया। शुकदेवजी ने जनक को आदर के साथ प्रणाम किया। जनक ने कहा—शुकदेवजी, आप किस लिये यहाँ पर आए हैं। शुकदेवजी बोले—राजन्, मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह संसार कैसे उत्पन्न होता है और किस आधार पर स्थित है और कैसे इसका क्षय होता है। क्या इससे बाहर निकल कर शान्त और निश्चल आनन्द में स्थित रहने का भी कोई उपाय है? राजा बोले, हे शुक! यह संसार अपने चित्त में ही उत्पन्न होता है और चित्त के निःसंकल्प, निर्वेद, अथवा निस्फुरण होने से क्षीण होता है। चित्त के संकल्प में इसकी स्थिति है। दृश्य

के लिये जब तक मन में वासना है तभी तक संसार का अनुभव होता है। वासना का सर्वथा क्षय होने से ही आत्मानुभव होकर परमानन्द में स्थिति होती है। यह सुनकर शुकदेवजी मिथिला से सुमेरु पर्वत पर चले गए और वहाँ जाकर निर्विकल्प समाधिका अनुभव करके निर्वाणपद में स्थित हुए।

४—वसिष्ठजीकी उत्पत्ति और ज्ञानप्राप्ति की कथा

शुकदेवजी की ज्ञानप्राप्ति की कथा सुनकर रामचन्द्रजी की तत्त्वज्ञान प्राप्ति की इच्छा और भी तीव्र हो गई। उन्होंने वसिष्ठजी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की। वसिष्ठजी ने कहा ! मैं तुमको आज उस पूर्ण ज्ञान का उपदेश देना आरम्भ करूँगा जो कि मुझे सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने दिया था। उसकी कथा इस प्रकार है:—

जब कमलयोनि ब्रह्मा इस जगत् की सृष्टि कर चुके और संसार में मनुष्य कर्म के नियमानुसार सुखदुःख भँवर में फँस गए, तो उनको मनुष्यों की इस दीन दशा को देखकर बहुत करुणा उपजी। उन्होंने सोचा कि कोई ऐसा उपाय मनुष्यों को बताना चाहिए जिसके द्वारा वे इस संसार चक्र से निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति और अनुभव कर सकें। यह सोचकर उन्होंने तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ इत्यादि उपायों की रचना की, किन्तु उनको यही जान पड़ा कि इनमें से कोई उपाय ऐसा नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य निर्वाण नाम परम सुख की प्राप्ति कर सके। वे फिर सोचने लगे, और उनके ध्यान करते करते उनके संकल्प द्वारा उत्पन्न होकर अक्ष की माला और कमण्डलु धारण किए हुए एक सर्वज्ञ देहधारी मनुष्य उनके सामने खड़ा होकर उनको प्रणाम करने लगा। उनका वह मानसपुत्र मैं ही वसिष्ठ था। मुझे देखते ही ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु उनको यह अच्छा नहीं लगा कि मैं सर्वज्ञ था, क्योंकि मेरे सर्वज्ञ होने से मुझे अज्ञजनों के प्रति करुणा कैसे आती—जो अज्ञ रहकर सर्वज्ञता को प्राप्त होता है वही अज्ञजनों के दुःखों से अनुदुःखित हो सकता है—इसलिये मुझे उन्होंने शाप दिया कि कुछ काल के लिये मैं अज्ञ हो जाऊँ। मैं अज्ञ हो गया, और पिता ब्रह्मा से मैंने आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान देने की प्रार्थना की और कहा—हे भगवन्! इस महादुःखदायी संसाररूपी व्याधिकी औषधि बताओ। कैसे यह संसार उदय होता है और कैसे इसका क्षय होता है? ब्रह्माजी ने मुझे इन सब प्रश्नों का विस्तारपूर्वक उत्तर

दिया, और थोड़े ही समय में मुझे समस्त तत्वज्ञान प्राप्त हो गया। तब ब्रह्माजी ने मुझे यह आज्ञा दी कि मैं जम्बूद्वीप के भारतवर्ष नामक देश में जाकर वास करूँ, और संसार के लोगों के कल्याण के निमित्त उस तत्त्वज्ञान का प्रचार करूँ, जो कि मुझे ब्रह्मा ने दिया था, ताकि कुछ लोग जिनको संसार से विरक्ति हो गई है, आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्वाण पद प्राप्त करें। मुझे आज्ञा मिली है कि जो पुरुष कर्मपरायण है और संसार के उत्तम उत्तम भोगों का भोग करना चाहते हैं, उनको मैं कर्मकाण्ड का मार्ग बतलाऊँ; और जो संसार से विरक्त हो गए हैं और संसार-समुद्र के पार निर्वाण पद में स्थित होना चाहते हैं उनको ज्ञान का मार्ग बतलाकर जीवन्मुक्त बनाऊँ। इस प्रकार हे राम ! मैं परमपिता ब्रह्माजी का नियुक्त किया हुआ यहाँ पर स्थित हूँ। तुम ज्ञान के उत्तम अधिकारी हो, इसलिये तुम्हें मैं वह सम्पूर्ण ज्ञान जो कि पिता जी ने मुझे दिया था दूँगा। उसको सुनकर तुम परमानन्द को प्राप्त होगे और जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरोगे।

५—आकाशज की कथा

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी के सम्मुख अपने वैराग्य की दशा को वर्णन करते हुए संसार में मृत्यु के साम्राज्य का वर्णन किया था, और यह बतलाया था कि कोई पुरुष भी ऐसा नहीं है जिसको काल न खाता हो। वसिष्ठ ने सबसे पहिले रामचन्द्रजी को यही बतलाया कि मृत्यु केवल अज्ञानी जीव के लिये ही है जिसने कि अपने आप को मरणशील भौतिक देह ही मान रक्खा है। जो जीव वासनापूर्वक कर्म करता है वही मृत्यु का भाजन है क्योंकि उसको अपनी वासनाओं की पूर्ति करने और अपने कर्मों का फल भोगने के लिए ही दूसरी परिस्थितियों में जन्म लेना होता है। जो तत्वज्ञानी है, जिसके मनमें संसार के विषयों के लिये लेशमात्र भी वासना नहीं है, जो सकाम कर्म नहीं करता, अपने आपको सदा ही चिदाकाश में स्थित रखता है, और भौतिक शरीर का अभिमानी नहीं है, उसके लिए मृत्यु कोई चीज ही नहीं है। मृत्यु उसको स्पर्श करने में भी असमर्थ है। इस विषय में वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को आकाशज की कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

आकाशज नामक एक ब्राह्मण था। उसकी उत्पत्ति शुद्ध चिदाकाश से, बिना किसी पूर्व कर्म किए, लीला मात्र से हुई थी। उत्पन्न होकर भी वह सदा ही अपने चिदाकाश स्वरूप में

स्थिर रहता था, किसी विषय के लिये उसके हृदय में वासना नहीं थी, और न वह किसी कामना से प्रेरित होकर कोई कर्म करता था। इस प्रकार का जीवन बिताते हुए उसको जब बहुत समय बीत गया तो मृत्यु को खयाल आया कि यह ब्राह्मण बहुत समय से जीवित है, अभी तक मरा नहीं, इसको अब मारना चाहिए। मृत्यु ने उसको मारने का वारंबार प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रही। अपने को अपने नित्य के धर्म का पालन करने में इतना असमर्थ पाकर मौत को आश्चर्य, खेद, और क्रोध, सभी कुछ हुआ। जब अपनी असफलता का कारण मृत्यु की समझ में न आया, तो वह अपने स्वामी यमराज के पास पहुँची, और उनके प्रति अपने विस्मय और अपनी असफलता का हाल कहा। उसको सुनकर यमराज बोले—हे मौत, तू तो निमित्तमात्र है। तू किसी को नहीं मार सकती, केवल प्राणियों के कर्म ही उनको मारते हैं। जिसने वासनात्मक कर्म किए हैं वही तुम्हारा शिकार होता है। जाओ, आकाशज ब्राह्मण के कर्मों की तलाश करो। यदि तुमको उसका कोई भी कामनापूर्वक किया हुआ कर्म मिल गया, तो तुम उसको मारने में समर्थ हो सकोगी, अन्यथा नहीं। मौत ने खुफिया पुलिस की नाईं ब्राह्मण के साथ गुप्त रूपसे रहकर उसके जीवन का भी निरीक्षण किया, और उसके पूर्व-कालीन जीवन का भी भलीभाँति हाल जाना, किन्तु उसको आकाशज ब्राह्मण के जीवन में एक भी वासनात्मक कर्म न मिला। उसकी स्थिति सदा ही आत्मभाव में रहती थी। किसी विषय के प्रति उसकी वासना नहीं थी। उसके चित्त में कोई भी ऐसी कामना नहीं थी जिसकी सिद्धि के लिए वह कोई कर्म करता हो। उसके सारे काम स्वभाव-प्रेरित थे। वह संसार की किसी वस्तु और प्राणी को भी अपने से भिन्न और बाहर नहीं समझता था। उसको क्षणभंगुर देह और मनके साथ आत्मत्व का अभिमान नहीं होता था। अब मृत्यु की समझ में आ गया कि आकाशज का जीवन क्यों उसके काबू से बाहर है। वह यमराज के पास गई और उनसे यह बोली कि जो आप कहते थे ठीक निकला। मैं किसी को नहीं मारती। प्राणियों के कर्म ही उनको मारते हैं।

६—लीला का उपाख्यान

लीला का उपाख्यान योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ और सबसे लम्बे

उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्र को बहुत सी गूढ़ और विचित्र बातों का उपदेश दिया है। मृत्यु क्या है? मृत्यु के पीछे क्या होता है? सृष्टि के भीतर सृष्टि और उसके भीतर भी सृष्टि-प्रकार अनन्त सृष्टियों के होने का वृत्तान्त, वासना के अनुसार आगामी जीवन का बनना-इत्यादि अनेक रहस्यों का इस उपाख्यान में वर्णन है। उपाख्यान बहुत बड़ा है। प्रत्येक पाठक को यह उपाख्यान योगवासिष्ठ में से पढ़ना चाहिए। यहाँ पर हम इसका बहुत संक्षेप से ही वर्णन कर सकते हैं।

पृथ्वीमण्डल पर किसी समय पद्म नाम का एक राजा राज्य-करता था। वह बहुत ही योग्य और सर्व गुण सम्पन्न था। उसके अनुरूप गुणशीलवाली उसकी रानी थी, जिसका नाम लीला था। लीला अपने स्वामी में बहुत अनुरक्त थी और कल्पना में भी कभी उससे जुदा होकर रहना नहीं चाहती थी। वह यही चाहती रहती थी कि उसका स्वामी सदा जीवित रहे, कभी उसकी मृत्यु न हो। लीला ने अपने नगर के सर्वोत्तम पण्डितों को बुलाकर यह पूछा कि कौन सा उपाय ऐसा है जिससे मनुष्य मृत्यु के मुख में न जाए। विद्वानों ने कहा—हे देवि! कोई उपाय ऐसा नहीं है जिससे संसारी मनुष्य उत्पन्न होकर मरे नहीं; जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है। लीला निराश होकर सरस्वती देवी की उपासना करने लग गई। सरस्वती ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। लीला ने सरस्वती से यह वर माँगा कि यदि उसके स्वामी की मृत्यु उससे पहिले हो जाए तो उनका जीव उसके कमरे में ही रहे, उससे बाहर न जाने पाए। सरस्वती देवी यह वर देकर और यह कहकर कि जब लीला उसको याद करेगी वह प्रकट हो जाया करेगी, अन्तर्धान हो गई। समय आने पर पद्म की मृत्यु हो गई। लीला बहुत दुःखी और शोकातुर होकर रोने लगी। एक आकाशवाणी ने उसको बतलाया कि घबराने की जरूरत नहीं है, राजा का जीव उसके कमरे में ही मौजूद है। राजा के शव को यथाविधि उस समय तक सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए जब तक कि वह उसके प्राण लौटने पर पुनर्जीवित न हो जाए। लीला को यह आकाशवाणी सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सरस्वती का ध्यान किया, और सरस्वती देवी अपने वचन के अनुसार आ उपस्थित हुई। लीला ने देवी से पूछा

कि उसके स्वामी अब कहाँ हैं। देवी ने कहा कि वे इसी कमरे में हैं, किन्तु दूसरी सृष्टि में हैं, जो कि इस सृष्टि से सूक्ष्म है और जो इसके भीतर है। लीला को सरस्वती ने बतलाया कि एक जगत के भीतर दूसरा जगत और उसके भीतर एक तीसरा जगत—इस प्रकार यह सिलसिला अनंत तक जारी है। एक सृष्टि दूसरी सृष्टिवाले जीवों के लिये शून्य है। लेकिन यदि कोई जीव दूसरी सृष्टि के व्यवहार को देखना चाहे तो इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लीला यह सुनकर अपने पति को उसकी वर्त्तमान सृष्टि में देखने को बहुत उत्सुक हो गई। यह देखकर सरस्वती देवी ने उसको वह रीति बतलाई जिसके द्वारा वह दूसरी और सूक्ष्मतर सृष्टियों में प्रवेश और वहाँ होनेवाले व्यवहारों का निरीक्षण कर सके।

तब सरस्वती और लीला दोनों ने उस लोक में प्रवेश किया जिसमें कि पद्म उस समय अपने वासनायुक्त पूर्व कर्मों का भोग कर रहा था। पद्म को मरे हुए इस सृष्टि में कुछ क्षण ही हुए थे, किन्तु जिस सृष्टि में वह उस समय था जब कि लीला और सरस्वती उसको देखती हैं, वहाँ पर वह एक १६ वर्ष की अवस्था का राजा बना हुआ एक विशाल राज्य पर राज कर रहा था।

लीला को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इतने थोड़े समय में १६ वर्ष कैसे व्यतीत हो गए और उसके कमरे के भीतर ही सारी सृष्टि और बहुत बड़ा साम्राज्य कैसे दिखाई देता है। सरस्वती ने लीला को समझाया कि देश और काल के अणु-अणु के भीतर महान्-महान् जगत् हैं, और सारे जगतों के देश और काल का हिसाब एक ही नहीं है। जो घटना एक सृष्टि के एक क्षण में हो जाती है, वह दूसरी के एक कल्प में होती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने बिस्तर पर पड़ा हुआ एक क्षण में सालों तक होनेवाले स्वप्न के व्यवहारों का एक अनन्त संसारक्षेत्र में अनुभव कर लेता है उसी प्रकार सब सृष्टियों का हाल है। सरस्वती ने लीला से कहा—इसमें तुमको क्या आश्चर्य होता है, इससे अधिक आश्चर्य की तो यह बात है कि कुल एक सप्ताह भी नहीं व्यतीत हुआ कि तुम्हारे स्वामी पद्म बनने से पहिले एक ब्राह्मण थे और तुम उनकी पत्नी थी। यदि तुमको विश्वास न हो तो आओ मैं तुमको दिखलाती हूँ कि उस ब्राह्मण दम्पति की कुटिया अब खाली पड़ी है और उसके लड़के बाले अभी उसकी मृत्यु का शोक

कर रहे हैं। लीला को यह बात सुनकर वह स्थान देखनेकी बहुत उत्सुकता हुई। सरस्वती लीला को उस सृष्टि में ले गई।

वहाँ पर जाकर लीला ने वह झोपड़ी देखी जिसमें कि ब्राह्मण वसिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती रहते थे। एक दिन वसिष्ठ ने एक राजा की सवारी बड़े ठाठबाट के साथ निकलती देखी। उसको देखकर उनके मन में एक तीव्र वासना उस सुख और वैभव को भोगने की हुई जो कि राजाओं को प्राप्त होता है। उसी दिन ब्राह्मण का शरीर छूट गया। अरुन्धती ने भी यह वर माँग रक्खा था कि यदि ब्राह्मण उससे पहिले मर जाय तो उसका जीव उसकी झोंपड़ी से बाहर न जाने पाए, और सदा उसका और उसके पति का साथ रहे। ब्राह्मण के मरने पर उसकी पत्नी को बहुत दुःख हुआ और उसकी चिता पर बैठकर वह सती हो गई। सरस्वती ने लीला से कहा कि यह सब वृत्तांत केवल एक सप्ताह व्यतीत हुए हुआ था। वह ब्राह्मण तुम्हारे पति पद्म के रूप में और ब्राह्मणी तुम्हारे रूप में इस सृष्टि में राज्य का सुख भोगने के लिये उत्पन्न हुए थे। तुम दोनों का जीव उस कुटिया से बाहर नहीं गया। लीला को बहुत आश्चर्य हुआ और यह जानने की उत्सुकता बढ़ी कि वह उससे पहिले के जन्मों में क्या थी और कहाँ थी। सरस्वती की सहायता से उसको अपने सब पूर्व जन्मों का ज्ञान उदय हो गया।

अब सरस्वती और लीला दोनों उस लोक में लौटीं जहाँ पर पद्म विदूरथ राजा के रूप में राज्य कर रहा था। उनको यह देखकर बहुत विस्मय हुआ कि अब राजा विदूरथ ७० वर्ष की अवस्था के दिखाई पड़ते हैं। उसकी वर्त्तमान स्त्री का नाम भी लीला है। क्योंकि वह लीला को बहुत चाहता था, इसलिये उसको इस जन्म में भी लीला ही मिली। लीला और सरस्वती राजा विदूरथ के एकान्तवास के समय उनके सामने प्रगट हुईं और उनको उनके पूर्व जन्म के पद्मरूप की याद दिलाई। विदूरथ के चित्त में पद्म होने की वासना उदय हो आई। इसी समय दूसरी लीला ने भी सरस्वती देवी से यह वर माँग लिया था कि अगले जन्म में वह अपने पति की पत्नी बने। कुछ समय के पीछे विदूरथ के राज्य पर बाहर से आक्रमण होने लगे और एक बड़ा संग्राम छिड़ गया। इस संग्राम में राजा विदूरथ मारा गया। उसका जीव जो कि लीला के कमरे से कभी बाहर नहीं गया था, वहीं पर सुरक्षित पड़े हुए

शव में प्रविष्ट हो गया, और पद्म नामक देह जाग उठी। पद्म ने उठते ही अपनी पुरानी दुनिया का अनुभव किया और अपने सामने दोनों लीलाओं को, जिनमें उसकी वासना थी, खड़े हुए पाया। अपनी दोनों पत्नियों के साथ सुख से फिर कुछ काल तक पद्म ने जीवन व्यतीत किया।

वसिष्ठ ने रामचन्द्र से कहा कि जो कुछ हमारे जीवन में होता है सब हमारी वासनाओं के अनुसार ही होता है। जीवन-मरण, साथी-सङ्गी, लोक-लोकान्तर सब हमारी वासनाओं के बनाए बनते हैं।

७—कर्कटी राक्षसी की कहानी

मूर्ख लोग दुःख भोगने और मरने के लिये ही जीते हैं। जिसने अपने आत्मा को नहीं जाना, उस मूर्ख का जीवन ही मृत्यु है। ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि से यह नियम बना रक्खा है कि हिंस्र जीवों (दरिन्दों) के भक्षण के लिए मूढ़ प्राणी हैं, आत्मज्ञानी जन नहीं हैं। संसार में जो उदार गुणों वाले देहधारी हैं, वे इस पृथ्वीतल पर वर्तमान चन्द्रमा हैं; वे अपने सङ्ग से सबको शीतलता प्रदान करते हैं। सारे गुणों से उत्तम गुण अध्यात्मविद्या है; उसको जानने से ही राजा राजा होता है और मन्त्री मन्त्री होता है; अन्यथा नहीं।

इन सिद्धान्तों को समझाने के लिये श्री वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को कर्कटी (विषूचिका) का उपाख्यान सुनाया, जो संक्षेपतः इस प्रकार है। हिमालय पहाड़ की उत्तरीय घाटी में कर्कटी नाम की एक राक्षसी रहती थी। वह अन्य जीवों को खाकर अपना पेट भरती थी। किन्तु बहुत दीर्घकाय होने के कारण सदा ही भूखी रहती थी। इसलिये उसने उग्र तपस्या की और ब्रह्मा को प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका आकार सूई के समान हो जाय। ब्रह्मा ने एवमस्तु कहा और तभी से कर्कटी का आकार सूचि के समान हो गया और उसका नाम अब विषूचिका पड़ा। उसने इस विषूचिका रूप से बहुत से जीवों का हनन किया। किंतु उसको रह रहकर यह पछतावा होता था कि बहुत बड़े-बड़े जन्तुओं को मारने पर भी उसके शरीर में केवल एक छोटी-सी बूँद खून जाता था। उसने फिर तपस्या की और ब्रह्मा को प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका शरीर फिर उतना ही बड़ा हो जाए जितना कि पहले था। ब्रह्मा ने यह वर देने से पहले उससे यह वादा करा लिया कि वह केवल मूढ़ जीवों को ही मारकर अपना पेट भरेगी, ज्ञानी को कुछ नहीं कहेगी। कर्कटी ने यह मालूम करने के लिए कि कौन जीव

मूढ़ है और कौन ज्ञानी है प्रश्नों की एक सूची तैयार की। जो जीव उसे मिलता उसी से वह प्रश्न करती थी। उत्तर न पाने पर उसको भक्षण कर जाती थी। ऐसा करते करते जब उसको कुछ समय हो गया तो एक दिन उसको एक वन में सैर करता हुआ एक किरात राजा दिखाई पड़ा। वह दौड़कर राजा के पास आई और उससे उसने अपने सब प्रश्न पूछे। राजा ब्रह्मज्ञानी था। उसने उसके सब प्रश्नों का संतोषजनक और यथोचित उत्तर दे दिया। इसलिये उसने राजा को खाने से छोड़ दिया और उससे मित्रता करना और उसके संग रहना चाहा। राजा की आज्ञा से उसने अपना कुरूप वेष त्याग कर सुन्दर शरीर धारण किया और सुन्दर वस्त्र और भूषणों से अलंकृत होकर वह राजमहल में रहने लगी। राजा के राज्य में जो लोग पाप और अधर्म करते थे और जिनको राजदरबार से मृत्युदण्ड मिलता था, वे उसको खाने के लिये दिये जाते थे। इस प्रकार वह कुछ दिन शान्ति से जीवन बिताकर उत्तम गति को प्राप्त हुई।

८. इन्दु ब्राह्मण के लड़कों की कथा

जीव केवल संकल्पमय है। जो संकल्प इसके हृदय में दृढ़ हो जाता है वह ही बाह्य आकार धारण कर लेता है। संकल्पमय चित्त जिस प्रकार के जगत् की कल्पना करता है, वैसा ही समस्त जगत् उसमें निर्मित हो जाता है। सारा ब्रह्माण्ड मन की ही कल्पना है, और प्रत्येक मन में जगत के रचने की सामर्थ्य है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादन करते हुए वसिष्ठजीने रामचन्द्रजी को ब्रह्मा के मुख द्वारा सुनी हुई इन्दु ब्राह्मण के लड़कों की कथा, जो संक्षेपतः इस प्रकार है, सुनाई:—

एक समय की बात है कि जगत्स्रष्टा ब्रह्मा अपनी महाप्रलय की निद्रा से जागकर जब नई सृष्टि की रचना करने को ही थे तो उनको मालूम पड़ा कि सृष्टि तो पहिले से रची हुई है। उनको बहुत ही आश्चर्य हुआ। जो सृष्टि उनको दिखाई पड़ी उसके सूर्य से उन्होंने पूछा कि यह सृष्टि मेरे रचने से पहले ही कहाँ से आ गई। सूर्य ने कहा, हे देव, एक ही सृष्टि नहीं, ऐसी ऐसी दस सृष्टियाँ आप के रचे बिना ही रची गई हैं। ब्रह्मा ने विस्मय के साथ पूछा कि इनके रचनेवाले कौन हैं? सूर्य देव ने कहा—

भगवन्, आपकी पूर्वरचित सृष्टि में कैलाश पर्वत के नीचे जो जम्बूद्वीप था उसमें स्वर्णजट नाम का एक प्रान्त था। वहाँ पर इन्दु

नाम का एक बहुत पवित्र ब्राह्मण और उसकी सुयोग्य पत्नी वास करते थे। उनके यहाँ जब बहुत काल तक कोई सन्तान न हुई तो उन्होंने तप करके शिवजी महाराज से वर पाया कि उनके यहाँ १० महामना बालक होंगे। ऐसा ही हुआ। कुछ काल जीकर वह ब्राह्मण मर गया। पुत्रों को उसके मरने का बहुत दुःख हुआ। सबने इकट्ठा होकर यह सोचा कि पिताजी की यादगार क़ायम रखने के लिये कोई ऐसा बड़ा काम करना चाहिए जो आजतक किसी मनुष्य ने न किया हो। सोचते सोचते वे इस प्रस्ताव पर आए कि उन दसों को १० ब्रह्मा बनकर दस सृष्टियों की रचना करनी चाहिए। यह धारणा करके वे लोग पद्मासन जमाकर समाधि में बैठकर यह संकल्प करने लगे कि वे ब्रह्मा हैं और सृष्टि की उत्पत्ति कर सकते हैं। यथोचित समय बीतने पर वह संकल्प दृढ़ हो गया और १० सृष्टियों की रचना हो गई।

यह सृष्टियाँ तब तक क़ायम रहीं जब तक कि उनके संकल्प की शक्ति क्षीण न हुई।

९. अहिल्या रानी और उसके प्रियतम इन्द्र की कहानी

मन के किसी वस्तु पर स्थिर हो जाने में कितना आनन्द है और स्थिर चित्त वाले प्रेमी को शरीर के दुःखों का किस प्रकार भान नहीं होता-यह बात अहिल्या और इन्द्र की कथा से ज़ाहिर है। कथा संक्षेप से इस प्रकार है:—

मगध देश में इन्द्रद्युम्न नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा था। उसकी स्त्री अहिल्या, बहुत रूपवती थी। उसी नगर में इन्द्र नामक एक अत्यन्त बुद्धिमान् ब्राह्मण-कुमार रहता था। रानी ने उस ब्राह्मण-कुमार की प्रशंसा सुनकर उसको देखना चाहा। किसी सखी द्वारा ब्राह्मण-कुमार इन्द्र के दर्शन कराए जाने पर वह उसकी परम अनुरागिणी बन गई, और यह चाहने लगी कि इन्द्र उसका होकर उसके ही साथ रहे। वह उसमें इतनी अनुरक्त हो गई कि सारे जगत् को वह तन्मय ही देखने लगी—"ततस्तदनुरक्ता सा पश्यन्ती तन्मयं जगत्"—किसी प्रकार से उसने अपने पास इन्द्र को बुलाया और उससे अपने हृदय का प्रेम प्रकट किया। इन्द्र भी रानी में अनुरक्त हो गया, और सारे संसार को भूलकर उसी के ध्यान में रहने लगा।

अहिल्या को इन्द्र का ध्यान करने में और इन्द्र को अहिल्या का ध्यान करने में अलौकिक आनन्द का अनुभव होता था, और एक की

दूसरे से मिलने की सदा ही चाह रहती थी। रानी जब कभी अवसर पाती इन्द्र को बुला लेती और उसके साथ आनन्द से समय बिताती। यह बात धीरे धीरे राजा को भी मालूम हो गई। राजा ने उन दोनों का विच्छेद कराने का यथाशक्ति यत्न किया किन्तु असफल रहा। उसने उन दोनों को हर एक प्रकार का शारारिक दुःख दिया—मत्त हाथी के पैरों में डलवा दिया, कोड़ों से पिटवाया, अन्न-जल न मिलने दिया—पर उन दोनों का ध्यान एक दूसरे पर इतना लगा हुआ था कि शरीर के कड़े से कड़े दुःख का उनको भान नहीं हुआ।

इन्द्र ने राजा से कहा कि मेरा जगत तो अहिल्यामय है। आपने जो सैकड़ों दुःख मुझे दिए हैं वे मुझे मालूम ही नहीं पड़े। और अहिल्या का जगत् मन्मय है अर्थात् वह सब जगह मुझे ही देखती है, इसलिये उसको भी किसी दूसरे के दुःख देने से जरा भी दुःख नहीं मालूम होता।

राजा को बहुत खेद हुआ क्योंकि वह उन दोनों को सब प्रकार का कष्ट देने पर भी उनको एक दूसरे के मन से दूर न करा सका। तब राजा ने भरत नाम के मुनि के पास जा कर और सब हाल कह कर उनसे यह प्रार्थना की कि वे उन दोनों को शाप दें। भरत ने उनको शाप दिया कि वे नष्ट हो जाएँ। उन दोनों ने भरत और राजा से कहा—इस शाप से हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। ज्यादा से ज्यादा यह शाप हमारे शरीर ही को नष्ट कर देगा। शरीर की तो हमें कुछ सुध बुध ही नहीं। हमारे मनों को जो एक दूसरे के ध्यान में अचल हैं शाप नष्ट नहीं कर सकता। ये दोनों मन जहाँ भी रहेंगे शरीरों की पुनः रचना कर लेंगे।

दोनों शरीर शाप के कारण भूमि पर सूखे वृक्षों की नाईं गिर पड़े। दोनों मृग योनि में पैदा हो कर एक दूसरे से प्रेम करते रहे। इसके पीछे दोनों पक्षी हो कर एक दूसरे में रत रहे। फिर दोनों ब्राह्मण दम्पति के रूप में आए। इसके पीछे भी उनके अनेक जन्म हो चुके हैं लेकिन हर जन्म में वे एक दूसरे को प्रेम करते हैं।

१०—चित्तोपाख्यान

संसार के जितने सुख-दुःख हैं वे सब चित्त के अधीन हैं। बन्ध और मोक्ष भी चित्त की ही अवस्थाएँ हैं। जो चित्त वासनाओं की पूर्ति के लिये इधर उधर दौड़ता रहता है उसको कभी चैन नहीं मिलती, जिसने वासनाओं से निर्मुक्ति पा ली है वही चित्त शुद्ध ब्रह्म

बन जाता है, और अनुपम परमानन्द का अनुभव करता है—इन बातों को समझाते समय वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को चित्तोपाख्यान (चित्त की कहानी) सुनाया, जो इस प्रकार है :—

हे राम ! एक बहुत बड़ा, शान्त और भयानक वन है। एक समय उसमें विचरते हुए मैंने एक विचित्र पुरुष देखा। वह पुरुष बहुत बड़े शरीर वाला, सहस्रों आखों और हाथों वाला था। उसकी क्रियाएँ पागल की क्रियाओं की नाईं देख पड़ती थीं। वह कभी इधर दौड़ता था, कभी उधर; कभी रोता था, कभी हँसता था; कभी नाचता था, कभी शोकातुर हो कर गिर पड़ता था। उसकी सहस्रों आखें उसको सहस्रों विषयों का दर्शन कराती थीं, जिनकी प्राप्ति के लिये वह अधीर हो कर चारों ओर दौड़ता रहता था, और किसी एक विषय पर स्थिर मति हो कर उसका आस्वादन नहीं कर पाता था। किसी विषय की प्राप्ति न होने पर अथवा उस विषय से वह आनन्द प्राप्त न होने पर जिसकी कि वह उस विषय से आशा करता था, वह इतना क्रुद्ध हो जाता था कि वह अपने सहस्रों हाथों से अपनी देह को खूब ज़ोर से पीटने लगता था। ऐसा करते करते वह इतना भयभीत हो जाता था कि वह अपने को सुरक्षित रखने के लिये किसी एकान्त और घने कुञ्ज की शरण लेने के लिये उत्सुक होता था। किन्तु रोते-रोते उसकी दृष्टि और विवेक बुद्धि इतनी मन्द पड़ जाती थी कि वह अन्धे की नाईं करञ्जुवे के घने कुञ्ज में प्रवेश करके उसके कांटों से विदीर्ण होता था और चिल्लाने लगता था। उसके शरीर में इतनी वेदना होती थी कि उसको मिटाने के लिए वह एक कुएँ में कूद पड़ता था। वह कुआँ अन्धेरे और विषैले जन्तुओं से भरा हुआ था और उसमें से नाक को दुःख देने वाली दुर्गन्ध आती थी। रात भर उसमें किसी तरह रह कर प्रातःकाल फिर वह उस कूप से बाहर निकल कर अपने बेचैन जीवन का आरम्भ करता था। घूमते फिरते कभी कभी उसको केले का शीतल और सुगन्धित वन मिल जाता था जिसमें वह घड़ी दो घड़ी विश्राम और भर पेट भोजन पा लेता था। लेकिन वहां पर भी उसको शान्ति नहीं मिलती थी। वहां से भाग कर फिर इधर उधर मारा मारा फिरता था। मैंने यह भी विचित्र बात देखी कि मेरे यत्न करने पर भी वह मेरे सम्मुख नहीं होता था। हर समय वह मेरी निगाह से बच कर चलता था। एक समय ऐसा हुआ कि बहुत

यत्न करने पर मैंने उसको अपने सामने बुलाया और एक दृष्टि उसके ऊपर डाली। देखते देखते ही उसके सहस्रों हाथ और नेत्र क्षीण होने लगे। थोड़े ही समय में उसका सारा शरीर छिन्न भिन्न हो गया और वह मेरे हृदय में प्रविष्ट हो कर शान्त हो गया। मैंने तो यह जाना था कि उस वन में ऐसा उन्मत्त पुरुष एक ही था और उसको मेरा दर्शन होते ही मुक्ति मिल गई। लेकिन फिर मुझे ऐसे पुरुष उस वन में बहुत से मिले। जो जो मेरे सन्मुख आए वे सब शान्त हो गए और जिन्होंने मुझसे मुंह छिपाया वे अभी तक उसी प्रकार भ्रमण कर रहे हैं।

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—हे ब्रह्मन् ! वह वन कहाँ है और वह पुरुष कौन है ? वसिष्ठजी बोले ! हे रामजी ! वह वन यह संसार है और वह मत्त पुरुष मन है। सहस्रों नेत्र और हाथ मन की अनन्त वासनाएँ हैं। वह अन्धकूप गृहस्थ है, करञ्जवे का कुञ्ज नरक है और कदली वन स्वर्ग है। मैं जिसके सम्मुख होता हूँ वह मन शान्त और मुक्त हो जाता है। मैं विवेक हूँ। विचार और विवेक द्वारा ही मन अमनीभाव को प्राप्त होकर निर्वाण और परमानन्द की प्राप्ति करता है।

११—बालाख्यायिका

जो कुछ दृश्य संसार है वह सब केवल दृष्टि मात्र है। कल्पना और भ्रम से अधिक इसकी सत्ता नहीं है। शून्य ब्रह्म की भित्ति पर मनरूपी चित्रकार ने ये सब चित्र बना रक्खे हैं। मन की कल्पना के अतिरिक्त इसमें कुछ भी सार नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में रचे हुए जगत् में कल्पना के सिवाय और कुछ भी नहीं है उस प्रकार ही इस संसार की स्थिति है। वस्तुतः तो जगत् है ही नहीं—मन ने अपने भीतर ही इसकी कल्पना कर रक्खी है, और उस कल्पना के वश होकर वह अपने आपको इतना भूल गया है कि उसको दृश्य पदार्थ ही सार और वास्तविक जान पड़ते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कि कोई बालक सर्वथा मिथ्या कहानी को सुनकर उसको सच समझ कर उसमें सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है। इस विषय को समझाने के लिये वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को एक वह कहानी सुनाई जो किसी दाई ने एक बालक को सुनाई थी, और बालक ने उसको सच्ची बात मान ली थी। वह कहानी इस प्रकार है—

एक शून्य नाम का नगर है। उसमें तीन राजपुत्र रहते थे, जिनमें से दो तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे और एक गर्भ में भी नहीं आया था।

वे विपत्ति में पड़ने के कारण दुःखी होकर सोचने लगे और उन्होंने यह निश्चय किया कि बाहर जाकर धनोपार्जन किया जाए। बाहर जाकर मार्ग में उनको बहुत कष्ट हुआ और मार्ग में चलते चलते थककर भूख और प्यास से तंग होकर वे एक तीन वृक्षों के कुंज की छाया में जा बैठे। वे तीन वृक्ष ऐसे थे जिनमें से दो तो उपजे ही नहीं थे और एक का बीज भी नहीं बोया गया था। वहाँ पर बैठ कर उन्होंने विश्राम किया और अमृत के समान सुस्वादु फलों का भक्षण किया। थोड़ी देर बाद वहाँ से उठकर वे आगे बढ़े और बहुत सुन्दर, निर्मल और शीतल जल वाली तीन नदियाँ उन्हें दिखाई पड़ीं। वे नदियाँ ऐसी थीं कि दो तो जलरहित थीं और एक सूख गई थी। तीनों ने उन नदियों में बड़े आनन्द के साथ स्नान क्रीड़ा की और जल पिया। फिर चलते चलते जब सायंकाल हो गया तो उनको एक भविष्यनगर दिखाई पड़ा। उन्होंने उसमें प्रवेश किया, और उनको रहने के लिये उस नगर में तीन मकान मिले –जिनमें से दो तो अभी बने ही नहीं थे और तीसरे में एक भी दीवार नहीं थी। वहाँ रहकर उन्होंने तीन ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया—जिनमें से दो के तो शरीर ही न थे और तीसरे के मुँह ही नहीं था। उन्होंने तीन थालियों में भोजन किया, जिसमें से दो में तो तली ही नहीं थी और तीसरी चूर्णरूप थी। उस भविष्य नगर में वे तीनों बालक आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताते रहे।

यह कहानी सुनाकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी से कहा कि यह संसार भी इस कहानीकी नाईं है। केवल कल्पनापर ही इसकी स्थिति है। सार वस्तु जो कि कल्पित नहीं इसमें कुछ नहीं है।

१२—इन्द्रजालोपाख्यान

इन्द्रजालोपाख्यान योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि सारा जगत् मन के भीतर है। मन इसको एक निमेष में उत्पन्न कर लेता है और एक निमेष में लीन कर देता है। सारा दृश्य संसार स्वप्न के सदृश है। क्षण भर के स्वप्न में वे सब घटनाएँ घटित हो जाती हैं जो कि बाह्य जगत् में, जो एक दूसरा स्वप्न है, युगों और कल्पों में होती हैं! जो कुछ बाह्य जगत् में होता है वही क्षण भर में मन के अन्दर प्रतीत हो सकता है। संक्षेपतः इन्द्रजालोपाख्यान इस प्रकार है :—

इस पृथ्वी तल पर उत्तरपाण्डव नाम का एक देश था, उस पर लवण

नाम का एक बड़ा धर्मात्मा और प्रतापी राजा राज करता था। एक समय, जब कि राजा अपने दरबार में बैठे हुए थे, वहाँ पर एक इन्द्र-जाली (बाज़ीगर) आया और राजा को यथोचित प्रणाम करके बैठ गया। राजा ने उसको अपना कौतुक दिखाने की आज्ञा दी। इन्द्र-जाली ने अपना पिटारा खोल कर उसमें से एक मोर की पूँछ का गुच्छा निकाल कर राजा के सामने घुमाया। उसके घुमाते घुमाते राजा को निद्रा आ गई और कोई दो घड़ी तक राजा मूर्छित से हो कर निद्रा में पड़े रहे। सब दरबारी लोग सोच में हो गए, और जादूगर को बुरा-भला कहने लगे। जागने पर राजा ने सब लोगों के सम्मुख वह वृत्तान्त सुनाया जिसका कि उन्होंने उस दो घड़ी के समय में अनुभव किया था। वह इस प्रकार था :—

मोर की पूँछ का गुच्छा घूमते देखकर राजा का ध्यान उस ओर ऐसा लगा कि उसको अपनी अवस्था का विस्मरण हो गया और एक विचित्र दृश्य उसके सामने आया। उसने देखा कि एक दूसरे राजा का दूत एक बहुत तेज और सुन्दर घोड़ा लिए उसके सामने उप-स्थित है। दूत ने राजा से प्रार्थना की कि वह घोड़ा उनकी सवारी के लिए उसके राजा ने भेंट रूप से भेजा है। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उस घोड़े पर सवार होकर बाहर निकले। घोड़ा बहुत तेज था। राजा को लेकर वह अति वेग से भागा और रोके न रुका। राजा बैठे-बैठे जब तंग आ गए और अपने राज्य से बहुत दूर दक्षिण दिशा में विन्ध्याचल के जंगल में पहुँच चुके, तब उन्होंने घोड़े पर बैठे हुए ही एक पेड़ की शाखा को पकड़ लिया और घोड़े को छोड़ दिया। जब घोड़ा भाग गया तो वे पेड़ से नीचे उतर कर विश्राम करने के निमित्त बैठ गए। उनको इतनी भूख और प्यास लगी थी कि प्राण निकले जाते थे। चारों ओर देखा। कहीं से भी अन्न अथवा जल की प्राप्ति की सम्भावना न जान पड़ी। वे जीवन से निराश हो ही चुके थे कि एक मलिन वस्त्रों वाली काली और कुरूपा चाण्डाल-कन्या एक बर्तन में जामुन का रस और दूसरे में पके हुए चावल भरे हुए मस्तानी चाल से जाती हुई उनको दिखाई पड़ी। राजा इतने भूखे थे कि सब विचार छोड़कर उससे प्रार्थना करने लगे कि उस अन्न और रस में से कुछ उसको देकर उसके प्राणों की रक्षा करे। कन्या ने राजा से कहा कि वह चाण्डाल-कन्या है और वह अन्न और रस

अपने पिता के लिए ले जा रही है। बहुत प्रार्थना करने पर भी उसने राजा को कुछ न दिया। राजा ने उसका पीछा किया—तब उस कन्या ने राजा से कहा—यदि तुम मेरे पति बनना स्वीकार करो तो मैं अपने पिता के अन्न में से कुछ भाग तुमको दे दूँगी। राजा भूख प्यास से इतने पीड़ित हो रहे थे कि उन्होंने उसका पति बनना स्वीकार कर लिया। उसको थोड़ा सा भात खिलाकर और जामुन का रस पिलाकर वह बड़ी प्रसन्न होकर अपने पिता के पास गई और उससे बोली—मैंने यह सुन्दर पुरुष अपना पति बना लिया है। पिता बहुत प्रसन्न हुए और बोले—बहुत अच्छा किया। जा इसको लेकर घर जा और सुख से जीवन बिता। राजा ने चाण्डाल के घर आकर देखा कि चारों ओर अस्थि, मांस और रुधिर, कुत्ते, गधे और भैंस आदि जानवरों की खालें बिखरी पड़ी हैं। एक बहुत ही गन्दी दुर्गन्धयुक्त झोंपड़ी में उसकी सास मांस पका रही थी। अपने जामाता को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई; रुधिर और मांस का भोजन राजा को परोसा। सारी चाण्डाल बिरादरी को इकट्ठा करके चाण्डाल-दम्पति ने बड़े समारोह के साथ अपनी पुत्री का विवाह रचाया। थोड़े ही समय में राजा एक प्रतिष्ठित चाण्डाल बन गया। कुछ वर्षों के भीतर उसकी स्त्री से उसके यहाँ तीन पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। राजा अपने राजभाव को बिल्कुल ही भूल गया, और चाण्डालोचित सब कर्म करने लगा। बहुत सुख से अपने गृहस्थी में रहता रहा। एक समय ऐसा आया कि वर्षा न होने कारण बहुत बड़ा अकाल पड़ गया। उस देश में अन्न और जल का अभाव हो गया। सब लोग भूखे मरने लगे। तङ्ग आकर वह चाण्डाल अपनी स्त्री और बच्चों को साथ लेकर दूसरे देश में भोजनोपार्जन करने के लिये बाहर निकला। रास्ते में वे सब भोजन के बिना तंग आ गए और चलने योग्य न रहकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। वहाँ पर पड़े-पड़े, सबसे छोटे पुत्र ने पिता से कहा कि भूख के मारे उसके प्राण निकल रहे हैं। पिता के पास और साधन कुछ नहीं था, इसलिए उसने अपने पुत्र की क्षुधा तृप्ति के लिए अपने आपको एक लकड़ी के जलते अन्गार पर रखते हुए कहा कि ले तू मेरा मांस खाकर अपने प्राण की रक्षा कर ले। आग से जलने पर उस चाण्डाल की चेतना दूसरी स्थिति का अनुभव करने लगी—राजा लवण मूर्च्छा से जाग गए और

अपने आपको उन्होंने राजा के रूप में सिंहासन पर बैठा हुआ पाया। सामने इन्द्रजाली बैठा था और सब दरबारी चिन्ताकुल सामने खड़े थे।

राजा को यह सब दृश्य केवल दो घड़ी के भीतर अनुभव करके बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्द्रजालीने उससे कहा—महाराज ये सब घटनाएँ सच्ची हैं और यदि आप को विश्वास न हो तो आप स्वयं उस देश में जाकर देख लीजिये। राजा अपनी सेना को लेकर दक्षिण को रवाना हुए। चलते हुए रास्ते में उन्होंने वे सब देश, स्थान, और दृश्य देखे। किरात देश में पहुँचकर हूबहू वही सब स्थान देखे जिनमें उसने भ्रमण और वृत्त्युपार्जन किया था। वह स्थान भी देखा जहाँ पर कि उसने अपनी देह का अपने पुत्रों की क्षुधातृप्ति के लिए बलिदान किया था। अकाल के सभी निशान उनको वहाँ पर दिखाई पड़े। चाण्डाल गृह में जाकर देखा तो उनकी सास घर में बैठी हुई अपने जमाई की मृत्यु के शोक में रो रही थी। राजा ने उसके पास जाकर उसको सान्त्वना दी। उसको धन देकर प्रसन्न किया, और आश्चर्य से पूर्ण होकर यात्रा से घर लौट आया।

१३—शुक्रोपाख्यान

शुक्रोपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि वासना और संकल्प के अनुसार ही मनुष्य की गति होती है, इसलिये निर्वाणपद प्राप्त करने की इच्छा वाले मनुष्य को संसार के विषयों के लिये वासना नहीं करनी चाहिए, और किसी भी सांसारिक सुख अथवा भोग का अपने मन में संकल्प उदय न होने देना चाहिये।

एक समय की बात है कि मन्दराचल पर्वत पर भृगुमुनि ने उग्र तप करना आरम्भ किया। उनके समीप उनकी देखभाल और सेवा करने के लिये उनके प्रिय और सर्व गुण सम्पन्न पुत्र शुक्र रहने लगे। भृगु ऋषि ने निर्विकल्प समाधि लगाई तो शुक्र को सेवा कार्य से कुछ अवकाश मिला।

एक समय जब कि शुक्र शान्तचित्त बैठे हुए प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे, उनको आकाश मार्ग से जाती हुई एक रूपलावण्य-सम्पन्ना अप्सरा दिखाई पड़ी। उसको देखते ही शुक्र के मन में कामवासना उदय हो आई। उसको प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। उनको यह खयाल आया कि यह अप्सरा देवलोक की है इसलिये देवलोक जाना चाहिए। यह संकल्प उदय होते ही उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर देवलोक पहुँचा। शुक्र ने अपने आपको इन्द्रलोक

में पाया। वहाँ पर चारों ओर ऐश्वर्य और भोग, सौन्दर्य और आनन्द का साम्राज्य दिखाई पड़ता था। इन्द्र ने शुक्र का आदर सत्कार किया और उनको स्वर्ग में रहकर वहाँ के आनन्द का भोग करने के लिये निमन्त्रण दिया। शुक्र का मन तो उसी अप्सरा के पीछे लगा था जिसको देखकर वे काम से परास्त हुए थे। स्वर्ग में उसकी तलाश में फिरने लगे। आखिर वह एक वाटिका में विहार करते हुए मिल ही गई। आँखें चार होते ही दोनों में परस्पर स्नेह का उदय हो गया, और आनन्द से एक दूसरे के साथ रहने लगे। इस प्रकार उस विश्वाची नाम की देवसुन्दरी के साथ आनन्द का उपभोग करते करते शुक्र को बहुत समय बीत गया। जब उसके पूर्वकृत पुण्यों का भोग द्वारा क्षय हो गया तो वह स्वर्ग से गिरा। इसी प्रकार वह अप्सरा भी अपने पुण्य क्षीण होने के कारण स्वर्ग से गिरी। कुछ समय तक दोनों के सूक्ष्म शरीर चन्द्रमा की किरणों में रहे। फिर अनाज के पौदों में आकर रहे। उस पौदे के धान्य को जिसमें शुक्र का जीव था दशारण्य देश के एक ब्राह्मण ने खाया और उसके धान्य को जिसमें विश्वाची का जीव था मालव देश के राजा ने खाया। ब्राह्मण के भोजन का वीर्य बनने पर शुक्र उसकी स्त्री के गर्भ से उस ब्राह्मण का पुत्र हुआ, और मालव नरेश के यहाँ विश्वाची का जीव उसकी कन्या बनकर उत्पन्न हुआ। जब कन्या बड़ी होकर रूपवती और विवाह योग्य हुई तो राजा ने उसको स्वयंवर द्वारा वर चुनने की आज्ञा दी। दैवयोग से वह ब्राह्मण-बालक भी यहाँ पर आ निकला। पूर्व स्नेह अदृष्ट रूप से उदय हो आया, और उस कन्या ने विवश होकर ब्राह्मण के गरीब बालक को अपना पति बना लिया। कुछ दिन पीछे राजा अपने जामाता को राज्य सौंपकर वन चले गए। इस प्रकार बहुत दिनों तक राज और राजतनया का उपभोग करने पर शुक्र के जीव ने उस देह का त्याग किया। तब वह बङ्ग देश में एक धीवर हुआ। फिर एक सूर्यवंशी राजा हुआ। फिर एक बड़ा विद्वान् गुरु हुआ। फिर एक विद्याधर हुआ। फिर मद्रास में एक राजा हुआ। फिर वासुदेव नाम का एक तपस्वी बालक हुआ। फिर विन्ध्याचल में एक किरात हुआ। फिर सौवीर और कैवट देश में मंत्री हुआ। फिर त्रिगर्त देश में एक गधा हुआ, फिर किरात देश में एक बाँस का पौदा हुआ। फिर चीन के जंगल में एक हरिण हुआ। फिर एक ताड़ के वृक्ष में वास करनेवाला सर्प हुआ। फिर एक वन में मुर्गा

हुआ। इस प्रकार अपनी वासना और कर्मनियमानुसार वह बहुत से रूपों को धारण करता हुआ एक ब्राह्मण-कुमार होकर गङ्गा तट पर तपस्या करने लगा। उसका शुक्र शरीर विकृत होकर शीर्ण होने लगा।

भृगु ऋषि की जब बहुत काल पीछे समाधि खुली तो उन्होंने शुक्र को अपने पास न पाया। तलाश करने पर जब उसके शरीर को मृत अवस्था में पाया तो उनको काल के ऊपर बहुत क्रोध आया और काल को शाप देने के लिये तैयार हुए। इतने ही में काल ने स्थूल रूप धारण करके भृगुऋषि को प्रणाम किया, और कहा—महाराज आप क्या कर रहे हैं। मैं काल तो भगवान् का नियत किया हुआ हूँ, और सदा अपने धर्म का पालन करता हूँ। मुझे आप शाप नहीं दे सकते। मैं सब प्राणियों की वासना और कर्मों के अनुसार उनके स्थूल शरीर की तबदीली किया करता हूँ। आपका पुत्र शुक्र अपनी वासनाओं के और संकल्पों के अनुसार ही अगण्य योनियों में भ्रमण करता फिर रहा है। कालने उसके सब जन्मों का वृत्तान्त सुनाकर भृगु को बतलाया कि शुक्र का जीव इस समय ब्राह्मण-बालक बना हुआ गङ्गा-तट पर तप कर रहा है। विश्वास न हो तो जाकर देख लिया जाए। भृगु मुनि काल को लेकर उसके समीप गए। ब्राह्मण-बालक ने दोनों को देखा किन्तु पहचाना नहीं। भृगु ने उसको ध्यान लगाकर देखने को कहा। तब उसको अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया। पिता की आज्ञानुसार उसने फिर शुक्र होने की तीव्र वासना की और उसके फलरूप ब्राह्मण-बालक के शरीर को छोड़कर उसकी पुर्यष्टक (सूक्ष्म देह) ने शुक्र शरीर में प्रवेश करके उसको जीवित किया।

वसिष्ठजी ने राम से कहा कि शुक्र ने जो रूप धारण किया अपनी वासना के अनुसार किया। हरएक जीव की हरएक वासना उसके लिये एक बाँधनेवाली डोरी है, जो कुछ काल के लिये अवश्य ही उसे उस विषय से बाँधेगी जिसकी वह चाह करता है। किसी उर्दू कवि ने ठीक कहा है :—

आर्ज़ूये दीदे जानां बज़्म में लाई मुझे।
अर्ज़ूये दीदे जानां बज़्म से भी ले चली॥

अर्थात् प्रिय वस्तु के दर्शन (प्राप्ति) की अभिलाषा (वासना) ही मुझे संसार में लाती है और वही मुझे संसार से ले जाती है।

कठोपनिषद् में इसी कारण से यह कहा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

अर्थात्—जब इस जीव के हृदय में वास करनेवाली वासनाओं का परित्याग हो जाता है तभी मर्त्य (मरनेवाला) जीव अमृत होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।

१४—दाम, व्याल और कट की कहानी

दाम, व्याल और कट की कहानी सुनाकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्र जी को यह उपदेश दिया कि मनुष्य को सब प्रकार की सिद्धि और विजय प्राप्त करने का एक ही उपाय है और वह है अनहंभावयुक्त पुरुषार्थ। जो मनुष्य अहंभाव से प्रेरित होकर पुरुषार्थ करता है उसको इतनी कामयाबी नहीं प्राप्त होती जितनी कि उसको होती है जो कि अहंभाव से स्पृष्ट न होकर अपने जीवन को हथेली पर रखकर अपने आदर्श की सिद्धि के लिये मृत्यु से ज़रा भी नहीं डरता। जिस मनुष्य में अहंभाव और मृत्यु का डर है और जो सदा ही अपनी जान बचाने का ख़याल रखता है वह परास्त होता है।

एक समय पाताल लोक के असुर राजा शम्बर ने देवलोकवासी देवताओं से संग्राम छेड़ा। बहुत दिनों तक घोर युद्ध होता रहा। कभी शम्बर परास्त होता था, कभी देवराज इन्द्र। शम्बर को कई प्रकार की माया आती थी। उसने अपनी माया द्वारा तीन विशालकाय दैत्य—दाम, व्याल और कट—उत्पन्न किए। वे ऐसे थे जिनमें अहंभाव लेशमात्र भी न था और न किसी प्रकार की वासना उनके मन में होती थी। जिस कार्य के लिये उनकी उत्पत्ति हुई थी केवल उसके करने में ही उनकी निष्काम प्रवृत्ति थी। उसके फल, अथवा उस सम्बन्धी हानि-लाभ की चिन्ता उनके मन में ज़रा भी नहीं होती थी।

ऐसे दाम, व्याल और कटने संग्राम में देवताओं के दाँत खट्टे कर दिए। वे इतनी बहादुरी से लड़े कि उनके सामने खड़े होने की भी देवताओं में हिम्मत न रही। निदान, देवता लोग भाग निकले और ब्रह्मा की शरण में पहुँचे। ब्रह्मा ने ध्यान करके विचार किया तो उनको असुरों की जय का कारण मालूम पड़ गया। उन्होंने देवताओं को समझाया कि जबतक दाम, व्याल और कट अनहंभाव से निष्काम युद्ध करते रहेंगे, तबतक देवताओं को उनके ऊपर विजय प्राप्त न हो सकेगी। इसलिये यदि उनको परास्त करना है, अथवा उनसे

अपनी रक्षा करनी है, तो इस रीति से युद्ध करना चाहिए कि उनके हृदय में विजय की कामना, मृत्यु का भय, जीवन की लालसा और अहं-मम-भाव उत्पन्न हो जाएँ।

देवताओं ने ब्रह्मा की सलाहपर विचार किया और अपने युद्ध का कार्यक्रम निश्चय कर लिया। वे दाम, व्याल और कट से इस रीति से लड़े कि इनके मनमें विजय का अभिमान उत्पन्न हो गया। फिर मरने का भय, पराजय से घृणा, जीवन की लालसा, अहं-मम-भाव उत्पन्न हो गए। इतना होने पर वे देवताओं से युद्ध करने से भय मानने लगे और उनके ऊपर आक्रमण करना छोड़कर भाग निकले और नष्ट हो गए। देवताओं के सर से आफ़त टली।

१५—भीम, भास और दृढ़ की कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह उपदेश दिया कि आत्मज्ञानी पुरुष को, जो कि वासनारहित होकर संसार में स्वधर्म का पालन करता है, उसे यहाँ पर विजय और अभ्युदय और मृत्यु के पीछे उत्तम गति प्राप्त होती है।

जब पाताल के दैत्यराज शम्बर को यह मालूम हुआ कि उसके माया द्वारा उत्पन्न किए हुए योद्धा, दाम, व्याल और कट, इस कारण से देवताओं द्वारा परास्त किए गए कि उनमें अहंभाव का उदय हो आया था (जैसा कि ऊपरवाली कहानी में बतलाया गया है), तो उसने अपनी माया द्वारा तीन आत्मज्ञानी योद्धाओं, भीम, भास और दृढ़ की रचना की। उनमें जन्मसिद्ध ही ब्रह्मभाव पूर्ण रूप से वर्त्तमान था। वे जीवन्मुक्त थे, और किसी कारण से भी उनमें अहंभाव, कामना, भय और फल की आकांक्षा उदय होने की संभावना नहीं थी। वे जिस कार्य को करने के लिये उत्पन्न हुए थे उसको अपनी जान लड़ाकर अनहंभाव से करते थे। जब देवताओं से उनका युद्ध हुआ तो देवताओं के दाँत खट्टे हो गए। देवताओं ने बार-बार उनके चित्त में अहंभाव, वासना और भय आदि उत्पन्न करने का यत्न किया, किन्तु असफल रहे, क्योंकि वे तीनों जीवन्मुक्त थे और स्वधर्मपर दृढ़ रहना ही उनका काम था। जब देवताओं का कोई बस न चला तो वे विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचे। विष्णु भगवान् ने ध्यान धरके देखा तो उनको मालूम हो गया कि भीम, भास और दृढ़ को मारना अथवा परास्त करना

देवताओं के वश से बाहर की बात है। इसलिये वे स्वयं अपना सुदर्शन चक्र लेकर युद्ध-स्थानपर आए और उन तीनों को मारकर उनको अपने लोक में स्थान दिया और देवताओं को भय और दैत्याक्रमण से मुक्त किया।

१६—दाशूरोपाख्यान

मगध देश में शरलोमा नाम का एक मुनि रहता था। उसका एकमात्र पुत्र दाशूर अपने पिता को बहुत प्यार करता था। समय आनेपर जब शरलोमा की मृत्यु हो गई तो दाशूर को अत्यन्त शोक हुआ, और वह अधीर होकर रोने लगा। उसका तीव्र दुःख देखकर एक वनदेवी को बहुत करुणा आई और वह उसके समीप जाकर अदृष्ट रहते हुए ही उसको समझाने लगी—हे साधो! तू क्यों शोक करता है? क्या तेरे लिये कोई ऐसी घटना हो गई है जो दूसरों के लिये नहीं होती? संसार का यह अटल नियम है कि यहाँपर जीव पैदा होकर कुछ दिन जीकर मर जाते हैं। ब्रह्मा तक को भी एक दिन नाश को प्राप्त होना है। तब फिर किसी के मरने पर शोक क्यों किया जाए? रोना तो बच्चों का काम है जिनको संसार के अटल नियमों का ज्ञान नहीं है। तुम तो बच्चे नहीं हो। उठो और अपने जीवन के ध्येय की प्राप्ति में लगो।

दाशूर को होश आया और उसने विचार किया कि पिता के मरने पर शोक करना व्यर्थ है। शोक करने से पिताजी जीवित नहीं हो सकते। अब अपने जीवन को सुधारना चाहिए। यह सोचकर उसने तप करने का निश्चय किया। तप करने के लिये उसने एक अत्यन्त पवित्र स्थान की खोज करनी शुरू की, लेकिन उसको कहींपर भी कोई पवित्र स्थान न मिला। अन्त में उसकी समझ में यह आया कि यदि वह किसी प्रकार किसी वृक्ष की फुङ्गल (अग्रभाग) पर स्थिर रह सके तो वह सबसे शुद्ध स्थान तप करने का होगा। यह इच्छा अपने मन में रखकर उसने कुछ लकड़ियाँ एकत्रित करके आग जलाई और अपना माँस काट काटकर अग्नि देवता को बलि देना आरम्भ किया। ब्राह्मण के माँस की बली आग में पड़ते ही अग्निदेवता को बहुत दुःख हुआ और वे ब्राह्मण के सामने प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो गए, और उससे वर माँगने को कहा। दाशूर ने अपनी इच्छा प्रकट की। अग्निदेव ने वर दिया कि उनको वहाँपर खड़े हुए कदम्ब वृक्ष की शाखा के अग्र भागपर रहने की शक्ति प्राप्त हो।

दाशूर उस कदम्ब वृक्षपर रहकर तप और यज्ञ करने लगे। उनके सब यज्ञ और तप मानसिक थे। मन द्वारा उन्होंने विधिपूर्वक वैदिक रीति से अश्वमेध, नरमेध, गोमेध आदि बड़े बड़े यज्ञों की समाप्ति की। बहुत दिनों तक तप और यज्ञ करने से भी उनको आत्मज्ञान प्राप्त न हुआ, क्योंकि आत्मज्ञान तो केवल विचार से ही उत्पन्न होता है, तप और यज्ञ द्वारा नहीं प्राप्त होता। हाँ इतना हुआ कि निष्काम तप और यज्ञों के करने से दाशूर का अन्तःकरण इतना पवित्र हो गया कि वह अब आत्मा के स्वरूप का विचार करने योग्य हो गया। विचार करने से उसको आत्मज्ञान हो गया, और वह जीवन्मुक्त हो कर आनन्द से उस वन में रहने लगा। अब उसको किसी प्रकार का शोक और मोह नहीं रहा।

एक समय उसके सामने एक वनदेवी आ कर रोने लगी—हे मुने! आपको सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हैं। आप मेरे शोक को दूर कीजिए। चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को इन्द्र के नन्दन वन में कामदेव का उत्सव मनाने के लिये सब देवियाँ एकत्रित हुई थीं। सब के साथ उनकी सन्तानों को देख कर मुझे दुःख हुआ कि मेरे अभी तक कोई पुत्र नहीं है। तब से यह बात मेरे मन में बहुत खटक रही है। हे मुने, आप मेरे इस शोक को दूर करो और मुझे पुत्र प्रदान करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगी। दाशूर को उस वनदेवी पर दया आई और उन्होंने उसको एक पुष्प देकर यह कहा—जाओ, एक महीने के पीछे तुम्हारे गर्भ से एक पुत्र होगा। लेकिन, चूँकि तुमने अग्नि में प्रवेश करने की धमकी दी थी, इसलिये वह पुत्र अज्ञानी होगा। सांसारिक विद्याएँ उसको सभी आवेंगी, परन्तु आत्मज्ञान उसे बिना किसी ज्ञानी के उपदेश किए न होगा।

प्रसन्नचित्त हो कर वह वनदेवी घर गई और एक महीने पश्चात् उसको पुत्रोत्पत्ति का आनन्द प्राप्त हुआ। माता ने पुत्र का भलीभाँति पालन पोषण किया और उसे सब प्रकार की विद्याएँ पढ़ाईं। जब वह दस वर्ष का हो गया तो उसने उसको दाशूर मुनि के पास लाकर उनसे प्रार्थना की कि वे उसको आत्म-ज्ञान दे कर अपने शाप को दूर करें। दाशूर ने वनदेवी के पुत्र को नाना प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश दिया।

वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी से कहा कि एक समय जब कि वे आकाश

मार्ग से सूक्ष्म शरीर द्वारा गङ्गा में स्नान करने जा रहे थे, उन्होंने दाशूर मुनि को वनदेवी के पुत्र को आत्मज्ञान का बड़े सरल और रोचक उपाय से उपदेश करते हुए सुना था। उस समय दाशूर मुनि उसको यह समझा रहे थे कि सारा जगत् संकल्प का प्रसार है। संकल्प ही सारे पदार्थों का उत्पादक है। संकल्प द्वारा ही संसार की रचना होती है, और संकल्प के क्षीण होने पर संसार का नाश होता है। यह संसार केवल एक संकल्प नगर है जो कि शुद्ध चिदाकाश में उदय होता है और उसी में लय हो जाता है।

१७—कच गीता

एक समय देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच को परम शान्ति का अनुभव हुआ और सहज समाधि लग गई। समाधि से जागने पर उन्होंने आत्मा के सर्व व्यापक होने के विषय में निम्नोद्धृत विचारों युक्त एक गीत गाया—वह गीत वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को सुनाया :—

सारा विश्व इस प्रकार आत्मा से परिपूर्ण है जैसे कि महा प्रलय में जगत् जल से पूर्ण होता है। इसलिये मैं किस वस्तु को त्यागूँ और किसके प्राप्त करने की वाञ्छा करूँ? क्या करूँ क्या न करूँ? कहाँ जाऊँ? दुःख भी आत्मा है, सुख भी आत्मा है। सब कुछ आत्ममय है। इसलिये किस बात की चिन्ता होनी चाहिए? देह के बाहर देह के भीतर, ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, सब दिशाओं में आत्मा ही आत्मा है। अनात्म वस्तु कोई भी नहीं है। आत्मा सब जगह स्थित है। आत्मा ही सब कुछ है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो मेरा आत्मा नहीं है। जो कुछ संसार में है वह मेरा ही एक रूप है। मैं सब जगह, सारे ब्रह्माण्ड में सन्मय रूप से पूर्ण हूँ। मैं पूर्ण हूँ, सर्वत्र पूर्ण रूप से स्थित हूँ। आनन्द रूप हूँ। मेरे चारों ओर आनन्द का समुद्र लहरें मार रहा है।

ऐसा कहते कहते कच को फिर समाधि लग गई और वह परमानन्द में लीन हो गया।

१८—जनक के जीवनन्मुक्त होने की कथा

रामचन्द्रजी को जीवन्मुक्ति का उपदेश करते समय वसिष्ठजी ने उनको राजा जनक के जीवनमुक्त होने की कथा सुनाई। वह इस प्रकार है:—

विदेह नगर के राजा जनक एक समय अपने लीलोपवन में सैर

कर रहे थे। एकाएक उनको कुछ अदृष्ट सिद्धों का गाना सुनाई पड़ा। वह बड़े ध्यान से सुनने लगे। गाना क्या था जनक के लिये चेतावनी और उद्बोधन था। उस गाने का सार यह था—

जो मनुष्य, यह ज्ञानकर भी कि संसार के जितने भोग्य पदार्थ हैं वे सब अन्त में दुःखदायी होते हैं, पदार्थों के पीछे दौड़ता है, वह मनुष्य नहीं है गधा है। जो मनुष्य अपने हृदय के भीतर वर्तमान ईश्वर को छोड़कर और दूसरे बाह्य देवताओं की उपासना के चक्कर में पड़ते हैं और बाहर ईश्वर की तलाश करते हैं, वे ऐसे मूढ़ हैं, जैसे कि वह मनुष्य जो हाथ में मौजूद मणि को फेंक कर काँच के पीछे भागता है। हमलोग तो उस देव की उपासना करते हैं जो कि सबमें है, जिसमें सब हैं, जिसके सब हैं, जिससे सब हैं, जो सब है; जो सत्य है, और जो आत्मा का भी आत्मा है। जो सत् और असत्, प्रकाश और अप्रकाश, द्रष्टा और दृश्य से भी परे और इनके मध्य में है वह आनन्दरूप और स्पन्दरहित आत्मा है। वहाँ पर स्थित होकर सब वासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं।

इस गीत को सुनकर जनक को बहुत विषाद हुआ। उन्होंने विचार किया कि यह जन्म वृथा ही जा रहा है, अभी तक उस परम पद की प्राप्ति नहीं हुई है जिसको प्राप्त कर लेने पर और कुछ प्राप्त कर लेने की वासना ही नहीं रहती।

घर जाकर जनक एकान्त स्थान में बैठ कर इस प्रकार विचार करने लगे :—

यह प्रपञ्च-रचना इन्द्रजाल के समान है। न जाने मैं इसमें क्यों मोहित हो रहा हूँ ? संसार के सारे पदार्थ जल की तरङ्गों के समान क्षणभंगुर हैं, फिर भी मैं उनको प्राप्त करने की वासना करता रहता हूँ, इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है ? जिन वस्तुओं में सुख है वे सब दुःखों से मिश्रित हैं, फिर भी मेरी उनमें आस्था है। जो बड़े २ महापुरुष और महाशक्तिशाली मनुष्य हो चुके हैं वे भी मौत के मुँह में चले गए, तब भी मैं जीने की वाञ्छा करता रहता हूँ। संसार के सब पदार्थ नाशवान् हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसको सत्य कहा जा सके किस पदार्थ पर आस्था की जाए ? संसार के सब भोग विषरूप हैं इनमें आस्था करना महा मूर्खता है। जिन-जिन पदार्थों की लोग वासना करते हैं उन सबका परिणाम मुझे दुःख ही दिखाई

पड़ता है। ऐसा कोई पदार्थ नजर नहीं आता जिसको प्राप्त कर लेने पर फिर किसी वस्तु की प्राप्ति की वांछा न रहे अथवा जिसको प्राप्त करके पूर्ण सुख का अनुभव हो जाए। एक वस्तु को प्राप्त कर लेने पर दूसरी के प्राप्त कर लेने की वासना तुरन्त ही हृदय में उदय हो जाती है। जो प्राप्त हो चुकी है उसको सन्तुष्टि से उपभोग नहीं करने पाते कि मन उससे विरक्त होकर दूसरे पदार्थ की ओर लग जाता है, और समस्त जीवन इसी प्रकार की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में खतम हो जाता है। जैसे पतंग दीपशिखा को सुख रूप जान कर उसकी ओर दौड़ता है और उसको छूते ही भस्म हो जाता है यही हाल हम लोगों का है। भोगों को आनन्द रूप जानकर हम उनका उपभोग करने में अपना सर्वस्व खतम कर देते हैं—अन्त में हाथ मल कर पछताते हैं और रोते हैं कि जीवन वृथा ही विता दिया। सब सत्ताओं के सर पर असत्ता नाचती है। सब सुन्दर रम्य पदार्थों के भीतर कुरूपता और अरम्यता छिपी बैठी है। सर्व सुखों का परिणाम दुःख है। बतलाइये फिर कैसे किसी पदार्थ, किसी सौन्दर्य अथवा किसी सुख की वाञ्छा की जाए? जितनी सम्पत्तियाँ हैं वे सब किसी न किसी रूप में आपत्तियाँ ही हैं। बहुत दिन तक अज्ञानी बना हुआ मैं इनके पीछे फिरता रहा। संसार के अनन्त प्रकार के भोगों की वासनाओं के कारण बहुत से जन्म मरण सहे। अब यह नहीं होगा। अब मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। अब मुझे समझ आ गई है। और अब मुझे मालूम हो गया है कि मेरा दुश्मन जो मुझे संसार के भोगों की ओर ले जाया करता है मेरे ही भीतर मेरे मन के आकार में है। मैं अब उसी को पकड़ूँगा और पकड़ कर ऐसा मारूँगा कि फिर वह सर न उठाने पाएगा। मेरा मनरूपी मोती अभी तक बिंधा नहीं है। अब इसको मैं आत्म-विचार रूपी वर्मे से बींधूगा।

यह सोच कर राजा जनक ने अपने मनको सम्बोधन करके उसको समझाना आरम्भ किया। चित्त से जनक ने पूछा—हे चित्त, तू बता अब तक जिन-जिन पदार्थों की प्राप्ति की तूने इच्छा की है उनमें से कितने पदार्थ ऐसे हैं जिनको पाकर तुझे तृप्ति हुई हो? क्या तू समझता है कि भविष्य में भी तेरा वही हाल नहीं रहेगा जैसा कि भूतकाल में रहा है? इसलिए तू अच्छी तरह समझ ले कि तेरा भोगों के पीछे दौड़ना वृथा है। इससे तुझे शान्ति कभी प्राप्त नहीं होगी।

इस प्रकार चित्त को बारबार समझाने से जनक का चित्त शान्त हुआ। भोगों की वासना मन से चली गई। आत्मा का प्रकाश होना आरम्भ हुआ। और धीरे-धीरे शान्ति और आनन्द का अनुभव दृढ़ होने लगा। इस प्रकार का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते, और आत्मा का विचार करने से आत्मा में स्थिति होते-होते, जनक ने जीवन्मुक्ति की प्राप्ति की। उनको न तो किसी वस्तु के प्राप्त करने की वाञ्छा रही, और न त्याग करने की। किसी से न द्वेष रहा, न राग। न राज-पाट को बुरा समझ कर उसको त्याग करने की इच्छा हुई, और न उसके सुखों के भोग करने की वासना मन में रही। जिस स्थिति में वे थे उसके ही अनुसार वे अपने सारे कार्य करते रहे। मन की संकल्प वृत्ति का क्षय हो गया। वे राज्य का सब कार्य यथोचित रूप से करते रहे और किसी कार्य के करने में भी उन्हें किसी प्रकार के हर्ष और विषाद का अनुभव नहीं हुआ। उनका जीवन यंत्रवत् हो गया। न उनको भूत का पश्चात्ताप था और न भविष्यत् की चिन्ता। केवल वर्त्तमान काल के यथायोग्य कार्यों का निरपेक्ष और निरहंभाव से वे सम्पादन करते थे। किसी वस्तु के प्रति भी उनका संग नहीं था। ऐसे राजा जनक राजा होते हुए भी ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ समझे जाते थे।

१९—पुण्य और पावन की कथा

संसार के जितने सम्बन्ध हैं वे सब अस्थायी हैं, एक न एक दिन अवश्य ही टूटेंगे। जिनके साथ पूर्व कर्म और वासनानुसार हमारा इस जन्म में संग हुआ है अवश्य ही उनसे वियोग होना है। यह बात जानते हुए भी जो मनुष्य किसी सम्बन्धी की मृत्यु होने पर, अथवा उससे किसी और कारण से वियोग होने पर रोता और शोक करता है वह मूर्ख है। प्रत्येक प्राणी के अनन्तजन्म हो चुके हैं, उन जन्मों में उसका अनन्त जीवों के साथ सम्बन्ध हुआ है और यथा समय सबसे वियोग हुआ है। जबतक जीव को निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं होगी, तबतक यही दशा बराबर रहेगी। यह समझते हुए किसी प्राणी को किसी सम्बन्धी से वियोग होने पर शोक नहीं करना चाहिए—इस विषय पर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को पुण्य और पावन का वृत्तान्त सुनाया, जो इस प्रकार है :—

जम्बुद्वीप के किसी स्थान पर महेन्द्र नाम का एक पर्वत है।

वहाँ पर गङ्गा के तट पर दीर्घतपस् नाम का एक ब्राह्मण अपनी पत्नी सहित वास करता था। उसके दो बड़े योग्य और सुन्दर पुत्र थे, जिनके नाम पुण्य और पावन थे। पुण्य बड़ा और पावन छोटा था। दोनों ने अपने माता-पिता की शिक्षा के अनुसार तप और ब्रह्म-विचार करना आरम्भ कर दिया। पुण्य तो थोड़े ही काल में ज्ञानवान् हो गया और आत्मपद में स्थित रहने लगा; पावन को ज्ञानप्राप्ति नहीं हुई। इसी बीच में उनके पिता का शरीर छूट गया—माता ने भी उसी समय अपना शरीर छोड़ दिया। पुण्य तो जीवन्मुक्त हो चुका था। उसको अपने माता-पिता के मरने का कुछ शोक नहीं हुआ। उसने यथाविधि अपने माता-पिता के मृतक देहों का संस्कार किया और फिर अपने यथोचित कार्य में लग गया। पावन को माता-पिता के मरने का बहुत शोक हुआ, और वह रात दिन उनको याद कर करके रोने लगा। पुण्य को उसकी दशा पर बहुत करुणा आई। एक दिन उसने पावन को बुलाकर इस प्रकार समझाया :—

भाई पावन! तुम किस लिये इतना शोक करते हो। पिता-माता तो ज्ञानी थे—वे तो उस परमपद को प्राप्त हो गए जो सब जीवों का ध्येय है। तुमसे उनको अवश्य ही जुदा होना था—यह संसार का अटल नियम है जो कि तुम्हारे रोने-धोने से नहीं बदल सकता। इस शरीर का सम्बन्ध जीव से तभी तक है जब तक वह उसकी वासनाओं की सिद्धि करता है। जब वह जीव के काम का नहीं रहता तो जीव उसको फटे-पुराने वस्त्र की नाईं फेंक कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर लेता है। तेरे जीवन के दीर्घ इतिहास में केवल वे ही तेरे माता पिता नहीं हुए। अनेक माता पिता और अनेक स्त्री-पुत्रों से तेरा नाता जुड़ चुका है, और उनसे बिछोह हो चुका है। उनको तू नहीं जानता, क्योंकि तेरी ज्ञान-दृष्टि संकुचित है। मैं तेरे पूर्व जन्मों को जानता हूँ। तू जब मृग योनि में था तो बहुत से मृग और मृगी तेरे बन्धु थे। उनका अब तू क्यों शोक नहीं करता? तू जब हंस योनि में था तो अपने हंस बन्धुओं से वियोग का शोक क्यों नहीं करता? तू वृक्ष योनि में रहा और वृक्ष तेरे बन्धु हुए। तू सिंह हुआ और सिंह जाति के तेरे अनेक बन्धु हुए। तू मत्स्य योनि में रहा, मत्स्य तेरे बन्धु हुए। दशार्णव देश में तू काक और वानर हुआ था; तुषार देश में तू राजपुत्र हुआ। पुण्ड्र देश में तू वनका काक हुआ।

हैहय देश में हाथी ; त्रिगर्त देश में गधा ; शल्व देश में कुत्ता ; साल के वन में पक्षी ; विन्ध्याचल में पीपल का वृक्ष, वट के वृक्ष में घुन ; मन्द्राचल में मुर्गा, कोशल देश में ब्राह्मण ; वङ्ग देश में तीतर ; तुषार देश में घोड़ा हो कर ; ताल की जड़ में कीड़ा, गूलर के वृक्ष में मच्छर ; विन्ध्याचल में बगुला ; हिमालय पर भोजपत्र की छाल में चींटी ; एक गाँव में गोबर के सूखे ढेर में बिच्छू ; एक समय चाण्डाली पुत्र—आदि अनेक योनियों में तुम पैदा हुए और उन योनियों में तुम्हारे अनेक माता-पिता और बन्धुजन हुए। ये सब योनियाँ तुमको तुम्हारे कर्म और वासनाओं के कारण मिलीं। मैं भी आज जो तुम्हारा बन्धु बना हुआ हूँ अनेक योनियों में जीवन बिता चुका हूँ। त्रिगर्त देश में मेढक ; एक वन में छोटा सा पक्षी ; विन्ध्याचल में चाण्डाल ; बंग देश में वृक्ष ; विन्ध्याचल में ऊँट ; हिमालय में चातक ; पौण्ड्र देश में राजा ; एक वन में व्याघ्र ; दो वर्ष तक गीध ; पाँच मास तक ग्राह ; १०० वर्ष तक सिंह ; आँध्र देश में चकोर ; तुषार देश में राजा ; शैलाचार्य का पुत्र इत्यादि अनेक रूप में मैंने जन्म लिया है। इस योनि में मैं तुम्हारा भाई हूँ ; यह सम्बन्ध स्थायी नहीं है। इसलिये हे भाई माता-पिता का वियोग होने पर तुमको किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिए। जब इस प्रकार पुण्य ने पावन को चेतावनी दी तो पावन को बोध हुआ। अपने भाई पुण्य की नाईं वह भी जीवन्मुक्त होकर जीवन बिताने लगा।

२०—बलि की कथा

संसार के भोगों से चित्त को शान्ति नहीं मिलती। जिन भोगों को एक बार भोग लिया जाता है और यह भी अनुभव कर लिया जाता है कि जिस तृप्ति और आनन्दप्राप्ति की उनसे आशा की थी वह उनके द्वारा नहीं मिली, मनुष्य फिर भी बार-बार उन्हीं की इच्छा करता रहता है। इससे अधिक और क्या मूर्खता हो सकती है? यह विचार हृदय में आने पर राजा बलि को संसार से विरक्ति और उस विरक्ति के कारण उनको आत्मपद की प्राप्ति हुई थी। बलि की कथा इस प्रकार है :—

इस जगत् के नीचे पाताल लोक है। वहाँ पर किसी समय विरोचन का पुत्र राजा बलि राज्य करता था। वह महाप्रतापी राजा था। उसने अपने बाहुबल से देवताओं और दानवों को परास्त करके अपना साम्राज्य चारों ओर फैला लिया था। जब उसको राज्य

करते-करते बहुत वर्ष बीत गए तो एक दिन उसके मन में इस प्रकार का विचार उदय हुआ :—मैं चिरकाल से त्रिलोकी का राज्य भोग रहा हूँ, किन्तु कभी चित्त को शान्ति नहीं मिली। बार-बार वे ही भोग भोगता हूँ, लेकिन कभी इनसे परम तृप्ति नहीं हुई। दिन प्रति दिन वही काम करता रहता हूँ जिनको करने से आत्मा का कुछ भी कल्याण होता नहीं दीखता। सारा जीवन इन्हीं भोगों को भोगते हुए, व्यतीत हो गया, लेकिन हाथ कुछ न आया। सब जीवों की क्रियाएँ उन्मत्त की चेष्टाओं के तुल्य हैं। मेरे पिता विरोचन आत्मज्ञानी थे। वे कहा करते थे कि जीव को उस स्थिति को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए, जिसमें परम आनन्द और परम तृप्ति स्वभावसिद्ध है, जिसका आनन्द रूप विषय भोगों के द्वारा प्राप्त सुखों से कहीं उत्तम है, और जिसको प्राप्त करने से विषयों के भोग की वासना नहीं रह जाती। जब वे ऐसी बातें कहा करते थे तब मुझे उनके समझने की शक्ति नहीं थी। लेकिन अब मुझे ज्ञात हो गया है कि जब तक उस पद की प्राप्ति नहीं होगी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। मैंने अच्छी तरह देख लिया है कि संसार के समस्त भोगों को अनन्त काल तक भोग कर लेने पर भी चित्त में शान्ति का अनुभव और परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। भोगों के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह क्षणिक और तुरन्त ही दुःख में परिणत होने वाला है।

इस प्रकार का विचार मन में उदय होने पर बलि अपने गुरु शुक्राचार्य के पास गए, और उनको प्रणाम करके उनसे उस परमपद की प्राप्ति का उपाय पूछा जिसका वर्णन उसके पिता विरोचन किया करते थे। शुक्र ने बलि से कहा :—मुझे इस समय बहुत कुछ कहने का अवकाश नहीं है, कार्यवश कहीं जाना है। केवल एक बात तुमको बतलाए देता हूँ, तुम उसका ही चिन्तन करते रहो। चिन्तन करते करते तुमको निर्विकल्प समाधि लग जायगी और परम आनन्द का अनुभव हो जायगा। वह बात यह है कि जो कुछ संसार में है तुम, मैं और जगत् के सब पदार्थ—वह सब एक ही अखण्ड, शुद्ध, निर्विकार चित् तत्त्व है। उसके अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं। उस पद में अपने आपको विचार द्वारा स्थित करना और अपने आपको वही समझ लेना ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है। यह कहकर शुक्र चले गए।

बलि ने घर आकर विचार करना आरम्भ किया और विचार करते करते उसको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि संसार में जो कुछ है वह सब चित् तत्त्व ही है; इसके अतिरिक्त यहाँ पर कुछ भी नहीं है। ऐसा सोचते-सोचते उसको निर्विकल्प समाधि लग गई, और उस समाधि में उसको अनुपाधि और शुद्ध परमानन्द का अनुभव हुआ। वह आनन्द ऐसा था कि जिसके मुक़ाबले में उसके सारे जीवन के भोगों का सुख लेशमात्र भी नहीं था। बहुत दिनों तक समाधि में बैठा रहा तो राज्य के कामों में विघ्न पड़ने लगे। यह देख कर शुक्राचार्य वहाँपर आए और बलि को समाधि से जगा कर उसको अपने राज्य-कार्यों के देखने का उपदेश किया। बलि को जीवन्मुक्त पद की प्राप्ति हो चुकी थी, और वह आनन्द जिसका उनको समाधि में अनुभव हुआ था उनका सदा का स्वरूप हो गया था। उस आत्मस्वरूप में स्थित होकर बलि ने बहुत दिनों तक राज्य किया और शरीरान्त होने पर निर्वाण पद की प्राप्ति की।

२१—प्रह्लाद की कथा।

प्रह्लाद की कथा योगवासिष्ठ की सर्वश्रेष्ठ कथाओं में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को भक्ति के सच्चे और उत्तम स्वरूप और ज्ञानप्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधना का उपदेश दिया है। कथा इस प्रकार है:—

एक समय पाताल देश का राजा, जहाँ पर दानव लोग रहते थे, हिरण्यकशिपु था। उसने देवताओं से घोर संग्राम किया और उनको उससे इतना भय हुआ कि उन्होंने विष्णु भगवान् से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की। विष्णु भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र द्वारा उसे मार कर देवताओं को भय से मुक्त किया।

हिरण्यकशिपु के विष्णु भगवान् द्वारा मारे जाने पर उसके पुत्र प्रह्लाद को यह विचार हुआ कि विष्णु से वैर रखने से कोई लाभ नहीं है। वे तो इतने बलवान् हैं, कि उन्होंने उसके अत्यन्त बलशाली पिता को सहज ही में मार डाला। इसलिए ऐसे शक्तिशाली देव की भक्ति करने से जिस लाभ की संभावना है वह उनसे वैर करने पर प्राप्त नहीं हो सकता। यह सोचकर प्रह्लाद ने विष्णु भगवान् की भक्ति करनी आरम्भ कर दी।

प्रह्लाद अपने मन में विष्णु भगवान् की दिव्य मूर्ति को स्थापित

करके मानसिक साधनों द्वारा ही उनकी पूजा करने लगा। धीरे धीरे उसने अपने अन्दर से सब असुर वृत्तियों को निकाल कर अपने आपको विष्णु की कृपा योग्य, शुद्ध चित्त वाला, अनन्य भक्त बना लिया। विष्णु भगवान् के अतिरिक्त उसके मन में और कोई वस्तु नहीं आती थी। सदा ही वह उनके ध्यान में रहता था। इस प्रकार के अनन्य प्रेम के वशीभूत होकर विष्णु भगवान् प्रह्लाद के सामने प्रत्यक्ष रूप से आकर उपस्थित हुए और उससे मन चाहा वर माँगने को कहा। प्रह्लाद ने विष्णु भगवान् से यह प्रार्थना की कि उसको वह आत्मज्ञान प्राप्त हो जाय जिसको पाकर उसे उस पद की प्राप्ति हो, जिसमें परमानन्द और परम शान्ति का अनुभव होता है। विष्णु भगवान् ने प्रह्लाद से कहा—संसार के जितने उत्तम पदार्थ हैं वे मैं सब तुमको दे सकता हूँ, लेकिन आत्मज्ञान देना मेरी शक्ति से बाहर है। आत्मज्ञान किसी को किसी दूसरे से नहीं मिल सकता। गुरु और देवता केवल आत्मज्ञान का साधन ही बता सकते हैं, आत्मज्ञान नहीं प्रदान कर सकते। आत्मज्ञान केवल स्वयं विचार करने से उदय होता है। इसलिये तुम भी अपने आप आत्म-विचार करना आरम्भ करो। शुद्ध चित्त और स्थिर बुद्धि द्वारा विचार करते-करते तुमको शीघ्र ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाएगा—यह कह कर भगवान् विष्णु प्रह्लाद की दृष्टि से ओझल हो गए।

प्रह्लाद के मन में आत्मज्ञान प्राप्ति की बहुत तीव्र जिज्ञासा उदय हो गई। उसने विचार करना आरम्भ किया कि आत्मा क्या वस्तु है। विचार करते-करते वे पहिले तो इस निर्णय पर आए कि कोई भी दृश्य पदार्थ आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मा तो सब दृश्य पदार्थों का साक्षी द्रष्टा है। किसी भी दृश्य पदार्थ को आत्मा समझना भूल है। इसलिए, इन्द्रियाँ, शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि वस्तुएँ, जिन सब का ज्ञान आत्मा को होता है, कभी आत्मा नहीं हो सकतीं। आत्मा इन सब दृश्य पदार्थों से परे, इनसे सूक्ष्म, वह तत्त्व है जो स्वयं-संवेद्य है, और जिसका अनुभव हमको उस अवस्था में होता है जब कि हमारे ज्ञान का विषय कोई भी विषय न हो। प्रह्लाद ने उस अनुभव में स्थित होने का प्रयत्न किया। उस अवस्था में स्थित होकर उसको अलौकिक आनन्द और शान्ति का अनुभव होने लगा। ऐसा अभ्यास करते-करते निर्विकल्प समाधि लग गई।

प्रह्लाद को समाधि में बैठे-बैठे बहुत काल व्यतीत हो गया। राज्य में हलचल मच गई। चारों ओर अत्याचार होने लगे। न कोई व्यवस्था रही, और न कहीं न्याय रहा। पाताल लोक की प्रजा निरंकुश होकर दूसरे लोकों के निवासियों पर अत्याचार करने लगी। देवताओं और दानवों में युद्ध भी अब अनियमित रूप से होने लगा। यह दशा देखकर विष्णु भगवान् अपने लोक से पाताल लोक में गए और प्रह्लाद को उन्होंने निर्विकल्प समाधि से जगाकर यह उपदेश दिया :—

प्रह्लाद ! जिस आनन्द और शान्ति का अनुभव तुम निर्विकल्प समाधि में कर रहे हो वही शान्ति और आनन्द सच्चे आत्मज्ञानी को संसार में अपने स्थानोचित धर्म्मों का पालन करते हुए अनुभव में आते हैं। आत्मानुभव नष्ट या तबदील होनेवाली वस्तु नहीं है। न वह किसी अवस्था विशेष का ही नाम है। जिसको एक बार आत्मदर्शन हो गया है वह सदा ही उस पद पर स्थित रहता है जो पूर्ण है, शान्त है, अनन्त है और अखण्ड है। विषय, देह, इन्द्रियां, मन आदि सब ही आत्मतत्व के नाना नाम और रूप हैं। जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो आत्मा से अतिरिक्त हो। यह सारा जगत् आत्मा का ही प्रकाश है, और आत्मा के भीतर है, इसमें अनात्म कुछ भी नहीं है। इसलिये ज्ञानी पुरुष को संसार को छोड़कर कहीं भागना नहीं चाहिए। संसार में ही रहते हुए, जीवन्मुक्त बनकर, अपने धर्मों का, जो कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से सम्बद्ध हैं, पालन करते रहना चाहिए। जो जीवन्मुक्त अपने शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा उनके करने योग्य कर्मों को होने देता है, उसका जीवन ही सुन्दर जीवन होता है। निर्विकल्प समाधि द्वारा प्राप्त स्थिति में ही नित्य स्थित रहते हुए, संसार में रहने और अपने स्थानोचित धर्मों का पालन करते रहने का ही नाम जीवन्मुक्ति है। इसलिये हे प्रह्लाद ! अपने राज्य के कामों को देखो, और राजोचित धर्मों का पालन करो।

प्रह्लाद की समझ में विष्णु भगवान् की बात आ गई। उन्होंने जीवन्मुक्त होकर बहुत समय तक दैत्यलोक का राज्य किया और शरीरान्त होने पर निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

२२—गाधी की कथा

गाधी की कथा योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है।

इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को माया के स्वरूप का उपदेश किया है। इस उपाख्यान का वही तात्पर्य है जो कि इन्द्रजाली के उपाख्यान का था—जो घटनाएँ बाह्य जगत् में बरसों में होती हैं वे ही मन के भीतर उसी रूप से एक क्षण में घटित हो सकती हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी रचना मन के भीतर न हो सकती हो। कथा इस प्रकार है :—

कोशल देश में एक बहुत शुद्ध आचार और विचार वाला गाधी नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके मन में एक समय भगवान् की माया का दर्शन करने की इच्छा हुई। अतएव उसने विष्णु भगवान् की भक्ति करना आरम्भ कर दिया। उनके ध्यान के सिवाय उसके मन में और कुछ न आता था। भगवान् प्रसन्न हुए और गाधी के सामने प्रकट होकर उससे बोले कि जो चाहो वर माँगो। गाधी ने कहा, भगवन्! मैं माया का स्वरूप देखना चाहता हूँ। भगवान् यह कहकर कि किसी समय ऐसा ही होगा, अन्तर्धान हो गए।

कुछ दिन पीछे गाधी गङ्गास्नान को गया। कपड़े निकाल कर गङ्गा तट पर रख दिए और जल में प्रवेश करके एक गोता लगाया। गोता लगते ही उसको एक विचित्र स्थिति का अनुभव हुआ जो इस प्रकार की थी :—

गाधी अपने घर पर है। बीमार है, और बीमारी इतनी बढ़ी कि वह मर रहा है। मरने की अवस्था का उसको अनुभव हो रहा है। उसको मृत शरीर को छोड़ कर लोकान्तरों में जाने का अनुभव होता है, और वहाँ पर अपने जीवन की उत्कट और अपूर्ण वासनाओं के अनुसार उसको भोग और दण्ड मिल रहे हैं। इसके पीछे वह फिर इस लोक में आता है, और एक चाण्डाली के गर्भ में प्रवेश करता है। समय पूरा होने पर वह चाण्डाल-शिशु होकर उत्पन्न होता है, बड़ा होता है और एक चाण्डाल-कन्या से जो कि ऐसी ही कुरूपा है जैसा कि वह स्वयं है, विवाह कर लेता है। उसके साथ गृहस्थी का सुख भोगता है, और चाण्डाल-वृत्ति द्वारा धनोपार्जन करके अपना निर्वाह करता है। उसकी पत्नी द्वारा उसके घर में कई पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न होकर बड़ी होती हैं। वह स्वयं वृद्ध हो जाता है। एक समय उस किरात देश में, जहाँ पर कि वह चाण्डाल रहता है, बहुत अकाल पड़ता है। अन्न न होने के कारण उसके कई लड़के और लड़कियाँ

मर जाती हैं। पत्नी का भी देहान्त हो जाता है। वह बहुत रोता है और शोकातुर होकर अपना पेट पालने के वास्ते दूसरे देश को चला जाता है। रास्ते में उसको अचानक ही एक हाथी अपनी सूँड़ में उठाकर अपनी पीठ पर बैठा लेता है। यह हाथी एक राज्य का हाथी है जो कि उस राज्य के राजा की मृत्यु हो जाने पर इसलिये छोड़ा गया है कि जिसे वह उठा लेगा वही राजा बनाया जाएगा। हाथी के पीछे-पीछे राज्य के मंत्री और अन्य कर्मचारी हैं। उन्होंने उस चाण्डाल को प्रणाम किया और हाथी पर से उतारकर उसको स्नान कराया और नृपोचित शृङ्गार कराकर अपने राज्य स्थान पर ले जाकर गद्दी पर बैठा दिया। अब वह चाण्डाल राजा होकर सब प्रकार के भोगों का उपभोग करने लगा। उसके राज्य में किसी बात की कमी नहीं है। धन-धान्य अतुल है। अन्तःपुर में एक से एक उत्तम और सुन्दर स्त्री उसकी सेवा के लिये मौजूद हैं। पूरे आठ वर्ष उसने सब प्रकार के सुख भोगे और बड़ी अच्छी तरह से राज्य किया। दुर्भाग्यवश एक दिन वहाँ पर उसके यौवन के मित्र और सङ्गी कुछ चाण्डाल आ निकले। उनके सामने से राजा साहब की सवारी निकली तो उन चाण्डालों ने अपने पुराने मित्र कटञ्ज चाण्डाल को राजा के रूप में देखकर पहचान लिया और वे प्रसन्न होकर चिल्लाए और उससे मिलने के लिये दौड़े। सिपाहियों के रोकने पर भी न रुके, क्योंकि जिनका मित्र राजा हो उन्हें सिपाहियों का क्या डर। यह रहस्य प्रजा को मालूम हो जाता है और सारे नगर में इस बात की खबर फैल जाती है कि वहाँ का राजा चाण्डाल है। रानियों को और नगर के द्विजों को इस खबर के पाते ही इतना दुःख और पश्चात्ताप हुआ कि नगर के लोगों ने प्रायश्चित करने के लिये एक स्थान पर बहु विस्तृत अग्निकुण्ड बनाकर अग्नि में प्रवेश किया। राजा को यह सब दृश्य असह्य हो गया और उसने भी उसी अग्निकुण्ड में प्रवेश कर लिया। जब उसका शरीर अग्नि से जलने लगा तो वह अचेत हो गया। जब उसे चेतना आती है तो वह अपने आपको गाधी के रूप में गंगा में ग़ोता लगाकर ऊपर को सर उठाता हुआ पाता है। उसकी बुद्धि में ही नहीं आता कि क्या मामला है। तट की ओर जो देखा तो उसके कपड़े वहाँ पर मौजूद हैं, और चारों ओर की स्थिति पर ग़ौर करने से यही मालूम हुआ कि उसने यह सब अनुभव उतने ही समय में कर लिया जितना कि उसको गंगा में एक ग़ोता लगाने में हुआ था।

कुछ दिन पीछे उसके घर पर एक मुसाफ़िर अतिथि होकर आता है। रात को उसको भोजन कराकर और आराम के लिये योग्य आसन देकर गाधी ने उस यात्री से अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाने की प्रार्थना की। यात्री ने कहा—हे ब्राह्मण, मैंने बहुत देश में भ्रमण किया है पर एक देश में मैंने इतना हृदय-विदारक दृश्य देखा है कि उसका ध्यान करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोना आता है। यहाँ से बहुत दूर उत्तर दिशा में एक देश है। वहाँ सारी द्विज-प्रजा और सारी रानियाँ इस कारण अग्नि में प्रवेश कर गईं कि उनको आठ वर्ष तक अज्ञाततया एक चाण्डाल के राज्य में जीवन बिताना पड़ा। चाण्डाल राजा भी दुःखी होकर उसी अग्नि में प्रविष्ट होकर नष्ट हो गया। वह दृश्य मैंने इन्हीं आँखों से देखा है। वहाँ से मैं प्रयाग गया और त्रिवेणी में स्नान करके सीधा यहाँ आ रहा हूँ।

गाधी को यह बात सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ और उस घटना-स्थान को देखने की प्रबल इच्छा हुई। यात्री को साथ लेकर वे उस राज्य में गए और वहाँ सब बातें उसी प्रकार पाईं जैसे कि उन्होंने अनुभव की थीं। फिर वे किरात देश में गए और वे सब बातें देखीं जो उन्होंने अपने चाण्डाल जीवन में अनुभव की थीं।

इन सब बातों पर विचार करने से उसे ज्ञान हुआ यही माया का स्वरूप है।

२३—उद्दालक की कथा

मनुष्य को शान्ति और आनन्द का अनुभव तभी हो सकता है जब कि वह अपने आपको सत्ता-सामान्य में स्थित कर लेता है। जब तक मनुष्य विकारवान् नाना पदार्थों में अपना अहंभाव रखता है तब तक उसे शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय पर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को उद्दालक मुनि का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

गन्धमादन पर्वत पर उद्दालक नाम का एक युवा मुनि वास करता था। एक समय उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अभी तक उसको शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं हुआ; उसके लिये प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य यही है। इन्द्रियों के भोग भोगने से मनुष्य को कभी तृप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को तो वह वस्तु प्राप्त करनी चाहिए जिसको प्राप्त

कर लेने पर और कुछ प्राप्त करना ही नहीं रहता। मनुष्य का ध्येय तो वह स्थिति है जिसमें अनन्त आनन्द और परम शान्ति का अनुभव हो, और दुःख, शोक और मोह का लेश भी न हो।

यह सोच कर उद्दालक ने निष्काम तप करना आरम्भ किया। कुछ दिन तक तप करने और यम और नियम में स्थित रहने से उसका मन शुद्ध और विवेकवान् हो गया। अब उसने मन को सम्बोधित करके यह पूछना आरम्भ किया :—हे मन ! तू यह बता कि विषयों के पीछे दौड़ने में तुझे क्या सुख मिलता है। यदि तू विचार करके देखे, तो तुझको यह स्पष्ट हो जायगा कि विषयों द्वारा सुख की आशा करना ऐसा ही है जैसा कि किसी प्यासे मनुष्य का मृग-तृष्णा के पीछे दौड़ना। जिन विषयों को तू सुखदाई समझ कर उनके पीछे दौड़ता है वे सब दुखदाई ही सिद्ध होते हैं। किसी विषय को प्राप्त कर लेने पर ऐसी तृप्ति नहीं होती कि फिर और किसी विषय की इच्छा न हो। जिस विषय को तू प्राप्त कर लेता है, उसीसे तुझे थोड़े ही काल पीछे घृणा हो जाती है। यदि वह विषय सुखदाई होता तो उससे घृणा क्यों होती ? अतएव किसी विषय को सुखदाई समझना तेरा भ्रम है। इसलिए विषयों के लिए वासना छोड़ कर उस आत्म-पद में स्थित होने का प्रयत्न कर, जिसमें स्थित हो जाने पर अतुल, अक्षय और अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार के विचारों द्वारा जब उसका मन शान्त हुआ तो उद्दालक ने आत्म-विचार आरम्भ किया और अपने से यह प्रश्न पूछा कि मैं क्या हूँ ? क्या मैं इन्द्रियों के विषय हूँ ? नहीं। क्योंकि मेरा आत्म-भाव तो सदा एक रूप है, स्थिर है, और प्रकाश रूप है। विषय नाना हैं, विकारवान् हैं, और जड़ हैं। इन्द्रियाँ भी मेरा आत्मस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ भी नाना हैं, विकारवान् हैं, और मेरे ज्ञान का विषय हैं। ज्ञाता और ज्ञान के विषय कैसे एक हो सकते हैं ? ज्ञाता तो विषय से सदा ही भिन्न होगा। शरीर भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वह भी मेरे ज्ञान का विषय है। मैं इसको अपना कहता हूँ, यह विकारवान् है, और उत्पत्ति और नाश को प्राप्त होता है। आत्मा में न तो विकार है, और न उत्पत्ति और नाश हैं। आत्मा किसी दूसरे ज्ञान का विषय भी नहीं है। स्व-संवेद्य है। आत्मा के अनुभव में कभी भी विच्छेद नहीं होता; शरीर का अनुभव तो सुषुप्ति अवस्था में होता ही नहीं। क्या मैं

मन हूँ ? यह भी कहना ठीक नहीं है। मन भी आत्मा का विषय है, विकारवान् है, और मन का अनुभव भी अविच्छिन्न रूप से नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था में मन का अनुभव नहीं रहता किन्तु आत्मा का अनुभव तो सब अवस्थाओं में होता रहता है। इन सब विचारों से यह निश्चय हुआ कि विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन आदि जितने पदार्थ हैं कदापि आत्मा नहीं हो सकते। आत्मा इन सब का द्रष्टा, इन सबसे अधिक स्थायी और स्वयं प्रकाश तत्व है। उसका न कोई आदि है और न अन्त। वह सदा ही अपनी सत्ता में स्थित है। उसका अनुभव तभी हो सकता है जब कि सब विषयों से आत्म-भाव हटा कर आत्मसत्ता में अपने आप को स्थित कर लिया जाए।

यह सोचकर उद्दालक ने योग द्वारा मन का निरोध करना आरम्भ किया। प्राणायाम द्वारा प्राणों का निरोध करके उसने कुण्डलिनी शक्ति को जागृत किया, और उसको ब्रह्म-स्थान पर ले जाकर ब्रह्म में स्थित किया। ऐसा करने से उसको निर्विकल्प समाधि लग गई। इस स्थिति में उसने परम शान्ति और परम आनन्द का अनुभव किया।

कुछ काल पीछे निर्विकल्प समाधि टूटी और वह जाग्रत अवस्था में आया। अब उसकी दृष्टि दूसरी ही हो गई। उसके चित्त में वही शान्ति और वही आनन्द था जो कि उसने समाधि की अवस्था में अनुभव किया था। अब उसको जागृत अवस्था में भी आत्म-भाव का अनुभव होता था और उसकी स्थिति उस सत्ता-सामान्य में थी जो कि सदा और सर्वत्र एक रूप में स्थित है, जो सब ही वस्तुओं का परम स्वरूप है और जिसमें आनन्द और शान्ति अविच्छिन्न रूप से वर्तमान हैं। इस अवस्था को चारो अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि—से परे की अवस्था, अर्थात् तुर्यातीत अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में स्थित हो जाने पर मनुष्य को और किसी स्थिति के प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती। उद्दालक ने इस प्रकार अपने को सत्ता-सामान्य में, जो कि चारो अवस्थाओं का आधार है, स्थित करके जीवन्मुक्त रूप से अपना शेष जीवन बिताया।

२४—सुरघु की कथा

उद्दालक मुनिकी नाईं किरातराज सुरघु ने भी अपने विचार द्वारा परम शान्ति का अनुभव किया था। उसकी कथा इस प्रकार है—

हिमालय पर्वतों में कैलाश के पास एक देश था जहाँ पर हेमजटा (सोने जैसे बालोंवाली) नामक एक जङ्गली जाति रहती थी। उस जाति के लोग किरात भी कहलाते थे। उन किरातों के राजा का नाम सुरघु था। सुरघु महा प्रतापी और बुद्धिमान् राजा था। वह बहुत न्यायपूर्वक राज्य करता था। एक समय उसको इस प्रकार की वेदना हुई कि राज्य के कार्य न्यायपूर्वक करने से भी उसके हाथों से बहुत से लोगों (अपराधियों) को दुःख पहुँचता है, और इस दुःख को देख कर उसका चित्त बहुत ही अनुदुखित होता है। यदि इस दुःख से बचने के लिए वह राज्य छोड़ दे तो उसकी प्रजा अराजकता के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। यदि न्याय न किया जाए तो भी दुराचारी लोगों के हाथ से सज्जनों को कष्ट पहुँचेगा। इस प्रकार के असमञ्जस में पड़कर राजा सुरघु बहुत दुःखित हुए।

इस अवसर पर माण्डव्य नामक मुनि उधर को आ निकले। सुरघु ने मुनि को प्रणाम करके उनसे अपनी मनोवेदना की चिकित्सा पूछी। माण्डव्य मुनि ने कहा—हे राजन्! तुम्हारी यह वेदना तब तक शान्त नहीं होगी जब तक तुम आत्मज्ञानी होकर निष्काम भाव से राज्य नहीं करोगे। सांसारिक आधि और व्याधि मनुष्य को उस समय तक कष्ट देती है जब तक कि वह जीवन्मुक्त नहीं होता। जीवन्मुक्त हो जाने पर मनुष्य हर स्थिति में आनन्द और शान्ति का अनुभव करता है।

यह कह कर माण्डव्य मुनि अपने स्थान पर चले गये, और सुरघु ने यह विचार करना आरम्भ किया कि आत्मा क्या है। विचार करते-करते वह इस निश्चय पर पहुँचे कि शरीर, इन्द्रिय और मन आदि में से कोई भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब आत्मा के विषय हैं, विकारवान् हैं और सदा अनुभव में आने वाले नहीं हैं। आत्मा का अनुभव सदा अविच्छिन्न रूप से एकरस रहने वाला है। आत्मा का अभाव कोई भी कभी अनुभव नहीं करता, लेकिन इन सब वस्तुओं के अभाव का कभी न कभी अनुभव होता ही रहता है। इसलिये सदा स्व संवेद्य आत्मा का कभी कभी अनुभव में आने वाले विषय-शरीर, इन्द्रियाँ और मन के साथ अहंभाव होना भ्रममात्र है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदि तो परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं; किन्तु आत्मा, जो कि चिन्मात्र है, अनन्त और सर्वव्यापक है। कोई वस्तु, देश काल

और लोक-लोकान्तर ऐसा नहीं है जो आत्मा से बाहर हो। आत्मा सब में है और सब पदार्थ आत्मा में हैं। सब वस्तुएँ आत्मा का प्रकाश हैं। इस प्रकार सोचते २ सुरघु को आत्मानुभव होने लगा। उसको सब राज्यकार्य करते रहने पर भी आनन्द और शान्ति का भान होने लगा, और सब स्थितियों में समान रहने का अभ्यास हो गया। वह जो कुछ भी करता था, निष्काम भाव से अपना धर्म समझ के करता था। हानि और लाभ, यश और अपयश, मोह और शोक उसको किसी प्रकार भी स्पर्श नहीं करते थे। राज्य के सब कार्य यथास्थिति और आवश्यकतानुसार करते रहने पर भी उसके चित्त में पूर्ण शान्ति रहती थी।

एक समय उसके यहाँ उसका मित्र परिघ नामक एक पारसी राजा भ्रमण करता हुआ आ पहुँचा। पारसी नरेश परिघ भी आत्मज्ञानी था। दोनों मित्रों में बड़े प्रेम से आत्म-चर्चा हुई। सबसे उत्तम बात जो सुरघु ने परिघ से कही वह थी समाधि का स्वरूप। राजा परिघ ने सुरघु से पूछा कि क्या आप को कभी समाधि का अनुभव हुआ है। सुरघु ने उत्तर दिया कि कभी क्या उसको हर समय ही समाधि का अनुभव होता है। आत्मज्ञानी जन तो संसार के सब कार्य करते रहने पर भी समाधि में ही रहते हैं, क्योंकि उनकी स्थिति सदा ही आत्मपद में है। उनको सारा जगत् आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है, जगत् की कोई घटना उनको आत्मपद से च्युत नहीं कर सकती। सारा जगत उनको आत्मा का ही प्रकाश जान पड़ता है। कोई वस्तु ऐसी नहीं दिखाई पड़ती जो हेय अथवा उपादेय हो। वे जगत् में रहकर सब काम करते हुए भी आत्मपद पर स्थित रहते हैं। यह ही सर्वोत्तम समाधि है। अज्ञानी का मन किसी अवस्था में भी शान्त नहीं होता, ज्ञानी का मन सदा ही और सब प्रकार के कामों में लगे रहने पर भी शान्त और समाहित रहता है। निष्काम कर्म करने, शोक और मोह से रहित रह कर संसार में विचरने और आत्मदृष्टि से सब वस्तुओं को देखने का नाम समाधि है। अतः ज्ञानी सदा ही समाहित रहता है।

२५—भास और विलास का संवाद

जीव का परम उद्देश्य, जीवन का अन्तिम प्राप्य स्थान, मनुष्य का सर्वोत्तम ध्येय, आत्मानुभव-स्वरूप परमानन्दमय मुक्ति है। उसको न

जानता हुआ भी प्रत्येक जीव उसी की तलाश में है। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती तभी तक संसार-समुद्र में गोते खाने पड़ते हैं। अज्ञान-वश जीव अनात्म पदार्थों को आत्मा समझता है, जहाँ आनन्द नहीं है वहाँ पर आनन्द की कल्पना करता है, और यह समझता रहता है कि अमुक वस्तु की प्राप्ति से उसे परमानन्द की प्राप्ति हो जाएगी, किन्तु उस वस्तु के प्राप्त कर लेने पर ही उसे यह मालूम हो जाता है कि ऐसा समझना उसकी भ्रान्ति थी। क्षण भर पीछे ही उसकी फिर वही दशा होती है—किसी दूसरी अप्राप्य वस्तु की ओर उसका मन दौड़ जाता है और वह उसको प्राप्त करने मे अग्रसर हो जाता है। प्राप्त हो जाने पर फिर उसे यही मालूम होता है कि उसका विचार ठीक नहीं था। जब तक उसको परमानन्द के यथार्थ स्वरूप का पता नहीं लग जाता और वह उसका अनुभव नहीं कर लेता, तब तक इस प्रकार की भ्रान्तियाँ बराबर होती रहती हैं। इस भ्रान्तिमय जीवन में कभी चैन नहीं मिलती—सदा ही अशान्ति रहती है। इस सम्बन्ध में वसिष्ठ-जी ने रामचन्द्रजी को भास और विलास का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है।

सह्याचल पर्वत पर अत्रि मुनि के आश्रम के समीप दो मुनि रहते थे। उनके दो पुत्र भास और विलास नामक थे। उनमें एक दूसरे के प्रति घनिष्ठ प्रेम था। एक दूसरे से कभी भी जुदा नहीं होता था। दोनों का रहना, खाना, पीना और सोना एक साथ होता था। इस प्रकार रहते रहते उन दोनों के माता पिताओं की मृत्यु हो गई। दोनों ने मिलकर मृतक-संस्कार किया। कुछ समय के पीछे दोनों देश-देशान्तर में घूमने के लिए निकले। दोनों भिन्न दिशाओं में गए और संसार में खूब घूमे, और नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। कुछ काल पीछे वे अकस्मात् एक ही स्थान पर आ मिले। एक दूसरे को देखकर उनको बहुत ही आनन्द हुआ। विलास ने भास से पूछा—भाई भास, आज आप बहुत दिन में मिले हो। आप को देखकर मुझे बहुत ही खुशी हुई है। कहो इतने दिनों तक कुशल से तो रहे? भास ने उत्तर दिया—भाई विलास! इस संसार में कौन कुशल से है? सदा ही किसी न किसी प्रकार का दुःख लगा रहता है। जब तक मनुष्य को आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक पर-मानन्द की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक मनुष्य

इन्द्रियों के विषयों के पीछे सुख की तलाश में दौड़ता रहता है, तब तक कुशल कहाँ ? जब तक मन में विषयों के सुखों की वासना रहती है तब तक कुशल कैसी ? जब तक बुद्धि सांसारिक रहती और आत्म-विचार नहीं करती तब तक कुशल कहाँ ? जब तक मनुष्य जीवन्मुक्त होकर नहीं विचरता तब तक कुशल कैसी ? जब तक मनुष्य संसार में निष्काम भाव से अपनी स्थिति-अनुसार धर्म का पालन नहीं करता तब तक कुशल कैसी ? जब तक अहंभाव है तब तक कुशल कैसे हो सकती है ? जब तक जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक कुशल कैसी ? भास को विलास की बात ठीक जान पड़ी और दोनों भाइयों ने मिलकर आत्म-विचार करना आरम्भ किया।

२६—वीतहव्य का वृत्तान्त

स्वयं विचार करने से चित्त किस प्रकार शान्त हो जाता है यह बात वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को वीतहव्य की कथा द्वारा समझाई जो इस प्रकार है :—

विन्ध्याचल की कन्दरा में वीतहव्य नामक एक तपस्वी रहता था। उसके मन में सांसारिक विषय-भोगों की बड़ी तीव्र कामना थी इसलिये उसने नाना प्रकार के काम्य कर्म किए और उनके फल भोगे, किन्तु उसके मन में किसी प्रकार तृप्ति न हुई। हमेशा ही किसी न किसी विषय के भोग करने की वासना उसके मन में रहती थी। अपनी इस स्थिति पर विचार करने पर उसे बहुत विषाद हुआ। उसने यह निश्चय किया कि पूर्ण तृप्ति और शान्ति प्राप्त करने का उपाय केवल निर्विकल्प समाधि का अनुभव कर लेना है। यह अनुभव प्राप्त करने के लिये उसने एक पत्तों की कुटी बनाई और उसके भीतर पद्मासन लगाकर बैठ गया, और इस प्रकार विचार करने लगा :—

मैं विषयों के पीछे क्यों दौड़ता हूँ ? इसलिये कि मैं समझता हूँ कि अमुक विषय के भोग करने पर मुझे बहुत आनन्द मिलेगा। अनेक प्रयत्न करने पर जब किसी प्रकार वह विषय प्राप्त हो जाता है और उसको भोग किया जाता है तो थोड़े ही काल पीछे यह अनुभव होने लगता है कि हमारा यह ख्याल ग़लत था कि उस विषय का भोग कर लेने पर हमको परम आनन्द का अनुभव और परम तृप्ति की प्राप्ति होगी। थोड़े ही समय पीछे हमको

उस विषय से घृणा होने लगती है और हम उसका त्याग करना चाहने लगते हैं। यदि इस समय वह विषय हमसे दूर नहीं होता तो उसका सामीप्य ही हमको दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। कितने आश्चर्य की बात है कि जो विषय कुछ काल पहले हमको परम आनन्द का उद्गम दिखाई पड़ता था और जिसको प्राप्त कर लेना हम अपने जीवन का ध्येय और सौभाग्य समझते थे, वही विषय प्राप्त हो जाने पर और भोग लेने पर आनन्द रहित और दुखदायी प्रतीत होने लगता है। इस अनुभव से यह साफ़ जाहिर है कि कोई भी विषय स्वयं आनन्द अथवा दुःख गुणवाला नहीं है, ऐसा समझना हमारा भ्रम है। किसी विषय में यदि आनन्द होता तो उसके भोग करने पर अथवा प्राप्त कर लेने पर हमको सदा ही आनन्द-का अनुभव हुआ करता। किन्तु ऐसा कहीं पर भी देखने में नहीं आता। देखने में तो यह आता है कि जो जो भोग जिस मनुष्य को प्रचुरता से प्राप्त हैं उनमें उसे कोई आनन्द महसूस नहीं होता। वह सदा ही उन विषयों के लिये तरसता रहता है कि जो दूसरों को प्राप्त हैं और उसके पास नहीं हैं। दूसरे लोग उन वस्तुओं को आनन्द-दायक समझते रहते हैं कि जो उसको सुलभतया प्राप्त हैं, किन्तु दूसरों के पास नहीं हैं। इसी भ्रम में पड़कर सब जीव संसार-समुद्र में गोते खा रहे हैं। आज यह प्राप्त करना है, कल को इससे घृणा है; कल को वह प्राप्त करना है, परसों उससे पीछा छुड़ाना है। आखिर इस वृथा उद्योग से मिलता ही क्या है? मनुष्य को इस अनुभव से अपने विचार द्वारा यही सीखना चाहिए कि आनन्द प्राप्ति के लिये विषयों के पीछे दौड़ना भूल है। आनन्द किसी विषय के भोग द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसा विचार करने पर वीतहव्य के मन में विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई। अब उसका मन किसी विषय की ओर नहीं दौड़ता था। यह स्थिति हो जाने पर उसने इन्द्रियों की ओर ध्यान दिया और विचार करना आरम्भ किया कि इन्द्रियों को आत्मा समझना और उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताएँ समझना, मनुष्य की बड़ी भारी भूल है। सब इन्द्रियाँ मन और प्राण के साथ सम्बद्ध हुए बिना निष्क्रिय और जड़ हैं। मन यदि इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होकर उनके विषय का भोग नहीं करता तो कोई भी इन्द्रिय

किसी भी विषय का ज्ञान और भोग नहीं प्राप्त कर सकती। ऐसे ही इन्द्रियों की सारी क्रियाएँ प्राण के आधार पर हैं। यदि किसी इन्द्रिय का प्राण-शक्ति के साथ सम्बन्ध न रहे तो उस इन्द्रिय द्वारा कोई क्रिया नहीं हो सकती। मन और प्राण ही इन्द्रियों को चेतना और क्रिया प्रदान करते हैं। स्वयं इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं। वे जड़ और अशक्त हैं किन्तु मनुष्य भूल से उनको अपना आत्मा मान बैठता है और उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताएँ समझने लगता है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को इन्द्रियों से छुट्टी मिली। अब वह इन्द्रियों और उनके विषयों के वश में न रहा। उसने अपने आत्मभाव को इनसे ऊँचे उठाकर आगे विचारना आरम्भ किया।

मन और प्राण भी कदापि आत्मा नहीं हो सकते। मन तो चञ्चल है और प्राण जड़ है, किन्तु आत्मभाव तो सदा ही स्थिर और स्वयं-प्रकाश मालूम पड़ता है। क्या कभी ऐसा हुआ है कि आत्मा के अनुभव में किसी प्रकार का भी विकार मालूम पड़े? जितना विकार है वह सब आत्मा के विषयों में ही होता है। आत्मा जो सब विषयों का साक्षी है सदा ही एक रूप और निर्विकार प्रतीत होता है। यदि वह मन होता तो मन का उसको ज्ञान न होता और उसको यह भी न मालूम पड़ता कि मन विकारवान् और चञ्चल है। विकारों का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि कोई निर्विकार द्रष्टा उनका निरीक्षण करता हो। प्राण जड़ है। वह न अपने आप का अनुभव करता है और न किसी दूसरे विषय का। आत्मा को प्राण का अनुभव होता है और प्राण की शक्ति भी आत्मा के अधीन है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को यह अनुभव होने लगा कि मन और प्राण से परे और इनका द्रष्टा तथा संचालक आत्मतत्त्व है; इसमें ही स्थित होना ठीक है। बुद्धि भी, जो कि मन से कुछ अधिक स्थिर जान पड़ती है, आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि में भी विकार होते हैं और आत्मा को बुद्धि का ज्ञान होता है। मन और बुद्धि दोनों ही गहरी निद्रा में शान्त हो जाते हैं, किन्तु आत्मा का अनुभव वहाँ पर भी होता है। इसलिये आत्मा बुद्धि से अधिक स्थायी, बुद्धि का द्रष्टा, और गहनतम तत्त्व है। उसमें स्थिति प्राप्त कर लेने पर ही शान्ति का अनुभव हो सकता है।

इस प्रकार विचार करते करते और आत्मतत्त्व का ध्यान करते

करते वीतहव्य को समाधि लग गई। उसकी बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीर सभी स्थिर हो गए और वह इस स्थिति में बहुत काल तक शिलावत् बैठा रहा। समाधि खुलने पर जब उसकी चेतना जाग्रत् अवस्था में लौटी तो उसको यह मालूम हुआ कि उसके शरीर के ऊपर एक बड़ी भारी बाँबी रची गई है और उसके शरीर और इन्द्रियों में इतनी जड़ता आ गई है कि वह उसको तनिक भी नहीं चला सकता। तब उसकी चेतना भीतर को लौटी और उसने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा अपने पूर्व जीवन और लोकों का अनुभव किया। १०० वर्ष तक वह कैलाश पर्वत पर एक तपस्वी, १०० वर्ष तक एक विद्याधर, पञ्चयुगों तक इन्द्र और फिर बहुत काल तक गणेश रहा था।

वीतहव्य ने अब यह सोचा कि उसका जड़ और मिट्टी से ढका हुआ शरीर चेतन होकर मिट्टी से स्वतन्त्र हो जाए। इसलिये उसने अपने सूक्ष्म शरीर को सूर्यमण्डल में भेजा और वहाँ से पिङ्गला नामक सूर्य की कला को साथ लाकर उसके द्वारा मिट्टी साफ कराई, और शरीर और इन्द्रियों में पुनः चेतनता और संचलन की उत्पत्ति कराई। अब उसका शरीर पूर्व की नाईं स्वस्थ और चेतन हो गया। जो अनुभव उसने निर्विकल्प समाधि में प्राप्त किया था उसमें अपनी स्थिति करके जाग्रत् अवस्था में ही आत्मभाव से रहने लगा। अब उसका जीवन एक जीवन्मुक्त का जीवन था। न कुछ उसके लिये उपादेय था और न हेय। न किसी वस्तु के प्रति उसको राग था, न घृणा। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियोचित और शरीर और मन द्वारा शरीर और मन के करने योग्य कर्म वह शान्त रहकर करता था। उसको हर वक्त परमानन्द का अनुभव होता रहता था। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में बहुत समय तक रहकर वीतहव्य के मन में विदेह-मुक्ति की कैवल्य अवस्था में प्रवेश करने का विचार हुआ। यह सोचकर उसने विचार करना आरम्भ किया। अपने संसार और जीवन की एक-एक वस्तु को सम्बोधन करके उसने उनको विदा किया और अपने आपको सबसे निर्मुक्त करके परम शान्त, सत्तासामान्य, तुर्यातीत निर्वाण स्थिति में स्थित करके सदा के लिये शान्त हो गया।

२७—काकभुशुण्ड की कथा

संसार से मुक्त होने के उपाय का नाम योग है। वह दो प्रकार का

है। एक चित्तोपशम और दूसरा प्राणनिरोध। प्राणनिरोध द्वारा चित्त का निरोध हो जाता है। और चित्त के शान्त होने पर प्राण का निरोध हो जाता है। चित्तोपशम होने पर आत्मानुभव का उदय हो जाता है। कुछ लोग प्राणनिरोध के मार्ग पर चलकर आत्मानुभव प्राप्त करते और कुछ मनोनिरोध के मार्ग पर। पहिले साधकों को योगी और दूसरों को ज्ञानी कहते हैं। योगियों का वर्णन करते हुए, वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को महायोगी काकभुशुण्डजी की कथा सुनाई जो इस प्रकार है :—

वसिष्ठजी ने कहा—एक समय मैं सूक्ष्म शरीर द्वारा इन्द्र की सभा में गया। वहाँ पर बड़े २ ऋषि और मुनि बैठे थे और नाना प्रकार का वार्तालाप हो रहा था। होते-होते चिरञ्जीवी पुरुषों का वृत्तान्त छिड़ गया। शातातप नाम के मुनि ने कहा—संसार में सब से अधिक चिरञ्जीवी काकभुशुण्ड मुनि हैं। सब ने उत्सुकता से पूछा—वे कौन हैं और कहाँ रहते हैं? शातातप मुनि बोले :—सुमेरु पर्वत की पद्मराग नाम वाली कन्दरा के शिखर पर एक कल्पवृक्ष है। उस वृक्ष की दक्षिण दिशा की डाल पर बहुत से पक्षी रहते हैं। उन पक्षियों में एक महा श्रीमान् कौवा रहता है। उसका नाम भुशुण्ड है। वह वीतराग और महा बुद्धिमान् है। जितने काल से वह जीवित है उतने काल से कोई भी जीवित नहीं है। वह शान्त और जीवन्मुक्त है, उसके साथ बातचीत करने से परम आनन्द का अनुभव होता है और चित्त शान्त हो जाता है। यह बात सुनकर मेरे (वसिष्ठ के) चित्तमें काकभुशुण्ड के दर्शन करने की महती उत्कण्ठा हुई। इन्द्रसभा से उठकर मैं सीधा सुमेरु पर्वत की ओर चल दिया। सुमेरु पहाड़ की पद्मरागनाम्नी कन्दरा के शिखर पर पहुंचते ही मुझे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा। उस महा सुन्दर और सब ऋतुओं के फल फूल युक्त वृक्ष के ऊपर नाना प्रकार के पक्षी बैठे आनन्द के राग अलाप रहे थे। आगे बढ़कर मैंने देखा कि उस वृक्ष के एक टहने पर अनेक कौवे बैठे हैं। वे सब के सब अचल और शान्त भाव से बैठे थे और उनके मध्य में एक महा श्रीमान् और कान्तिमान् ऊँची गर्दन किए हुए वह कौवा विराजमान था जो जगत् में सब जीवों से अधिक चिरञ्जीवी है, जिसने अनेक कल्प देखे हैं और जो सदा ही आत्मभाव में स्थित रहता है। मैं आकाश से नीचे उतरा। मुझे देखते ही सब कौवों में खलबली मच गई। यद्यपि काक

भुशुण्डजी ने मुझे कभी नहीं देखा था तो भी वे अपने आप ही अपनी सर्वज्ञता के कारण समझ गए कि मैं वसिष्ठ हूँ और कुतूहलवश उनके दर्शन करने आया हूं। उन्होंने उठकर मुझे प्रणाम किया और मेरा स्वागत किया। सङ्कल्प द्वारा उन्होंने हाथों की रचना करके वृक्ष के पत्र तोड़ कर मेरे लिये आसन बनाकर मुझ से बैठने की प्रार्थना की। यद्यपि वे सब कुछ समझ गए थे और जानते थे कि मैं किस निमित्त वहाँ पर गया था तो भी मुझ से बोले—हे भगवन्! आपने हम सब को दर्शन देकर कृतार्थ किया। आप कृपा करके आज्ञा दीजिये कि आप की हम क्या सेवा करें? मैंने कहा कि इन्द्र की सभा में चिरञ्जीवियों का वृत्तान्त चलने पर मैंने सुना था कि आप सबसे अधिक चिरञ्जीवी हैं। इसलिए आप कृपया अपने जीवन का वृत्तान्त सुनाइये।

काकभुशुण्डजी बोले—भगवान् शिव के अधिष्ठातृत्व में अनेक गण और शक्तियाँ हैं उनके अनेक नाम और रूप हैं। उन शक्तियों में से एक का नाम अलम्बुसा है। उसका वाहन चण्ड नामक काक है। और शक्तियों की वाहन हंसनियाँ हैं। एक समय सब शक्तियों ने मिल कर उत्सव मनाया। उनके वाहनों ने भी उत्सव मनाया। और मत्त होकर नाच और गाना किया। नाना प्रकार की क्रीड़ा करते करते यहाँ तक हुआ कि वे सब हंसनियाँ चण्ड काक द्वारा, जो कि अलम्बुसा का वाहन था, गर्भवती हो गईं। मेरी माता ब्राह्मी शक्ति का वाहन थीं। जब शक्तियों को यह पता चला कि उनकी वाहन-हंसनियाँ गर्भवती हो गई हैं तो उन्होंने उनको कुछ दिन के लिये छुट्टी दे दी और अपने आप समाधि में स्थित हो गईं। समय आने पर प्रत्येक हंसनी ने तीन तीन अण्डे दिए। जब उनमें से बच्चे निकले तो हमारे पिता चण्ड हम सबको लेकर ब्राह्मी शक्ति के पास गए और उससे हमको आशीर्वाद दिलाया। उसने हमको आशीर्वाद दिया कि हम लोग कभी भी संसार के चक्र में नहीं पड़ेंगे; सदा आत्मभाव में स्थित रहकर जीवन्मुक्त रहेंगे; कभी भी अज्ञान के वश में नहीं होंगे। यह कहकर उस देवी ने हमको इस कल्पवृक्ष पर एकान्त वास करने की सलाह दी। हम लोग यहाँ आकर वास करने लगे। यहाँ पर हम लोग बहुत काल तक वास करते रहे। मेरे और सब भाई अपने सङ्कल्प के कारण विदेहमुक्तता को प्राप्त हो

गए। मैं ही अकेला अभी तक जीवित हूँ। मुझे यहाँ पर रहते-रहते अनेक कल्प बीत गए। समय-समय पर प्रलय आता है और फिर सृष्टि की रचना होने लगती है। प्रलय के समय मैं अपना यह घोंसला छोड़ कर धारणा द्वारा अति सूक्ष्म बन जाता हूँ। प्रलयकाल में जब कि १२ सूर्य तप कर भूमण्डल को जलाने लगते हैं, मैं पानी की धारणा करके ऊपर आकाश में चला जाता हूँ। जब बहुत जोर की आँधी चलती है और वृष्टि होती है तो मैं अग्नि की धारणा करके आकाश में स्थित रहता हूँ। जब कि सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है तो मैं वायु की धारणा करके जल के ऊपर तैरता हूं। जब सारा ब्रह्माण्ड लय हो जाता है तो मैं सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म में प्रवेश कर जाता हूं, और ब्रह्माण्ड की पुनः सृष्टि तक मैं उसी अवस्था में रहता हूँ। सृष्टि हो जाने पर मैं फिर अपने इसी घोंसले में आकर वास करने लगता हूँ। मेरे संकल्प के कारण यह कल्पवृक्ष प्रत्येक सृष्टि में उदय हो जाता है।

वसिष्ठजी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—आपने इतने बड़े जीवन में क्या-क्या देखा ?

भुशुण्डजी बोले—मैंने अनेक आश्चर्य देखे हैं, उनमें से कुछ आप को सुनाता हूँ। एक समय पृथ्वी पर तृण और वृक्ष ही थे, और कुछ न था। एक समय ११ हजार वर्ष तक पृथ्वी पर भस्म के सिवाय कुछ न था। वृक्ष और तृण सब जल गए थे। एक समय ऐसी सृष्टि हुई कि जिसमें सूर्य और चन्द्रमा आदि प्रकाश ग्रह नहीं उपजे थे। केवल सुमेरु पर्वत पर स्थित कुछ रत्नों द्वारा ही प्रकाश होता था। उस समय दिन रात की गति कुछ नहीं जान पड़ती थी। एक समय ऐसा हुआ कि देवताओं और दैत्यों का युद्ध होकर दैत्य लोगों की विजय हुई और केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव को छोड़कर सब देवता उनके अधीन हो गए और सारे संसार में बीस युग तक दैत्यों का ही अचल राज्य रहा। एक बार दो युग तक पृथ्वी पर वृक्षों के सिवाय कुछ न था। एक समय कई युगों तक पृथ्वी पर पर्वतों के सिवाय कुछ न था। एक बार सारे पृथ्वीमण्डल पर जल के सिवाय कुछ नहीं था। महामेरु ही जल में खम्भे की नांई स्थित था। एक बार विन्ध्याचल पर्वत इतना बढ़ा कि सब पर्वतों से बड़ा हो गया और पृथ्वीमण्डल को दबाने लगा। एक समय सृष्टि में न मनुष्य थे और न देवता आदि। एक समय सृष्टि में ब्राह्मणों के आचरण खराब हो

गए थे। वे मद्यपान और दुराचार करते थे और शूद्र लोग राज्य करते थे। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, इन्द्र, उपेन्द्र और लोकपाल मेरे सामने ही अनेक बार नष्ट हुए और उत्पन्न हुए। मैंने भगवान् का हिरण्यकशिपु को मारना और देवताओं और दैत्यों द्वारा समुद्र का मन्थन अपनी आँखों से देखा है। मैंने ऐसी सृष्टियाँ देखी हैं जिनमें विष्णु का वाहन गरुड़, शिव का वाहन बैल और ब्रह्मा का वाहन हंस नहीं था। जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो, हे वसिष्ठ, आप, भरद्वाज, पुलस्त्य आदि ऋषि उपजे। फिर सुमेरु आदि पर्वत उपजे। आपके आठ जन्म मुझे याद हैं। कभी आप आकाश से उपजे, कभी जल से, कभी अग्नि से, कभी पवन से। बारह बार मैंने समुद्र मन्थन देखा है। तीन बार हिरण्यकशिपु का पृथ्वीको पाताल में ले जाना देखा। छः बार परशुराम का जन्म देखा है। मैंने ऐसे ऐसे समय देखे हैं कि जब कि वेद और पुराणों के अर्थ दूसरी ही तरह लगाए जाते थे। प्रत्येक काल के उपास्य देवता और शास्त्र और शास्त्रप्रवर्त्तक भिन्न भिन्न रूप के देखे। मुझे मालूम है कि वाल्मीकि जी ने १२ बार रामायण की रचना की है। व्यासजीने मेरे सामने ही सात बार अवतार लिया और कई बार महाभारत की रचना की। मैंने विष्णु भगवान् को भक्तों की रक्षा के हेतु अनेक बार अवतार लेते देखा है। मुझे ११ बार रामचन्द्र रूप से उनका अवतार लेना और १६ बार कृष्ण रूप से भली भाँति याद है। १०० बार मेरे सामने कलियुग में बुद्ध भगवान् का अवतार हुआ है। मेरी आखों के सामने ही दो बार दक्ष प्रजापति का यज्ञ भङ्ग हुआ। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ मैंने देखी हैं। उनका मैं आपसे कहाँ तक वर्णन करूँ। सृष्टि अनेक बार मेरे सामने रची गई और लय हो गई। कभी और और प्रकार की सृष्टि होती है, कभी इसी प्रकार की जैसी कि अब है। कभी इसके सदृश और कुछ भिन्न रूप की होती है। मेरे रहनेका स्थान कभी सुमेरु होता है, कभी मंदराचल, कभी हिमालय, और कभी माल्यवपर्वत। किसी किसी सृष्टि में युगों के नियम का भंग हो जाता है। कलियुग में सत्युग और सत्युग में कलियुग वर्तने लगता है। नाना सृष्टियों में देश, काल, क्रिया, प्रजा, शास्त्र, राज्य, और धर्म नाना प्रकार के ही देखने में आते हैं। एक समय ऐसा हुआ कि ब्रह्मा अपनी आयु के दो दिन पर्यन्त समाधि में रहे और दो कल्प तक सृष्टि की रचना ही नहीं हुई।

वशिष्ठजी को इस कथा को सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। बहुत देर तक फिर काकभुशुण्डजी से उनका ज्ञान और योग सम्बन्धी वार्तालाप हुआ जिसका वर्णन आगे सिद्धान्त खण्डमें किया जाएगा।

२८—ईश्वरोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को ईश्वर के सर्वोत्तम स्वरूप और उसकी सर्वश्रेष्ठ पूजा की विधि का उपदेश किया है।

वसिष्ठजी ने कहा—हिमालय का एक शिखर कैलाश नाम का है, वहाँ पर चन्द्रकलाधर भगवान् शिव वास करते हैं। मैंने वहाँ पर कुछ दिन वास करके तप और अध्ययन किया है। एक समय जब कि श्रावण बदी अष्टमी की आधी रात को मैं समाधि से जागा तो देखता हूँ कि दशों दिशाएँ मौन और शान्त हैं। महान् अन्धेरा संसार को घेरे हुए है और मन्द मन्द पवन चल रहा है। उसी समय महा शीतल अमृतरूपी किरणों से ओषधियों को पुष्ट करता हुआ चन्द्रमा उदय हो आया। मैं अपनी कुटिया में बैठा हुआ प्रकृति की इस शोभा का आनन्द से निरीक्षण कर रहा था कि यकायक बड़ी तेज रोशनी हुई और सारी प्रकृति चमक उठी। मेरी समझ में नहीं आया कि यह प्रकाश कहाँ से आरहा है। चारों ओर निरीक्षण करने पर पता चला कि भगवान् शिव पार्वती के हाथ में हाथ डाले हुए मेरी कुटिया की ओर चले आ रहे हैं। मैंने दूर से ही मन ही मन में उनका स्वागत किया और उनको आदरपूर्वक प्रणाम किया। उनके निकट आ जाने पर उठकर उनको प्रणाम किया और पाद्य और अर्घ्य दिया और उनके बैठने के लिए आसन बिछाया। महादेव ने बैठते ही मुझसे कुशल पूछी और मुझे आशीर्वाद दिया। मेरे मन में बड़ा आनन्द हुआ। मैंने भगवान् से पूछा—हे प्रभो, आप यदि मेरे ऊपर कृपा रखते हैं तो मुझे बतलाइये कि भगवान् का स्वरूप और उसकी सर्वोत्तम प्रकार की पूजा क्या है? शिवजी बोले:—

हे वसिष्ठ! भगवान् का सर्वश्रेष्ठ रूप न विष्णु है, न शिव, न इन्द्र, न पवन, न सूर्य, न अग्नि। वह देव न देहवाला है और न चित्तरूप। असली देव अनादि और अनन्त संवित् है; आकारवान्, परिमित और परिछिन्न कोई वस्तु नहीं है।

वह देव सब जगह सत्ता और असत्ता रूप से वर्त्तमान है। उसी का नाम शिव है। उसका ही तुम पूजन करो। आकार का पूजन तो उन लोगों के लिए है जो शिव तत्त्व को नहीं जानते। रुद्रादि देवों को पूजने से परिच्छिन्न और परिमित पदार्थों की ही प्राप्ति होती है, परन्तु अनादि और अनन्त आत्मरूप देव के पूजने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो लोग अलौकिक आनन्द को छोड़कर औपाधिक सुखों के पीछे पड़ते हैं वे मन्दार-वन को छोड़कर करञ्जवन में प्रवेश करते हैं। वह ब्रह्म जो कि सारा विश्व है, देवों का देव है। उसी की पूजा करना श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है। न वह दूर है और न दुष्प्राप्य। वह सबके भीतर मौजूद है। जो उसको जानते हुए आकारवाले देव की पूजा करते हैं वे बालोचित क्रीड़ा करते हैं। परमकारण भगवान् शिव प्रत्येक जीव के आत्मा हैं और उनके पूजने का तरीक़ा केवल आत्मबोध है। पुष्प धूप दीप आदि वस्तुओं द्वारा भगवान् की पूजा करना बाल-बुद्धिवाले पुरुषों को शोभा देता है, हे वशिष्ठ! आप जैसे ज्ञानी पुरुषों को शोभा नहीं देता। वह देव नित्य और सर्वत्र वर्त्तमान है, उसके पूजने के लिए आह्वान और मन्त्र की आवश्यकता नहीं है। बोध के सिवाय उसको पूजने की और कोई विधि नहीं है। वह देव ध्यानद्वारा ही पूजा जाता है। ध्यान ही उसका अर्घ्य और ध्यान ही पाद्य; ध्यान ही पुष्प है और ध्यान ही उपहार। ध्यान से ही वह प्रसन्न होता है। सब काम करते हुए, सब भोगों को भोगते हुए, सब स्थितियों में रहते हुए आत्मा का ध्यान करते रहने से ही आत्मा प्रसन्न होता है। आत्मा की अर्चना प्रत्येक मनुष्य हर स्थिति में रहते हुए कर सकता है। अपने देह में स्थित परम शिव का सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, सब प्रकार के भोगों का भोग करते हुए सदा ही ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से ही जीव का परम कल्याण है।

इस प्रकार शिवजी ने वसिष्ठजी को देवपूजा का स्वरूप बताकर कहा कि अब मैं अपने स्थान पर जाना चाहता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो—यह कहकर वे पार्वती को लेकर अपने स्थान पर चले गए और मेरे मन में सदा के लिए चाँदना कर गये। हे राम! तब से मैं इस प्रकार की ही देवपूजा करता हूँ दूसरे और किसी प्रकार की नहीं।

२८—अर्जुनोपाख्यान

रामचन्द्रजी को अनासक्त रहकर सब कर्मों को करने का उपदेश देते हुए वसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! भगवान् कृष्ण जिस असक्तता का अर्जुन को उपदेश देंगे उसी प्रकार की असक्तता को प्राप्त करके तुम भी संसार में अपना जीवन सुख से बिताओ। रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—वह अर्जुन कब उत्पन्न होगा और भगवान् उसको किस प्रकार की असक्तता का उपदेश देंगे ? वशिष्ठजी बोले :—

भगवान् यम हर एक चतुर्युगी में कुछ काल के लिए तप किया करते हैं। उस अवस्था में वे उदासीन भाव से रहते हैं। अतः यह भूमण्डल अधिक प्राणियों से व्याप्त हो जाता है और रहने योग्य नहीं रहता। उन दिनों पृथ्वी का भार दूर करने के लिए देवता लोग ही आवश्यकतानुसार प्राणियों को मारते हैं। इस समय पितरों का नायक वैवस्वत नामक यम है। इसको कुछ समय बीत जाने पर अपने पापनाश के निमित्त तप करना होगा। उस समय पृथ्वी प्राणियों के भार से दबकर विष्णु भगवान् की शरण में जाएगी। पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान् दो शरीरों (कृष्ण और अर्जुन) में अवतार लेंगे। उनमें एक वसुदेव पुत्र वासुदेव और दूसरा पाण्डु पुत्र अर्जुन के नाम से प्रसिद्ध होगा। पाण्डु का एक और पुत्र धर्मपुत्र युधिष्ठिर के नाम प्रसिद्ध होगा। उसके चचा का लड़का दुर्योधन होगा। इन दोनों में पृथ्वी को एक दूसरे से छीनने के लिये घोर युद्ध होगा जिसमें १८ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन का रूप धारण करके विष्णु भगवान् उस सेना का नाश करके पृथ्वी का भार उतारेंगे। विष्णु भगवान् का अर्जुन-रूप युद्ध के आरम्भ में हर्ष शोकादि मानव स्वाभाविक दोषों से युक्त होगा और दोनों ओर से सेना में सम्मिलित अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों को देखकर उनको मारने के लिए अनुद्यत होकर अपना धनुष नीचे रख देगा, और अपने सारथी श्रीकृष्ण-रूपधारी विष्णु भगवान् से अपने मन की दशा का वर्णन करेगा। श्रीकृष्ण उस समय अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश देकर उसके मोह को दूर करेंगे और उसको असक्त होकर युद्ध करने की सलाह देंगे। श्रीकृष्ण द्वारा किए

हुए उपदेश से अर्जुन का मोह दूर हो जाएगा और वह युद्ध में अपने शत्रुओं को परास्त करेगा। उस घोर संग्राम में बहुत सी प्रजा कट जाएगी और पृथ्वी का भार हलका होगा।

३०—शतरुद्रोपाख्यान

सारा जगत् कल्पनामय है। जीव भी अपनी कल्पना द्वारा ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है और अपनी कल्पना द्वारा ही अपने इस बन्धन से मुक्त होता है। जो जैसी कल्पना करता है वैसा ही हो जाता है। वासना और कल्पना जगत् के प्रसार और जीव की भली बुरी गति के रहस्य हैं। इनके द्वारा ही सब कुछ होता है। इस विषय को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी को शतरुद्रोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है :—

हे रामचन्द्र! प्राचीनकाल में एक बड़ा विचारशील और शुद्ध आचरणवाला तपस्वी रहता था। उसने अपने यत्न और अभ्यास द्वारा समाधि में स्थित होने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। वह अपना सारा समय प्रायः समाधि में ही बिताता था। एक दिन, जब कि वह समाधि से उठा ही था, उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक विश्व की रचना करे। यह कल्पना मनमें आते ही उसके संकल्प से एक विश्व की रचना हो गई, और उस विश्व में वह जीवट नामका पुरुष हुआ। अब वह अपनी तपस्वीरूप-स्थिति को भूलकर अपने कल्पित विश्व में जीवट रूप से विचरने लगा। इस रूप में उसने खूब भोग भोगे; मद्यपान किया, और ब्राह्मणों की सेवा भी की। जीवट को एक दिन सोते समय स्वप्न आया और उस स्वप्नजगत् में उसे अपने ब्राह्मण होने का भान हुआ। अब वह ब्राह्मण रूप में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। जब ब्राह्मण रूप में उसको कुछ काल बीत गया तो उसे स्वप्न हुआ कि वह एक राजा है और उसके पास बहुत सी सेना और बहुत से नौकर चाकर हैं। उस राजा को एक समय ऐसा स्वप्न हुआ कि वह एक महाप्रतापी चक्रवर्ती राजा है। बहुत काल तक चक्रवर्ती राजा के रूप में रहते हुए उसे एक दिन यह स्वप्न हुआ कि वह एक देवाङ्गना है और देवताओं के वास में अपने पसन्द किए हुए देवताओं के साथ आनन्द से विहार कर रही है और खूब प्रसन्न है। एक समय जब कि वह काम-क्रीड़ा से थककर गहरी निद्रा में लीन थी

तो उसे स्वप्न में यह अनुभव हुआ कि वह एक हरिणी है। हरिणी रूप से वह वन में विचरने लगी। हरिणी ने एक दिन स्वप्न में अपने आपको एक हरी और कोमल बेल के रूप में पाया। वल्ली के मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक भ्रमर है और भ्रमर रूप से नाना प्रकार के पुष्पों और बेलों का रस पान कर रही है। भ्रमर को एक समय स्वप्न आया कि वह कमलिनी है। एक समय एक हाथी ने उस कमलिनी को तोड़कर खा लिया। उस कमलिनी के हृदय में उस समय यह कल्पना उदय हो आई कि वह एक हाथी है। इस प्रकार नाना रूप धारण करते हुए वह ब्रह्मा का हंस बना। ब्रह्मा ने उसको उपदेश दिया जिसके द्वारा उसे आत्मज्ञान हुआ। एक समय वह हंस सुमेरु पर्वत पर उड़ा हुआ जाता था। वहाँ पर उसने रुद्रोंको देखा और उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह रुद्र बने। निदान वह एक रुद्र बन गया। रुद्र रूप में उसे ब्रह्मज्ञान हो गया और अपने पूर्ण ज्ञान के द्वारा उसको अपने पूर्व जन्मों का भी स्मरण हो आया। उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह अब भी तापस रूप से उसी स्थान पर बैठा हुआ अपने कल्पना जगत् का अनुभव कर रहा है। और इसी प्रकार वह अपने शत (सौ) रूपों में वर्त्तमान है। उसने सोचा कि अब वह अपने सब रूपों को, जो कि उसने नाना कल्पना-जगतों में ग्रहण किए हैं, जगाए और उन सबको तत्त्वज्ञानी बनाकर मुक्त कराए। यह सोचकर वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ कि वह तपस्वी के रूप में अपने कल्पना जगत् की रचना कर रहा है। वहाँ पर पहूँचकर उसने तपस्वी को जगाया। तपस्वी को जागने पर ज्ञान हुआ कि अभी उसके कल्पित विश्व में उसके अनेक रूप वर्त्तमान हैं। रुद्र और तपस्वी दोनों ने जीवट को सोते से जगाया। तीनों ने मिलकर वेदपाठी ब्राह्मण को। चारों ने मिलकर राजा को। पाँचों ने चक्रवर्ती राजा को। इस प्रकार होते होते रुद्र के समस्त १०० रूप जाग गए। रुद्र को अपने १०० रूप में वर्त्तमान होकर बड़ा आश्चर्य हुआ। तब रुद्र ने अपने सब रूपों को कहा कि तुम सब अपने अपने स्थान को जाओ और जब तक ये सब शरीर हैं तब तक इन सब शरीरों के योग्य भोगों को वासना और कामनारहित होकर भोगो। शरीर-पात होने पर तुम सब रुद्र रूप में आ जाओगे। उन सब शरीरों का अन्त होने पर वे

सब जीव रुद्र बने और कल्प का अन्त होनेपर सब को विदेह मोक्ष की प्राप्ति हुई।

रामचन्द्रजी ने पूछा—हे भगवन्! यह आश्चर्य-मय घटना कैसे हुई? वसिष्ठजी ने कहा—हे राम! मन में जो संकल्प होता है वही यथा समय सत्यरूप से प्रतीत होने लगता है। और मन जितना शुद्ध और पवित्र होता है उतना ही जल्द और उतनी तीव्रता से संकल्प घनीभूत हो जाता है। शुद्ध मन जैसा संकल्प करता है तुरन्त वैसा ही हो जाता है। इस जगत् में संकल्प के सिवाय और कुछ है ही नहीं। जितने नाम और रूप हैं वे सब संकल्प की ही रचनाएँ हैं। कल्पित पदार्थ भी संकल्प करने लगते हैं। अज्ञानियों का संकल्प बाह्य वस्तुओं द्वारा नियमित होता है, ज्ञानियों का अपने विचार द्वारा। इस कथा में ब्राह्मण ने राजा का रूप इस लिये धारण किया था कि वह राजभोगों की इच्छा करने लगा था। राजा चक्रवर्ती राजा इसलिये बना कि उसने उस रूप में ज्यादा आनन्द समझा था। चक्रवर्ती राजा को सुन्दर स्त्रियों के भोग की कामना रहती थी, इसलिये वह देवाङ्गना बना। देवाङ्गना हरिणी इस वास्ते बनी कि उस में हरिणी की जैसी आँखों की वासना थी। हरिणी बेल इसलिये बनी कि उसको सदा उसी की चाहना थी। बेल इस कारण भ्रमर बनी कि उस की वृत्ति भ्रमर रूप पर स्थिर हो गई थी। भ्रमर कमलिनी इस वास्ते बना कि उसके मन में सदा ही कमलिनी का ध्यान रहता था। कमलिनी हाथी इसलिये बनी कि हाथी ने जब उस को तोड़ा तो उसकी वृत्ति में हाथी का ही रूप स्थिर था। इसी प्रकार, हे राम, जो जिस रूप का ध्यान करता है वह उसी रूप को धारण करेगा। यह अटल नियम है। जो जिस वस्तु को निरन्तर चाहता है, या जिस वस्तु का जिस को ध्यान रहता है, वह अवश्य ही वही हो जाता है। योगियों और शुद्ध मन वालों का संकल्प शीघ्र ही सिद्ध होता है। योगी लोग अपने आप अपनी अवस्था में स्थित रहते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं। विष्णु भगवान् क्षीर समुद्र में रहते हुए ही पृथ्वी मंडल पर अवतार लेकर भूमि का भार उतारते हैं। सहस्रबाहु ने घर पर बैठे-बैठे यह कल्पना की कि वह मेघ होकर बरसे। वहाँ पर तो वह राजा के रूप में रहा और दूसरी जगह मेघ रूप से बरसने लगा। वह अपने घर बैठा हुआ अपने राज्य में चोरादि/दुष्टजनों को पकड़ कर उनको दण्ड दे देता था।

योगिनीजन स्वर्ग लोक में रहती हैं तो भी पृथ्वी पर दिखाई पड़ती हैं। इन्द्र स्वर्ग के आसन पर स्थित रहते हुए भी पृथ्वी पर यज्ञ का भाग लेने के लिये आते हुए दिखाई देते हैं। कृष्ण भगवान् सहस्रों रूप से अपनी सहस्रों रानियों को प्रसन्न किया करते हैं।

रामचन्द्रजी ने पूछा—हे भगवन्! क्या और कोई पुरुष भी ऐसा है जो इस समय ही अनेक रूपों में वर्त्तमान हो। वसिष्ठजी बोले—आज रात को मैं समाधि में बैठकर देखूँगा कि इस समय शतरुद्र की नाईं किसी पुरुष का अनुभव है अथवा नहीं। कल तुम को बतलाऊँगा। अगले दिन वसिष्ठजी ने कहा कि उत्तर दिशा में यहाँ से बहुत दूर जिन नामक एक देश है। वहाँ पर दीर्घदृक् नाम का एक तपस्वी है। आज उसे २१ दिन समाधि में बैठे हो गए हैं। उसने इतने समय में सहस्रों जन्मों का अनुभव कर लिया है और वे सब जन्म उसको एक साथ ही प्रत्यक्ष हो रहे हैं, और वह उन सब जन्मों में इस समय विचरण कर रहा है। इतना सुनकर राजा दशरथ ने कहा कि यदि ऐसा है तो मैं अपने दूत भेजकर उस देश में उस योगी का पता चलवा कर उस को जगवाऊँ। वसिष्ठजी बोले—हे राजन्! इस समय वह योगी ब्रह्मा का हंस बनकर जीवन्मुक्त हो गया है और उसका भौतिक देह मृतक हो गया है। यह बात उसके शिष्यों को भी अभी मालूम नहीं है। इसलिये अब उसको जगाया नहीं जा सकता। जब कुछ दिन बाद उसके शिष्य उसका द्वार खोलेंगे तो उसको मरा हुआ पाएँगे। रामचन्द्रजी को यह सब सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

२१ वेतालोपाख्यान

आत्मज्ञानी को संसार में कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता—इस बात को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को वेतालोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

दक्षिण दिशा में मन्दराचल पर्वत की एक कन्दरा में महा भयानक आकार वाला एक वेताल रहता था। वह मनुष्यों को खा कर अपना पेट भरता था। एक समय उसके सामने एक साधु आ गया। उसको भी उसने मार कर खाना चाहा, किन्तु साधु ने उसे यह समझाया कि मनुष्यों को मार कर पेट भरना बड़ा भारी पाप है जिसका बुरा और दुःखदायी परिणाम उस को भुगतना पड़ेगा।

वेताल की समझ में साधु की बात आ गई। उसने सोचा कि मनुष्य यदि सचमुच में मनुष्य अर्थात् मननशील और ज्ञानवान् जीव है, तो अवश्य ही उसे मारना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसे मनुष्य से किसी दूसरों को हानि नहीं पहुँचती, बल्कि उपकार होता है। लेकिन मूर्ख मनुष्य से तो पशु ही कहीं भले—क्योंकि उनसे दूसरे जीवों को इतनी हानि नहीं पहुँचती जितनी कि मूर्ख मनुष्यों से। इसलिये वेताल ने यह सोचा कि अब वह अज्ञानी मनुष्यों का ही भक्षण करेगा ज्ञानी मनुष्यों का नहीं। कौन ज्ञानी है कौन अज्ञानी—इस बात को जानने के लिये उसने एक प्रश्नावली तय्यार की। एक समय कई दिन का भूखा वेताल अपना पेट भरने के लिये रात्रि में बाहर निकला। उसकी उस देश के राजा से भेंट हो गई जो कि रात्रि को अपने राज्य में वीर-यात्रा कर रहा था। वेताल ने राजा से ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी कई प्रश्न इस बात की जाँच करने के लिये पूछे कि वह अज्ञानी है या ज्ञानी। राजा ब्रह्मज्ञानी था—उसने वेताल के सब प्रश्नों का तृप्तिजनक उत्तर दे दिया। वेताल को बड़ा आनन्द हुआ और वह एकान्त में जाकर समाधि में स्थित हुआ, और आत्म-पद को प्राप्त करके वेताल शरीर को त्यागकर मुक्त हो गया। इस प्रकार ज्ञानीजन अपनी रक्षा और दूसरों का उद्धार करते हैं।

३२—भगीरथोपाख्यान

संसार में किस प्रकार निर्मम, निरपेक्ष और अनासक्त भाव से मुक्त जीवन बिताना और यथास्थिति संसार के सभी काम करना चाहिए—इस सम्बन्ध में श्री वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को भगीरथ की कथा सुनाई जो इस प्रकार है :—

राजा भगीरथ की जब युवा अवस्था थी उसके मन में यह विचार उदय हुआ कि यह जीवन सर्वथा ही असार है। दिन पर दिन वे ही भोग भोगे जाते हैं किन्तु कभी तृप्ति नहीं होती। कोई ऐसा सुख नहीं है जो दुःखरहित हो। कोई ऐसा भोग का विषय नहीं है जो भोगने पर उतना ही अच्छा जान पड़े जितना कि वह प्राप्त होने से पूर्व प्रतीत होता है। संसार में कोई वस्तु भी सार नहीं दिखाई पड़ती। धन, दारा और पुत्र, जिनमें हमारी इतनी अधिक ममता है, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको प्राप्त कर लेने पर हमारे मन में शान्ति और

सुख का अनुभव होता हो। तब फिर किस लिये हमलोग इन वस्तुओं के पीछे पड़े रहते हैं ? क्यों इनकी प्राप्ति में ही अपने जीवन की सब शक्ति लगाते हैं ? इसलिये कि हमने कभी इनकी असारता पर विचार ही नहीं किया है। विचार उदय हो जाने पर ये सब वस्तुएँ असार और विषवत् जान पड़ती हैं। भोगों में सुख और शान्ति—जिनकी हम सबको चाह है—तलाश करना ऐसा ही है जैसा कि मृगतृष्णा के जल से प्यास बुझा लेने की आशा।

इस प्रकार विचार करते करते राजा को संसार के भोगों के प्रति घृणा हो गई और अपना परम और सत्य ध्येय जानने की इच्छा हुई। इस अवस्था में वे अपने गुरु त्रितुल ऋषि के आश्रम पर गए। अपने मन के विचारों को भगीरथ ने गुरु के समक्ष रक्खा। त्रितुल भगीरथ के विवेक और वैराग्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—परम आनन्द और परम शान्ति, जो कि मनुष्य-जीवन के उद्देश्य हैं, विषय भोगों के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते। उनके प्राप्त करने के लिये सब विषयों का और उनके भोगों का त्याग करना चाहिये। देह और इन्द्रियों में आत्माभिमान, स्त्री-पुत्रादिक में सङ्ग, इष्ट की इच्छा और अनिष्ट से द्वेष—ये सब त्यागकर आत्मचिन्तन, आत्मध्यान और आत्मपद में स्थिति के लिये प्रयत्न करने से ही परमानन्द और परम शान्ति की सिद्धि होती है। जो जिस वस्तु की तीव्र वासना करता है वह उसी को प्राप्त करता है—इसलिये भोगों के विषयों की वासना का त्याग करके आत्म-पद के प्राप्त करने की वासना करो। उस पद को प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता। उस पद में स्थित होने पर कोई दुःख नहीं रहता। उस पद में स्थित होने पर उस अक्षय और अनन्त आनन्द का अनुभव होता है जिसके आगे संसार के सब सुख कुछ भी नहीं। क्षण भर भी उस आनन्द का अनुभव कर लेने पर मनुष्य संसार के सब सुखों को—जिनका परिणाम सदा ही दुःख है—भूल जाता है।

त्रितुल ऋषि की यह बातें सुनकर भगीरथ ने आत्मपद प्राप्त करने का पक्का इरादा कर लिया। घर आकर सब ओर से ध्यान हटाकर आत्मचिन्तन करने लगा और धीरे-धीरे सब वस्तुओं का त्याग करने लगा। थोड़े ही समय में उसने अपने सब धन, और राज्यपाट का त्याग कर दिया। केवल एक धोती और अंगोछा लेकर घर से

निकलकर वन में विचरने लगा। वहाँ पर विचरते-विचरते आत्म-चिन्तन और आत्मध्यान करते करते उसको आत्मज्ञान हो गया, और परम आनन्द और परम शान्त आत्मपद में उसकी अविचलित रूप से स्थिति हो गई। अब उसको न किसी वस्तु की इच्छा थी, और न किसी से द्वेष था। सारे जगत् को वह आत्ममय ही देखता था। किसी के प्रति न उसे मोह था और न घृणा। सबसे समता और प्रेम का व्यवहार था। अब उसको संसार में और वन में रहना एक सा ही था। उसने देश देशान्तर में भ्रमण करना आरम्भ किया। एक समय वह भ्रमण करता हुआ उस देश में गया जहाँ का वह कभी राजा था। वहाँ उसने भिक्षा माँगी, और ऐसा करने पर उसके मन में किसी प्रकार का भी विकार नहीं आया। लोगों के बहुत कहने पर भी उसने राज्य करने की ज़रा भी इच्छा न की। भ्रमण करते करते उसकी अपने गुरु त्रितुल से भेंट हो गई और कुछ कालतक खूब आत्म-चर्चा हुई। स्वर्गलोक से सिद्धों ने आकर उसकी पूजा की और देवताओं ने सब प्रकार के ऐश्वर्य उसको देना चाहा किन्तु उसने किसी की भी इच्छा न की। बहुत सी अप्सराएँ उसके सामने आकर उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगीं किन्तु उसके मन में किसी भी भोग की अभिलाषा उदय न हुई, क्योंकि उसकी स्थिति उस परम आनन्द में थी जिसके आगे संसार के सब सुख लेशमात्र हैं।

एक समय जब कि भगीरथ एक देश में भ्रमण कर रहा था, उस देश के राजा का देहान्त हो गया था। मन्त्री और प्रजा किसी सुयोग्य राजा की तलाश में फिर रहे थे। साधु के वेष में भगीरथ को देखकर मंत्री ने उसके लक्षणों से पहिचान लिया कि यह पुरुष राजा बनाने योग्य है। उसने भगीरथ से राजा बनने की प्रार्थना की। भगीरथ ने लोकोपकार के लिये, अपनी किसी प्रकार की हानि या लाभ न जानते हुए राजा होना स्वीकार कर लिया— और अति उत्तम रीति से राज्य किया। भगीरथ के राजा होने की खबर दूर तक फैल गई। इस समय उस राज्य की जिस पर वह पहिले राज्य करते थे बड़ी खराब दशा थी। चारों ओर से शत्रुओं ने आक्रमण कर रक्खा था। वहाँ की प्रजा ने दुखी होकर भगीरथ के पास खबर भेजी। भगीरथ ने शत्रुओं को भगाकर अच्छा राज्य स्थापित किया। दोनों राज्यों पर निःसङ्ग और

निर्मोह रूप से राज्य करता रहा। राज्य करते करते एक समय उसको यह ख्याल आया कि उसके साठ हजार पितर, कपिल ऋषि के भस्म किए हुए, अभीतक सद्गति को प्राप्त नहीं हुए; उनको सद्गति तभी प्राप्त हो सकती है जब कि भूमण्डल पर गङ्गा बहने लगे। यह सोचकर उसने तप किया और तप के प्रभाव से वह श्री गङ्गाजी को पृथ्वीमण्डल पर ला सका जिसकी कथा सब लोग जानते हैं। आत्मस्थित पुरुष ही संसार में दुष्कर से दुष्कर कार्य कर सकते हैं।

३३—रानी चुडाला की कथा

चुडाला का उपाख्यान भी योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को यह बतलाया है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने और योगाभ्यास करके सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने में स्त्रियों का उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुषों का। आध्यात्मिक सिद्धि केवल पुरुषों का ही ध्येय नहीं है बल्कि प्राणिमात्र का। यदि स्त्री की आत्मज्ञान में स्थिति हो जाए तो वह पुरुषों को उसी प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त करा सकती है जैसे कि एक पुरुष दूसरे को। इस उपाख्यान द्वारा रामचन्द्रजी को वसिष्ठजी ने आत्मपद प्राप्ति का सच्चा मार्ग और आत्मज्ञानी के रहन सहन का ढङ्ग भी दिखलाया है। उपाख्यान इस प्रकार है:—

पहले द्वापर युग में मालव देश में शिखिध्वज नाम का एक बहुत सुन्दर, बलवान् और प्रतापी राजा राज्य करता था। उसका विवाह सुराष्ट्र देश की एक राजकन्या से, जो कि बहुत सुन्दर, विदुषी और चतुर थी, हुआ था। रानी का नाम चुडाला था। राजा और रानी में एक दूसरे के प्रति घनिष्ट प्रेम और आकर्षण था। दोनों ही अपनी युवा अवस्था में थे। किसी प्रकार के सुख की कमी नहीं थी। खूब आनन्द से जीवन के सभी प्रकार के भोग भोगते थे। दोनों ही विचार-शील थे। सब प्रकार भोग भोगते भोगते उनके मन में यह विवेक उत्पन्न हुआ कि हमारे पास संसार का सारा ऐश्वर्य और सारे भोगों को भोगने के साधन हैं। हमलोग सब प्रकार के भोगों का बार बार आस्वादन कर चुके हैं। इनके भोगने में हमारा बहुतसा जीवन व्यतीत हो चुका है और शरीर की शक्ति भी क्षीण होती जा रही है, किन्तु हृदय में तृप्ति और शान्ति नहीं है। क्या मनुष्यजीवन इसी

लिये है कि सदा ही वह शरीर और इन्द्रियों के सुखों के अनुभव करने में लगा रहे और फिर भी उसको किसी स्थायी सुख, किसी प्रकार की तृप्ति और शान्ति का अनुभव न हो? विषयों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले सभी सुख क्षणिक और दुःख में परिणत होनेवाले हैं। कौन सा ऐसा सुख है जो चिरस्थायी हो? जो भोग प्राप्त नहीं हैं उनकी इच्छा होती रहती है, जो प्राप्त हैं उन में सुख का अनुभव नहीं होता, बल्कि उन से घृणा होने लगती है। क्या कोई ऐसा सुख नहीं है जो स्थायी हो, जिसको प्राप्त कर लेने पर वह सदा ही बना रहे और उस से कभी घृणा न हो? क्या कोई ऐसी तृप्ति भी है जिसको प्राप्त कर लेने पर फिर किसी विषय के भोग की वासना न रह जाए?

यह सोचकर उनको संसार के सब विषय और भोगों से विरक्ति हो गई, और उन्होंने अपने राज्य के बड़े बड़े विद्वानों को बुलाकर यह पूछा कि मनुष्यों के जीवन का क्या लक्ष्य है और उसको कैसे शान्ति और तृप्ति प्राप्त हो सकती हैं? विद्वानों ने कहा—महाराज! आत्म-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को परम शान्ति और परम तृप्ति का अनुभव होता है; वही प्राप्त कर लेना मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। आत्मज्ञान में स्थित हो जानेपर ही परमानन्द का अनुभव होता है। उस आनन्द के सामने संसार के सब विषयों के भोग के सुख कुछ भी नहीं हैं। आत्म-पद में स्थित मनुष्य सदा ही तृप्त और सुखी रहता है। वह न किसी वस्तु को प्राप्त करने की वांछा करता और न किसी से घृणा करता है।

राजा और रानी दोनों ने आत्मज्ञान प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। रानी राजा से अधिक बुद्धिमती, चतुर और उद्योगशील थी। उसका विचार सूक्ष्म और निश्चयात्मक था। थोड़े ही समय में उसे आत्मज्ञान हो गया। आत्मज्ञान होने पर उसके मुख पर प्रसन्नता और अलौकिक सौंदर्य की झलक आ गई। दिन पर दिन उसका सौंदर्य, तेज और आनन्द बढ़ने लगा। अभी राजा को आत्मज्ञान नहीं हुआ था। वह न समझ सका कि रानी इतनी प्रसन्न और प्रफुल्लित क्यों रहती है। रानी ने राजा को बतलाया कि उसके हृदय में अलौ-किक आनन्द का प्रकाश हो गया है। अब उसे सारा जगत् आनन्द-मय ही दिखाई दे रहा है। राजा की समझ में रानी की बात नहीं आती थी। क्योंकि जिसने आत्मानन्द का स्वयं अनुभव नहीं किया वह नहीं जान सकता कि आत्मानन्द क्या है। रानी ने अपने स्वामी को आत्मा-

नुभव प्राप्त करने में सहायता देने का बहुत यत्न किया; किन्तु राजा ने उसकी बातों की विशेष परवाह न की। वह उसको स्त्री समझ कर उससे उपदेश लेने में अपना अपमान समझता था। रानी ने योगमार्ग द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं और राजा को उनका प्रदर्शन कराया, तो भी राजा ने उससे आत्मज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा न लेनी चाही। उसके मन में यही मिथ्याभिमान बना रहता था कि पुरुष स्त्री से अधिक समर्थ और चतुर होता है; उसको स्त्री क्या सिखा सकती है। राजा ने अनेक यत्न किए किन्तु उसको आत्मज्ञान न हुआ। अब राजा ने यह निश्चय कर लिया कि वह राजपाट को छोड़कर वन में जाकर रहेगा और वहाँपर आत्मज्ञान प्राप्त करेगा। रानी ने बहुत समझाया कि आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये उसे वन में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वन तो उन लोगों को जाना चाहिए जिनके घर में नाना प्रकार के विघ्न, संकट और झंझट होते हों। उनको तो घर में किसी प्रकार का विघ्न नहीं है। ऐसा कहने पर भी राजा की समझ में न आया कि वह वन को न जाय। एक रात्रि को जब कि रानी चुडाला गाढ़ निद्रा में थी, चारों ओर अँधेरा और शान्ति छाई थी, राजा तीर्थयात्रा के बहाने घर से निकल कर चल दिया। चलते-चलते बहुत दूर जा कर एक वन में रहने लगा। वहाँपर रहकर उसने कुछ दिनों तक नाना प्रकार के साधन किए और फिर तीर्थयात्रा की, किन्तु किसी प्रकार भी उसको आत्मानुभव नहीं हुआ। इधर जब रानी की आँख खुली और उसने राजा को अपनी शय्या पर न पाया तो उसने समझ लिया कि राजा राज को त्याग करके वन को चले गए। उसने बड़े शान्तभाव से सोचा कि अब क्या करना चाहिए। राज्य में राजा के चले जाने की खबर सुनकर खलबली पड़ जाएगी और अराजकता फैल जाने से बहुत से मनुष्यों को हानि और दुःख पहुँचेगा। इसलिये उसने अपने आप राज्य करने का इरादा कर लिया और लोगों को यह खबर न होने दी कि राजा वन को चले गए हैं। सुबह उठते ही रानी ने मंत्रियों और सब कर्मचारियों के सामने घोषणा कर दी कि राजा कुछ काल के लिये दूसरे देशों की यात्रा करने गए हैं और रानी को राज्य करने का अधिकार दे गए हैं। चुडालाने राज्य का सब काम बहुत अच्छी तरह करना आरम्भ कर दिया। राज्य का काम ठीक करके रानी ने यह पता लगाना चाहा कि अब राजा

कहाँ पर हैं। योगी की सब सिद्धियाँ तो उसे प्राप्त हो ही चुकी थीं। समाधि में बैठकर उसने राजा के निवासस्थान का पता चला लिया। आकाश मार्ग से सूक्ष्म शरीर द्वारा उड़कर ठीक उस स्थान पर पहुँच गई जहाँ कि राजा रहता था। अब भी राजा की वही दशा है, न उसके चित्त में शान्ति है और न उसको आत्मज्ञान ही हुआ है। रानी को उसके ऊपर बहुत करुणा आई और उसने विचार किया कि किसी प्रकार राजा को आत्मज्ञान प्राप्त कराना चाहिए। यह सोचकर कि राजा यदि उसको पहचान गया तो उसके उपदेश का उसके ऊपर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा चुडाला ने एक ऋषिपुत्र का रूप धारण कर लिया और उसके सामने उस रूप से प्रकट हुई। राजा अपने समीप एक बहुत सुन्दर युवा और तेजवान् ऋषि को आते देख-कर बहुत प्रसन्न हुआ। अतिथि का सब प्रकार से आदर और सत्कार करके राजा ने उससे पूछा—महाराज! आप कौन हैं और कहाँ से आ रहे हैं? ऋषि ने कहा—महाराज! मैं देवर्षि नारद का पुत्र कुम्भज हूँ। देवलोक में रहता हूं, पृथ्वीतल पर भ्रमण करने की इच्छा से यहाँ पर आ गया हूँ। आपको इस विजन वन में रहते देखकर मुझे आपसे मिलने और वार्तालाप करने की उत्कण्ठा हो गई। राजा ने पूछा—महाराज! यदि मेरी धृष्टता क्षमा करें तो आपसे यह पूछता हूँ—आप देवर्षि नारदजी के पुत्र कैसे हैं? उन्होंने तो कभी विवाह ही नहीं किया। कुम्भज ने कहा—एक समय की बात है कि नारदजी ने सुमेरु पर्वत पर कुछ समय के लिये समाधि लगाई थी। जब समाधि से जगे तो क्या देखते हैं कि पर्वत के नीचे गङ्गा में उर्वशी आदि अनेक सुन्दर अप्सराएँ स्नान-क्रीड़ा कर रही हैं और उनका एक एक अङ्ग और भाव मोहनेवाला है। उनको देखते ही नारदजी के शरीर में काम का वेग बिजली की नाईं दौड़ गया और उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसको उन्होंने एक घड़े में रख दिया और उसमें दूध भर दिया। कुछ काल पीछे उस घड़े से मेरा जन्म हुआ। इसी कारण मेरा नाम कुम्भज पड़ा। राजा को कुम्भज के प्रति बहुत प्रेम और श्रद्धा हो गई और उसने उससे मित्रता करनी चाही। दोनों में मित्रता हो गई। कुम्भज प्रतिदिन राजा के पास आकर उससे वार्तालाप कर जाता था। इस प्रकार रानी राज्य भी करती और कुम्भज के वेष में वह राजा के साथ भी रहती थी। कुम्भज के वेष में उसने राजा को आत्म-सम्बन्धी

अनेक प्रकार की बातें सुनाईं और साधन की विधियाँ बतलाईं। राजा को धीरे धीरे आत्मज्ञान होने लगा। आत्मज्ञान के परिपक्व हो जाने पर उसकी स्थिति आत्मभाव में हो गई, और वह जीवन्मुक्त हो गया। अब उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता रहती थी। हर्ष और शोक से वह परे था। किसी कारण से भी उसकी शान्ति भङ्ग नहीं होती थी। हर हालत में वह खुशहाल रहता था। उसके लिये अब न कुछ हेय था और न उपादेय। वह सदा आत्मानन्द में मग्न रहता था। संसार के किसी सुख की न उसे वासना थी और न किसी दुःख से वह दुःखी होता था।

रानी ने अब उसकी परीक्षा करनी चाही। एक दिन कुम्भज बड़ा दुःखी और शोकातुर होकर राजा के पास आया। राजा ने पूछा, मित्र! आज आपका मन क्यों इतना उदास है? आप तो आत्मज्ञानी हैं, आपको शोक क्यों हुआ? कुम्भज बोले, महाराज! क्या कहूँ, मुझे कहते भी लाज मालूम पड़ती है। मैं जब देवलोक से आपके पास चला आ रहा था तो मुझे दुर्वासा ऋषि नाना प्रकार के भूषण और वस्त्र धारण किए हुए रास्ते में मिले। मुझे उनका विचित्र वेष देखकर हँसी आ गई, और हास्य-भाव से मैंने कहा कि महाराज आप तो आज स्त्री मालूम पड़ते हैं। यह सुनकर उनको क्रोध आ गया, और उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि मैं प्रत्येक रात को स्त्री बन जाया करूँगा। मुझे इस बात से इतनी लज्जा मालूम पड़ती है कि मेरा चित्त अब देवलोक को भी जाने को नहीं करता। आज से शापवश रात्री में मुझे स्त्री होना पड़ेगा। महाराज! यही कारण है जिससे मैं दुःखी हूँ। राजा ने कहा, ऋषे! इसमें क्या हानि है? पुरुष हुआ तो क्या, और स्त्री हुई तो क्या? दोनों ही एक समान हैं। न कोई बुरा है और न कोई भला। शरीर ही तो स्त्री या पुरुष है, न कि आत्मा। जो जिस स्थिति में होता है उसको उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मज्ञानी हो सकते हैं। रानी को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अब रात्री में वह एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में राजा के पास रहती थी और दिन में कुंभज के रूप में। दोनों में इतनी गहरी मित्रता थी कि दोनों साथ खाते और साथ ही सोते थे, किन्तु राजा के मन में किसी प्रकार का विकार न होता था। एक दिन कुम्भज ने राजा से कहा—महाराज! जब मैं रात्री के समय स्त्री होता हूँ तो मुझे स्त्रियो-

चित इच्छाएँ होती हैं, और मेरे शरीर में काम का वेग इतना अधिक हो जाता है कि बिना पुरुष के सङ्ग किए मैं दुःखी रहती हूँ। राजा ने कहा—जब तक शरीर है और इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, अवश्य ही शरीर और इन्द्रियों के स्वाभाविक भोगों के भोगने की आवश्यकताएँ रहती हैं; ज्ञानी मनुष्य को उनका विरोध करना और उनको बलपूर्वक दबाना नहीं चाहिए। शरीर और इन्द्रियों के उचित आवश्यकतानुसार भोगों के भोगने से आत्मा की क्या हानि और न भोगने से आत्मा का क्या लाभ? इसलिये, हे कुम्भज! यदि स्त्री-रूप में आपको स्त्री-सम्बन्धी इच्छा होती है तो यह स्वाभाविक ही है। इसलिये तुम किसी अपने मन को पसन्द आने वाले योग्य पुरुष की तलाश कर लो और उसकी पत्नी बन जाओ; ताकि तुम्हारा मन शान्त रहे और शरीर का वेग उसको चंचल न बनावे। कुम्भज बोला—महाराज आप मेरे इतने प्रिय मित्र हैं, आपकी और मेरे मन की वृत्ति एक सी ही है आपको मेरा प्रेम है और मुझे आपका प्रेम है। विद्वान् लोग यह कहते हैं कि जो सुख समान मनोवृत्ति वाले स्त्री-पुरुषों के सङ्ग रहने में होता है वह संसार के सब आनन्दों से बढ़कर है। इसलिये यदि मेरे लिये संसार में कोई भी उचित भर्ता है तो आप हैं। राजा ने कहा यदि तुम ऐसा समझते हो तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मेरी इसमें न कोई हानि है और न कोई लाभ। ऐसा होने से यदि तुमको सुख मिलता है तो ऐसा ही सही। पूर्णमासी को सायंकाल में मदनिका (जो कि कुम्भज के स्त्री-रूप का नाम था) और राजा ने अपना शास्त्र की विधि से विवाह कर लिया; और अब वे दोनों रात्री में पति और पत्नी के रूप से रहने लगे। लेकिन राजा के मन में किसी प्रकार का भी विकार न उत्पन्न हुआ। आत्मा में वही शान्ति और परम आनन्द रहता था। शरीर और इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वाभाविक कार्य करते थे। उसको इनमें ज़रा भी आत्माभिमान न था। रानी को यह देखकर कि अब राजा की आत्मपद में निश्चल स्थिति है बड़ी प्रसन्नता हुई। इस बीच में भी वह अपने राज्य की देख भाल करती रहती थी। सूक्ष्म शरीर द्वारा वह अपने राज को उड़ जाया करती थी और कर्मचारियों के कामों की देखभाल कर लिया करती थी।

अब उसने राजा के जीवन्मुक्त होने की एक और परीक्षा ली। उसने अपने योगबल से स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्र की रचना की।

इन्द्र अपने साथ देवताओं को लेकर राजा के सामने आकर उपस्थित होकर कहने लगे—महाराज! आप स्वर्गलोक में चलिए और वहाँ पर नाना प्रकार के भोग और ऐश्वर्य भोगिए। राजा ने कहा, हे देवराज! मुझे तो सब ओर स्वर्ग ही दिखाई पड़ता है! मेरे मन में परम तृप्ति है और मेरे आत्मा में परम आनन्द है। मुझे स्वर्ग के किसी भी भोग की इच्छा नहीं है।

कुछ दिन पीछे रानी ने राजा की एक और परीक्षा ली—सायंकाल के समय, जब कि राजा संध्यावन्दन के लिये गङ्गा के तीर पर गए थे, उसने अपने योगबल से एक बहुत सुन्दर और तेजवान् युवक की रचना की। राजा के वापिस होने के समय वह युवक और मदनिका दोनों एक दूसरे के साथ प्रेम व्यवहार कर रहे थे, और एक दूसरे के साथ गाढ़ आलिङ्गन में होकर संसार को और परिस्थिति को भूल गए थे। राजा ने अपनी कुटिया पर आकर यह दृश्य देखा और और देखते ही बाहर चले आए जिससे कि युवक और मदनिका के प्रेमालिंगन के सुख में किसी प्रकार का विघ्न न हो। मदनिका तुरन्त उठकर बाहर आई और राजा के सामने दीन भाव से खड़ी होकर अपने आचरण की क्षमा माँगने लगी—महाराज, मैं अपराधिनी हूँ! क्षमा कीजिए! मैं स्त्री हूँ, और स्त्री में पुरुष से अष्टगुणा काम होता है; इसलिये मेरी वृत्ति इस पुरुष को देखकर उसकी ओर खिंच गई। राजा बोले—मदनिके! मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति किसी प्रकार का भी क्रोध नहीं है। संसार के जितने प्राणी हैं वे सब सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, और परस्पर इच्छित स्नेह से संसार में बहुत आनन्द मिलता है। इसलिये तुमने ऐसा किया तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। मुझे कुछ शोक नहीं है। केवल आज से पीछे मैं तुम्हें अपनी वधूकी हैसियत से नहीं रक्खूगा। क्योंकि समाज में इस प्रकार का काम निन्द्य समझा जाता है। आज से तुम मेरे साथ पहिले की नाई मित्र की हैसियत से सुखपूर्वक रहो। राजा के इस प्रकार के समभाव को देखकर रानी बहुत प्रसन्न हुई और उसी समय मदनिका के रूप का त्याग करके चुडाला के रूप में राजा के सामने प्रगट हो गई। राजा को चुडाला को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। कुछ काल तक तो उसे विश्वास ही न हुआ और अपने ज्ञान को भ्रम समझता रहा। चुडाला ने जब सब हाल कह सुनाया, तब राजाको उसके चुडाला होने का

विश्वास हुआ। राजा उससे बहुत प्रसन्न हुए, और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। रानी के कहने से अब राजा अपनी राजधानीको वापिस आकर जीवन्मुक्त रहते हुए राज्य करने लगे। बहुत काल तक भली भाँति राज्य करके, प्रजा को सुखी करके विदेह मुक्त हो गए।

इस कथा को सुनकर रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए। वसिष्ठजी ने कहा—हे राम! स्त्रियों को निरादर की दृष्टि से न देखो। जो अच्छे कुल की स्त्रियाँ होती हैं वे अपने पति को संसार-सागर से पार करने में मदद करती हैं:—

मोहाद्बलादिगहनादनन्तगहनादपि।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥१॥
शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम्।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तॄणां कुलयोषितः ॥२॥
सखा भ्राता सुहृद् भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम्।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥३॥
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः।
लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यासु प्रतिष्ठितम् ॥४॥

अर्थात्—अनादि, अनन्त मोहसागर में गिरे हुए अपने पति को उद्योगशालिनी कुलाङ्गनाएं पार उतारती हैं ॥ १ ॥ शास्त्र, गुरु, मंत्र आदि साधन उस मोहसागर से पार करने में इतने समर्थ नहीं हैं जितनी कि स्नेह से भरी हुई कुलाङ्गनाएं ॥ २ ॥ वे अपने पति की सखा, बन्धु, मित्र, भृत्य, गुरु, धन, सुख, शास्त्र, घर और दास सब कुछ हैं॥३॥ इसलिये सदा, सब प्रकार से, इनकी पूजा करनी चाहिए क्योंकि इनके ऊपर ही इस लोक और परलोक का सुख पूर्णतया निर्भर है ॥४॥

३४—किराटोपाख्यान

किराट की कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को इस बात का उपदेश दिया कि मनुष्य को सदा और सब कामों में उद्योगशील होना चाहिए। किसी वस्तु को भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। छोटे-छोटे कामों में भी अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करना चाहिए। ऐसा करने से कभी-कभी छोटे-छोटे कामों द्वारा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

विंध्याचल की घाटी में एक बहुत धनवान् किन्तु कृपण किराट रहता था। एक समय जब कि वह एक घने जङ्गल के बीच से कहीं

जा रहा था। उसकी जेब से एक कौड़ी निकल पड़ी। जब उसे यह मालूम हुआ तो वह उस कौड़ी को ढूँढने लगा। चारों ओर कौड़ी को ढूँढते-ढूँढते उसे तीन दिन बीत गए। जिन लोगों को यह मालूम हुआ कि एक कौड़ी के लिये किराट इतना व्यग्र हो रहा है वे उसकी हँसी उड़ाने लगे। किन्तु उसने किसी के हँसने की परवाह न की और अपनी खोई हुई कौड़ी को ढूँढता ही रहा। दैवयोग से उसकी निगाह एक चमकती हुई चिन्तामणि पर जा पड़ी। उसको देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कई दिनों के परिश्रम का फल उसे चिन्तामणि पाने से मिल गया। यदि वह कौड़ी के खो जाने की परवाह न करता और उसको तुच्छ समझ कर आगे चलता होता, तो उसे चिन्तामणि की प्राप्ति न होती।

३५—मणिकाचोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा चुडाला रानी ने अपने स्वामी राजा शिखि-ध्वज को यह समझाया था कि मनुष्य को जो-जो उत्तम पदार्थ और साधना अपने घर पर सुलभतया प्राप्त हों उनकी अवहेलना करके दूसरी जगहों पर और-और पदार्थों और साधनों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। ऐसा करने से जो मनुष्य को प्राप्त है वह तो नष्ट हो ही जाता है, दूसरी वस्तुएँ और साधन भी नहीं मिलते। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उन वस्तुओं और साधनों का जो उसे सुलभतया प्राप्त हैं, सदुपयोग करे और अप्राप्त वस्तुओं और साधनों की तलाश में मारा-मारा न फिरे।

एक बहुत उद्योगी और धनसम्पन्न पुरुष ने चिन्तामणि रत्न की प्रशंसा सुन रक्खी थी। उसके मन में चिन्तामणि को प्राप्त करने की तीव्र वासना उदय हुई। वह चिन्तामणि की तलाश में घर से बाहर निकला। थोड़ी ही दूर जाने पर उसको चिन्तामणि नामक रत्न मिल गया। चूँकि वह रत्न उसे अपने घर के पास ही और बिना किसी प्रयत्न किए हुए मिला था, उसको उसके चिन्तामणि होने का विश्वास नहीं हुआ। उसने तो यह सुन रक्खा था कि चिन्तामणि रत्न बहुत प्रयत्न और खोज करने पर मिलता है, और बड़े भाग्यवान् मनुष्य को ही मिलता है। अतएव उसने उस वस्तु के चिन्तामणि होने में सन्देह किया और उसे काँच समझ कर फेंक कर चिन्तामणि की खोज में आगे

बढ़ा । देशदेशान्तरों में फिरा, पर कहीं उसको चिन्तामणि न मिली। अब उसको जहाँ तहाँ कांचके टुकड़े ही मिलते थे लेकिन चिन्तामणि कहीं नहीं मिलती थी।

३६—हस्तिकोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा कुम्भज वेषधारिणी रानी चुड़लाने अपने स्वामी शिखिध्वज को यह उपदेश दिया था कि मनुष्य को कोई काम अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए। जिस काम को करना है उसको पूर्ण-तया करना चाहिए। यदि कुछ शेष रह जाता है तो पीछे हानि पहुँचाता है। दूसरी बात उसने यह भी बतलाई कि मनुष्य को अपना भविष्य अपनी वर्त्तमानकाल की क्रियाओं द्वारा सुधारना चाहिए। वर्त्तमान की छोटी-छोटी ग़लतियाँ भविष्य में विस्तार को प्राप्त होकर मनुष्य को हानि पहुँचाती हैं।

विन्ध्याचल के जंगल में बहुत दीर्घकाय, बलवान्, सुन्दर और बड़े-बड़े दाँतों वाला एक हाथी रहता था। उसको देखकर एक महावत ने उसको पकड़ने का विचार किया। उसने उसको पकड़ने के अनेक यत्न किए। एक समय सोते हुए हाथी को उसने अपनी बुद्धि के बल से लोहे की जंजीरों में जकड़ ही लिया, और अपने आप उसके ऊपर सवार होकर उसको उठाकर चलाने लगा। हाथी को जब अपनी इस दशा का ज्ञान हुआ तो उसके क्रोध और व्यथा का कोई अन्त न रहा। तीन दिन तक वह चिल्लाता हुआ अपने शरीर को इस रीतिसे अंगड़ाइयाँ देता रहा कि उसका बंधन टूट जाए। ऐसा ही हुआ; वह बन्धन से मुक्त हो गया, और उसने महावत को नीचे गिरा दिया। महावत भयभीत हो मुरदे की नाईं निष्क्रिय होकर नीचे पड़ा रहा। हाथी के मन में उसके ऊपर कुछ करुणा आ गई, और कुछ उसने यह सोचा कि अब तो वह मुक्त हो ही गया, महावत को वहीं पड़ा छोड़कर भाग निकले। हाथी ने यह बड़ी भारी भूल की। यद्यपि उस समय यह भूल बहुत छोटी सी जान पड़ती थी, पर भविष्य में उसे अपनी इस भूल का बहुत कड़ुआ परिणाम सहन करना पड़ा। जब हाथी भाग गया तो महावत प्रसन्न होकर उठा और उसने हाथी को दूसरी बार पकड़ने का इरादा कर लिया। कई दिन तक उस वन में घूमते-घूमते उसने

हाथी का पता लगा लिया। जिस जंगल में वह रहता था और जिस मार्ग से वह बहुधा जाया आया करता था, उस मार्ग में एक दिन महावत ने एक बहुत गहरा गडढा खुदवा कर तृणोंसे उसे आच्छादित ऐसा बना दिया कि हाथी को वहाँ पर कोई सन्देह न हो। हाथी जब उस मार्ग से नदी में पानी पीने गया तो धड़ाम से गड्ढे में गिर गया, और अनेक यत्न करने पर भी न निकल सका। कई रोज तक वह वहाँ पड़ा रहा और भूख के कारण दीन और कृश हो गया। अन्त को महावतने अपनी बुद्धिके बलसे उसे बाँध कर निकाला और अपने वशमें कर लिया। यदि वह बलवान् हाथी उस महावत को उस समय जब कि वह उसके आगे पड़ा हुआ था जीवित न छोड़ देता तो उसका भविष्य इतना दुःखदायी न होता।

३७—कचोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रको यह समझाया कि असली त्याग, जिससे मनुष्य को निर्वाणपद मिलता है, वस्तुओं और घर बार का त्याग नहीं है, बल्कि अलङ्कार और ममता का त्याग है। वासना के त्याग से सब कुछ त्यक्त हो जाता है, और वासना के रहते हुए सब कुछ त्याग देने पर भी किसी वस्तु का भी त्याग नहीं होता।

एक समय देवगुरु बृहस्पति का विद्वान् पुत्र अपने पिता के पास गया। साष्टांग प्रणाम करके उनके समीप बैठ गया। पिताकी आज्ञा होने पर उसने उनसे पूछा कि महाराज यह बतलाइये कि मनुष्य का परम कल्याण क्या करने से होता है। बृहस्पति ने उत्तर दिया—सर्वत्याग से। कच यह सुनकर अपने स्थान को वापिस आ गया, और एक एक वस्तु का त्याग करने लगा। वर्षों तक ऐसा करने पर भी उसके चित्तमें शान्ति और उसे परमानन्द की प्राप्ति न हुई। तब फिर वह पिता के पास गया और उसने अपने सर्वत्याग की कथा कह अपने मन की दशा का वर्णन किया। बृहस्पति ने कच को समझाया—बेटा! सर्वत्याग का अर्थ यह नहीं है कि एक-एक वस्तु को छोड़ते चले जाओ और उससे न कोई काम लो और न कुछ सम्बन्ध ही रक्खो। संसार में जब तक जीवन है तब तक ऐसा होना असम्भव है। बाह्य त्याग का नाम त्याग नहीं है। किसी वस्तुको मनसे त्याग

देने ही का नाम त्याग है। इसलिये मनको ऐसा बना लो कि उसमें संसार की किसी वस्तु और इन्द्रियों के विषय के भोगों के लिये कोई वासना न रहे। यही सच्चा त्याग है, और इसी का नाम सर्वत्याग है। इसी त्याग से मनुष्य का परम कल्याण होता है। कचने ऐसा ही किया और वह जीवन्मुक्त हो गया।

४०—इक्ष्वाकु की कथा

संसार-चक्रसे बाहर निकलने के उपायों का वर्णन करते हुए वसिष्ठ-जीने रामचन्द्रजी को इक्ष्वाकु और मनुका संवाद सुनाया जो इस प्रकार है :—

हे राम ! तुम्हारे आदि पुरुष इक्ष्वाकु राजा जिस प्रकार मुक्त हुए थे उसकी कथा सुनो। एक समय इक्ष्वाकु राजा के मनमें यह प्रश्न उठा कि इस जरा और मरण रूपी संक्षोभ वाले सुख-दुःखयुक्त संसार से बाहर निकलने का क्या उपाय है ? बहुत दिनों तक इस प्रश्न पर विचार करते रहने पर भी उनकी समझ में कुछ न आया। एक दिन दैवयोग से ब्रह्मलोक से भगवान् मनुका आगमन हुआ। इक्ष्वाकु ने उनका यथायोग्य आदर सत्कार किया और अवसर पाकर उनसे वही प्रश्न किया। मनु बहुत प्रसन्न हुए और बोले—हे राजन् ! जो कुछ यह जगत् दीख रहा है वह सब देखने वाले के मनकी अवस्था पर ही निर्भर है। जब तक मनमें संकल्प विकल्प उठते हैं और दृश्य पदार्थों की वासना है, तभी तक जगत् का अनुभव होता है, और जब आत्म-पदमें स्थित होने की वासना होगी और मनुष्य उसमें स्थित होने का प्रयत्न करेगा, तब जगत् का भान नहीं होगा। आत्मदर्शन न शास्त्र द्वारा होता है और न गुरु द्वारा। आत्मा ही के द्वारा शुद्ध बुद्धि से आत्मा देखा जाता है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदिमें बहुत कालसे आत्मबुद्धि हो रही है। वहाँ से उसको हटाकर आत्मा में स्थिर करना चाहिए। यह सिद्धि भी क्रमशः ही प्राप्त होती है। इस सिद्धि के प्राप्त कर लेने का ही नाम योग है। इस योग की सात भूमिकाएँ हैं :—सबसे पहिले मुमुक्षुको शास्त्र और सज्जनों की संगति में रहकर अपनी बुद्धि को शुद्ध और तेज करना चाहिये। जिसकी बुद्धि निर्मल और सूक्ष्म नहीं है वह आत्मलाभ कैसे प्राप्त कर सकता है ? योग की दूसरी भूमिका का नाम 'विचारणा' है। जब बुद्धि आत्मविचार

करने योग्य हो जाय तो मनुष्य को आत्मा का क्या स्वरूप है, जगत् में क्या सार है, मनुष्य का क्या परम ध्येय है, इत्यादि प्रश्नों पर बार-बार विचार करना चाहिए। तीसरी भूमिका 'असंगभावना' है। धीरे-धीरे मनुष्य को सब दृश्य पदार्थों से असक्त होना चाहिए। किसी भी विषय से संग नहीं रहना चाहिए, क्योंकि जिस विषय में संग होता हो उसी विषय से मनुष्य बँध जाता है। चौथी भूमिका का नाम 'विलापनी' है। इस अवस्था में योगी अपनी सब वासनाओं का त्याग कर देता है और धीरे-धीरे उसकी सारी वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। 'आनन्दरूपा' नामक पाँचवीं अवस्था वह है जब कि योगी शुद्ध संवित् रूप हो जाता है और आनन्द में निमग्न रहता है। इस स्थिति में योगी जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरता है और देखने वालों को ऐसा जान पड़ता है कि वह जागता हुआ भी सोता रहता है। छठी अवस्था का नाम है 'स्वसंवेदनरूपा'। इस अवस्थामें योगी सच्चिदानन्द रूप हो जाता है और उसकी स्थिति सोते हुए मनुष्य जैसी हो जाती है। उसको संसार का कोई अनुभव ही नहीं होता, सदा ही वह आत्मानन्द में लीन रहता है और उसको आत्मा ही का निरन्तर भान होता है। यह अवस्था जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या चारों से परे की है। इसका ही नाम मुक्ति है। सातवीं अवस्था का नाम 'परिप्रौढा' है। उस अवस्था में परम निर्वाण की सिद्धि होती है। उसका जीवित योगी अनुभव नहीं करते। शरीर-पात होने पर ही योगी उस अवस्था में प्रवेश करते हैं। उसी को विदेहमुक्ति भी कहते हैं। मनु से योग की भूमिकाओं का वर्णन सुनकर इक्ष्वाकु बहुत प्रसन्न हुए और उनके ब्रह्मलोक चले जाने पर अपने आप इन भूमिकाओं वाले योग-मार्ग पर चलने लगे।

४१—तुर्यावस्था-स्थित मुनि की कथा

मनु द्वारा किए हुए इस उपदेश को सुनकर रामचन्द्रजीने वसिष्ठजीसे पूछा—महाराज ! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन अवस्थाओं को तो मैं जानता हूँ। इनके अतिरिक्त जो चौथी अवस्था मनुने बतलाई, वह कैसी अवस्था है। उसमें स्थित रहते हुए मनुष्य की कैसी दशा और कैसा व्यवहार होता है—यह मुझे कोई दृष्टान्त देकर समझाइए। वसिष्ठजीने कहा—अहंभाव और अनहंभाव, सत् और असत् दोनों

भावों को छोड़कर असक्त, सम और स्वच्छ स्थिति का नाम चौथी (तुर्या) स्थिति है। उस अवस्था में चित्त का संकल्प शान्त और जगत् का भाव विलीन हो जाता है, जीवन्मुक्ति इसी स्थिति में स्थित होने का नाम है। इसको न जाग्रत और न स्वप्न कह सकते हैं, क्योंकि इसमें संकल्प का अभाव होता है; और न सुषुप्ति कह सकते हैं, क्योंकि इसमें जड़ता नहीं होती। इसमें स्थित रहने वाले की क्या दशा होती है इसको समझाने के लिये मैं तुम्हें एक मुनि का दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक व्याध ने एक महा गहन वन में एक मृग का पीछा किया, और उसे एक बाण भी मार दिया। मृग बहुत तेजी से भाग निकला और व्याध के हाथ न आया। मृग की खोज करते करते व्याध एक स्थान पर जहाँ कि एक मुनि बैठा था आया। मुनि को प्रणाम करके व्याध ने उनसे पूछा कि क्या इधर को कोई बाण-भिन्न मृग गया है। मुनि बोले—हे व्याध ! मैं तो नहीं कह सकता कि इधर को कौन आता जाता है, क्योंकि मैंने अपने आप को इन्द्रियों और मन से हटा कर आत्मा में स्थित कर लिया है। जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में समभाव से वर्तमान जो चौथी अवस्था है उसमें मेरी स्थिति है। संसार में क्या हो रहा है मुझे कुछ पता नहीं है। मेरे लिए संसार है ही नहीं। यह सुनकर व्याध को बहुत आश्चर्य हुआ और वह मुनि को प्रणाम करके चला गया।

४२—एक विद्याधर की कहानी

विद्याधरोपाख्यान द्वारा रामचन्द्रजी को वसिष्ठजी ने यह समझाया कि कितना ही शास्त्र का अध्ययन और विचार किया जाय, जब तक मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों को वश में लाने का प्रयत्न नहीं करता, उसे आत्मज्ञान कभी नहीं हो सकता।

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! एक बार मैंने काकभुशुण्डिजी से यह पूछा कि संसार में कोई ऐसा पुरुष भी है जिसकी आयु बहुत दीर्घ हो गई हो और फिर भी उसने आत्मानुभव न प्राप्त किया हो। काकभुशुण्डिजी ने कहा—हाँ, वसिष्ठजी ! एक विद्याधर ऐसा था जिसने कि ४ कल्पतक जीवित रहने पर भी आत्मानुभव प्राप्त नहीं किया था। बहुत समय तक वह विद्याधर शास्त्रों का अध्ययन करता

रहा, किन्तु उसको आत्मज्ञान न हुआ। मेरा नाम सुनकर वह मेरे पास आया और मुझसे पूछने लगा कि शास्त्र का इतने दिनों तक अध्ययन कर लेने पर भी क्यों उसके चित्त में शांति नहीं आई और उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ, आत्मानन्द में स्थिति तो दूर रही ? काकभुशुंडि जी ने उस विद्याधर को अपने आश्रम में कुछ दिन रहने की सलाह दी। विद्याधर के वहाँ पर रहते हुए भुशुंडिजी ने यह मालूम कर लिया कि उसको आत्मज्ञान क्यों नहीं हुआ। कारण यह था कि विद्याधर के हृदय में इन्द्रियों के भोगों की अनेक वासनाएँ सुप्त रूपसे मौजूद थीं, वे ही उसके मनको शान्त नहीं होने देती थीं। भुशुंडिजीने उसको मनके विकारों को दूर करने और सुप्त वासनाओं को जाग्रत करके ज्ञान द्वारा उनका विच्छेद करने की योग की युक्तियाँ बतलाईं। इस रीतिसे जब विद्याधर ने अपना मन निर्मल और शुद्ध कर लिया तो उसको अब थोड़े ही समय में आत्मज्ञान होकर परमानन्द की प्राप्ति हुई, और वह जीवन्मुक्त होकर आनन्द से रहने लगा।

४३—इन्द्र की कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्र को बतलाया कि परमाणु-परमाणु के भीतर अनन्त और अपार सृष्टियाँ हैं। जो जीव उनका अनुभव करते हैं उनके लिये ही वे सृष्टियाँ सत्य हैं, दूसरों को उनकी सत्ता का ज्ञान नहीं होता :—

एक समय देवताओं और दैत्यों में घोर युद्ध हुआ। देवता लोग हार गये। उनका स्वामी इन्द्र अपनी जान बचाने के लिये भाग निकला। उसने अपनी रक्षा के लिये संसार में कोई स्थान न पाया। तब उसने योग विद्या द्वारा अपने शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर सूर्य की एक किरण में प्रवेश किया। उस अत्यन्त सूक्ष्म किरण के भीतर भी उसको ऐसा ही संसार दिखाई पड़ा जैसा कि बाह्य ब्रह्माण्ड में था। उस जगत में उसने अपने मनसे एक साम्राज्य की रचना की और उसका राजा बन गया। इस प्रकार उसने उस जगत में बहुत दिनों तक राज्य किया। उसके पुत्र पौत्र आदि ने भी उसी जगत में राज्य किया। बहुत काल बाद उसके वंश में एक राजा ने आत्मज्ञान प्राप्त किया और उसको विराट् ज्ञान भी हुआ। उस ज्ञान में यह भेद खुला कि उसका एक पहला पूर्वज इन्द्र था जो भागकर सूर्य की किरण में प्रवेश कर गया था।

४४—मङ्की की कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि जब मनुष्य को विवेक और वैराग्य होने पर उसका मन, निर्मल और विचारवान् हो जाता है तो थोड़े से ही उपदेश से उसको आत्मज्ञान हो सकता है।

वसिष्ठजी ने कहा कि एक बार जब कि वे अज राजा के यज्ञ में पुरोहित बनकर जा रहे थे उनको रास्ते में एक ब्राह्मण मिला जिसका नाम मङ्की था। बात करते-करते वसिष्ठजी को ज्ञात हुआ कि वह ब्राह्मण बहुत विरक्त और विवेकी है किन्तु अभी तक उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ। वसिष्ठजी ने उसे आत्मज्ञान का उत्तम अधिकारी पाकर मार्ग में चलते-चलते ही आत्मज्ञान का उपदेश दिया। मङ्की के हृदय में वसिष्ठजी का उपदेश घर कर गया; और उसको तुरन्त ही आत्मानुभव हो गया।

४५—मनोहरिण का उपाख्यान

इस उपाख्यान में वसिष्ठजी ने मन की उपमा मृग से दी है और समाधि की उपमा वृक्ष की ठण्ढी छाया से। जिस प्रकार कि ऊसर भूमि में 'मृगतृष्णा' के जल की तलाश में प्यासा मृग धूप में भटकता फिरता रहता है और कहीं पर उसे किसी घने पेड़ की छाया मिल जाती है और उसका दुःख शांत हो जाता है, उसी प्रकार व्यथित मनको संसार-रूपी ऊसर भूमि में आनन्द की वृथा खोज करते और दौड़ते रहने पर कभी-कभी समाधि का आनंद मिल जाता है। उस मनोमृग का स्वरूप कैसा है यह यहाँ पर बतलाया है :—

आत्मरूपी चर्म के अपहरणार्थ कामक्रोधादि व्याधों से अनुगत, असार, अनेकताकार शरीररूप कंटकों के कुञ्जों में जर्जरीभूत मुखवाला, वासनारूप पवन से प्रेरित संसार-वन में दौड़ता हुआ, अन्तःकरण में तृष्णारूपी दाह से युक्त, अहंतारूपी मृगतृष्णा की नदी की ओर दौड़ता हुआ, संपत्तिरूपी लताओं में पैरों के उलझ जाने से अनेक कंटकों से वेधित शरीरवाला, तृष्णारूपी नदी में तृषा, शोक और मोहादि तरङ्गों से बहा हुआ, अनेक व्याधिरूप दुष्ट व्याधों के दुःखों से पलायमान, विषयों से उत्पन्न दुःखरूपी बाणों से वेधित, पूर्वकाल के दुःखों के संस्कार रूपी पत्थरों से प्रहारित; स्वर्ग-नरकादि ऊँचे-नीचे स्थानों में संपात और निपात से चकित, अपने बुद्धिरचित

अनेक आचार, सम्प्रदायों और परमात्मा की माया से भ्रमित, इन्द्रिय रूपी ग्राम में आकर भागने में तत्पर, भयङ्कर कामरूपी गजेन्द्र की गर्जना से घबराया हुआ, विषय रूपी अजगरों की महा विषरूपी फुंकार से मूर्छित, कामिनी रूपी भूमि पर विषय रूपी रस से मूर्च्छित पड़ा हुआ कोपरूपी दावानल से दग्ध, अनेक अभिलाषारूपी मच्छरों से तङ्ग आया हुआ, भोगों के लोभ में प्रमोद रूपी शृगालों से भगाया हुआ ; अपने कर्म से उत्पन्न दरिद्रतारूपी व्याघ्र से पीड़ित; पुत्र कलत्र आदि के मोहरूपी कुहरे से अंधा, नीच कामरूपी गड्ढों में गिरने से भग्न शरीरवाला, मृत्युरूपी व्याघ्र से सुखपूर्वक खाए जाने योग्य यह मनरूपी मृग संसार में भटकता फिरता है।

४६—पाषाणोपाख्यान

पाषाणोपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह समझाया कि सारा विश्व कल्पनाकृत है और कल्पना द्वारा इस विश्व के भीतर भी दूसरे विश्वों की रचना की जा सकती है। यह कहानी स्वयं वसिष्ठजी के अनुभव में आई हुई घटना की है।

एक समय वसिष्ठजी की इच्छा किसी एकान्त स्थान में रहकर ध्यान करने की हुई। संसार में चारों ओर विघ्नबाधाओं को देखकर उन्होंने आकाश में ध्यान के योग्य स्थान ढूँढ़ा। किन्तु वहाँ पर भी उनको नाना प्रकार के शब्दों के स्पन्दन अनुभव में आए। इसलिये उन्होंने शून्य लोक में प्रवेश किया। वहाँ पर अपने संकल्प द्वारा एक कुटिया की रचना करके उसमें आसन लगाकर ध्यान लगाना आरंभ किया, और तुरन्त ही समाधि में प्रविष्ट हो गए। समाधि में प्रवेश होकर उन्होंने नाना प्रकार के लोकों में भ्रमण किया जो कि बहुत सूक्ष्म और विचित्र प्रकार के थे। कुछ समय पीछे जब कि वे समाधि से जागे तो उनके कानों में एक बहुत सरस और मनोहर गाने का शब्द सुनाई पड़ा। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस शून्य लोक में शब्द कहाँ से सुनाई पड़ा। आकाश-धारणा द्वारा उनको ज्ञात हुआ कि वह सरस और मनोहर गान एक सुंदर और तरुण रमणी का है। वसिष्ठजी को उस रमणी को देखने की उत्सुकता हुई, और तुरन्त वह स्त्री वसिष्ठजी के सामने उपस्थित हो गई। वसिष्ठजी के पूछने पर उसने बतलाया कि उसका निवास-स्थान उनके एक कल्पित जगत् में है।

वसिष्ठजी द्वारा कल्पित जगत् में पृथ्वी के ऊपर एक पहाड़ है, उस पहाड़ के एक पत्थर के भीतर वह तरुणी और उसका पति रहते हैं। तरुणी अपने पति के मन की कल्पना द्वारा उत्पन्न हुई थी। लेकिन उसके पति ने अभी तक उसको स्त्रियोचित आनन्द प्रदान नहीं किया था। इसी कारण वह महादुःखी थी। इस दुःख को सहन न करने के कारण उसने संसार के सब भोगों की आशा छोड़कर आत्म-ज्ञान की शरण लेनी चाही; किन्तु उसको ज्ञान उत्पन्न करानेवाला कोई नहीं मिला। इसलिये वह स्त्री वसिष्ठजी से प्रार्थना करने लगी कि वे उसको और उसके स्वामी को आत्मज्ञान का उपदेश करके दुःख से मुक्त करें।

वसिष्ठजी को यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और इसकी सत्यता की जाँच करने के लिये वे अपने संकल्प के जगत् में पृथ्वी के ऊपर स्थित पहाड़ के उस पत्थर को देखने चल दिए जिस में कि वह देवी और उसका स्वामी वास करते थे। वसिष्ठजी ने उस जगत् में प्रवेश किया और उस जगत् के ब्रह्मा से मिले। जब कि वसिष्ठजी उस ब्रह्मा से मिलने गए तभी वह ब्रह्मा निर्विकल्प समाधि में बैठनेवाला था। वसिष्ठजी से मिलते ही वह ब्रह्मा समाधि में बैठ गया और वह जगत् जिसमें वह शिला थी, और जिसमें वह तरुणी और उसका स्वामी ब्राह्मण रहता था, तुरन्त ही क्षीण हो गया। वसिष्ठजी ने उस जगत् की प्रलय अपनी आँख से देखी और अपने आप वे उससे बच कर चले आए। यह सब अनुभव वसिष्ठजी ने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा ही किया था। अब वह सूक्ष्म शरीर शून्यलोक में स्थित कुटी में वर्त्तमान अपने स्थूल शरीर में प्रवेश करने के लिये वहाँपर जब वापिस आया, तो उसने देखा कि उस कुटिया में कोई एक सिद्ध रहने लगा और वसिष्ठ का शरीर वहाँ नहीं रहा। यह देखकर वसिष्ठजी ने वहाँ पर रहने का संकल्प ही त्याग दिया और स्वर्गलोक में जाकर रहने का निश्चय कर लिया। उनके शून्यलोक में वास करने के संकल्प के क्षीण होते ही उन के संकल्प द्वारा रचित कुटी भी क्षीण हो गई, और उसके क्षीण होते ही उस सिद्ध का शरीर जो कि उस कुटी में था, पृथ्वीमण्डल पर गिर पड़ा। वसिष्ठजी ने सिद्ध को अपना सब हाल कहा और दोनों सिद्धलोक में जा कर रहने लगे।

४७—विपश्चित् की कथा

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह उपदेश किया कि मनुष्य की वासना और संकल्प ही उसके पुनर्जन्मों को निश्चित करते हैं।

जम्बूद्वीप में ततमिति नाम की एक नगरी थी उस पर विपश्चित् नाम का एक राजा राज्य करता था। एक समय उसके राज्य पर चारों दिशाओं से शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। राजा को आक्रमण की सूचना मिलते ही बहुत दुःख हुआ। उसने अग्नि देवता को प्रसन्न कर के वर प्राप्त करने के लिये अपने शरीर की यज्ञ की आग में आहुति दे दी। अग्नि देव ने प्रसन्न हो कर वर मांगने को कहा तो विपश्चित् ने यह वर माँगा कि चारों ओर से आक्रमण करने वाले शत्रुओं का सामना करने के लिये उस के एक के स्थान पर चार शरीर हो जाएँ। अग्निदेव ने 'एवमस्तु' कहा। अब एक के बजाय चार विपश्चितों ने शत्रुओं के साथ घोर युद्ध किया और उनको हरा कर भगा दिया। अपने बल पर विश्वास हो जाने पर अब चारों विपश्चित् चार दिशाओं में दिग्विजय करने को चल दिए। वे नाना देशों में गये और उनको विजय करके आगे बढ़े। बहुत से देशों को विजय करके चारोंने चारों दिशाओं में अपना-अपना साम्राज्य स्थापित किया। कुछ काल तक राज्य करके वे अपने मृत्युकाल आनेपर उन शरीरों को छोड़कर जन्म-जन्मान्तरों को प्राप्त हो गए। वसिष्ठजी ने राम को उनके कुछ जन्मों का भी हाल सुनाया और यह भी बतलाया कि उनमें से एक इस समय राजा दशरथ की पशुशाला में एक मृग के शरीर में वर्तमान है। यह मृग राजा दशरथ को त्रिगर्त देश के राजाने भेंट किया था। यह सुनकर रामचन्द्रजी को बहुत आश्चर्य हुआ। रामचन्द्रजी ने उस मृग को उसी समय सभा में मँगवाया, और वसिष्ठजी से अपने कथम को प्रमाणित करने की प्रार्थना की। वसिष्ठजी ने तुरन्त ही अपने संकल्प द्वारा एक अग्निकुण्ड की रचना की और मृग को उसमें प्रविष्ट कराया। मृगदेह भस्म हो जानेपर अग्निकुण्ड से एक मनुष्य निकला और सभा में आकर बैठ गया। उसने अपनी स्मृति के अनुसार वसिष्ठजी के कथन का समर्थन किया और अपने अनेक जन्मों की कथा सुनाई।

४८ वटधाना राजकुमारोंकी कथा

विपश्चित् की कथा समाप्त हो जानेपर विश्वामित्रजी ने इस विषयपर एक कथा सुनाई कि संसार का अनन्त विस्तार है, इसका अन्त किसी ने नहीं पाया। जितनी दूर जाओ उतना ही आगे फैला हुआ संसार दीख पड़ता है।

वटधाना नाम का एक देश है। उसके राजा के तीन पुत्र थे। उन तीनों के मन में यह वासना हुई कि इस जगत् के अन्त का पता चलाया जाय। यह सोच कर वे तीनों घर से चल दिए। उनको भ्रमण करते हुए १७ लाख वर्ष हो चुके हैं लेकिन अभी तक उन्हें संसार का अन्त नहीं मिला।

४९—शवोपाख्यान

विपश्चित् राजा के अग्निकुण्ड जनित शरीर ने (४७ वें उपाख्यान में) जिसका नाम भास था, अपने अनेक जन्मों का अनुभव सुनाते हुए एक कथा सुनाई जो इस प्रकार है :—

एक समय उसने एक बहुत बड़ी वस्तु आकाश से पृथ्वी पर गिरती देखी। ऐसा जान पड़ता था कि एक पूरा ब्रह्माण्ड टूट कर गिर रहा है। पृथ्वी पर पड़ते ही उसने पृथ्वी के बहुत बड़े भाग को ढक लिया और बहुत से जीव जन्तुओं का नाश कर दिया। उसके गिरते ही चण्डी देवी प्रकट हुई और उसने उस विशाल वस्तु को छिन्न भिन्न कर के उसका नाश किया। विपश्चित् की समझ में जब यह न आया कि वह वस्तु क्या थी तो उसने अपने इष्टदेव अग्नि का आह्वान किया। अग्नि ने प्रकट हो कर विपश्चित् को उस वस्तु का वृत्तान्त सुनाया :—

एक समय एक बधिक ने एक वनवासी मुनि को बहुत कष्ट दिया। मुनि ने उसको मच्छर हो जाने का शाप दिया। वह मच्छर की योनि में पैदा हो गया। मच्छर के मरने पर वह मृग हुआ और फिर व्याध हुआ। व्याध की योनि में उसे किसी मुनि ने उपदेश दिया कि बिना ब्रह्मज्ञानी हुए उसका कल्याण नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिये मुनि ने व्याध को पहिले तप करने की अनुमति दी। तप करके जब व्याध का चित्त शुद्ध हो गया तो उसने मुनि से यह प्रश्न किया कि सङ्कल्प जगत् और बाह्य जगत् में समन्वय कैसे हो सकता है? मुनि ने प्रश्न का उत्तर देते हुए अपना एक अनुभव सुनाया जो ऐसा था :—

एक समय मैंने एक मनुष्य को सोते हुए देखा। मेरे मन में यह उत्सुकता हुई कि मैं यह जान जाऊँ कि वह पुरुष अपने स्वप्न जगत् में क्या क्या अनुभव कर रहा है। धारणाशक्ति द्वारा मैंने अपने आप को सूक्ष्म बनाया और मैं उसके संकल्प-संसार में प्रविष्ट हो गया। मैंने वहाँ पर एक अनन्त जगत् देखा और उनमें मैं विचरण करने लगा। उस जगत् में मैंने सृष्टि और प्रलय भी देखा। मैं अपने असली स्वरूप को भूल कर वहां पर रहने लगा और ऐसा अनुभव किया कि मैं उस जगत् में १०० वर्ष तक रहा। उस जगत् में वर्त्तमान एक मुनि ने मुझे मेरे असली रूप की याद दिलाई। तब मैं उस सोते हुये पुरुष के संकल्प-जगत् (स्वप्न-जगत्) से बाहर आया। तब मुझे यह अनुभव हुआ कि मैं उसके संकल्प-जगत् में केवल क्षण भर रहा था।

मुनि की यह बात व्याध की समझ में नहीं आई। मुनि ने कहा कि अब फिर एक बार तप करो और यह वर माँगो कि तुम्हारा शरीर ब्रह्माण्ड जैसा विशाल हो जाय। तब तुमको अपने भीतरी ब्रह्माण्ड का अनुभव होगा। व्याधने तप किया और ब्रह्माण्ड जैसा विशाल शरीर प्राप्त किया। जब उसका जीव इस शरीर को छोड़ कर चला गया तो यह ब्रह्माण्ड-समान विशाल देह शव होकर गिरा। अग्निदेव ने विपश्चित् से कहा कि यह दीर्घकाय वस्तु वही शव था। इस शरीर को छोड़ कर वह जीव सिन्धु राजा बना और अपने मन्त्रियों के द्वारा आत्मज्ञान का उपदेश पाकर निर्वाण को प्राप्त हुआ।

५०—शिलोपाख्यान

शिलोपाख्यान केवल एक दृष्टान्त मात्र है। इसमें वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को ब्रह्म की शिला से उपमा देकर यह समझाया है कि जिस प्रकार एक शिला में अव्यक्त रूप से संसार की सभी प्रतिमाएँ वर्त्तमान रहती हैं उसी प्रकार ब्रह्म में भी अव्यक्त रूपसे संसार के सभी व्यक्त पदार्थ वर्त्तमान रहते हैं।

५१—ब्रह्माण्डोपाख्यान

ब्रह्माण्डोपाख्यान में वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है, और इस उत्पत्ति का वर्णन स्वयं ब्रह्माने उनसे कैसे किया था। यह बात आगे चल कर सिद्धान्त प्रकरण में वर्णन की जाएगी।

५२—ऐन्दवोपाख्यान

ऐन्दवोपाख्यान पहिले कही हुई इन्दू ब्राह्मण के लड़कों की कथा (नं० ८) की ही पुनरावृत्ति है ।

५३—विल्वोपाख्यान

विल्वोपाख्यान भी एक दृष्टान्त ही है जिसमें ब्रह्म की एक विल्व फल से उपमा देकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह समझाया है कि जिस प्रकार एक विल्व फल के भीतर अनेक वस्तुएं वर्त्तमान हैं उसी प्रकार ब्रह्म के भीतर भी अनन्त पदार्थ वर्त्तमान हैं ।

५४—तापसोपाख्यान

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से कहा—भगवन् ! कुछ दिन हुए हमारी पाठशाला में विदेह नगर का वासी कुन्ददन्त नामक एक ब्राह्मण आया था । उसने अपनी देखी हुई एक आश्चर्यमय घटना सुनाई थी जो इस प्रकार है:—कुन्ददन्त एक समय कहीं जा रहा था । मार्ग में उसने एक तपस्वी को एक वृक्ष पर उलटा लटकते देखा । उसे उस को देख कर बहुत आश्चर्य हुआ । पूछने पर तपस्वीने कुन्ददन्त को बतलाया कि वह तब तक तप करता रहेगा जबतक कि उसे सप्त द्वीप का राजा बनने का वर न मिल जाय । कुन्ददन्त इस तप का फल जानने के लिये वहीं रहने लगा । कुछ दिन के पीछे वहाँ पर सूर्यमण्डल से एक दिव्य पुरुष आया और उसने उस तपस्वी को वर दिया कि वह अगले जन्म में सप्त द्वीप का राजा हो जायगा । वर पाते ही तपस्वी ने अपना तप समाप्त किया । कुन्ददन्त से उसने कहा कि इसी प्रकार उसके सात भाई भी सप्तद्वीप के राजा होने के लिये तपस्या कर रहे हैं । कुन्ददन्त और वह दोनों मिलकर उनको देखने के लिये चले । सबसे मिलने पर यह मालूम हुआ कि उनको भी अगले जन्म में सप्तद्वीप के राजा होने का वर मिल गया है । उधर उन आठों भाइयों की स्त्रियों ने तप किया और प्रत्येक ने यह वर लिया कि मरनेपर उनके स्वामियों के जीव उनके घरों से बाहर नहीं जाने पाएँगे । कुन्ददन्त को यह सब वृत्तान्त जानकर आश्चर्य हुआ और उसने उस तपस्वी से पूछा कि सप्तद्वीप का राज्य एक समय में ही सब भाइयों को कैसे मिल जायगा और सब के सब सप्तद्वीप के राजा होते हुए अपनी स्त्रियों के घरों के भीतर कैसे रहेंगे । सब की वासनाओं में इतना विरोध है कि

वे एक ही समय पर पूरी नहीं हो सकतीं। पर सब को ही उनकी वासनाओं के पूरे होने का वर मिल चुका है। उस कदम्ब तापसने कुन्ददन्त ब्राह्मण से कहा—इसका रहस्य केवल वसिष्ठजी ही जानते हैं। वे ही इसको समझा सकते हैं। इसलिये आप को अयोध्या जाना चाहिये और वहाँ पर वसिष्ठजी से इस घटना का रहस्य समझना चाहिए। राम ने कहा—अब वह ब्राह्मण अयोध्या में आ गया है और आप से मिलकर अपनी शंका को निवृत्त करना चाहता है। वसिष्ठजी ने कुन्ददन्त को बुलवा लिया और श्री रामचन्द्रजी के सामने ही उसकी सब शंकाओं की निवृत्ति कर दी।

५५—काष्ठवैवधिकोपाख्यान

यह उपाख्यान योगवासिष्ठ का अन्तिम उपाख्यान है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह समझाया कि यद्यपि गुरु और शास्त्र द्वारा ही ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता तो भी गुरु का बार बार उपदेश सुनने से और शास्त्र का बार बार चिन्तन करने से कभी न कभी आत्मज्ञान हो ही जाता है।

एक अति दीन किन्तु पुरुषार्थी लकड़हारा था। वह प्रति दिन जंगल में जाकर लकड़ियाँ एकत्रित करके लाया करता था और उनको बेच कर अपना और अपने बालबच्चों का पेट पालन करता था। बहुत दिन ऐसा करते रहने पर उसको एक दिन चिन्तामणि मिल गई। उसको पाकर उसका सब दरिद्र दूर हो गया और सब कामनाएँ पूरी हो गईं। इस प्रकार शास्त्र और गुरु के उपदेश का सेवन करते रहने पर कभी कभी आत्मानुभव हो जाता है।

परिच्छेद ८

योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त

पाठक यहाँ तक इन बातों से भली-भाँति परिचित हो गए होंगे कि श्रीयोगवासिष्ठ का आध्यात्मिक ग्रन्थों में कितना ऊँचा स्थान है, यह ग्रन्थ कब लिखा गया होगा, इसकी लेखशैली कैसी है, इसके कौन-कौन से संक्षेप हो चुके हैं, इसमें से कितने उपनिषद् बन गए, इसके सम्बन्ध में अब तक किस-किस ने क्या-क्या लिखा है, इसमें किस विषय की चर्चा है और उसको प्रतिपादन करने के लिये कौन-कौन से उपाख्यान सुनाए गए हैं। अब लेखक ने पाठकों के समक्ष इस ग्रन्थरत्न के दार्शनिक सिद्धान्तों के रखने का इरादा किया है। यह महाग्रन्थ एक अथाह और विशाल समुद्र के समान है। इसमें अनन्त बहुमूल्य रत्न मौजूद हैं। जितनी बार इसमें गोता लगाया जाए उतना ही थोड़ा है। बहुत लोग इसमें गोते लगाते रहते हैं और अनेक रत्न एकत्रित करते और उपभोग का आनन्द लेते रहते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त रत्नों का उपभोग करने के लिये दूसरों को निमंत्रित करते हैं। जब से यह ग्रन्थ बना है ऐसा होता आ रहा है और भविष्य में भी ऐसा होता रहेगा। लेखक ने जो रत्न अपने कई वर्ष के प्रयत्न से इस महासागर में से इकट्ठे किए हैं वे सब "श्री वासिष्ठ दर्शन" नामक ग्रन्थ के रूप में आध्यात्मिक पाठकों की भेंट है, जो कि यू. पी. गवर्नमेण्ट की " प्रिंस आफ़ वेल्स संस्कृत टेक्स्ट्स " पुस्तकमाला में कीन्स संस्कृत कालेज, बनारस के प्रिंसिपल पं० गोपीनाथ कविराज जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रहा है। इसका एक सार "वासिष्ठ दर्शन-सार" नामक पुस्तिका हिन्दी अनुवाद सहित सन् १६३३ में लेखक ने प्रकाशित कराई थी। यहाँ पर हम पाठकों को उसी 'वासिष्ठ दर्शन' नामक संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित कराना चाहते हैं।

१—जीवन में दुःख और अशान्ति का साम्राज्य

यह ऊपर बताया जा चुका है कि श्री रामचन्द्रजी जब शैशवावस्था पार कर चुके और युवावस्था में प्रविष्ट हुए तो उनके मन में जीवन और

संसार की दशा पर विचार उदय हुआ। चारों ओर आँखें खोलकर और विचार करके देखने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि जीवन दुःख और अशान्तिमय है। संसार में कुछ भी सार नहीं है। जीवन का लक्ष्य कुछ भी दिखाई पड़ता और किसी स्थिति में भी आनन्द और शान्ति का अनुभव नहीं होता। इस विचार के कारण वे आशाहीन, निराशावादी खिन्नमना हो गए थे। वसिष्ठजीने उनसे अपने विचार प्रकट करने को कहा तो उन्होंने संसार और जीवन की असारता का सविस्तार वर्णन किया। यह वर्णन इतनी सुन्दर भाषा में और इतना भावपूर्ण है कि संसार के साहित्य में, जर्मन लेखक और तत्त्वज्ञ शोपेनहार के लेखों को छोड़कर इसकी तुलना कहीं पर शायद ही मिले। यहाँ पर हम उसमें से कुछ श्लोकों का संग्रह करके पाठकों के सामने स्वतन्त्र हिन्दी अनुवाद सहित रखते हैं। रामचन्द्र जी के सारे उद्‌गारों का सार यही है कि संसार अनित्य, असार, क्षणभंगुर और मायामय है। मनुष्य-जीवन भी क्षणिक है और इसमें प्राप्त होनेवाले सभी भोग दूर से देखने से ही मधुर जान पड़ते हैं, परन्तु भोग लेने पर दुःखजनक और मृत्यु को निकट बुलाने वाले हैं; इसलिये समझदार आदमी को उनसे विरक्ति होनी चाहिए।

(अ) संसारमें सर्वत्र दोष ही दिखाई पड़ते हैं:—

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः ?
कास्ता प्रजा यासु न भङ्गरत्वम् कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ?

(१।२७।३१)

कौन सी ऐसी दृष्टि है जिसमें दोष न हो ? कौनसी ऐसी दिशा है जिसमें दुःख का दाह न हो ? कौन ऐसी उत्पन्न वस्तु है जो नाशवान् न हो ? कौनसी क्रिया है जो कपट से रहित हो ? अर्थात् संसार में जिधर देखो दोष ही दिखाई पड़ते हैं, सब ओर दुःख, नाश और कपट का साम्राज्य है।

(आ) यहां पर कुछ भी स्थिर नहीं है:—

यच्चेदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम्।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मन्स्वप्नसङ्गमसन्निभम् ॥ १ ॥ (१।२८।१)
अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसञ्चयाः।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरङ्गवदनारतम् ॥ २ ॥ (१।२८।१०)

वातान्तर्दीपकशिखालोलं जगति जीवितम् ।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये ॥३॥ (१।२८।११)
प्रागासीदन्य एवेह जातस्त्वन्यो नरो दिनैः ।
सदैकरूपं भगवन्किञ्चिदस्ति न सुस्थिरम् ॥४॥ (१।२८।३२)
बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा ।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥५॥ (१।२८।३७)
क्षणमानन्दितामेति क्षणमेति विषादिताम् ।
क्षणं सौम्यत्वमायाति सर्वस्मिन्नटवन्मनः ॥६॥ (१।२८।३८)
इतश्चान्यदितश्चान्यदितश्चान्यदयं विधिः ।
रचयन्वस्तुना याति खेदं लीलास्विवार्भकः ॥७॥ (१।२८।३९)

हे ब्रह्मन् ! जो कुछ यह स्थावर-जङ्गम (जड़-चेतन) जगत् दीख पड़ता है वह सब स्वप्न के समागम के समान अस्थिर है। बाल्यावस्था अनित्य है, युवावस्था अनित्य है, यह शरीर भी अनित्य है, और द्रव्य का संग्रह अनित्य है। संसार के सारे पदार्थ निरन्तर तरङ्ग के समान पूर्वभाव को त्याग कर दूसरे भाव को ग्रहण करते रहते हैं। हवा में रक्खे हुए दीपक की शिखा के समान चञ्चल (क्षणभङ्गुर) इस संसार में जीवन है; और तीनों लोकों के पदार्थों की शोभा बिजली की चमक के समान क्षणिक है। हे भगवन्! इस संसार में एक रूप में स्थिर कोई भी पदार्थ नहीं है। वही मनुष्य पहले किसी और रूप में था, कुछ दिनों में ही दूसरे रूप का हो जाता है। जब अपने शरीर में ही एकरूपता नहीं है तो बाह्य पदार्थों का क्या विश्वास? बाल्यावस्था थोड़े दिनों में बीत जाती है, यौवन की शोभा भी थोड़े ही दिन रहती है; फिर कुछ दिनों के लिए बुढ़ापा आता है। जैसे नट क्षणक्षण में वेष बदल कर अपनी लीलाएँ दिखाता है, यह मन भी क्षण में आनन्दित होता है, क्षण में शोकयुक्त होता है और क्षण में ही शान्त हो जाता है। सृष्टिकर्ता, बालक की नाईं, अपनी बनाई हुई वस्तु से ऊब जाता है; सदा ही यहाँ पर कुछ और वहाँ पर कुछ उत्पन्न करता ही रहता है; उसी वस्तु को क्षण में कुछ और दूसरे क्षण में कुछ और बनाता रहता है।

(इ) जीवन की दुर्दशा :—

आयुरत्यन्तचपलं मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः ।
तारुण्यं चातितरलं बाल्यं जडतया हतम् ॥१॥ (१।२६।१)

कलाकलङ्कितो लोको बन्धवो भवबन्धनम् ।
भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥२॥ (१।२६।१०)
शत्रवश्चेन्द्रियाण्येव सत्यं यातमसत्यताम् ।
प्रहरत्यात्मनैवात्मा मनसैव मनो रिपुः ॥३॥ (१।२६।११)
वस्त्ववस्तुतया ज्ञातं दत्तं चित्तमहंकृतौ ।
अभाववेधिना भावा भावान्तो नाधिगम्यते ॥४॥ (१।२६।१४)
आगमापायिनो भावा भावना भवबन्धनी ।
नीयते केवलं क्वापि नित्यं भूतपरम्परा ॥५॥ (१।२६।२२)
सर्व एव नरा मोहाद्दुराशापाशपाशिनः ।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले ॥६॥ (१।२६।४१)
तृष्णालताकाननचारिणोऽमी शाखाशतं काममहीरुहेषु ।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति ॥७॥
(१।२७।७)

पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्ध्या प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथान्ते यत्रातिरम्या विषमूर्च्छनैव ॥८॥
(१।२७।१३)

पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां समेत्य जन्माशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥९॥
(१।२७।१८)

आयु अत्यन्त चपल है, मृत्यु सर्वथा क्रूर है; युवावस्था अत्यन्त ही चञ्चल है; और बाल्यावस्था अज्ञान में ही नष्ट हो जाती है। सब लोग चिन्ता से कलङ्कित हो रहे हैं। सब बन्धुजन संसार की बेड़ियाँ हैं; जितने भोग हैं वे सब महारोग हैं; और तृष्णा केवल मृगतृष्णा है। अपनी इन्द्रियाँ ही अपने शत्रु हैं। सत्य भी असत्यता को प्राप्त हो गया है; आत्मा ही आत्मा को हनन करता है और मन ही मन का दुश्मन हो रहा है। जो वस्तु जैसी है उसको किसी दूसरे ही प्रकार से जाता जाता है। अहंकार में मन लगा रहता है। सब भावरूप पदार्थ अभाव को प्राप्त होते हैं, और इन सब भावों का क्या अन्तिम लक्ष्य है उसका कुछ पता ही नहीं। सारे भाव आने और जाने वाले (उत्पत्ति और नाशशील) हैं। विषयों की भावना ही संसार से सबको बाँधती है। न जाने ये सब प्राणी कहाँ ले जाए जा रहे हैं। सब मनुष्य मोह के वश हुए, दुःखदायी आशाओं की फाँसी में बन्धे हुए, और दोष

रूपी झाड़ों में अटके हुए मृगों के समान, जीवनरूपी जङ्गल में नष्ट हो रहे हैं। तृष्णारूपी लता के वन में विचरने वाले, मनरूपी मर्कट काम-रूपी वृक्षों की अनेक शाखाओं पर भ्रमण करके कालक्षेप करते हैं, और कहीं कुछ भी फल नहीं पाते। हे तात! पुत्र, स्त्रियाँ और धन, जिनको मनुष्य भ्रान्त बुद्धि से रसायन तुल्य समझता है, कुछ भी उपकार नहीं करते; अन्त में ये सब अतिरम्य वस्तुएँ विष द्वारा प्राप्त मूर्च्छा की नाईं दुःखदाई होती हैं। जिस प्रकार वृक्षों के पत्ते उत्पन्न होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार विवेकहीन लोग जन्म लेकर कुछ दिन बाद कहीं चले जाते हैं।

(ई) काल का सब ओर साम्राज्य है :—

न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः॥ (१।२३।४)
किं श्रिया किं च राज्येन किं देहेन किमीहितैः।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति॥२॥ (१।१८।३७)
ग्रसतेऽविरतं भूतजालं सर्प इवानिलम्।
कृतान्तः कर्कशाचारो जरां नीत्वाऽजरं वपुः॥३॥ (१।१६।६)

जैसे विशाल समुद्र को बड़वानल ग्रास कर जाता है, वैसे ही इस संसार में ऐसी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती जिसको यह सर्वभक्षी काल न खाता हो। लक्ष्मी से क्या? राज्य से क्या? शरीर से क्या? मनोरथों से क्या? थोड़े ही समय में काल इन सबको काट डालता है। यह महाक्रूर आचरण वाला काल तरुण शरीरों को बुढ़ापे तक पकाकर निरन्तर ऐसे भक्षण करता है जैसे सर्प वायु को।

(उ) जीवन में सुख कहाँ है ?

किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसन्ततिः।
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च॥१॥ (१।१२।७)
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः।
आपदां पतयः पापा भावा विभवभूमयः॥२॥ (१।६२।८)
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम्।
जीवितं मरणायैव बत माया विजृम्भितम्॥३॥ (३।९३।२)

आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिक्षयम् ।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम् ॥४॥ (५।२२।३)
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥५॥ (६।६।८)
सर्वस्या एव पर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम् । (५।५१।६)
मालिन्यं दुःखमप्येव ज्वालाया इव कज्जलम् ॥६॥ (४।५१।७)
सर्वोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता ।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥७॥ (५।९।४१)
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसा सरसनैरस्या लुठन्तेषु न को हतः ॥८॥ (६।९३।३१)
भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक्स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥९॥ (६।९३।७९)
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥१०॥ (६।९३।७८)
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥११॥ (५।९।६२)

यह संसार का प्रवाह क्या सुखदायक है ? यहाँ पर प्राणी मरने के लिये उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के लिये ही मरता है। संसार की जितनी चेष्टाएँ हैं वे सब चञ्चल हैं और विभव काल में प्राप्त जितने विषय भोग हैं वे आपत्ति के मूल और पापजनक हैं। सब सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं, सुख केवल दुःख के लिये है और जीवन मरण के लिए है। देखो माया का क्या विस्तार है। मुझे कोई भी भोग सुखदायी नहीं दिखाई देता, क्योंकि सब भोग तभी तक रमणीय मालूम पड़ते हैं जब तक उन पर विचार-दृष्टि नहीं पड़ती। निश्चय ही सब भोग विमाशशील हैं। सारे भोग भयङ्कर परिणामवाले, शीघ्रही विकारयुक्त, क्षणभंगुर, संसार में फँसाने वाले और केवल आरम्भ में बिना विचारे रमणीय मालूम पड़ने वाले हैं। जिस प्रकार अग्नि-ज्वाला का अन्त कालिमा में होता है, उसी प्रकार सब सुखाशाओं का अन्त दुःखमय होता है। जितने वर्त्तमान पदार्थ हैं उन सबके सिरपर नाश अवश्य स्थित है। सब रमणीय पदार्थों के सिर पर अरम्यता और सुखों के ऊपर दुःख स्थित है। तब फिर मैं किस वस्तु की शरण लूँ ? सारे भोग के विषय विष के समान दुःख देने वाले हैं, स्त्रियां मोह

का उत्पादन करने वाली हैं, और सारे रस सरस पुरुषों में भी विरसता उत्पन्न करनेवाले हैं। फिर इनमें रमण करता हुआ कौन नष्ट नहीं होता? विषयों के भोग जहरीले सर्पों के फणों के समान हैं; स्पर्शमात्र से ही काट लेते हैं और क्षण-क्षण में देखते-देखते नाशको प्राप्त होते रहते हैं। सारी सम्पत्तियाँ और ललनाओं का सौन्दर्य तरङ्गों के समान क्षणभंगुर हैं, सर्प के फणरूप छत्र की छाया के समान उनमें कौन बुद्धिमान् रमण कर सकता है? यह संसार संपूर्ण दुःखों का उद्भव-स्थान है, भला इसमें रहते हुए सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

(ऊ) मोहान्धता :—

असतैव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः।
मृगतृष्णाम्भसा दूरे वने मुग्धमृगा इव॥१॥ (१।१२।११)
न केनचिच्च विक्रीता विक्रीता इव संस्थिताः।
बत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम्॥२॥ (१।१२।१२)
किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगाः।
मुधैव हि वयं मोहात्संस्थिता बद्धभावनाः॥३॥ (१।१२।१३)

अत्यन्त खेद की बात है कि हम मूढ़ बुद्धि वाले झूठे सुखसे इस प्रकार खिंचे जा रहे हैं जैसे कि मृगतृष्णा के जल से मूढ़ मृग वन में दूर खिंचे चले जाते हैं यद्यपि किसी ने हमको बेचा नहीं तथापि हम इस प्रकार स्थित हैं जैसे कि बिके हुए (गुलाम)। बड़े अफसोस की बात है कि यह जानते हुए भी कि यह सब मायामय है हमलोग मूढ़ हो रहे हैं। इस प्रपञ्च में विषयों से उत्पन्न होने वाले सुखों की क्या हैसियत है (अर्थात् बहुत थोड़े और क्षणिक हैं)! हम लोग व्यर्थ ही उनकी ओर आशा लगाए रहते हैं।

(ए) लक्ष्मीनिन्दा :—

न श्रीः सुखाय भगवन्दुःखायैव हि वर्धते।
गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा॥१॥
(१।१३।१०)

मनोरमा कर्षति चित्तवृत्तिं कदर्यसाध्या क्षणभङ्गुरा च।
व्यालावलीगात्रविवृत्तदेहा श्वभ्रोत्थिता पुष्पलतेव लक्ष्मीः॥२॥
(१।१३।२२)

हे भगवन्! लक्ष्मी की वृद्धि सुख के लिए नहीं, केवल दुःख के

लिये ही होती है। इसकी रक्षा भी नाश का कारण है, जैसे कि सुरक्षित विषलता भी मृत्यु का कारण होती है। लक्ष्मी स्त्री के समान मनोहर रूप धारण करके चित्त की वृत्तिको खींचती है; दुष्ट कर्मों के करने पर प्राप्त होती है और क्षणभंगुर (जल्द नष्ट होने वाली) है; सर्पों की पंक्ति की नाईं अपने असली रूप को लपेटे रहती है और पुराने कुएँ में उत्पन्न हुई फूलों की बेल के समान (बाहर से सुन्दर किंतु भीतर से दुर्गन्धवाली) है।

(ऐ) आयुनिन्दा :—

पेलवं शरदीवाभ्रमस्नेह इव दीपकः।
तरङ्ग इवालोलं गतमेवोपलक्ष्यते ॥१॥ (१।१४।६)
प्रत्यहं खेदमुत्सृज्य शनैरलमनारतम्।
आखुनेव जरच्छुभ्रं कालेन विनिहन्यते ॥२॥ (१।१४।१६)
स्थिरतया सुखभावितया तया
सततमुज्झितमुत्तमफल्गु च।
जगति नास्ति तथा गुणवर्जितम्
मरणभाजनमायुरिदं यथा ॥ (१।१४।२१)

शरत् काल के बादल, तेल रहित दीपक और तरंग के समान, आयु चञ्चल और नष्टप्राय है। जिस प्रकार प्रति दिन शनैः शनैः खेद रहित होकर कोई चूहा बिलको छेदता रहता है, उसी प्रकार काल भी आयु को निर्दयता से प्रति दिन शनैः शनैः काटता रहता है। स्थिरता और सुख के अनुभव से सदा रहित, सब गुणों से वर्जित, मृत्यु का पात्र, आयुके समान संसार में और कोई तुच्छ वस्तु नहीं है।

(ओ) चित्त की चञ्चलता :—

चेतश्चञ्चलया वृत्त्या चिन्तानिचयचञ्चुरम्।
धृतिं बध्नाति नैकत्र पञ्जरे केसरी यथा ॥१॥ (१।१६।१०)
चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥ २ ॥ (१।१६।२२)

जिस प्रकार सिंह पिञ्जरे के भीतर कहीं पर स्थिर नहीं रहता, इधर उधर डोलता ही रहता है, उसी प्रकार मन, अपनी चञ्चल वृत्ति के कारण और चिन्ताओं के समूह से लदा हुआ, कभी भी स्थिर नहीं होता। अपने विषयों की ओर चित्त इस फुरती से दौड़ता है जैसे कि

पक्षी अपने खाद्य मांस की ओर, और क्षण भर में ही उनसे इस प्रकार विरक्त हो जाता है जैसे कि बालक खेल से। अर्थात् मनमें जरासी भी स्थिरता नहीं है।

(औ) तृष्णा की जलन :—

तृष्णाभिधानया तात दग्धोऽस्मि ज्वालया तथा।
यथा दाहशमो शङ्के जायते नामृतैरपि ॥१॥ (१।१७।११)
कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यशंसिनी।
दशत्यपि मनाक्स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥२॥ (१।१७।१७)
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्तापि फलमीहते।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥३॥ (१।१७।२१)
सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥ ४ ॥ (१।१७।३२)
जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥५॥ (१।१७।३९)
हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपंक्तयः ॥६॥ (१।१७।१)
हृष्टदैन्यो हतस्वान्तो हतौजा याति नीचताम्।
मुह्यते रौति पतति तृष्णयाभिहतो जनः ॥७॥ (५।१५।१०)
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
क्षीयते जीयते सर्वं तृष्णैका हि न जीर्यते ॥८॥ (३।९३।२६)

हे तात! तृष्णारूपी अग्नि मुझे इस प्रकार जला रही है कि मुझे सन्देह है कि अमृत से भी यह दाह शान्त नहीं हो सकती। कुटिल, कोमल स्पर्शवाली, विषयरूपी दुःखदायक विष देनेवाली, यह काली सर्पिणीरूपी तृष्णा छूने मात्र से (अर्थात् मनमें आते ही) काट लेती है। यह तृष्णारूपी चञ्चल बन्दरी, अलङ्घ्य स्थान पर भी पैर रखती है, तृप्त होने पर भी और फलों की इच्छा रखती है और किसी एक स्थान पर क्षण भर भी नहीं ठहरती। संसार के सब दोषों में तृष्णा ही सबसे अधिक दुःख देनेवाली है, यह अन्तःपुर में सुरक्षित पुरुष को भी संकट में डाल देती है (क्योंकि जहाँ मनमें किसी वस्तु के प्राप्त करने की तृष्णा उत्पन्न हो गई दुःख का अनुभव आरम्भ हो गया)। जरा, मरण और दुःख इन सबकी पिटारी और शारीरिक

और मानसिक दुःखों को नित्य देनेवाली वेश्या के समान तृष्णा है। जिस समय चित्तरूपी आकाश में, हृदय में अन्धेरा करने वाली दुरन्त तृष्णारूपी रात्रि छा जाती है तभी सब प्रकार के दोषरूपी उल्लुओं की पंक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। तृष्णा का मारा हुआ मनुष्य देखने में दीन, नष्ट हृदय, ओजरहित हो जाता है, नीचता को प्राप्त होता है, मोहित होता है, रोता है और गिर जाता है। बूढ़ा होने पर प्राणी के केश तथा दांत आदि सभी चीजें जीर्ण हो जाती हैं, केवल एक तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती। (इस कारण से उसे और अधिक दुःख होता है, क्योंकि भोगों की तृष्णा रहते हुए भी भोगों के भोगने की शक्ति नहीं रहती)।

(अं) देह की अरम्यता :—

समस्तरोगायतनं वलीपलितपत्तनम् ।
सर्वाधिसारगहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ १ ॥ (१।१८।३४)
रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरं मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥२॥ (१।१८।३८)
बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान्धिग्धिगस्तु पुनः पुनः ॥३॥ (१।१८।६२)

सब रोगों का स्थान, झुर्रियों से सुकड़ा हुआ, सब मानसिक व्याधियों के सूक्ष्म बीजों से भरा हुआ, यह शरीर मुझे अच्छा नहीं लगता। हे मुने! बाहर और भीतर रक्त और मांस से भरपूर इस नाशवान् शरीर में कौन सा सौन्दर्य है? जो लोग शरीर और जगत् की स्थिति के स्थिर होने में विश्वास करते हैं उन मोहरूपी मदिरा से उन्मत्त जनों को बारबार धिक्कार है।

(अः) बाल्यावस्था की दुर्दशा :—

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता
गृध्नुता लोलता दैन्यं सर्वं बाल्ये प्रवर्तते ॥ १ ॥ (१।१९।२)
ये दोषा ये दुराचारा दुष्क्रमा ये दुराधयः ।
ते सर्वे संस्थिता बाल्ये दुर्गत्त इव कौशिकाः ॥२॥ (१।१९।१०)

अशक्ति, आपत्तियां, तृष्णा, मूकता, मूढ़ बुद्धि, वस्तुओं की अभिलाषा, चञ्चलता, (वस्तुओं के न प्राप्त होने पर) दीनता, ये सब दोष बाल्यावस्था में मौजूद होते हैं। जितने दोष हैं, जितने दुराचार

हैं और जितने भयंकर परिणामवाले रोग हैं वे सब बाल्यावस्था में इस प्रकार मौजूद रहते हैं जैसे खराब गड्ढों में उल्लू रहते हैं।

(क) यौवनावस्था के दोष :—

निमेषभासुराकारमालोलघनगर्जितम्।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते॥ १॥ (१।२०।८)
आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम्।
वेश्यास्त्रीसङ्गमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते॥ २॥ (१।२०।१३)
सुनिर्मलापि विस्तीर्णा पावन्यपि हि यौवने।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी॥ ३॥ (१।२०।१८)

निमेष मात्र के लिये प्रकाश होनेवाली चञ्चल मेघों के गर्जनयुक्त बिजली की चमक के समान, क्षणिक यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। बिना विचारे और थोड़े समय के लिये अच्छे लगने वाले और शुद्ध भावों से रहित वेश्या के साथ संग के समान, यह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार निर्मल, विस्तीर्ण और पवित्र नदी भी वर्षा ऋतु में मलीन हो जाती है उसी प्रकार बुद्धि यौवनावस्था में मलीन हो जाती है।

(ख) स्त्रीनिन्दा :—

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्॥ १॥ (१।२१।१)
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचनम्।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥ २॥ (१।२१।२)
आपातरमणीयत्वं कल्पते केवलं स्त्रियाः।
मन्ये तदपि नास्त्यत्र मुने मोहैककारणम्॥ ३॥ (१।२१।८)
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥ ४॥ (१।२१।१२)
पुष्करकेसरगौराङ्गी नरमारणतत्परा।
ददात्युन्मत्तवैवश्यं कान्ता विषलता यथा॥ ५॥ (१।२१।१६)
मन्दुरं च तुरङ्गाणामालानमिव दन्तिनाम्।
पुंसां मन्त्र इवाहीनां बन्धनं वामलोचना॥ ६॥ (१।२१।२१)
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥ ७॥ (१।२१।२३)

नाड़ी, हड्डी और ग्रन्थि आदि से बनी हुई नारीरूपी मांस की पुतली के चञ्चल शरीर रूपी पिञ्जरे में कौन सी सुन्दर वस्तु है ? चर्म, मांस, रक्त, अश्रुजल और नेत्र इनको अलग-अलग विचार करके देखो और सोचो कि स्त्री के शरीर में क्या रमणीय है ? तब फिर क्यों फजूल ही लोग मोहित होते हैं ? हे मुने ! स्त्री की रमणीयता विचार-रहित कल्पना में ही है और मेरी समझ में तो उतनी भी नहीं है। स्त्री के सौन्दर्य का एकमात्र कारण मोह है। ऊपर से सरस मालूम पड़ने वाली पर भीतरसे नीरस स्त्रियाँ दूर से ही जलाने वाली नरक की अग्नि का कठोर और बढ़िया ईंधन हैं। कान्ता वह विष की लता है जो कि फूल के केशर के समान गौर अङ्ग वाली, पुरुष के मारने के लिये सदा उद्यत, और उन्मत्तता की दीनता पैदा करने वाली है। जैसे घोड़ों के लिये अस्तबल, और हाथियों के लिये उनके बाँधने का खम्भा और सर्पों के लिये मंत्र बन्धन का कारण है, उसी प्रकार स्त्रियाँ पुरुषों के बन्धन का कारण हैं। सर्व दोष रूपी रत्नों की पिटारी, और सदा दुःख देने वाली बेड़ी के समान स्त्री से मुझे कुछ मतलब नहीं।

(ग) भोगों की नीरसता :—

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु
भोगेषु नाहमलिपक्षतिचञ्चलेषु ।
ब्रह्मन् रमे मरणरोगजरादिभीत्या
शाम्याम्यहं परमुपैमि पदं प्रयत्नात् ॥ १ ॥ (१।२१।३६)

हे ब्रह्मन् ! बिना विचारे ही रमणीय मालूम पड़ने वाले, पार करने में अशक्य, भ्रमर के पंखों के समान चञ्चल भोगों में मैं मृत्यु, रोग और वार्धक्य के भय से रमण नहीं करना चाहता। अपने प्रयत्न से मैं परम पद को प्राप्त करके शान्त होना चाहता हूं।

(घ) बुढ़ापे की निन्दा :—

जरामार्जारिका भुंक्ते यौवनाखुं तथोद्धता ।
परमुल्लासमायाति शरीरामिषगर्धिनी ॥ १ ॥ (१।२२।२९)
न जिताः शत्रुभिः संख्ये प्रविष्टा येऽद्रिकोटरे ।
ते जराजीर्णराक्षस्या पश्याशु विजिता मुने ॥ २ ॥ (१।२२।३१)
हिमाशनिरिवाम्भोजं वात्येव शरदम्बुदम् ।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा ॥ ३ ॥ (१।२२।२)

किं तेन दुर्जीवितदुर्ग्रहेण जरागतेनापि हि जीव्यते यत् ।
जरा जगत्यामजिता जनानां सर्वेषणास्तात तिरस्करोति ॥ ४ ॥
(१।२२।३८)

शरीर रूपी मांस को खाने वाली वृद्धावस्था रूपी बिल्ली यौवन रूपी चूहे को भक्षण करके बहुत प्रसन्न होती है। जो योद्धा कभी रण में किसी से नहीं जीते गए और जो पर्वत की कन्दरा के भीतर सुरक्षित रहते हैं, उनको भी वृद्धावस्था रूपी राक्षसी सरलता से जीत लेती है। जैसे हिम का वज्र कमल को और जाड़े की हवा सरदी के बादल को और नदीतीर पर खड़े वृक्ष को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार बुढ़ापा शरीर को नष्ट कर देता है। हे तात ! उस बुरे और कठिनाई से जिए जाने वाले जीवन से क्या लाभ, जिसमें बुढ़ापा आ जाने पर भी जीना पड़े ? हे तात! किसी से भी न जीता गया यह बुढ़ापा मनुष्यों की सभी अभिलाषाओं का तिरस्कार करता रहता है।

(ङ) जीवन की असारता :—

पातः पक्वफलस्यैव मरणं दुर्निवारणम् ।
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ १ ॥ (६।७८।३–४)
शैलनद्यारय इव संप्रयात्येव यौवनम् ।
इन्द्रजालमिवासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थितिः ॥ २ ॥ (६।७८।५–६)
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः ।
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम् ॥ ३ ॥ (६।७८।६–७)
बुद्बुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभङ्गुरम् ।
रम्भागर्भ इवासारो व्यवहारो विचारगः ॥ ४ ॥ (६।७८।७–८)

पक्के फल के गिरने के समान मरण अनिवार्य है। आयु प्रतिक्षण इस प्रकार चली जा रही है जैसे कि हथेली पर से पानी। यौवन पहाड़ी नालों की नाईं तेजी से भागा जा रहा है। जीर्ण स्थिति वाला यह जीवन इन्द्रजाल के दृश्य के समान असत्य है। सुख इतनी जल्दी भाग जाते हैं जितनी जल्दी धनुष से छोड़े हुए बाण चित्त दुःखों (को सुख समझ कर उन) की ओर इस प्रकार दौड़ता है जिस प्रकार कि गिद्ध मांस की ओर। बरसाती बुलबुलों की नाईं यह जीवन क्षणभंगुर है, और विचार करने पर सारा व्यवहार केले के खम्भे की नाईं असार जान पड़ता है।

(च) सब प्रकार का अभ्युदय असार है :—

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः ।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥ १ ॥ (४।४६।३)
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वसवानिह ॥ २ ॥ (४।४६।४)

धन और दारा आदि रम्य वस्तुओं की वृद्धि होने पर हर्ष का क्या अवसर है ? मृगतृष्णा की नदी में बाढ़ आने पर भी क्या प्यासे पुरुषों को कुछ आनन्द हो सकता है ? धन और दारा आदि वस्तु की वृद्धि होने पर आनन्द नहीं मानना चाहिये; क्योंकि मोह की माया के बढ़ने पर किसी को भी समाश्वासन नहीं मिलता।

(छ) संसार-जनित दुःख की असहनीयता :—

क्रकचाग्रविनिष्पेषं सोढुं शक्नोम्यहं मुने ।
संसारव्यवहारोत्थं नाशाविषयवैशसम् ॥ १ ॥ (१-२९-१७)

हे मुने ! आरे के दाँतों से चीरा जाना मैं सहन कर सकता हूँ, परन्तु संसार के व्यवहार से उत्पन्न आशा और विषयों द्वारा प्राप्त दुःख को मैं नहीं सह सकता।

(२) रामचन्द्रजी के प्रश्न :—

अतोऽनुत्तममनायासमनुत्तमपि गतभ्रमम् ।
किं तत्स्थितिपदं साधो यत्र शोको न विद्यते ॥ १ ॥ (१।३०।११)
किं तत्स्यादुचितं श्रेयः किं तत्स्यादुचितं फलम् ।
वर्तितव्यं च संसारे कथं नामासमञ्जसे ॥ २ ॥ (१।३०।२०)
केन पावनमंत्रेण दुःसंसृतिविषूचिका ।
शाम्यतीयमनायासमायासशतकारिणी ॥ ३ ॥ (१।३०।२४)
कथं शीतलतामन्तरानन्दतरुमञ्जरीम् ।
पूर्णचन्द्र इवाक्षीणां भृशमासादयाम्यहम् ॥ ४ ॥ (१।३०।२५)
क उपायो गतिः का वा का चिन्ता कः समाश्रयः ।
केनेयमशुभोदर्का न भवेज्जीविताटवी ॥ ५ ॥ (१।३।१५)
संसार एव निवहे जनो व्यवहरन्नपि ।
न बन्धं कथमाप्नोति पद्मपत्रे पयो यथा ॥ ६ ॥ (१।३०।१७)

अयं हि दग्धसंसारो नीरन्ध्रकलनाकुलः ।
कथं सुस्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना ॥ ७ ॥ (१।३१।८)
दृष्टसंसारगतिना दृष्टादृष्टविनाशिना ।
केनैव व्यवहर्तव्यं संसारवनवीथिषु ॥ ८ ॥ (१।३१।११)
रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः ।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम् ॥ ९ ॥ (१।३१।१२)
व्यवहारवतो युक्त्या दुःखं नायाति मे यथा ।
अथवाऽव्यवहारस्य ब्रूत तां युक्तिमुत्तमाम् ॥ १० ॥ (१।३१।१५)

इसलिये हे साधो ! आयास रहित, उपाधि रहित, भ्रम रहित, वह कौन सी सत्य स्थिति है जिसमें शोक न हो ? क्या उचित श्रेय है, क्या उचित प्राप्तियोग्य फल है ? इस असमञ्जस संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये ? कौन से पवित्र मंत्र से यह संसार-रूपी विषूचिका, जो कि अनेक कष्ट दे रही है, शान्त हो सकती है ? आनन्द रूपी वृक्ष की मञ्जरी के सदृश और पूर्ण चन्द्रमा के समान भरपूर आन्तरिक शान्ति को मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ? कौन सा ऐसा उपाय है,कौन सा ऐसा मार्ग है, कौन सा ऐसा विचार है, कौन सा ऐसा आश्रय है कि जिसके द्वारा यह जीवनरूपी जङ्गल दुःखदायी न हो ? संसार के प्रवाह में पड़कर व्यवहार करता हुआ भी आदमी कमल के पत्ते के ऊपर पड़े हुए जल के समान, कैसे बन्धन को प्राप्त न हो (वह साधन बताओ) । यह दग्ध (जला) संसार, जहाँ पर कि निरन्तर दुःख ही दुःख है, सर्वथा नीरस होने पर भी किस प्रकार, मूर्खता को ग्रहण किए बिना, सुस्वादु बनाया जा सकता है (अर्थात् कैसे मनुष्य ज्ञानी होता हुआ भी संसार में स्वाद ले सके) ? इस संसार रूपी वन के रास्तों पर उस पुरुष की नाईं कैसे व्यवहार करें जिसने कि संसार की गति को अच्छी तरह जान लिया हो और जिसने इस लोक और परलोक दोनों के भोगों की वासनाओं को नाश कर दिया हो ? संसाररूपी समुद्र में रहने वाले जन्तु को किस प्रकार राग द्वेष आदि महा रोग, भोगों के समूह और समृद्धि न दुःख पहुँचाएँ ? मुझे वह उत्तम युक्ति बतलाओ जिससे कि मुझे संसार में दुःख न हो—चाहे वह युक्ति संसार में व्यवहार करते हुए बने या संसार का व्यवहार त्याग कर बने ।

२—दुःखनिवृत्ति का उपायः—

रामचन्द्रजी के मुख से जीवन की दुर्दशा का हाल सुनकर वसिष्ठ जी ने समझ लिया कि रामचन्द्रजी आत्म ज्ञान के सर्वोत्तम अधिकारी हैं। इसलिये उन्होंने रामचन्द्रजी को उस आध्यात्मिक विद्या का उपदेश देना आरम्भ किया जो कि उन्होंने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मुख से जगत् के कल्याण के लिये सुनी थी।

(१) दुःख का कारण संसार का राग है :—

विषमो ह्यतितरां संसाररागो भोगीव दशति, असिरिव छिनत्ति, कुन्त इव वेधयति, रज्जुरिवावेष्टयति, पावक इव दहति, रात्रिरिवान्धयति, अशंकित-परिपतितपुरुषान्पाषाण इव विवशीकरोति, हरति प्रज्ञां, नाशयति स्थितिं, पातयति मोहान्धकूपे, तृष्णा जर्जरीकरोति, न तदस्ति किञ्चिद्दुःखं संसारी यन्न प्राप्नोति। (२।१२।१४)

संसार का राग बहुत ही दुःखदायी है, यह सांप की नाईं डंसता है, तलवार की नाईं काटता है, भाले की नाईं बींधता है, रस्सी की नाईं लपेट लेता है, आग की नाईं जलाता है, जो इसमें शंका रहित होकर गिरते हैं उनको पत्थर की नाईं दबा देता है, बुद्धि को हर लेता है, स्थिरता को नष्ट कर देता है, मोह के अन्धेरे कुएँ में डाल देता है, तृष्णा से मनुष्य को जर्जर कर देता है। ऐसा कोई दुःख नहीं है जो संसारी (संसार से राग रखने वाला)न सहन करता हो।

(२) अज्ञानी को ही दुःख होता है :—

इयं संसारसरणिर्वहत्यज्ञप्रमादतः ।
अज्ञस्योग्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढानि च ॥१॥ (१।६।३३)

यह संसाररूपी प्रवाह अज्ञानी की ही मूर्खता से चल रहा है। अज्ञानी को ही घोर दुःख-सुख होते हैं।

(३) ज्ञान से ही दुःख की निवृत्ति होती है :—

संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम् ।
अज्ञं संमोहयेन्नित्यं मौर्ख्यं यत्नेन नाशयेत् ॥१॥ (२।११।६९)

प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाधयः ।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥२॥ (२।११।४१)
ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम् ।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥३॥ (२।११।३६)
निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः ।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते ॥४॥ (२।१०।२१)
संसारोत्तरणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्तिताः ॥५॥ (२।१०।२२)

संसार रूपी विष का वृक्ष, जो कि सब आपत्तियों का देने वाला है, अज्ञानी को ही दुःख देता है। इसलिये, अज्ञान को हमेशा यत्न करके नष्ट करना चाहिए। जिस प्रकार वर्षा से भीगे हुए वन को अग्नि की ज्वालाएँ नहीं जला सकतीं, उसी प्रकार मानसिक दुःख भी ज्ञानी को, जिसने जो कुछ जानने योग्य है जान लिया है और युक्त दृष्टि प्राप्त करली है, वेदना नहीं दे सकते। ज्ञानयुक्ति रूपी नौका द्वारा बुद्धिमान् लोग दुस्तर संसार-समुद्र से निमेष मात्र में ही पार हो जाते हैं। निर्वाण नाम वाला परमानन्द, जिसको प्राप्त कर लेने पर मनुष्य का पुनर्जन्म और मरण नहीं होता, ज्ञान से ही प्राप्त होता है। संसार से पार होने का एक मात्र उपाय ज्ञान है; तप दान, तीर्थ आदि उपाय नहीं हैं।

(४) आत्मज्ञान से ही परम शान्ति प्राप्त होती है :—

करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बु वा ।
नात्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति ॥१॥ (५।६७।३४)
आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते ॥२॥ (५।७५।४६)
ज्ञायते परमात्माचेद्राम दुःखस्य संततिः ।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥३॥ (३।७।१७)

चाहे त्रिभुवन का राज्य मिल जाए, चाहे मेघ या जल के भीतर कोई प्रवेश करले, आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना किसी को भी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। जो अपना कल्याण चाहता हो उसको चाहिए कि आत्मज्ञान के लिये प्रयत्नशील हो, क्योंकि सब दुःखों का नाश आत्मानुभव से होता है। यदि परम आत्मा का ज्ञान हो जाए तो सारे

दुःख का प्रवाह इस प्रकार नष्ट हो जायगा, जिस प्रकार विष का प्रवाह खतम होते ही विषूचिका रोग शान्त हो जाता है।

(५) ब्रह्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान का उपदेश :—

इदमुक्तं पुराकल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
सर्वदु:खक्षयकरं परमाश्वासनं धियः ॥१॥ (२।१०।९)
पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम् ॥२॥ (२।३।१)

वसिष्ठ जी ने कहा—यह ज्ञान जो कि सब दु:खों का क्षय करने वाला और बुद्धि को परम सान्त्वना देने वाला है मुझे कल्प के पूर्व में परम उपदेशक ब्रह्मा ने दिया था जो ज्ञान सृष्टि के आदि में लोक के कल्याण के निमित्त मुझे ब्रह्मा ने दिया था वही मैं अब (हे रामचन्द्र) तुमको देता हूँ।

३—जीवन में पुरुषार्थ का महत्व

(१) पुरुषार्थ द्वारा ही सब कुछ प्राप्त होता है :—

अत्रैकं पौरुषं यत्नं वर्जयित्वेतरा गतिः ।
सर्वदुःखक्षयप्राप्तौ न काचिदुपपद्यते ॥१॥ (३।६।१४)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना ।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥२॥ (३।९२।८)
न किञ्चन महाबुद्धे तदस्तीह जगत्त्रये ।
यदनुद्वेगिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥३॥ (३।१९७।३८)
सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥४॥ (२।४।८)
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात् ।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेदर्धान्निवर्तते ॥५॥ (२।४।१२)
यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकभाक् ।
न तु तूष्णीं स्थितेनेह केनचित्प्राप्यते फलम् ॥६॥ (२।७।१९)
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥७॥ (६।१६२।१८)

यहाँ पर (संसार में) सब दुःखों का क्षय करने के लिये पुरुषार्थ (मनुष्यों के यत्न) के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। संसाररूपी कोश में ऐसा कोई रत्न नहीं है जो शुद्ध पुरुषार्थ से किए हुए शुभ कर्म द्वारा न प्राप्त हो सके। हे महाबुद्धि वाले राम ! तीनों लोकों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेग रहित पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त न किया जा सके। हे रघुनन्दन ! सब कुछ सदा ही सबसे इस संसार में अच्छी भाँति किए हुए पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो जिस पदार्थ के पाने की इच्छा करता है और उसको प्राप्त करने के लिये क्रमशः यत्न करता है, वह उसको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है, यदि बीच में प्रयत्न को न छोड़ दे। यहाँ पर चुपचाप बैठे रहने से कुछ प्राप्त नहीं होता, जो जो जैसा यत्न करता है वैसा-वैसा ही फल पाता है। आत्मा ही आत्मा का मित्र है, आत्मा ही आत्मा का शत्रु है,

यदि आत्मा ही आत्मा की रक्षा नहीं करता तो दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(२) पराधीनता की निन्दा :—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा।
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः ॥१॥ (२।६।२-७)
कश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने।
यः स्थितो दृष्टमुत्सृज्य त्याज्योऽसौ दूरतोऽधमः ॥२॥ (२।६।२९)
ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामञ्च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥३॥ (२।७।३)
दैवायत्तमिति मन्यन्ते ये हतास्ते कुबुद्धयः।
इति प्रत्यक्षतो दृष्टमनुभूतं श्रुतं कृतम् ॥४॥ (२।९।२९)
ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पण्डिताः।
तैस्तैः किमिव लोकेऽस्मिन्वद दैवं प्रतीक्ष्यते ॥५॥ (२।७।१७)

जो मनुष्य यह समझता है कि वह ईश्वर का भेजा हुआ ही स्वर्ग या नरक में जाता है वह सदा ही पराधीन रहता है; ऐसा मनुष्य पशु है इसमें कोई सन्देह ही नहीं। जो यह समझ कर कि उसको कोई दूसरा ही प्रेरित करता है, दृष्ट (प्रयत्न) को छोड़ बैठता है वह अधम मनुष्य दूर से ही त्याग देने योग्य है। जो उद्योग को छोड़कर भाग्य (तक़दीर) के ऊपर भरोसा करते हैं वे अपने ही दुश्मन हैं और धर्म, अर्थ और काम सब को नष्ट कर देते हैं। जो कुबुद्धि लोग यह समझते हैं कि सब कुछ भाग्य के आधीन है वे नाश को प्राप्त होते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने में, अनुभव में और सुनने में आती है। जो लोग शूर हैं, उन्नति करने वाले हैं, ज्ञानी हैं, पण्डित हैं, बतलाओ उनमें से कौन इस संसार में भाग्य की प्रतीक्षा करता है।

(३) दैव (भाग्य) कोई वस्तु नहीं है —

दैवं नाम न किञ्चन ॥ १ ॥ (२।९।२८)
दैवं न विद्यते ॥ २ ॥ (२।८।१३)
दैवमसत्सदा ॥ ३ ॥ (२।८।११)
दैवं न किञ्चित्कुरुते केवलं कल्पनेदृशी ॥ ४ ॥ (२।९।३)

मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः ।
प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः ॥ ५ ॥ (२।८।१३)
न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना ।
स्पन्दाच्च फलसंप्राप्तिस्तस्माद्दैवं निरर्थकम् ॥ ६ ॥ (२।८।१८)
दैवमाश्वासनामात्रं दुःखे पेलवबुद्धिषु ।
समाश्वासनवागेषा न दैवं परमार्थतः ॥ ७ ॥ (२।८।१९)

दैव (भाग्य) कुछ नहीं है। दैव है ही नहीं। दैव सदा ही असत् है। दैव कभी कुछ नहीं करता; यह केवल कल्पना मात्र है कि दैव कुछ करता है। दैव मूर्ख लोगों की कल्पना है; इस कल्पना के भरोसे रहकर वे नाश को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् (अक्लमन्द) लोग पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करके अच्छे पद प्राप्त करते हैं। संसार में मृत शरीर के सिवाय सभी में क्रिया दिखाई पड़ती है और उचित क्रिया द्वारा ही फलप्राप्ति होती है; इसलिये दैव की कल्पना निरर्थक है। दैव की कल्पना कम बुद्धि पुरुषों को दुःख के समय आश्वासन देने के लिये है। आश्वासन वाक्य के सिवा दैव परमार्थ रूप से कोई वस्तु नहीं है।

(४) दैव शब्द का यथार्थ प्रयोग :—

पुरुषार्थफलप्राप्तिर्देशकालवशादिह ।
प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥ १ ॥ (२।७।२१)
सिद्धस्य पौरुषेणेह फलस्य फलशालिना ।
शुभाशुभार्थसम्पत्तिर्दैवशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥ (२।९।४)
भावी त्ववश्यमेवार्थः पुरुषार्थैकसाधनः ।
यः सोऽस्मिल्लोकसंघाते दैवशब्देन कथ्यते ॥ ३ ॥ (२।९।६)
यदेव तीव्रसंवेगाद् दृढं कर्म कृतं पुरा ।
तदेव दैवशब्देन पर्यायेणेह कथ्यते ॥ ४ ॥ (२।९।१६)
प्राक्स्वकर्मेतराकारं दैवं नाम न विद्यते । (२।६।४)
प्राक्तनं पौरुषं तद्वै दैवशब्देन कथ्यते ॥ ५ ॥ (२।६।३५)
यथा यथा प्रयत्नः स्याद्भवेदाशु फलं तथा ।
इति पौरुषमेवास्ति दैवमस्तु तदेव च ॥ ६ ॥ (२।६।२)

देश और काल के अनुसार, देरी में अथवा शीघ्र ही, किए हुए पुरुषार्थ के फल की प्राप्ति का नाम दैव है। फल देने वाले पुरुषार्थ

द्वारा शुभा-शुभ अर्थ-प्राप्ति रूप फल-सिद्धि का नाम ही दैव है। जो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही प्राप्त होने वाली वस्तु है वह इस संसार में दैव कहलाती है। जो कर्म दृढ़ता से और तीव्र प्रयत्न से पूर्व काल में किया जा चुका है वही इस समय दैव नाम से पुकारा जाता है। पूर्व-कृत कर्म (पुरुषार्थ) के अतिरिक्त दैव और कोई वस्तु नहीं है; पूर्वकृत पुरुषार्थ ही का नाम दैव है। जैसा-जैसा कोई प्रयत्न किया जाता है वैसा-वैसा ही वह फल देता है। इसलिये पुरुषार्थ ही सत्य है, उसी को दैव कहा जासकता है।

(५) वर्तमान काल के पुरुषार्थ की दैवपर प्रबलता :—

द्वौ हुडा विव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम्।
य एव बलवान्स्तत्र स एव जयति क्षणात् ॥ १ ॥ (२।६।१०)
ह्यस्तनी दुष्क्रियाभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा।
अद्यैव प्राक्तनी तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान्भव ॥२॥ (६।१६७।२१)
ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात्।
सर्वदा पुरुषस्पन्दस्तत्रानुद्वेगवाञ्जयी ॥ ३ ॥ (२।६।१८)
द्वयोरद्यतनस्यैव प्रत्यक्षाद्बलिता भवेत्।
दैवं जेतुं यतो यत्नैर्बालो यूनेव शक्यते ॥ ४ ॥ (२।६।१९)
परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्णयन्।
शुभेनाशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत् ॥ ५ ॥ (२।५।९)
प्राक्तनः पुरुषार्थोऽसौ मां नियोजयतीति धीः।
बलादधस्पदीकार्या प्रत्यक्षादधिका न सा ॥ ६ ॥ (२।५।१९)
तावत्तावत्प्रयत्नेन यतितव्यं सुपौरुषम्।
प्राक्तनं पौरुषं यावदशुभं शाम्यति स्वयम् ॥ ७ ॥ (२।५।११)

दोनों पुरुषार्थ (पूर्वकृत जिसका नाम दैव है और वर्तमान काल का पुरुषार्थ) दो मेंढ़ों के समान एक दूसरे के साथ लड़ते हैं, जो उनमें अधिक बलवाला होता है वही विजय पाता है। जैसे कल का बिगड़ा हुआ काम आज के प्रयत्न से सुधर जाता है उसी प्रकार अब का किया पुरुषार्थ पूर्व के किए हुए पुरुषार्थ को सुधार सकता है; इसलिये मनुष्य को कार्यशील होना चाहिए। अधिक बली होने पर अब का पुरुषार्थ पूर्व काल के पुरुषार्थ को और पूर्व काल का पुरुषार्थ अब के पुरुषार्थ को नष्ट करता है, हमेशा ही पुरुष का किया हुआ प्रयत्न विजय पाता है;

जो उद्वेग रहित होकर पुरुषार्थ करता है वही विजय पाता है। यह तो प्रत्यक्ष में ही सिद्ध है कि पूर्व काल के कर्म की अपेक्षा आजकल का किया हुआ कर्म अधिक बलवान् है; इसलिये दैव को अब का पुरुषार्थ इस प्रकार जीत लेता है जैसे कि बच्चे को युवक। इसलिये परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर शुभ कर्म द्वारा पूर्व काल के अशुभ कर्मों पर विजय पाओ। बलपूर्वक इस विचार को दूर करो कि पूर्वकाल का कर्म (दैव) तुमको किसी ओर प्रेरित कर रहा है। अब के पुरुषार्थ से किसी प्रकार भी पूर्व का पुरुषार्थ बलवान् नहीं है। मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे उसके पूर्व काल के अशुभ कर्म शान्त हो जावें।

(६) सत्पुरुषार्थ :—

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ १ ॥ (२।९।४)
तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः।
प्रज्ञाममलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत् ॥ २ ॥ (२।६।२४)

पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है—एक शास्त्रानुसार और दूसरा शास्त्र-विरुद्ध। प्रथम से परमार्थ की प्राप्ति होती है और दूसरे से अनर्थ की। इसलिये शास्त्रों और सज्जनों के सत्सङ्ग से युक्त पुरुषार्थ का आश्रय लेकर बुद्धि को निर्मल करके संसारसमुद्र को पार करो।

(७) आलस्य-निन्दा :—

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद्बहुधनको बहुश्रुतो वा।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता
सम्पूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥ १ ॥ (२।९।३०)

यदि जगत् में आलस्यरूपी अनर्थ न होता तो कौन धनी और विद्वान् न होता। आलस्य के कारण ही यह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी निर्धन और मूर्ख (मनुष्य के रूप में पशु) लोगों से भरी पड़ी है।

४—साधक का जीवन

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवन के सभी दुःख अज्ञान जनित हैं। और ज्ञान से, विशेषतः आत्मज्ञान से, सब दुःखों का नाश और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये परम पुरुषार्थ करना चाहिए। क्योंकि, बिना पुरुषार्थ के यहाँ पर किसी भी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। अब वसिष्ठ जी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि आत्मज्ञान द्वारा दुःखों से मोक्ष पाने और परमानन्द के अनुभव की सिद्धि के लिये किस प्रकार के पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

(१) चित्तशुद्धि :—

सबसे पहली बात जो साधक को करनी चाहिये वह है मन की शुद्धि। क्योंकि बिना चित्त के शुद्ध हुए उसमें आत्मा का प्रकाश नहीं होता। मन शुद्ध हुए बिना न शास्त्र ही समझ में आते हैं और न गुरु के वाक्य; आत्मानुभव होना तो दूर रहा। इसलिये कहा है :—

पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च।
तथा सज्जनसङ्गेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥१॥ (५।५।१४)
वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि।
यत्नेनापद्विघातार्थं स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥२॥ (५।२१।११)
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम्।
सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपकोपमा ॥३॥ (५।५।५)
मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते।
कषायपाके निर्वृत्ते सर्वेन्द्रियगणस्य च ॥४॥ (६।१०१।१०)
यान्ति चेतसि विश्रान्तिं विमला देशिकोक्तयः।
यथा सितांशुके शुद्धे बिन्दवः कुङ्कुमाम्भसः ॥५॥ (६।१०१।१३
वासनात्मसु यातेषु मलेषु विमलं सखे।
यद्वक्ति गुरुरन्तस्तद्विशतीषुर्यथा बिसे ॥६॥ (६।१०१।१४)

हे राम! सबसे पहले शास्त्रों के श्रवण से, सज्जनों के सत्सङ्ग से और परम वैराग्य से मन को पवित्र करो। वैराग्य, शास्त्र और उदारता

आदि गुण रूपी यत्न से, आपत्तियों को मिटाने के लिये अपने आप ही मन को ऊपर उठाना चाहिए। शास्त्राध्ययन, सज्जनों के सङ्ग और शुभ कर्मों के करने से जिनके पाप दूर हो गए हैं उनकी बुद्धि दीपक के समान चमकने वाली होकर सार वस्तु को पहचानने योग्य हो जाती है। जब भोगों की वासनाएँ त्याग देने पर, इन्द्रियों की कुत्सित वृत्तियों के रुक जाने पर, मन शान्त हो जाता है तब ही गुरु की शुद्ध वाणी मन में प्रवेश करती है, जैसे कि केसर के जल के छींटे श्वेत और धुले हुए रेशम पर ही लगते हैं। जब मनमें से वासना रूपी मल दूर हो गया तभी कमल दण्ड में तीर के समान गुरु के वाक्य हृदय में प्रवेश करते हैं।

(२) मोक्ष के चार द्वारपाल :—

चित्त शुद्धि के लिये साधक को चार साधनों का या उनमें से कुछ का आश्रय लेना चाहिए। इन्हीं को वसिष्ठ जी ने मोक्ष के द्वारपाल कहा है :—

> सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा।
> एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम् ॥ १ ॥ (२।१२।१९)
> मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
> शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २ ॥ (२।१६।१८)
> एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
> द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्ष राजगृहे तथा ॥ ३ ॥ (२।१२।६०)

शम, सन्तोष, साधुसङ्ग और विचार ये चार संसार-समुद्र से मनुष्य के पार उतरने के उपाय हैं। मोक्ष के—शम, सन्तोष, साधुसङ्ग और विचार—ये चार द्वारपाल हैं। इनका या इनमें से तीन या दो का सेवन करने से ये मोक्षरूपी राजमहल का दरवाजा खोल देते हैं।

(अ) शम :—

> शमशालिनि सौहार्दवति सर्वेषु जन्तुषु।
> सुजने परमं तत्त्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥ १ ॥ (२।१३।६०)
> यः समः सर्वभूतेषु भावि कांक्षति नोज्झति।
> जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥ २ ॥ (२।१३।७३)
> अकृत्स्यन्त्सुभगा यस्य सर्वजनं प्रति।
> दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥ ३ ॥ (२।१३।७७)

न पिशाचा न रक्षांसि न दैत्या न च शत्रवः ।
न च व्याघ्रभुजङ्गा वा द्विषन्ति शमशालिनम् ॥४॥ (२।१३।६६)

शमयुक्त सज्जन के भीतर, जो कि सब जीवों के प्रति मित्रता का भाव रखता है, परम आत्म तत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है। शान्त (शमयुक्त) उसको कहते हैं जो अपनी इन्द्रियों को जीतकर सब प्राणियों के साथ एक-सा बर्ताव करता है; न किसी वस्तु का त्याग करता है और न किसी भविष्य में होने वाली वस्तु की आकांक्षा करता है। शान्त उसको कहते हैं जिसकी अमृत बरसाने वाली सौभाग्यशालिनी प्रेम पूर्ण दृष्टि सब लोगों के प्रति समान भाव से पड़ती है। शमयुक्त पुरुष को पिशाच, राक्षस, दैत्य, व्याघ्र, सर्प और शत्रु कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता।

(आ) सन्तोष ।

आशावैवश्यविवशे चित्ते सन्तोषवर्जिते ।
म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥१॥ (२।१५।१)
सन्तोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्द्धयः ।
राजानमुपतिष्ठन्ति किंकरत्वमुपागताः ॥२॥ (२।१५।१६)
अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य संप्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः स संतुष्ट इहोच्यते ॥ ३ ॥ (२।१५।६)

जिस प्रकार मलीन शीशे में मुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उसी प्रकार आशाओं के वशीभूत सन्तोषरहित चित्त में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। सन्तुष्ट आदमी की सेवा में महा ऋद्धियाँ इस प्रकार उपस्थित होती हैं जिस प्रकार राजा की सेवा में राजा के नौकर चाकर। संतुष्ट वह कहलाता है जो अप्राप्त वस्तु की वाञ्छा को छोड़कर प्राप्त वस्तु में समभाव से बर्तता है और जिसको कभी भी खेद और हर्ष का अनुभव नहीं होता।

(इ) साधु-सङ्ग :—

साधुसङ्गतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः ।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ॥ १ ॥(२।१६।१)
यः स्नातः शीतसितया साधुसङ्गतिगङ्गया ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥२॥ (२।१६।१०)

नीरागाश्छिन्नसन्देहा गलितग्रन्थयोऽनघ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ॥३॥ (२।१६।११)

सज्जनों का संग इस लोक में सन्मार्ग दिखाने वाला और हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश है। जो सत्संगति रूपी शीतल और निर्मल गङ्गा में स्नान करता है उसको किसी तीर्थ, दान, तप और यज्ञ से क्या करना है। यदि राग-रहित, गत-सन्देह और हृदय की गांठें खुल गई हैं जिनकी, ऐसे साधु लोग विद्यमान हैं तो हे पाप रहित राम ! फिर किसी तीर्थ पर जाने की अथवा तप करने की क्या आवश्यकता है।

(ई) विचार :—

न विचाराद्दते तत्त्वं ज्ञायते साधु किञ्चन। (२।१४।५२)
विचाराज्ज्ञायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि (२।१४।५३)
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥२॥ (२।१४।५०)
कोऽहं कथमिदं किंवा कथं मरणजन्मनी।
विचारयान्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥३॥ (६।५८।३२)

बिना विचार किए कोई भी तत्त्व अच्छी तरह नहीं जाना जाता। विचार से ही तत्वज्ञान होता है और तत्वज्ञान से आत्मा में शान्ति आती है। मैं कौन हूँ? संसार नामक यह दोष कैसे उत्पन्न हो गया है? इन बातों का न्याय-पूर्वक सोचना विचार कहलाता है। मैं कौन हूँ? यह जगत कैसे उत्पन्न हो गया? जन्म और मरण कैसे होते हैं? इन सब बातों पर अपने अन्दर विचार करके तुम महत्त्व को प्राप्त होगे।

५—स्वानुभूति ही आत्मज्ञान का 'प्रमाण' है

दर्शन-ग्रन्थों में सबसे प्रथम चर्चा 'प्रमाण' सम्बन्धी हुआ करती है। 'प्रमाण' उस साधन का नाम है जिसके द्वारा हमको किसी विषय की प्रमा (अर्थात् सत्य ज्ञान) होती है। ऐसे साधन कौन-कौन से और कितने हैं इस विषय पर दार्शनिकों में बहुत ही मतभेद पाया जाता है। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने १ से लेकर १० प्रमाण तक स्वीकार किये हैं। उनका विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये देखिये हमारी पुस्तक – Elements of Indian Logic—इनमें से ३ प्रमाण मुख्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रत्यक्ष उस प्रमाण का नाम है जिसमें ज्ञात विषय हमारी इन्द्रियों के द्वारा जाना जाय। अनुमान उसे कहते हैं जिसमें ज्ञात विषय हमारी इन्द्रियों से साक्षात् सम्बद्ध न हो किन्तु उस विषय का अस्तित्व किसी दूसरे इन्द्रिय-गोचर विषय से सम्बद्ध हो। यह सम्बन्ध पूर्व काल में दोनों सम्बद्ध विषयों का साथ-साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे ही जाना जाता है। शब्द उस प्रमाण का नाम है जब कि हमको किसी विषयका, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान-ज्ञान न होते हुए भी, किसी विश्वस्त पुरुष के कहने मात्र से ज्ञान हो। विश्वस्त पुरुष के कथन मात्र से जो ज्ञान होता है उसका नाम शब्द-ज्ञान है। शब्द-प्रमाण में 'शास्त्र' भी अन्तर्गत हैं। बल्कि कुछ दार्शनिकों के मतानुसार तो केवल 'शास्त्र' को ही शब्द-प्रमाण समझना चाहिये क्योंकि शास्त्र के वाक्य ही विश्वसनीय हैं और कोई वाक्य नहीं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ज्ञान-प्राप्ति के तीन प्रमाण माने हैं जिनके नाम प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द हैं; किन्तु वहाँ पर शब्द को इतना महत्व नहीं दिया गया है जितना कि भारतवर्ष में। यहाँ तो कुछ लोगों के लिये शास्त्र का इतना महत्व है कि उसके आगे प्रत्यक्ष और अनुमान का दम नहीं उठता। यदि निष्पक्ष विचार किया जाए तो सब प्रमाणों में प्रत्यक्ष का ही महत्व अधिक जान पड़ता है। प्रत्यक्ष के ऊपर ही अनुमान निर्भर है। शब्द भी तभी विश्वसनीय है जब कि कहनेवाले को स्वयं विषय का प्रत्यक्ष हो चुका हो; नहीं तो शब्द का कोई मूल्य नहीं है।

अनुमान और शब्द दोनों ही प्रत्यक्ष के आधीन हैं और प्रत्यक्ष के बिना अन्धे हैं। जिस विषय का किसी को कभी स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ उसका उसको अनुमान और शब्द द्वारा कभी ज्ञान नहीं हो सकता। इसी लिये योगवासिष्ठकार ने **प्रत्यक्ष को ही परम प्रमाण माना है**:—

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु॥ (२।१९।१६)

जैसे समुद्र सब जलों का अन्तिम स्थान है वैसे ही सब प्रमाणों का आधार एक प्रत्यक्ष ही यहाँ पर माना गया है, उसको सुनो।

योगवासिष्ठकार का प्रत्यक्ष चार्वाक-दर्शनवालों का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही नहीं है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा तो केवल इन्द्रिय-गोचर विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ही ज्ञान होता है। न्यायदर्शनवालों ने इस प्रकार के इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को बाह्य-प्रत्यक्ष कहकर और एक दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष भी माना है जिसके द्वारा मन की वृत्तियों—सुख-दुःख आदि-का ज्ञान होता है। उसका नाम उन्होंने आन्तर-प्रत्यक्ष रक्खा है। आजकल के पाश्चात्य दार्शनिकों ने विशेषतः फ्रांस के दार्शनिक बर्गसों ने एक तीसरे प्रकार का प्रत्यक्ष बतलाया है जिसमें आत्मा को आत्मा का अनुभव होता है। यह प्रत्यक्ष जिसको हम आत्मानुभव या स्वानुभूति कह सकते हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष या मनः-प्रत्यक्ष से भिन्न और गहनतर अनुभव है। इसका वर्णन करना कठिन है। केवल यही कह सकते हैं कि इसी का नाम ज्ञान अथवा अनुभव है। यह सब प्रकार के ज्ञानों में अनुस्यूत रहता है। **योगवासिष्ठकार का प्रत्यक्ष** यही प्रत्यक्ष है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

सर्वाक्षसारमध्यक्षं वेदनं विदुरुत्तमाः।
नूनं तत्प्रतिपत्सिद्धं तत्प्रत्यक्षमुदाहृतम्॥ (२।१९।१७)
अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाविधम्।
प्रत्यक्षमिति नामेह कृतं जीवः स एव नः॥ (२।१९।१८)
स एव संवित्स पुमानहन्ताप्रत्ययात्मकः।
स ययोदेति संवित्त्या सा पदार्थ इति स्मृता॥ (२।१९।१९)

जो सब इन्द्रियों का अध्यक्ष और सार, जिसका अनुभव स्वयं सिद्ध है और जिसको 'वेदन' कहते हैं उसको ही प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुभूति

का; वेदन का यथाविधि ज्ञान का ही नाम प्रत्यक्ष है। उसी को हम जीव कहते हैं। उसको ही संवित् कहते हैं और उसी को अहंप्रत्यय वाला पुरुष कहते हैं। उसमें जो-जो संवित्ति उदय होती है उसी का नाम पदार्थ है। **परम आत्मा का ज्ञान केवल इसी अनुभव द्वारा होता है।** अनुमान और शास्त्र द्वारा नहीं हो सकता। जिसने आत्मा का अनुभव नहीं किया वह अनुमान और शास्त्र द्वारा कभी भी आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता :—

> अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नानुभूयते।
> अनुभूतिं विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते॥ (६।६।१३)
> नात्मास्त्यनुमया राम न चाप्तवचनादिना।
> सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः॥ (६।७३।१९)
> न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
> दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया (६।११८।४)
> तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनानुभूयते।
> अन्यैः केवलमाम्नातैरागमैरेव वर्ण्यते॥ (६।१२।२८)

जिस प्रकार अपने अनुभव बिना खाँड क्या वस्तु है यह नहीं जाना जा सकता उसी प्रकार स्वानुभूति बिना आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आत्मा का ज्ञान न अनुमान से होता है और न आप्त वचन (शब्द) से। आत्मा का पूर्णतया और सर्व प्रकार से प्रत्यक्ष सदा स्वानुभूति द्वारा होता है। शास्त्र और गुरु आत्मा का दर्शन नहीं करा सकते। उसका दर्शन तो केवल अपने आप ही अपनी स्वस्थ बुद्धि द्वारा ही होता है। आत्मा का अनुभव केवल उसको ही होता है जो उसका प्रत्यक्ष करता है, जो उसमें स्थित है और उसमें लीन हो गया है। और लोग तो केवल शास्त्रों के वाक्यों द्वारा ही उसका वर्णन कर सकते हैं।

आत्मानुभव कब होता है ?

> अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितेऽन्तः।
> बहिरुपशमिते चराचरात्मा स्वमनुभूयत एव देवदेवः॥ (६।६४।१४)

उस सम्पूर्ण अनन्त आत्मतत्त्व का जो कि चर और अचर, (जड़ चेतन) सभी का आत्मा है और देवों का देव है तब अनुभव होता है जब कि यह अत्यन्त चञ्चल चित्त बाह्य पदार्थों से पूर्णतया विरक्त होकर अपने भीतर शान्त होकर स्थित हो जाए।

अनुभव द्वारा ज्ञात विषय का कुछ ज्ञान दृष्टान्त द्वारा ही दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है अन्यथा नहीं। यही कारण है कि योगवासिष्ठ में दृष्टान्तों की प्रचुरता है। बिना दृष्टान्त अज्ञात विषय का ज्ञान किसी को भी नहीं कराया जा सकता। पूर्ण ज्ञान और यथार्थ ज्ञान तो आत्मानुभव से ही होता है, तो भी दृष्टान्त द्वारा अज्ञानी को उस विषय का कुछ ख्याल हो जाता है। इसलिये दार्शनिकों को दृष्टान्तों का उपयोग करना चाहिए और उच्च-कोटि के दार्शनिक ऐसा करते भी हैं। इसलिये योगवासिष्ठ में कहा है :—

> दृष्टान्तेन विना राम नापूर्वार्थोऽवबुध्यते।
> यथा दीपं विना रात्रौ भाण्डोपस्करणं गृहे (२।१८।६१)
> येनेहाननुभूतेर्थे दृष्टेनार्थेन बोधनम्।
> बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः॥ (२।१८।६०)

जिस प्रकार बिना दीपक के रात्रि में घर के भीतर के बर्तन-भांडे का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार दृष्टान्त के बिना अपूर्व (पहले न जाने हुए) पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। जब कि किसी अनुभूत पदार्थ का दूसरे व्यक्ति को उसके जाने हुए पदार्थ द्वारा ज्ञान कराया जाता है तो उस पदार्थ को जिसके द्वारा ज्ञान होता है दृष्टान्त कहते हैं।

दृष्टान्त और उस पदार्थ की जिसका दृष्टान्त द्वारा ज्ञान कराया जाता है सब प्रकार से समानता नहीं होती केवल कुछ अंश में ही समानता होती है। इसलिये दृष्टान्त का सदा ही एक अंश—वह जिसमें कि साम्य है—ध्यान में रखना चाहिए :—

> उपमेयस्योपमानादेकांशेन सधर्मता।
> अङ्गीकार्यावबोधाय धीमता निर्विवादिना॥ (२।१८।६४)
> एकदेशसधर्मत्वादुपमेयावबोधनम्।
> उपमानं करोत्यङ्ग दीपोऽर्थप्रभया यथा॥ (२।१८।२६)

विवाद न करने वाले बुद्धिमान् श्रोता को ज्ञान प्राप्ति के निमित्त उपमान (दृष्टान्त) की उपमेय से एक अंश में समानता अङ्गीकार करनी चाहिए। उपमेय (जिस विषय का दृष्टान्त द्वारा ज्ञान हो) का ज्ञान उपमान द्वारा एक ही अङ्ग में समानता द्वारा होता है जैसे दीपक की समानता विषय-ज्ञान से एक ही अङ्ग (प्रकाश) में होती है।

६—अद्वैत

जिधर आँख उठाकर देखिये संसार में भिन्न-भिन्न नाना प्रकार की वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओं से कुछ निराली ही है और अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। इस प्रकार संसार में अनन्त वस्तुएँ और व्यक्ति हैं। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति संसार का ज्ञान प्राप्त करने की है। ज्ञान प्राप्त करनेका साधन बुद्धि है। बुद्धि का स्वभाव दृश्य अनन्त नाना और भिन्न पदार्थों में सादृश्य और एकता को खोजना है। अन्यथा मनुष्य को संसार का ज्ञान ही होना असम्भव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का वैयक्तिक स्वरूप इतना निराला है कि उसके अतिरिक्त और कोई उसको न समझ ही सकता है और न उसका वर्णन कर सकता है। इसीलिये मनुष्य ने अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिये वस्तुओं के निरालेपन की उपेक्षा करके उनके उस रूप को जानना अपना ध्येय बना लिया है जो कि सब वस्तुओं में एक सा है। साधारण ज्ञान, विज्ञान और दर्शन—जो कि मनुष्य के ज्ञान के क्रमशः तीन प्रस्थान हैं—सभी का उद्देश अनेकता में एकता, भिन्नता में समानता, और नवीनता में परिचितत्व को खोजना है। साधारण ज्ञान ने सभी वस्तुओं का जातियों में वर्गीकरण करके इस उद्देश्य की पूर्ति की। रसायन-विज्ञान ने संसार की सभी वस्तुओं को ६२ प्रकार के भौतिक तत्त्वों के भिन्न-भिन्न मेलों से बना हुआ समझा। वर्तमान भौतिक विज्ञान की खोज के अनुसार समस्त संसार विद्युत्कणों से ही बना है। दार्शनिकों ने भी अनेकता और भिन्नता को कतिपयता और समानता के रूप में समझने का प्रयत्न किया है। ग्रीस देश के दार्शनिक डिमोक्रीटस ने जगत् को समान रूपवाले अनन्त परमाणुओं की ही रचना समझा। एम्पिडोकिल्स का कहना है कि संसार में केवल चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु,—जो कि आकर्षण और विकर्षण के वशीभूत होकर जगत् की रचना कर रहे हैं। भारत में नैयायिकों और वैशेषिकों के मत के अनुसार संसार में केवल ९ पदार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा हैं।

जगत् के सारे पदार्थ इन्हीं तत्त्वों से मिल कर बने हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् में केवल दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब प्रकृति के रूपान्तर अथवा परिणाम हैं और जितने चेतन जीव हैं वे सब द्रष्टा पुरुष हैं। मनुष्य की बुद्धि की ज्ञान-पिपासा सारे जगत् के अनन्त और भिन्न-भिन्न पदार्थों को दो तत्त्वों में वर्गीकरण करके भी शान्त नहीं हुई। बुद्धि सदा एकत्व की खोज में रहती है और बिना एकत्व को प्राप्त किए तृप्त नहीं होती। बुद्धि की इस एकत्व-पिपासा की शांति अद्वैतवाद में होती है। अद्वैतवादियों के मत में संसार में दो अथवा बहुत से तत्त्व नहीं हैं। समस्त संसार एक ही तत्त्व का भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होने का नाम है। योगवासिष्ठकार अद्वैतवादी है। यहाँ पर हम संक्षेप से यह बतलाना चाहते हैं कि योगवासिष्ठ के अद्वैत का क्या स्वरूप है।

संसार के सब पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, बिना अद्वैत के सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जो वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं उनके भीतर एक ही तत्त्व वर्तमान होता है। द्रष्टा और दृश्य का भी एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। और द्रष्टा और दृश्य में किसी प्रकार की एकता हुए बिना द्रष्टा को दृश्य का अनुभव होना असम्भव है:—

ऐक्यं च विद्धि सम्बन्धं नास्त्यसावसमानयोः ॥ (३।१२१।४२)
न संभवति सम्बन्धो विषमाणां निरन्तरः।
न परस्परसंबन्धाद्विनानुभवनं मिथः ॥ (३।१२१।३७)

सम्बन्ध एकता का सूचक है। असमान वस्तुओं में कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। विषम वस्तुओं में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, और सम्बन्ध बिना एक वस्तु को दूसरी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

दृश्य पदार्थ भी द्रष्टा की जाति के ही हैं—अर्थात् वे भी चिन्मय ही हैं:—

सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति।
अन्योन्यानुभवस्तेन भवत्येकत्वनिश्चयः ॥ (६।२५।१४)
बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते।
नाबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेनतान्यथा ॥ (६।२५।१२)

यदा चिन्मात्रमेवेयं दृष्टिर्दर्शनदृश्यदृक् ।
तदानुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ (६।३८।८)
मृण्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयादित्थं चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ (६।२६।११)
सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं ततम् ।
स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथार्णवः ॥ (६।२६।१७)
एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारिवाम्बुधिः ।
तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारिव वीचिभिः ॥ (६।१०१।६४)

सजातीय पदार्थ ही एकता को प्राप्त हो सकते हैं, अतएव परस्पर ज्ञान एकत्व का निश्चय कराता है। बोध से जानी हुई वस्तु बोधमात्र ही है। बोध अबोध को नहीं जान सकता। द्रष्टा को दर्शन का अनुभव इस कारण से ही होता है कि द्रष्टा दर्शन और दृष्टि सभी चिन्मात्र हैं। जिस प्रकार मिट्टी के सभी बर्तनों में मिट्टी वर्तमान है, उसी प्रकार सब चेत्य पदार्थों में चित्–तत्त्व वर्तमान है, कोई पदार्थ भी चित् बिना नहीं है। जगत् के सभी पदार्थ बोधमात्र हैं। बोध ही सब में फैला है; जैसे कि हवा के झोंके हवा हैं और समुद्र जल ही जल है। जैसे समुद्र का जल लहरों के रूप में प्रकट होता है उसी प्रकार सारी बुद्धियों में एक ही तत्व प्रकट हो रहा है।

———

७—कल्पनावाद

अद्वैतवादियों के मतानुसार समस्त विश्व में एक ही तत्त्व है, दो या बहुत से स्वतन्त्र और भिन्न सत्तावाले तत्त्व नहीं हैं। वह तत्त्व जड़ाद्वैतवादियों के अनुसार जड़ प्रकृति और चेतनाद्वैतवादियों के अनुसार चेतन ब्रह्म है। संसार की जितनी वस्तुएँ हैं वे सब इसी एक तत्त्व के नाना नाम और रूप हैं। योगवासिष्ठ के अनुसार भी संसार के समस्त पदार्थ जो हमको चारों ओर दिखाई पड़ते हैं चिन्मात्र ब्रह्म के ही अनन्त नाम-रूप हैं। चिन्मात्र ब्रह्म और उसके नाना नाम-रूपों के सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिये यहाँ पर कोई भी जड़ पदार्थ नहीं है; जो कुछ भी है वह चेतन आत्मा का ही परिमित, अस्थिर और परिवर्तनशील रूप विशेष है। चेतन और चेतन के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हमको अपने ही भीतर हो सकता है, और कहीं नहीं। बाह्य पदार्थों में हम चेतन को दृश्य रूप में देखते हैं और दृश्य का हमारा ज्ञान इतना पूर्ण और सत्य नहीं हो सकता जितना कि आत्मा और उसके अनन्त नाम रूपों का, जिनका अनुभव हमारे भीतर होता है। इसलिये दृश्य पदार्थों को पूर्णतया और यथार्थ रूप से जानने के लिये हमको उन्हें आत्मा और उसके आन्तर नामरूप वाले विकारों की ही परिभाषा में समझना होगा। यदि गहरा विचार करके देखा जाए तो हमको अपने आत्मा अथवा मन और उसके विकारों के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का ज्ञान कभी होता ही नहीं। बाह्य पदार्थ भी जब तक कि हमारे मन के संवेदनात्मक विकारों का रूप धारण करके हमारे अनुभव में नहीं आते, उनका हमको ज्ञान कभी नहीं हो सकता। हमारी संवेदनाएँ और ज्ञान कहाँ तक मनोमय हैं और कहाँ तक पदार्थों के रूप को बतलाती हैं यह कहना सर्वथा असम्भव है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हमारे वैयक्तिक चेतना में संवेदन उत्पन्न करने के कुछ कारण व्यक्ति से बाहर के पदार्थ हो सकते हैं। परन्तु यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता कि वे कारण स्वयं चेतन अथवा चेतन की विकृतियाँ नहीं हैं। चेतन के विकारों को

समझना यदि हो तो मन और उसकी कल्पनाओं को समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त हमारे अनुभव में और कोई चेतन की विकृति नहीं आती। यदि संसार में चेतन आत्मा और उसकी विकृतियों (नाना नाम रूपों) के सिवाय कुछ भी नहीं है तो यही कहना सत्य होगा कि संसार के सब पदार्थ आत्मा तथा मन की कल्पनाएँ ही हैं। इसके अतिरिक्त संसार में और कोई पदार्थ नहीं है। चेतनाद्वैत को मानने का यही परिणाम है। इसलिये ही योगवासिष्ठकार ने सारे जगत् को कल्पनामय कहा है। उसका यह मत निराला होते हुए भी हास्यास्पद नहीं कहा जा सकता। संसार के बड़े-बड़े दार्शनिक नाना मार्गों द्वारा इसी मत पर आये हैं। भारत में बौद्धों के विज्ञानवाद, पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ, बर्कले, काण्ट, हेगल आदि ने इसी प्रकार के मत का समर्थन किया है। यहाँ पर हम संक्षेप से योगवासिष्ठ के कल्पनावाद का उसके अनेक अङ्गों में वर्णन करते हैं :—

(१) संसार के सब पदार्थ कल्पनामय हैं :—

समस्तं कल्पनामात्रमिदम् ॥ (६।२१०।११)
विश्वं नानास्त्येव मननादृते । (३।४०।५७)
मनो मनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम् । (४।११।२३)
रूपालोकमनस्कारतत्ताकालक्रियात्मकम् ।
कुम्भकारो घटमिव चेतो हन्ति करोति च । (५।४८।५२)
सर्वं संकल्परूपेण चित्त्वमत्कुरुते चिति ।
स्वप्नपत्तननिर्माणपातोत्पातनवज्जगत् ॥ (६।४२।१६)
द्यौः क्ष्मा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
संकल्पकचितं सर्वमेव स्वप्नवदात्मनः ॥ (३।१०१।३५)
धाराकणोर्मिफेणश्रीर्यथा संलक्ष्यतेऽम्भसः ।
तथा विचित्रविभवा नानातेयं हि चेतसः ॥ (३।११०।४८)

यह सारा संसार कल्पनामात्र है। मनन (मन के कार्य) के अतिरिक्त संसार कुछ नहीं है। तीनों जगत् मन के मनन से ही निर्मित हैं। इस रूप (विषय) आलोक (संवेदन) मनस्कार (मन का विचार) तत्ता (पदार्थ का तात्त्विक रूप), काल और क्रिया वाले जगत् को मन इस प्रकार बनाता और तोड़ता है जैसे कि कुम्हार घड़े

को। चित्त अपने भीतर इस सारे संसार को संकल्प के रूप में रचता और समेटता है, जैसे कि स्वप्न के संसार को। स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशायें—ये सब आत्मा के संकल्प से इस प्रकार बने हैं जैसे कि स्वप्न बनता है। जिस प्रकार जल के धारा, कण, लहर, और फेन आदि रूप दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार यह सब नानाता चित्तका ही विचित्र विभव है।

(२) देश और काल भी कल्पित ही हैं:—

देशकालाभिधानेन राम संकल्प एव हि।
कथ्यते तद्वशाद्यस्माद्देशकालौ स्थितिं गतौ (३।११०।९९)

संकल्प ही देश और काल के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि संकल्प से ही देश और काल का अस्तित्व होता है।

(३) देश और कालका परिमाण मनके ऊपर निर्भर है:—

मनोरथे तथा स्वप्ने संकल्पकलनासु च।
गोष्पदं योजनव्यूहः स्वासु लीलासु चेतसः॥ (३।१०३।१३)
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः॥ (३।६०।२०)
कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित्॥ (३।६०।२६)
दुःखितस्य निशा कल्पः सुखितस्यैव च क्षणः।
क्षणः स्वप्ने भवेत्कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः॥ (३।६०।२२)
यन्मुहूर्तः प्रजेशस्य स मनोर्जीवितं मुनेः।
जीवितं यद्विरिञ्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः॥ (३।६०।२९)
विष्णोर्यज्जीवितं राम तद्वृषाङ्कस्य वासरः।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः॥ (३।६०।२६)
रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रे तथा ह्यभूत्।
कान्ताविरहिणामेकं वासरं वत्सरायते॥ (३।२०।९१)

मनोरथ, स्वप्न, संकल्प आदि चित्त की लीलाओं में गोष्पद (गौ के पैर रखने योग्य परिमाणवाला स्थान) योजन का विस्तार धारण कर लेता है। निमेष में यदि चित्त कल्प की कल्पना कर लेता है तो वह निमेष कल्प हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यदि कल्प में निमेष की कल्पना कर लेता है तो कल्प निमेष ही हो जाता है।

चिति-तत्त्व का स्वभाव ही ऐसा है। दुःखित व्यक्ति को रात भर में कल्प का अनुभव होता है और सुखी को क्षण का। स्वप्न में क्षण कल्प हो जाता है और कल्प क्षण। ब्रह्मा का एक मुहूर्त मनु की पूरी आयु होती है। ब्रह्मा की सारी आयु विष्णु का एक दिन होता है। विष्णु का सारा जीवन-समय शिवजी का एक दिन होता है। चित्तके ध्यान में लीन हो जाने पर न दिन का अनुभव होता है न रात्रि का। हरिश्चन्द्र ने एक रात्रि में ही बारह वर्ष का अनुभव किया था। प्रिया-विरह से पीड़ित पुरुषों के लिये एक रात एक वर्ष के समान बीतती है।

(४) कल्पना के अतिरिक्त पदार्थों में और कोई द्रव्य नहीं है :—

याद्दगर्थं जगद्रूपं तत्रैवोदेति तत्क्षणात्।
न देशकालदीर्घत्वं न वैचित्र्यं पदार्थजम्॥ (३।४।१९)
यथैतत्प्रतिभामात्रं क्षणकल्पावभासनम्।
तथैतत्प्रतिभामात्रं जगत्सर्गावभासनम्॥ (३।२०।२९)
यथाभावितमेतेषां पदार्थानामतो वपुः।
अभ्यासजनितं भाति नास्त्येकं परमार्थतः॥ (३।२६।९२)
असदेवाङ्ग सदिव भाति पृथ्व्यादिवेदनात्।
यथा बालस्य वेतालो नाभाति तदवेदनात्॥ (३।२६।४५)
स्वप्ने नगरमुर्वी वा शून्यं सातं च बुध्यते।
स्वप्नाङ्गना च कुरुते शून्याप्यर्थक्रिया नृणाम्॥ (३।२६।४८)
अस्तक्षीवार्धनिद्राश्च नौयानाश्च सदैव खे।
वेतालवनवृक्षादिपश्यन्त्यनुभवन्ति च॥ (३।२६।९१)

देश काल का परिमाण और पदार्थों की विचित्रताएँ सब वास्तव में कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। जगत् में जो भी पदार्थ हैं वे क्षण भर में (कल्पना से) उदय हो जाते हैं। जिस प्रकार क्षण और कल्प केवल ज्ञानमात्र हैं, उसी प्रकार जगत् और सृष्टि का अनुभव भी ज्ञानमात्र है। पदार्थों का स्वरूप पारमार्थिकतया कुछ भी नहीं है। अभ्यास द्वारा जैसी उनकी भावना दृढ़ हो जाती है वे वैसे ही अनुभव में आते हैं। स्वयं कुछ न होते हुए भी वेदना से पृथ्वी आदि पदार्थ कुछ जान पड़ते हैं, जैसा कि बालक को भूत न होते हुए भी भूत दिखाई पड़ता है। भावना न होने से नहीं दिखाई देता। स्वप्न में

शून्य स्थान में भी नगर और पृथ्वी दिखाई पड़ती है। स्वप्न की असत् स्त्री भी पुरुषों को सचमुच की स्त्री के समान सुख देती है। शून्य स्थान में भी दुःखी, नशेवाला, आधी नींदवाला, नाव पर सवार, व्यग्र चित्तवाला मनुष्य, वेताल, वन और वृक्षादि वस्तुओं का अनुभव करता है और उनको प्रत्यक्ष देखता है।

(५) संसार के अटल नियम और स्थिरता भी कल्पित हैं :—

नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशी स्वप्नसंविदि।
यावद्भानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियंत्रणा॥ (६।१४८।२०-२१)
स्वप्ने निमग्नधीर्जन्तुः पश्यति स्थिरतां यथा।
सर्गस्वप्ने मग्नबुद्धिः पश्यति स्थिरतां तथा॥ (६।६१।२९-३७)

स्वप्नज्ञान में नियति और अनियति का क्या रूप है? स्वप्न में जो वस्तुएँ जिस क्रम से उदय हो गईं वही उनकी नियति है। इसी प्रकार जगत् में भी है। स्वप्न में जिस प्रकार जीव स्थिरता का अनुभव करता है उसी प्रकार इस संसार में भी करता है। अर्थात् दोनों में ही नियति और स्थिरता कल्पित हैं।

(६) कल्पना ही जड़ता का रूप धारण कर लेती है :—

मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिद्ध्यति।
देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवत्तु तत्त्वतः॥ (६।९२।११)
आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः।
अत्राधिभौतिकव्यासिरसत्यैव पिशाचिका॥ (६।६८।३४)
वास्तवेन तु रूपेण भूम्याद्यात्माधिभौतिकः।
न शब्देन न चार्थेन सत्यात्मा शशशृङ्गवत्॥ (३।९७।१६)
आतिवाहिक एवायं त्वाहशैश्चिरदेहकः।
आधिभौतिकताबुद्धया गृहीतश्चिरभावनात्॥ (३।२१।९४)

हमारी राय में यह ठीक नहीं जान पड़ता कि जिस प्रकार गुड़ आदि के मेल से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार शरीर में भी चेतना उत्पन्न हो जाती है। हमारा मत तो यह है कि हमारा शरीर विज्ञानजन्य है जैसे कि स्वप्न में होता है। वास्तव में देह में ज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है। सारे भौतिक पदार्थों का असली रूप

मानसिक ही है। भौतिकता रूपी भूत तो भ्रममात्र है। वस्तुतः पृथ्वी आदि पदार्थों में भौतिकता का लेशमात्र भी नहीं है। भौतिक शब्द और अर्थ दोनों ही शशशृङ्ग के समान असत् हैं। मानसिक देह ही अति काल की भावना के अभ्यास से भौतिक शरीर का रूप धारण करती हुई मालूम पड़ने लगती है।

(७) द्रष्टा और दृश्य का अनन्यत्व

द्रष्टा चेत और दृश्य पदार्थों का सम्बन्ध इस प्रकार का है :—

किञ्चित्प्रचलिता भोगात्पयोराशेरिवोर्मयः। (३।९४।२०)
स्वतेजःस्पन्दिताभोगाद्दीपादिव मरीचयः ॥ (३।९४।२१)
स्वमरीचिवलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव। (३।९४।२२)
मन्दारमञ्जरीरूपाश्चन्द्रबिम्बादिवांशवः ॥ (३।९४।२३)
यथा विटपिनश्चित्रास्तद्रूपा विटपश्रियः। (३।९४।२४)
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनकादिव ॥ (३।९४।२५)
निर्झरात्कमलोद्घातात्पयसामिव बिन्दवः। (३।९४।२६)
आकाशस्य घटस्थालीरन्ध्राकाशादयो यथा ॥ (३।९४।२७)
सीकरावर्तलहरीबिन्दवः पयसो यथा। (३।९४।२८)
मृगतृष्णातरङ्गिण्यो यथा भास्करतेजसः ॥ (३।९४।२९)
सर्वा दृश्यदृशो द्रष्टुर्व्यतिरिक्ता न रूपतः। (३।९४।२९)
पथावे पद्मिनीवान्तर्मनोह्यस्ति दृश्यता ॥
मनोदृश्यदृशौ भिन्ने न कदाचन केनचित्। (३।३।३६)

जैसे जल की राशि से चञ्चल लहरें, हिलते हुए रोशन चिराग से उसकी किरणें, जलती हुई अग्नि से अपनी रोशनी के बल से फेकी हुई चिनगारियाँ, चन्द्रमा के बिम्ब से उसकी मन्दार की मञ्जरी के समान किरणें, वृक्ष से उसकी फूल पत्तियों की विचित्र शोभा, सोने से उसके बने हुए कटक, अङ्गद और केयूर आदि गहने, साफ और चमकदार झरने से उसके जलकण, आकाश से घटाकाश, स्थाली (थाली) आकाश और रन्ध्राकाश आदि, जल से उसके भँवर, लहर, फेन और बूँदें, सूर्य की ज्योति से मृगतृष्णा की नदियाँ, भिन्न होते हुए भी स्वरूप से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्रष्टा से सब दृश्यपदार्थ और उनके ज्ञान भिन्न होते हुए भी स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। मन और दृश्य कभी किसी प्रकार

भी एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जैसे पद्माक्ष के भीतर पद्मिनी रहती है, उसी प्रकार मन के भीतर दृश्यता रहती है।

(८) द्रष्टा के भीतर से ही दृश्य का उदय होता है :—

यथा रसः पदार्थेषु यथा तैलं तिलादिषु ।
कुसुमेषु यथाऽऽमोदस्तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ (३।१।४३)
यत्रतत्रस्थितस्यापि कर्पूरादेः सुगन्धिता ।
यथोदेति तथा दृश्यं चिद्धातोरुदरे जगत् ॥ (३।१।४४)
यथा चात्र तत्र स्वप्नः संकल्पश्चित्तराज्यधीः ।
स्वानुभूत्यैव दृष्टान्तस्तथा हृद्यस्ति दृश्यभूः ॥ (३।१।४५)
यथाऽङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः ।
करोति भासुरं देहं तनोत्येवं हि दृश्यधीः ॥

जैसे पदार्थों में रस, तिलादि वस्तुओं में तेल, फूलों में सुगन्ध होती है, वैसे ही द्रष्टा में दृश्यज्ञान रहता है। कर्पूरादि सुगन्धवाले पदार्थों से जिस प्रकार सुगन्ध का उदय होता है, उसी प्रकार चेतन के भीतर से जगत् का उदय होता है। जैसे तुम्हारे अपने अनुभव में स्वप्न, संकल्प और मनोराज्य का उदय होता है वैसे ही हृदय के भीतर दृश्य जगत् का उदय होता है। जैसे बीज के भीतर देशकाल के अनुरूप अंकुर वर्तमान रहता है, वैसे ही मन भी अपने भीतर देह और दृश्य-ज्ञान का प्रकाश करता है।

(९) स्वप्न और जाग्रत् में भेद नहीं है :—

यदि दृश्य का द्रष्टा से इस प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है तो फिर स्वप्न-जगत् और वास्तविक जगत्—अर्थात् जाग्रत् अवस्था में ज्ञात जगत्—में क्या भेद है। वसिष्ठजी के मत के अनुसार कोई विशेष भेद नहीं, दोनों में घनिष्ठ समानता है।

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ (४।१९।११)
स्वप्नोऽपि स्वप्नसमये स्थैर्याज्जाग्रत्त्वमृच्छति ।
अस्थैर्याज्जाग्रदेवास्ते स्वप्नस्तादृशबोधतः ॥ (४।१९।१२)
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिजल्प्यते ।
अद्य रात्रौ चितेः स्वप्नः स्वप्न इत्यभिधीयते ॥ (३।९९।१९)

इदं जाग्रदयं स्वप्न इति नास्त्येव भिन्नता ।
सत्ये वस्तुनि निःशेषसमयोर्यानुभूतितः ॥ (६।१६१।२४)
नैतदेवमिति स्वप्नप्रबोधात्प्रत्ययो यथा ।
मृत्वामुत्रप्रबुद्धस्य जाग्रति प्रत्ययस्तथा ॥ (६।१६१।२५)
कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितीह धीः ।
वर्तमानानुभवनसाम्यात्तुल्ये तयोर्द्वयोः ॥ (६।१६१।२६)
बाह्ये तदेवमित्यादिगुणसाम्यादशेषतः ।
न जाग्रत्स्वप्नयोर्ज्यायानेकोऽपि यमयोरिव ॥ (६।१६१।२७)
आजीवितान्तं स्वप्नानां शतान्यनियतं यथा ।
आनिर्वाणमहाबोधे तथा जाग्रच्छतान्यपि ॥ (६।१६१।२९)
उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नः स्मर्यन्ते बहवो यथा ।
तथैव बुद्धैः स्मर्यन्ते सिद्धै जन्मशतान्यपि ॥ (६।१६१।३०)
यथा स्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नास्त्यत्र संशयः ।
स्वप्ने पुरमसद्भाति सर्गादौ भात्यसज्जगत् ॥ (३।२७।९०)

जाग्रत् और स्वप्न में इसके सिवाय कि एक स्थिर अनुभव का नाम है और दूसरा अस्थिर का, और कोई भेद नहीं है। सदा और सर्वत्र दोनों दशाओं का अनुभव समान है। स्वप्न के समय स्वप्न भी स्थिर रहने के कारण जाग्रत् ही प्रतीत होता है। जाग्रत् भी अस्थिर रूप के आने-जाने पर स्वप्न ही प्रतीत होने लगता है। सर्ग के आदि में चित् का (चेतन ब्रह्म अथवा आत्मा का) स्वप्न जाग्रत् कहलाता है और सर्ग के रहते हुए किसी रात्रि में अनुभव किया हुआ स्वप्न स्वप्न कहलाता है। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर जाग्रत् और स्वप्न में कोई भेद नहीं है। दोनों का अनुभव सर्वथा समान ही है। स्वप्न से जागकर जैसे यह प्रतीति होती है कि जो अनुभव किया था वह वैसा नहीं है, जैसा कि अनुभव किया था, उसी प्रकार यहाँ मरकर दूसरे लोक में जन्म लेने पर जाग्रत् का अनुभव भी ऐसा ही प्रतीत होता है। जाग्रत् और स्वप्न में और सब प्रकार की समानता है, केवल अधिक और अल्प समय तक अनुभूत होने का भेद है। जाग्रत् और स्वप्न में कौनसा अधिक महत्त्व का है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों में ही बाह्य वस्तु की प्रतीति आदि बातें समानरूप से अनुभव में आती हैं। जिस प्रकार एक जीवन में अनेक स्वप्नों का अनुभव होता है, उसी प्रकार जब तक जीव को निर्वाण नहीं प्राप्त होता और वह अज्ञान का जीवन बिताता है,

तब तक जीव को अनेक जाग्रत् अवस्थाओं का अनुभव होता है। जिस प्रकार हमलोग उत्पन्न होकर नष्ट हुए स्वप्नों को याद कर लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी सिद्ध लोग भी अनेक जन्मों को याद कर सकते हैं। इसलिये जैसा स्वप्न है वैसा ही जाग्रत् है इसमें कोई शक नहीं है। स्वप्न में स्वप्ननगर असत्य होता हुआ प्रतीत होता है और जाग्रत् में यह जगत्।

(१०) जगत् का अनुभव भी स्वप्न ही है :—

रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिद्भ्रम एव ते।
यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं सात्मकं स्थितम्॥ (३।६२।२७)
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा।
यथैव तेषां देहादि तथास्माकमिदं स्थितम्॥ (३।६२।२८)
यथा स्वप्ने धराब्धाद्रिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः।
तथा अहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः॥ (३।६२।२९)
यथा स्वप्ने नृभियुद्धकोलाहलगमागमाः।
असन्तोऽप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा॥ (३।६२।३०)
स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारा युष्मदादिकः।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः॥ (३।६२।४०)
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिद्भ्रमः।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा॥ (३।६२।४४)
एवं सर्वमिदं भाति न सत्यं सत्यवत्स्थितम्।
रञ्जयत्यपि मिथ्यैव स्वप्नस्त्रीसुरतोपमम्॥ (३।४२।२४)
दीर्घस्वप्नमिदं विश्वं विद्ध्यहन्तादिसंयुतम्॥ (३।४२।८)

जैसे स्वप्न में चिदाकाश रूप (विषय) आलोक (विषयज्ञान) और मनस्कार (विषय की मानसिक प्रतिमा) के रूपों में परिणत हो जाता है उसी प्रकार यह सब दृश्य जगत् भी वस्तुतः चिदाकाश का ही विकास है। शरीर, स्थान और इन्द्रिय आदि की वास्तविक सत्ता का क्या प्रमाण है ? जैसे स्वप्न में देहादि के अनुभव का उदय होता है वैसे ही इस जगत् में भी होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ—पृथ्वी, सड़कें, पहाड़ और मैदान आदि—चिदाकाश ही के नाम हैं, वैसे ही मैं, तुम और वह और यह संसार चिदाकाश ही हैं। जैसे स्वप्न में मनुष्य की लड़ाई, झगड़े, शोर और आना-जाना वास्तव में न होते हुए भी

अनुभव में आते हैं, वैसे ही संसार का हाल है। स्वप्न के द्रष्टा हमारे तुम्हारे समान साकार जीव हैं, जगत्स्वप्न का द्रष्टा शुद्ध चिदाकाश स्वयं है। चिदाकाश इस जगत् को स्वप्न की नाईं बिना किसी वास्तविक आधार, उपादान और सामान के ही न वर्तमान होते हुए देखता है इसी प्रकार यह सब जगत् न होता हुआ भी होता हुआ दिखाई पड़ता है और मिथ्या होता हुआ भी स्वप्न के विषयभोग की तरह द्रष्टा को आनन्द देता है। यह अहंतादि से युक्त विश्व एक बहुत बड़ा स्वप्न ही समझना चाहिए।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि योगवासिष्ठकार के मतानुसार जगत् का अनुभव स्वप्न के अनुभव के सदृश है। यही नहीं बल्कि समस्त विश्व एक दीर्घ स्वप्न ही है। यदि ऐसी बात है तो अब एक यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि यह विश्व-स्वप्न किसका स्वप्न है? किसी एक मुझ जैसे जीव का अथवा किसी ईश्वर का? माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या करनेवाले श्री गौड़पादाचार्य ने भी अपनी माण्डूक्यकारिका में इस प्रश्न को उठाया है। वे पूछते हैं –

क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः?

—माण्डूक्यकारिका, २। ११

अर्थात्, कौन इस भिन्न भिन्न विश्वगत वस्तुओं का द्रष्टा है और कौन इनकी कल्पना करता है? पाश्चात्यदर्शन में भी, जबसे बर्क्ले नामक तत्त्वदर्शी ने यह अकाट्यतया सिद्ध कर दिया कि जगत् के सारे पदार्थ मानसिक संवेदन ही हैं, यह प्रश्न बार-बार उठता चला आ रहा है कि विश्व के पदार्थ किसके संवेदन हैं। किसी जीव-विशेष के अथवा सब जीवों की कल्पना करनेवाले किसी ईश्वर के। कुछ लोगों का कहना है कि प्रत्येक जीव का विश्व अपनी कल्पना की कृति है, इस मत का नाम 'वैयक्तिक कल्पनावाद' है। दूसरे लोगों का कहना है कि विश्वप्रपञ्च ईश्वर की कल्पना है और प्रत्येक जीव उस प्रपञ्च का स्रष्टा न होकर केवल द्रष्टा ही है। इस मत का नाम 'समष्टिकल्पनावाद' है। जीव की दृष्टि से तो इस प्रकार के कल्पनावाद को बाह्यार्थवाद कहने में कोई हानि नहीं होती, क्योंकि विश्व कल्पित होते हुए भी जीव के लिये बाह्यरूप से वर्त्तमान होकर उसकी दृष्टि में आता है। योगवासिष्ठकार का मत इस सम्बन्ध में क्या है यह कहना बड़ा कठिन

ज्ञान पड़ता है, क्योंकि कहीं तो वैयक्तिक कल्पनावाद को समर्थन करने वाले वाक्य पाये जाते हैं और कहीं ईश्वरीय कल्पनावाद के प्रोषक वाक्य मिलते हैं। दोनों मतों के समन्वय करनेवाले वाक्य भी कहीं-कहीं पर हैं। इसलिये हम यहाँ पर पाठकों के सामने तीनों प्रकार के वाक्यों को उद्धृत करके योगवासिष्ठकार का मत पाठकों को समझाने का प्रयत्न करते हैं—

(११) प्रत्येक जीव का विश्व अलग अलग है और वह जीव ही उस विश्व की सृष्टि करता है :—

चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा ।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥ (३।१३।११)
प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिमत् ॥ (३।४०।२९)
प्रत्येकमुदितो राम नूनं संसृतिखण्डकः ।
रात्रौ सैन्यनरस्वप्नजालवत्स्वात्मनि स्फुटः ॥ (४।११।२०)
पृथक्प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः । (३।४०।२९)
यं प्रत्युदेति सर्गोऽयं स एवैनं हि वेत्ति ॥ (६।१३।४)
न किञ्चिदपि जानाति निजसंवेदनादृते । (३।९९।६१)
स्वसंज्ञानुभवे लीनास्तथा स्थावरजङ्गमाः ॥ (३।९९।६२)
परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलम् ।
महाचितेः स्फुरन्त्यर्करुचीव त्रसरेणवः ॥ (३।२७।२९)
जगद्गुल्मसहस्राणि यत्रासंख्यान्यणावणौ ।
अपरस्परलग्नानि काननं ब्रह्म नाम सत् ॥ (४।१८।६)

चित्त (जीव) ही जगत् की सृष्टि करने वाला है। वह जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है वह सत्, असत् अथवा सदसत् रूप से वैसे ही उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक चित्त में इस प्रकार की सृजन-शक्ति है। हे राम! जैसे रात को सोते हुए अनेक सैनिकों के मनमें अनेक स्वप्न-जगत् पृथक्-पृथक् उदित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रत्येक जीव का संसार उसके भीतर अलग-अलग उदित होता है। जगद्भ्रम प्रत्येक जीवको पृथक्-पृथक् होता है और जिसको जो अनुभव होता है वह उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। इस प्रकार सब जड़-चेतन जीव अपने-अपने ज्ञान के दायरे के भीतर के विश्व में लीन रहते हैं। परब्रह्म के परमाणु-परमाणु के भीतर अनन्त सृष्टियाँ इस प्रकार

हैं जैसे सूर्य की किरणों में अनेक त्रसरेणु दिखाई पड़ते हैं। जैसे किसी वन में सहस्रों गुञ्जाफल (घुँघुची के गुच्छे) एक दूसरे से बिलकुल अलग-अलग लटके रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में अणु-अणु के भीतर अनेक सृष्टियाँ हैं।

(१२) ब्रह्मा जगत् की सृष्टि करता है और सारे जीव ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं :—

> सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनादिप्रजापतिः।
> यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाऽद्यापि स्थिता स्थितिः ॥ (३।६९।४७)
> संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः।
> तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत् ॥ (६।१८६।६९)
> आदिसर्गे जगद्भ्रान्तिर्यथेयं स्थितिमागता।
> तथा तदा प्रभृत्येवं नियतिः प्रौढिमागता ॥ (३।२१।४६)
> निर्झराद्मलोघोद्यात्पयसामिव बिन्दवः। (३।९४।२६)
> सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो जीवराशयः ॥ (३।९४।२९)

सृष्टि के आदि में स्वप्नपुरुष की तरह ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। वह ब्रह्मा अब तक उसी प्रकार स्थित है। यह सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ ब्रह्मा (प्रजापति) जैसा-जैसा संकल्प करता है वैसी-वैसी ही सृष्टि होती चली जाती है। यह जगत् उसी ब्रह्मा की कल्पना है। जैसे सर्ग के आदि में यह विश्व-भ्रान्ति उदित होती है वैसी ही वह अभी तक स्थित है और निश्चल रूप से चल रही है। जैसे किसी झरने से पानी की बूँदें गिरती हैं उसी प्रकार ब्रह्मा से सब जीवों की सृष्टि होती है।

(१३) ब्रह्माकृत विश्व और जीवकृत विश्वों में क्या सम्बन्ध है :—

> बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः। (६।३८।४)
> ब्रह्मपुर्यष्टकस्यादावर्थसंविद्यथोदिता।
> पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तथैवोदेति सर्वदा ॥ (६।९१।२)
> प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दः पदार्थानां हि बिम्बकम्।
> प्रतिबिम्बितमेतस्माद्यत्तद्द्यापि संस्थितम् ॥ (३।६९।४८)
> अन्योऽन्यमेव पश्यन्ति मिथः संप्रतिबिम्बितात्। (३।६३।२९)
> अस्माकं त्वं स्वप्ननरस्तव स्वप्ननरा वयम् ॥ (६।१९१।१०)

एवमेतदिदं सर्वमन्योन्यं स्वप्नवस्थितम् ॥ (३।१९४।११)
कदाचित्प्रतिभैकैव बहूनामपि जायते।
तथा हि बहवः स्वप्नमेकं पश्यन्ति मानवाः ॥ (६।४९।१०)
संसारे विपुले स्वप्ने यथा सत्यमहं तव।
तथा त्वमपि मे सत्यं सर्वं स्वप्नेष्विति क्रमः ॥ (३।४२।२०)

हमारे मत में विज्ञानवाद और बाह्यार्थवाद में कोई असामञ्जस्य नहीं। जिस प्रकार सर्ग के आदि में ब्रह्मा में विश्व के पदार्थों की संवेदना का उदय होता है उसी प्रकार सब जीवों के मन में पदार्थों की संवेदना का उदय होता है। ब्रह्मा के मन में जो पदार्थसंवित् उदित होती है उसी का प्रतिबिम्ब जीवों के मन में उदित होता है और उदित होकर स्थिर रहता है। चूँकि जीवों की सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि का प्रतिबिम्ब है इसलिये एक विश्व का ज्ञान दूसरे को होता है। इस रीति से मैं तुम्हारे स्वप्न का व्यक्ति हूं, तुम मेरे स्वप्न के व्यक्ति हो। सब एक दूसरे के स्वप्न-जगत् में वर्तमान हैं। जैसे कभी-कभी एक ही विचार बहुत से आदमियों के मन में आ जाता है और एक ही स्वप्न बहुत से आदमी देख लेते हैं, वैसे ही इस विशाल संसार में मैं तुम्हारे स्वप्न में सत्य हूँ और तुम मेरे स्वप्न में।

८—जगत्

योगवासिष्ठ के कल्पनावाद का दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। अब यहाँ पर दृश्य जगत् के विषय में वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को जो बातें बतलाईं उनका उल्लेख किया जाता है।

(१) जगत् के अनेक नाम :—

योगवासिष्ठ में दृश्य जगत् को अनेक नामों से पुकारा है। उनमें से कुछ ये हैं—जगत्, दृश्य, संसृति (संसार), महत्तम (गहन अन्धेरा), मोह, माया, अविद्या, बन्ध, त्वं, अहं इत्यादि की मिथ्या भावना (मैं, तू का मिथ्या व्यवहार)।

जगत्त्वमहमित्यादि मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते।
यावदेतत्सम्भवति तावन्मोक्षो न विद्यते॥ (३।१।२१)
अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः॥ (३।१।२०)

'मैं' और 'तुम' आदि भेद की मिथ्या भावना, जगत् और दृश्य कहलाती है। जब तक इसका अनुभव होता है तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त होता। इस भावना को सर्वज्ञ ऋषियों ने अविद्या, संसार, बन्धन, माया, मोह और महान्धकार आदि अनेक नामों से पुकारा है।

(२) जीव-परम्परा :—

इस दृश्य-जगत् की अनेक विशेषताओं में से एक विचित्र विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक दृश्य वस्तु स्वयं द्रष्टा भी है। जो स्वयं किसी मन अथवा जीव की कल्पना है वह स्वयं और वस्तुओं की कल्पना करने की सामर्थ्य रखती है, और उनको उसी प्रकार अपनी कल्पना से रचती है जिस प्रकार वह स्वयं किसी दूसरे जीव द्वारा कल्पना की गई है।

स्वयं स्वभाव एवैष चिद्घनस्यास्य सुस्फुटम्।
यद्यत्संकल्पयत्याशु तत्र तेऽवयवा अपि॥ (६।२०८।२७)

चिदात्मकतया भान्ति नानात्मकतयात्मना ।
अप्येकसारास्तिष्ठन्ति नानाकारस्वभावगाः ॥ (३।२०८।२८)
यो यो नाम यथा ग्रीष्मे कल्कस्वेदाद्भवेत्कृमिः ।
यद्यद्दृश्यं शुद्धचित्त्वं तज्जीवो भवति स्वतः ॥ (४।११।३)

ब्रह्म का यह स्वभाव ही है कि इसमें जो कुछ भी कल्पित होता है उसके अनेक अवयव भी ब्रह्म के साथ एकात्म होने के कारण नाना प्रकार के जीवों के रूप में स्थित होकर उसी प्रकार कल्पना करने लगते हैं। प्रत्येक दृश्य पदार्थ स्वयं इस प्रकार जीव हो जाता है जैसे गरमी के मौसिम में प्राणियों के शरीर के मैल और पसीने से उत्पन्न हुई वस्तुएँ स्वयं प्राणी बन जाती हैं।

(३) सृष्टि के भीतर अनन्त सृष्टियों की परम्परा :—

जीव जिस सृष्टि की कल्पना करता है उस सृष्टि के भीतर के अनेक पदार्थ भी जीव होकर अनेक सृष्टियों की कल्पना करते हैं और उसके भीतर के अनेक पदार्थ दूसरी अनेक सृष्टियों की कल्पना करते हैं। इस प्रकार यह सिलसिला अनन्त रूप से जारी है।

सर्गे सर्गे पृथग्रूपं सन्ति सर्गान्तराण्यपि । (४।१८।१६)
तेष्वप्यन्तःस्थसर्गौघाः कदलीदलपीठवत् ॥ (४।१८।१७)
चिद्घनैकघनात्मत्वाज्जीवान्तर्जीवजातयः ।
कदलीदलवत्सन्ति कीटा इव धरोदरे ॥ (४।१९।२)
त्रिजगच्चिदणावन्तरस्ति स्वप्नपुरं यथा ।
तस्याप्यन्तश्चिदणवस्तेष्वप्येकैकशो जगत् ॥ (५।९२।२०)
आकाशे परमाण्वन्तर्द्रव्यादेरणुकेऽपि च । (३।४४।३४)
जीवाणुर्यत्र तत्रेदं जगद्वेत्ति निजं वपुः ॥ (३।४४।३५)
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ (३।९१।३)
जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत् ।
स्थितमन्योन्यवलितं कदलीदलपीठवत् ॥ (३।२२।२६)
परमाणुनिमेषाणां लक्षांशकलनास्वपि ।
जगत्कल्पसहस्राणि सत्यानीव विभान्त्यलम् ॥ (३।६२।११)
तेष्वप्यन्तस्तथैवान्तः परमाणु कणं प्रति ।
भ्रान्तिरेवमनन्ताहो इत्थमित्यवभासते ॥ (३।६२।१२)

अणावणावसंख्यानि तेन सन्ति जगन्ति खे।
तेषान्तान्व्यवहारौघान्संख्यातुं क इव क्षमः॥ (६।१७६।६)

प्रत्येक सृष्टि के भीतर नाना प्रकार की अनेक दूसरी सृष्टियाँ हैं; उनके भीतर और दूसरी; उनके भीतर और अनेक; इस प्रकार यह सिलसिला केले के तने की भाँति चलता ही रहता है। जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर नाना प्रकार के जीवजन्तु रहते हैं और जिस प्रकार केले के तने में पत्ते के भीतर दूसरा पत्ता और उसके भीतर दूसरा पत्ता रहता है, उसी प्रकार एक जीव के भीतर दूसरे अनेक जीव, और उनके भीतर और दूसरे—इस प्रकार का सिलसिला चलता ही रहता है—क्योंकि सब कुछ चिद्घन (ब्रह्म) है। चित् के एक परमाणु के भीतर जिस प्रकार स्वप्न की त्रिलोकी होती है उसी प्रकार आकाश में अनन्त द्रव्यों के अनन्त परमाणुओं के भीतर भी नाना प्रकार के जगत् हैं। जहाँ जहाँ भी जीवाणु वर्त्तमान है वहीं पर वह जगत् का अपने निज अङ्ग की नाईं अनुभव करता है। इस प्रकार प्रत्येक अणु के भीतर अनन्त सृष्टियों का सिलसिला है और होता रहता है। प्रत्येक परमाणु के एक क्षुद्र टुकड़े के भी लाखवें भाग के भीतर हजारों जगत् प्रत्यक्ष सत्यभाव से दिखाई देते हैं। (आधुनिक भौतिक विज्ञान को भी यह ज्ञात हो गया है कि प्रत्येक परमाणु के भीतर सौर मण्डल की नाईं जगत् है) उन जगतों के परमाणुओं के भीतर भी इसी प्रकार दृश्य जगत् है। यह कितने आश्चर्य की बात है। पर यह सत्य है कि ऐसा है। इस आकाश में अणु-अणु के भीतर जगत् हैं। उनके सब हाल-चाल कौन सुना सकता है?

(४) अनन्त अदृष्ट जगत् :—

एक जीव की सृष्टि का दूसरे जीव को प्रायः ज्ञान नहीं है; इस कारण से ब्रह्माण्ड की अनन्त सृष्टियों का ज्ञान जीवों को नहीं है। केवल अपनी ही सृष्टि का प्रत्येक जीव को ज्ञान होता है। दूसरे जीवों की सृष्टियाँ उसके लिये नहीं के बराबर हैं, क्योंकि वह उनको देख ही नहीं सकता।

प्रत्येकमन्यान्यानि तथैवाभ्युदितानि च।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च॥ (६।६२।१२)

अन्योऽन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किञ्चन।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ (३।६२।१३)
स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणामिव।
महारम्भानुसृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ (३।६९।१०)
परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि व मिथः।
सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्त्यपि ॥ (३।६९।३४)
संकल्पनगरं सत्यं यथा संकल्पितं प्रति।
सदेहं वा विदेहं वा नेतरं प्रति किञ्चन ॥ (३।२।१४९)

प्रत्येक जीव के भीतर बहुत सी नाना प्रकार की एक दूसरी के प्रति अज्ञात सृष्टियाँ उदय हो रही हैं। एक सृष्टि के भीतर क्या है इसका ज्ञान दूसरी सृष्टि को उसी प्रकार नहीं है कि जिस प्रकार गलते हुए एक बीज को दूसरे बीज के भीतर की सृष्टि का ज्ञान नहीं होता। (प्रत्येक बीज के भीतर तदनुरूप सृष्टि सूक्ष्म रूप से होती है। जब वह पृथ्वी में पड़कर गलने लगता है तो उसकी सूक्ष्म सृष्टि स्थूल रूप धारण करने लगती है। उस समय भी एक बीज की सृष्टि का दूसरे बीज को कोई अनुभव नहीं होता); जैसे एक ही समय सोते हुए मनुष्यों के भीतर अनेक प्रकार के व्यवहारों से युक्त स्वप्न-जगत् वर्त्तमान होते हुए भी एक दूसरे के प्रति शून्य हैं; और जिस प्रकार रणक्षेत्र में सोने वाले सिपाहियों के अनेक स्वप्न-जगत् (जिन सबमें प्रायः संग्राम ही होते रहते हैं एक दूसरे के प्रति अज्ञात हैं। ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड की अनन्त सृष्टियों का ज्ञान एक दूसरे को नहीं है)। संकल्प-नगर केवल उसी के प्रति सत्य होता है जो उस जगत् में संकल्पित होता है—चाहे वह सदेह (स्थूल) हो चाहे विदेह (सूक्ष्म), दूसरे के प्रति नहीं। (यही हाल इस जगत् में वर्त्तमान जीवों का भी है)।

(५) सब कुछ सदा सब जगह है :—

यद्यपि दूसरे जीवों के दृश्य जगतों का ज्ञान हमको प्रायः नहीं होता तो भी यदि हम चाहें तो विश्व के समस्त पदार्थों का सब स्थानों का सब काल में अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ ब्रह्ममय हैं और ब्रह्म सदा सब जगह पूर्ण रूप से विद्यमान है।

ब्रह्म सर्वगतं तस्माद्यथा यत्र यदोदितम्।
भवत्याशु तथा तत्र स्वप्रकाशमेव पश्यति ॥ (३।६२।४२)

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि। (३।१६९।४१)
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदास्ति तथा परे॥ (३।१३।२८)
सर्वत्र सर्वशक्तित्वाद्यत्र या शक्तिरुन्नयेत्।
आस्ते तत्र तथा भाति तीव्रसंवेगहेतुतः॥ (३।८२।४)

क्योंकि ब्रह्म सब जगह है इसलिये कहीं भी किसी वस्तु का उदय हो सकता है और स्वप्न-शक्ति द्वारा उसका अनुभव होता है। इस प्रकार परम ब्रह्म में जो कि सर्व वस्तुओं का अन्तिम स्वरूप है सदा ही, सब जगह, सर्व रूप से, सब कुछ वर्त्तमान रहता है। ब्रह्म में सब पदार्थ शक्ति-रूप से रहते हैं। जहाँ जिस पदार्थ के अनुभव की तीव्र भावना होती है वहीं पर वह पदार्थ प्रकट हो जाता है।

(६) नाना प्रकार की विचित्र सृष्टियां :—

यह न समझ लेना चाहिये कि सब जगह और सब काल में इसी प्रकार की सृष्टि की रचना होती है जैसी कि हम अनुभव कर रहे हैं। किसी कल्प में किसी प्रकार की सृष्टि और किसी में किसी दूसरे प्रकार की सृष्टि होती है :—

अनन्तानि जगन्त्यस्मिन्ब्रह्मतत्त्वमहाम्बरे।
अम्भोधिवीचिवल्लवन्निमज्जन्त्युद्भवन्ति च॥ (४।१७।१४)
भूयो भूयो विवर्तन्ते सर्गेष्वप्स्विव वीचयः।
अत्यन्तसदृशाः केचित्केचिदर्धसमक्रमाः॥ (३।६६।२३)
केचिदीषत्समाः केचिन्न कदाचित्पुनस्तथा। (३।६६।२४)
सर्वासां सृष्टिराशीनां चित्राकारविचेष्टिताः॥ (४।४७।२७)
दैवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च।
दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च॥ (३।६१।३२)
कदाचित्सृष्टयः शार्व्यः कदाचित्पद्मजोद्भवाः।
कदाचिदपि वैष्णव्यः कदाचिन्मनुनिर्मिताः॥ (४।४७।८)
भूरभून्मृण्मयी काचित्काचिदासीदृषन्मयी॥ (४।४७।१२)
आसीद्धेममयी काचित्काचित्ताम्रमयी तथा।

इस ब्रह्मरूपी महा आकाश में अनन्त प्रकार के अनन्त जगत् इस प्रकार उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं जैसे कि समुद्र में लहरें। जल में तरङ्गों के समान सृष्टियों में नाना प्रकार के विकार होते रहते हैं। उनमें से कुछ समान रूप के, कुछ आधे समान क्रमवाले, कुछ

थोड़ी ही समानतावाले और कुछ बिल्कुल ही निराले ढङ्ग के होते हैं। सब सृष्टियों की बातें विचित्र प्रकार की होती हैं। किसी सृष्टि में देवता लोग ही रहते हैं, किसी में मनुष्य ही, किसी में दैत्य लोग होते हैं, किसी में केवल कीड़े मकोड़े ही। किसी सृष्टि को शिव उत्पन्न करते हैं, किसी को ब्रह्मा, किसी को विष्णु और किसी को मनु। किसी सृष्टि में धरातल मिट्टी का होता है, किसी में पत्थर का, किसी में सोने का, किसी में ताँबे का।

(७) जीवों की सृष्टि और प्रलय का पुनः पुनः होना :—

जीवौघाश्चोद्भविष्यन्ति मधाविव नवाङ्कुराः।
तत्रैव क्षयमेष्यन्ति ग्रीष्मे मधुरसा इव॥ (७।९९।१०)
तिष्ठन्त्यजस्रं कालेषु त एवान्ये च भूरिशः।
जायन्ते च प्रलीयन्ते परस्मिञ्जीवराशयः॥ (३।९९।११)
उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम्।
स्वत एव पदे यान्ति विलयं जीवराशयः॥ (४।४३।४४)

जैसे चैत्र के महीने में नये अंकुर उत्पन्न होते हैं और ग्रीष्म ऋतु में सब रस सूख जाते हैं उसी प्रकार जीवगण उत्पन्न होते हैं और जहाँ से उत्पन्न हुए थे उसी में लय हो जाते हैं। परम तत्त्व से जीवगण उत्पन्न होते हैं और कुछ समय स्थिर रहकर उसी में लीन हो जाया करते हैं। समय-समय पर ब्रह्म से उदय होकर, और नाना प्रकार के शरीरों का अनुभव करके जीवगण उसी में अपने आप ही लीन हो जाया करते हैं।

(८) कल्प के अन्त में सब कुछ नष्ट हो जाता है :—

पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमायुषः॥ (६।२१३।५)
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो द्रुमाः।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किञ्चिदवशिष्यते॥ (६।२१३।६)
नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमापि परिणश्यति।
ससर्वजगदाभासमुपलब्धुरसंभवात्॥ (६।२१३।७)
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम्।
तेषामप्यतिकल्पान्ते नामापीह न विद्यते॥ (६।२१३।८)

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ (३।१।१०)
शाम्यतीदमशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा।
यथा जाग्रद्विधौ स्वप्नः स्वप्ने वा जागरो यथा ॥ (६।२१३।१९)
यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने क्वाशु गच्छति।
शान्तं तथा जागृदृश्यं न जाने क्वाशु गच्छति ॥ (६।२१३।१६)

हे पुत्र! जैसे सुषुप्ति में प्रवेश करने के समय सारा का सारा स्वप्न-जगत् नष्ट हो जाता है वैसे ही यह सारा दृश्य-जगत् (प्रलय काल में) नष्ट हो जाता है। पृथ्वी, पहाड़, दसों दिशाएँ, सब क्रियाएँ, काल, क्रम आदि सब बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं—कुछ भी बाकी नहीं रहता। जगत् के द्रष्टा के नष्ट हो जाने पर सब जगत्—सारे प्राणी और आकाश—नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि का भी, जो कि कारणों के भी कारण हैं, कल्प के अन्त में नाम तक नहीं रहता। जिस प्रकार सुषुप्ति के समय स्वप्न का दृश्य अनुभव में नहीं आता वैसे ही कोई भी जड़-चेतन दृश्य पदार्थ कल्प के अन्त में नहीं दिखाई पड़ता। जैसे जाग्रत् अवस्था में स्वप्न का और स्वप्नावस्था में जाग्रत् का पता नहीं लगता वैसे ही जगत् भी प्रलय में पूर्णतया शान्त हो जाता है। शान्त होने पर जैसे स्वप्न का पता नहीं चलता कि कहाँ गया वैसे ही प्रलय हो जाने पर जगत् का पता नहीं चलता कि कहाँ गया।

(९) प्रलयकाल में केवल ब्रह्म ही शेष रहता है:—

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ॥ (३।१।११)
ब्रह्मास्ते शान्तमजरमनन्तात्मैव केवलम्। (३।२।३६)
शून्यं नित्योदितं सूक्ष्मं निरुपाधि परं स्थितम् ॥ (३।२।३७)

प्रलय के समय अत्यन्त गहन शान्ति रहती है। न तेज रहता है और न अन्धेरा, जो कुछ भाव पदार्थ रहता है वह अव्यक्त है। उसका कोई भी वर्णन नहीं किया जा सकता। वह शान्त, अजर, अनन्त शून्य, सूक्ष्म, निरुपाधि, सदा प्रकाशमान, केवल परमात्मा ब्रह्म है।

(१०) दृश्य जगत् की उत्पत्ति का क्रम:—

जगत् स्वप्न की नाईं कल्पनामय है। इसका उदय और अस्त स्वप्न-जगत् के उदय और अस्त के समान है। नाना प्रकार की सृष्टियाँ हैं

और उनके उदय होने के नाना प्रकार के क्रम हैं। ये सब बातें ऊपर कही जा चुकी हैं। अब यह देखना है कि योगवासिष्ठ के अनुसार हमारी वर्त्तमान सृष्टि का उदय किस क्रम से होता है—

सुषुप्तं स्वप्नवद्भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत्।
सर्वात्मकं च तत्स्थानं तत्र तावत्क्रमं शृणु ॥ (३।१२।२)

शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत्।
जगच्छक्त्यात्मनाऽऽत्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम् ॥ (६।११।३७)

स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम्।
यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥ (६।११४।१९)

तदात्मनि स्वयं किञ्चिच्चेत्यतामिव गच्छति।
अगृहीतात्मकं संविदहंमर्षणपूर्वकम् ॥ (३।१२।४)

भाविनामार्थकलनैः किञ्चिदूहितरूपकम्।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन्भाति बोधनम् ॥ (३।१२।५)

ततः सा परमा सत्ता सचेतश्चेतनोन्मुखी।
चिन्नामयोग्या भवति किञ्चिल्लभ्यतया तथा ॥ (३।१२।६)

घनसंवेदना पश्चाद्भाविजीवादिनामिका।
संभवत्यात्तकलना यदोज्झति परं पदम् ॥ (३।१२।७)

सत्तैव भावनामात्रसारा संसरणोन्मुखी।
तदा वस्तुस्वभावेन त्वनुतिष्ठति तामिमाम् ॥ (३।१२।८)

समनन्तरमेवास्याः खसत्तोदेति शून्यता।
शब्दादिगुणबीजं सा भविष्यदभिधार्थदा ॥ (३।१२।९)

अहंतोदेति तदनु सह वै कालसत्तया।
भविष्यदभिधार्थेन बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥ (३।१२।१०)

चिदहं तावती व्योमशब्दतन्मात्रभावनात्।
स्वतो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं भवत्यलम् ॥ (३।१२।१३)

तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः परमात्मनः।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणः ॥ (३।१२।१५)

असम्प्रासाभिधाचारा चिच्चात्प्रस्फुरद्वपुः।
सा चैत्र स्पर्शतन्मात्रं भावनाद्भवति क्षणात् ॥ (३।१२।१८)

पवनस्कन्धविस्तारं बीजं स्पर्शौघशालिनः।
सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात्सम्प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।१९)

तत्रैव चिद्विलासेन प्रकाशोऽनुभवाद्भवेत् ।
तेजस्तन्मात्रकं तत्तु भविष्यदभिधार्थकम् ॥ (३।१२।२०)
तत्सूर्याग्निविजृम्भादि बीजमालोकशालिनः ।
तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२१)
भावयन्स्तनुतामेव रसस्कन्ध इवाम्भसः ।
स्वदनं तस्य सङ्घस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ (३।१२।२२)
भाविवारिविलासात्मा तद्बीजं रसशालिनः ।
अन्योऽन्यस्वदने तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२३)
भविष्यद्रूपसङ्कल्पनामासौ कल्पनात्मकः ।
संकल्पात्सगुणैर्गन्धतन्मात्रत्वं प्रपश्यति ॥ (३।१२।२४)
भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशालिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२५)
चिता विभाव्यमानानि तन्मात्राणि परस्परम् ।
स्वयं परिणतान्यन्तरम्बूनीव निरन्तरम् ॥ (३।१२।२६)
तथैतानि विमिश्राणि विविक्तानि पुनर्यथा ।
न शुद्धान्युपलभ्यन्ते सर्वनाशान्तमेव हि ॥ (३।१२।२७)
संवित्तिमात्ररूपाणि स्थितानि गगनोदरे ।
भवन्ति वटजालानि यथा बीजकणान्तरे ॥ (३।१२।२८)
प्रसवं परिपश्यन्ति वतवास स्फुरन्ति च ।
परमाण्वन्तरे भान्ति क्षणात्कल्पीभवन्ति च ॥ (३।१२।२९)
विवर्तमेव धावन्ति निर्विवर्तानि सन्ति च ।
चिद्वेधितानि सर्वाणि क्षणात्पिण्डीभवन्ति च ॥ (३।१२।३०)

जिस प्रकार सुषुप्त आत्मा ही स्वप्नरूप से व्यक्त होता है उसी प्रकार सब का आत्मा और जगत् का आधार ब्रह्म ही जगत् रूप से व्यक्त होता है। जिस क्रम से होता है अब वह सुनिये। ब्रह्म अपने आप ही अपने आप में जगत् को उत्पन्न करनेवाली शक्ति के रूप से वर्त्तमान रहता है। और वह शक्ति बिना किसी अन्य हेतु के अपना कार्य करती है जैसे कि चमकदार पत्थर (हीरे) की किरणें चमकती हैं। वायु अपनी स्पन्दशक्ति की नाईं, जब परमात्मा अपनी संकल्प-शक्ति को आप ही उत्तेजित करता है, तब वह स्वयं ही चेत्यता (objectivity)अर्थात् विषयरूपता को प्राप्त हो जाता है। यह

स्थिति अहंभाव उत्पन्नहोने से पूर्व उस समय की है जब कि परमात्मा को संकल्प के कारण अपने स्वरूप का भान नहीं रहता। उस समय सब जगह आकाश से सूक्ष्म वह शुद्ध बोध फैल जाता है जिसमें कि आगे प्रकाश में आने वाले नाम और रूपों की संभावना और आशा रहती है। तब वह परमसत्ता सचेत होकर चेतनता की ओर उन्मुख होकर कुछ भावात्मक रूप धारण करके "चित्" कहलाने के योग्य हो जाती है। तब वह अपने परम स्वरूप को छोड़कर सृष्टि की कल्पना को अपने भीतर रखकर पीछे जीवादि संज्ञा को धारण करने वाली तीव्र चेतना को प्राप्त होती है। तब संसार को रचने की ओर प्रवृत्त हुई भावना से भरपूर जिस वस्तु का वह ध्यान करती है उसका स्वभाव प्राप्त करके वह वही हो जाती है। तब उससे शून्य आकाश का, जो कि शब्द आदि गुणों का बीज है और जिससे भविष्य में अनेक प्रकार के शब्दों का विकास होगा, उदय होता है। तब काल और अहंकार का उदय होता है। अहंकार जगत् का मुख्य बीज है क्योंकि इससे ही भविष्य में उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुओं का उदय होता है। आकाश और शब्द की तीव्र भावना के कारण शून्य आकाश घना होकर शब्दतन्मात्रा हो जाता है। उस शब्दतन्मात्रा रूपी परमात्मा से जिसके कि सब शब्द और अर्थ विकास मात्र हैं सारे जगत् की सृष्टि होती है। वही शब्द-तन्मात्रा जिसके भीतर जीव की स्पन्द-शक्ति कार्य कर रही है, और जो अभी तक नाम और क्रिया के रूप में व्यक्त नहीं हुई है, तीव्र भावना के कारण स्पर्शतन्मात्राका रूप धारण कर लेती है। उस स्पर्शतन्मात्रा से सब प्रकार के वायु, जो कि सब प्रकार के स्पर्शों के बीज हैं, उदय होते हैं। उसीसे सारे प्राणियों की क्रियाओं का उदय होता है। उसमें चित् की क्रिया होने से प्रकाश का अनुभव होकर रूपतन्मात्रा का उदय होता है जो सब प्रकार के प्रकाशों का बीज है और जिससे सूर्य और अग्नि आदि का विकास होता है। रूप-तन्मात्रा से रूप के अनेक भेद होकर जगत् का उदय होता है। पतले-पन की भावना से उससे रसस्कन्ध का उदय होता है जिसके स्वाद को रसतन्मात्रा कहते हैं। वह रसतन्मात्रा सब रसों का बीज है। उसीसे आगे उत्पन्न होनेवाले सब जलों का उदय होता है और सारे स्वादों के संसार की सृष्टि होती है। रसतन्मात्रा से कल्पना द्वारा गन्धतन्मात्रा का उदय होता है। वह गन्धतन्मात्रा आकार वाले सब पदार्थों का

बीज है और इसीसे सब धरातलों का उदय होता है। चित् द्वारा विभाजित होने से ये सब तन्मात्राएँ एक दूसरी के रूप में परिणत हो जाती हैं और फिर एक दूसरी से अलग-अलग मिलकर मिश्र रूप में प्रकट होती हैं। शुद्ध रूप में प्रलय से पूर्व कहीं दिखाई नहीं पड़तीं। वे आकाश के उदर में सूक्ष्म संवित् के रूप में रहती हैं और इस प्रकार स्थूलता को धारण कर लेती हैं जैसे कि वटका बीज वट के वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, परमाणु के भीतर ही अपनी वृद्धि का अनुभव करती हैं, सैकड़ों शाखाओं में प्रसार करती हैं और क्षण से कल्प का रूप धारण कर लेती हैं। चित् से व्याप्त वे सब क्षण में स्थूल रूप धारण कर लेती हैं और नाना रूपों में परिणत हो जाती हैं और कभी बिना परिणाम के ही स्थित रहती हैं।

(भावार्थ)

इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि शुद्ध ब्रह्म अपने ही संकल्प से अपने आप को बाह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। अपने ही संकल्प द्वारा वह क्रम से सूक्ष्म नाम-रूपों में और फिर नाना प्रकार के स्थूल नाम-रूपों में प्रकट होकर जगत् की सृष्टि करता है।

(११) तीन आकाश :—

जगत् में तीन प्रकार के आकाश हैं—एक भूताकाश, दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश। चिदाकाश सबसे सूक्ष्म है।

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं वरानने॥ (३।१७।१०)
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्।
निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि॥ (३।१७।१२)
तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्।
सर्वात्मकं पदं तत्त्वं त्वं तदाप्नोष्यसंशयम्॥ (३।१७।१३)
चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
विद्ध्येतत्त्रयमेकं त्वमविनाभावनावशात्॥ (३।४०।१९)

आकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश—ये तीन आकाश (सर्वव्यापक पदार्थ) हैं। इनमें चिदाकाश सबसे सूक्ष्म है। (ज्ञान के क्षेत्र में) एक विषय से दूसरे विषय की प्राप्ति के मध्य में जिस अवकाश का क्षणभर के लिए अनुभव होता है उसको चिदाकाश समझो। यदि

उस चिदाकाश में समस्त संकल्पों से रहित होकर स्थिर हो जाओ तो उस परमपद को प्राप्त हो जाओगे जो कि परमतत्त्व और सबका आत्मा है। भेदभाव को त्यागकर आकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश तीनों को एक ही समझना चाहिये।

(१२) नियति :—

जगत् में सारे व्यवहार नियमित रूप से होते दिखाई पड़ते हैं और प्रत्येक वस्तु का स्वभाव निश्चित है। इसका कारण यह है कि जगत् की सृष्टि के आदि में प्रजापति ने जगत् के ठीक चलने के निमित्त वस्तुओं का स्वभाव निश्चित कर दिया है और प्रलयपर्यन्त प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्वभाव के अनुकूल कार्य करती रहती है—

आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम्।
अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम्॥ (२।६२।१)
अवश्यंभवितव्यैषा त्विदमित्थमितिस्थितिः।
न शक्यते लङ्घयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः॥ (३।६२।२६)
सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि॥ (५।८९।२६)
सर्गादौ या यथा रूढा संवित्कचनसंततिः।
साऽद्याप्यचलितान्येन स्थिता नियतिरुच्यते॥ (३।९४।२२)
आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमितिस्थितेः ।
आतृणापद्मजस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता॥ (६।३७।२२)

सृष्टि के आदि में परमात्मा अपने अनन्त और विचित्र (नाना प्रकारवाले) रूप को इस प्रकार नियमित कर लेता है कि "ऐसा होने पर ऐसा होना चाहिये"—इस नियम का नाम नियति है। "यह वस्तु इस प्रकार का व्यवहार करेगी" अथवा "यह ऐसी है"—यह नियम अटल है और अवश्य होनेवाला है। इसका उल्लंघन रुद्रादि देवता तक भी नहीं कर सकते। कोई भी—चाहे वह शिव हो अथवा विष्णु, चाहे सर्वज्ञ हो अथवा बहुत बड़ा ज्ञानी हो—नियति को नहीं बदल सकता। सृष्टि के आदि में जो रचना जिस नियम से होने लगती है वह सदा ही आजपर्यन्त उसी नियम के अनुसार चल रही है। महाशिव तक इस नियम से नियन्त्रित होते हैं। इसका नाम

इसी कारण से नियति है कि तृण से लेकर ब्रह्मा तक का व्यवहार इसके द्वारा नियन्त्रित होता है।

(१३) नियति का आरम्भ अकस्मात् घटनाओं से ही होता है :—

जगत् में कार्य-कारण रूपी नियति का चारों ओर साम्राज्य है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। लेकिन यह कार्य-कारण संतति अकस्मात् ही आरम्भ हो जाती है, और एक बार आरम्भ होकर अटल रूप से स्थित हो जाती है :—

नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशे स्वप्नसंविदि। (३।१४८।२०)
यावज्ज्ञानं किल स्वप्ने तावत्तैव नियंत्रणा ॥ (३।१४८।२१)
एवमस्या मुधाभ्रान्तेः का सत्ता कैव वासना।
कावावस्था का च नियतिः काऽवश्यंभावितोच्यताम् ॥ (३।६०।७)

स्वप्न में नियति अनियति का क्या स्वरूप है ? स्वप्न में जब जैसा अनुभव हो जाए वही उस समय नियत ज्ञात होता है। इसी प्रकार इस दृश्य जगत् रूपी मिथ्या भ्रान्ति की क्या स्थिति, क्या अवस्था, क्या नियति, और क्या अवश्यंभाविता (ऐसे होना ही चाहिये इस प्रकार का नियम) कही जा सकती है ? अर्थात् जो जिस समय जैसे हो गया वही नियम जान पड़ता है।

(१४) नियति पुरुषार्थ की विरोधी नहीं है :—

बहुधा लोग ऐसा सोचा करते हैं कि यदि संसार में सब बातें नियमित हैं और कार्य-कारण नियम अटल है तो फिर पुरुषार्थ करने से ही क्या होगा ? जो होना है वही होगा, फिर हाथ पैर पीटने की क्या आवश्यकता है ? वसिष्ठजी के मतानुसार ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वे स्पष्टतया कहते हैं—

पौरुषं न परित्याज्यमेतामाश्रित्य धीमता।
पौरुषेणैव रूपेण नियतिर्हि नियामिका ॥ (३।६२।२७)

इस प्रकार की दृष्टि का आश्रय लेकर बुद्धिमान् आदमी को पुरुषार्थ का कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियति पुरुषार्थ के रूप से ही जगत् की नियंत्रणा करती है। (अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा ही नियति सफल होती है)। पुरुषार्थ और नियति में कोई विरोध नहीं "पुरुषार्थ द्वारा फल की प्राप्ति होती है" यह भी नियति का ही एक अङ्ग है।

यदि उचित कारण पुरुषार्थ द्वारा उपस्थित नहीं किये जायेंगे तो भला इच्छित फल कैसे प्राप्त हो सकेंगे)।

(१५) प्रबल पुरुषार्थ कभी कभी नियति को भी जीत लेता है :—

नियतिं यादृशीमेतत्सङ्कल्पयति सा तथा ।
नियतानियतान्कांश्चिदर्थाननियतानपि ॥ (६।२४।३१)
करोति चित्तं तेनैतच्चित्तं नियतियोजकम् ।
निश्चल्यां नियतिं कुर्वन्कदाचित्स्वार्थनामिकाम् ॥ (६।२४।३२)
जीवो हि पुरुषो जातः पौरुषेण स यद्यथा । (६।२४।३९)
संकल्पयति लोकेऽस्मिंस्तत्तथा तस्य नान्यथा ॥ (६।२४।३६)

यह मन जिस प्रकार की नियति की कल्पना करता है वह उसी प्रकार कभी नियत और कभी अनियत पदार्थों की कल्पना करती है। इस प्रकार से यह मन अपने संकल्पित पदार्थों की नाईं नियति का भी कल्पना करने वाला है। नियति को भी कभी अनियति बना देता है। यह जीव अपने पुरुषार्थ के कारण ही पुरुष कहलाता है। वह जैसा-जैसा संकल्प करता है संसार में वैसा ही होता है अन्यथा प्रकार से नहीं (अर्थात्—वास्तविक कर्ता जीव का संकल्प ही है। नियति नहीं। नियति तो नियमित रूप से प्रकट होने का नाम है। नियति सृष्टि का नियम है। सृष्टि करने वाली नहीं है)।



१—मन

योगवासिष्ठ में जितना वर्णन मन और उसकी शक्तियों का किया गया है उतना और किसी वस्तु का नहीं। व्यक्त जगत् में मन से बढ़कर शक्तिशाली कोई पदार्थ नहीं है। मन ही जगत् की सृष्टि करता है, मन ही सब प्रकार के दुःख-सुखों का उत्पादक है। मन के हाथ में ही बन्ध और मोक्ष है। मन ही जगत् हो जाता है—मन ही वासना रहित होने पर ब्रह्म हो जाता है। योगवासिष्ठ का सारा ज्ञान केवल मनोविज्ञान ही है। यहाँ पर हम इसका कुछ वर्णन करते हैं।

(१) मन का स्वरूप :—

सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पात्तन्न भिद्यते।
यथा द्रवत्वात्सलिलं तथा स्पन्दो यथाऽनिलात् ॥ (३।४।४३)
यत्र संकल्पनं तत्र तन्मनोऽङ्ग तथा स्थितम्।
सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केचन ॥ (३।४।४४)
परस्य पुंसः सङ्कल्पमयत्वं चित्तमुच्यते। (६।१३।८०)
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ॥ (३।४।४२)
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्ते र्महात्मनः।
सङ्कल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥ (३।९६।२)
सम्पन्ना कलनानाम्नी संकल्पानुविधायिनी।
अवच्छेदवती बाह्या हेयोपादेयधर्मिणी ॥ (६।१३।९६)
तत्स्वयं स्वैरमेवाशु संकल्पयति नित्यशः।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्रीर्विततेयं वितन्यते ॥ (३।१।१६)
चिन्निःस्पन्दो हि मलिनः कलङ्कविकलान्तरम्।
मन इत्युच्यते राम न जडं न च चिन्मयम् ॥ (३।९६।४१)
चितो यच्चेत्यकलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम्।
चिद्भागोऽत्राजडो भागो जाड्यमत्र हि चेत्यता ॥ (३।९१।३७)
जडाजडदृशोर्मध्ये दोलारूपं स्वकल्पनम्।
यश्रितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते ॥ (३।९६।४०)

अण्डाजं मनो विद्धि संकल्पात्म बृहद्वपुः ।
अजडं ब्रह्मरूपत्वाज्जडं दृश्यात्मतावशात् ॥ (३।९१।३१)
नाहं वेदावभासात्मा कुर्वाणोऽस्मीति निश्चयः ।
तस्मादेकान्तकलनस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥ (३।९६।४)
मनो हि भावनामात्रं भावना स्पन्दधर्मिणी ।
क्रिया तद्भावितारूपं फलं सर्वोऽनुधावति ॥ (३।९६।१)
नहि दृश्यादृते किञ्चिन्मनसो रूपमस्ति हि ॥ (३।४।४८)
स्वमेवान्यतया दृष्ट्वा चितिर्दृश्यतया वपुः ।
निर्विभागाप्येकभागाभं भ्रमतीव भ्रमातुरा ॥ (३।९१।४०)
ज्ञायतेनैकरूपेण निश्चयेन विना स्थितिः ।
येन सा चित्तमित्युक्ता तस्माज्जातमिदं जगत् ॥ (३।९६।३९)
दृश्यानुभवसस्यात्म न सद्भावे विभासि यत् ।
कटकत्वं यथा हेम्नि तथा ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ (३।९१।३२)
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः ।
सर्वत्रैव स्थितं चैतद्विद्धि राम यथा नभः ॥ (३।४।३९)
आतिवाहिकदेहात्मा मन इत्यभिधीयते ।
आधिभौतिकबुद्धिं तु स आधत्ते चिरस्थितेः ॥

संकल्प करने का नाम मन है; मन संकल्प से भिन्न कुछ नहीं है—जैसे जल द्रवत्व (पतलेपन) से और वायु स्पन्दन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जहाँ संकल्प है वहीं मन है। मन संकल्प से भिन्न कभी किसी प्रकार नहीं है। विषयों का चित् (आत्मा) में उदय होना ही मन है। परम पुरुष (आत्मा) के संकल्पमय होने का नाम ही चित्त (मन) है। अनन्त, सर्वशक्तियुक्त महान् आत्मा के संकल्प-शक्ति द्वारा रचे हुए रूप का नाम मन है। ब्रह्म की यह संकल्पानुसार कार्य करने वाली कलना नामवाली शक्ति अवच्छेदयुक्त (परिमित रूपवाली) और त्याग और ग्रहण करनेवाली है। (अर्थात् इसका कार्य किसी खास पदार्थ को प्राप्त करना और किसका त्याग करना है। यह अनन्त परमतत्त्व को विषय न करती हुई उसको अनेक पदार्थों के रूप में विभाजित सा करती रहती है और उन कल्पित पदार्थों में किसी को अच्छा और किसी को बुरा निर्धारित करती रहती है)। वह मन (नामक शक्ति) अपने आप ही स्वतन्त्रता पूर्वक नित्यप्रति संकल्पों की रचना करता रहता है, उसी के द्वारा

यह विस्तृत माया का जाल (जगत्) तना जाता है। आत्मा का यह मलीन और कलङ्कवाला (भीतर मैलवाला क्योंकि शुद्ध स्वरूप से च्युत हो गया है) स्पन्दन, जो मन कहलाता है, न सर्वथा जड़ ही है और न चेतन। आत्मा की इस विषय की ओर दौड़ने वाली कलना का आत्मभाव तो चेतन है, चेत्य अंश (विषय भाग) जड़ है। मलीन चित् (आत्मा) का स्वयं कल्पना किया हुआ जड़ और चेतन दोनों स्वरूपवाला रूप मन कहलाता है—वह कभी जड़ और कभी चेतन हो जाता है। (ब्रह्म का वह) महान् स्वरूप जो कि संकल्पात्मक है ब्रह्म रूप से चेतन है और दृश्य रूप से जड़ है। जब अपने स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूप का विस्मरण होकर कर्तृत्वपन का ही निश्चय रहता है और ध्यान केवल एक विषय की ओर ही रहता है उस समय आत्मा का रूप मन होता है। मन भावनामात्र है, भावना स्पन्द धर्मवाली होती है, और क्रिया की कल्पना करती रहती है जो कि किसी न किसी फल के रूप में परिणत होने के लिये दौड़ती रहती है—अर्थात् किसी पदार्थ की रचना करती है। दृश्य के अतिरिक्त मन का और कोई रूप नहीं है। स्पन्दन के लिये उत्सुक चित् (आत्मा) भ्रमित-सी हो कर अपने आपको दृश्य रूपसे अन्य सी अनुभव करती हुई विभाजित न होते हुए भी अपने एक भाग जैसे रूप को धारण कर लेती है। अपने नित्य एक स्वरूप को भूल कर जो चिति (चेतन स्वरूप आत्मा) की स्थिति है उसका नाम चित्त (मन) है—उससे ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। मन यद्यपि ब्रह्म में इस प्रकार स्थित है जैसे कि सोने में कङ्कण तो भी वह दृश्य के अनुभव को सत्य समझने के कारण अपने सत्-भाव (ब्रह्मभाव) का आनन्द नहीं ले पाता (अर्थात् विषयों की ओर प्रवृत्ति रहने के कारण विषयों की नाईं ही अपने को क्षणभङ्गुर समझता है, नित्य नहीं जानता)। वास्तव में मन जो कि सत्-रूप ही है (अर्थात् आत्मा ही है) न बाहर है और न हृदय के भीतर है। वह तो आकाश की नाईं सर्वत्र स्थित है। मन सूक्ष्म आकार वाला है, स्थूल भाव को वह अधिक समय तक भावना करते रहने से प्राप्त होता है।

इस समस्त वर्णन का सार यह है कि मन अनन्त, अपार, पूर्ण, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की जगत्-निर्माण करने वाली, दृश्य का अनुभव प्राप्त करने को उत्सुक, स्पन्द-शक्ति का, उस स्थिति में स्थित होती हुई का

नाम है जब कि वह अपने आप का व्यक्त रूप से अनुभव करती है और ब्रह्म में स्थित होते हुए भी अपने आप को भिन्न समझकर जगत् का निर्माण करती है। जगत् का निर्माण वह कल्पना द्वारा करती है। कल्पना द्वारा ही वह अपने आप को दृश्य पदार्थों के आकार में देखती है। इसी कारण उसे जड़ और चेतन दोनों ही कहा है।

(२) मन और ब्रह्म का भेद :—

चेत्येन रहिता यैषा चित्तद्ब्रह्म सनातनम्।
चेत्येन सहिता यैषा चित्सेयं कलनोच्यते॥ (६।१३।६३)
किञ्चिदामृष्टरूपं यद्ब्रह्म तच्च स्थितं मनः।
कल्पना सत्सदैवैतत्सद्विवोपस्थिता हृदि॥ (६।१३।६४)
यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षणः।
तथात्मनश्चितो रूपं भावयन्त्याः स्वमांशिकम्॥ (३।४२।१८)
वातस्य वातस्पन्दस्य यथा भेदो न विद्यते।
शून्यत्वखत्वोपमयोश्चिन्मात्राहंत्वयोस्तथा॥ (३।९६।१९)

चेत्य (दृश्य) से रहित चित् (आत्मा) सनातन ब्रह्म है। वही चित् (आत्मा) चेत्य (दृश्य) युक्त यह मन कहलाता है। वह ब्रह्म ही दृश्य भाव से किञ्चित् स्पर्श हो जाने पर मन हो जाता है। मन हृदय की कल्पना के समान सत् और असत् रूप है। जिस प्रकार सोने और उससे बने हुए कङ्कणादि गहनों में एक विलक्षण भेद का सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और उसके मनरूपी भावनात्मक रूप में एक विलक्षण भेद का सम्बन्ध है। चिन्मात्र आत्मा और अहंकार (मन) में इस प्रकार तनिक भी भेद नहीं है जैसे कि वायु में और उसके स्पन्दन में और आकाश में और शून्यत्व में नहीं है।

(३) मन के अनेक नाम और रूप :—

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैव हि।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत्॥ (३।९६।४३)
चित्राधिकारवशतो विचित्रा विकृताभिधाः।
यथा याति नरः कर्मवशाद्याति तथा मनः॥ (३।९६।४४)
यथैव पुरुषः स्नानदानादानादिकाः क्रियाः।
कुर्वंस्तत्कर्तृवैचित्र्यमेति तद्वदिदं मनः॥ (३।९६।९९)

विचित्रकार्यवशतो नामभेदेन कर्तृता ।
मनः सम्प्रोच्यते जीववासनाकर्मनामभिः ॥ (३।९६।६६)

जैसे एक ही नट (नाटक का पात्र) अनेक रूप धारण कर लेता है वैसे ही भिन्न-भिन्न कामों को करते समय मन भी अनेक नाम और रूपों को धारण कर लेता है। जैसे एक ही मनुष्य अनेक अधिकारों (पदों) पर कार्य करते हुए अनेक नाम और रूपों को धारण करता है वैसे ही मन भी अनेक प्रकार के कार्य सम्पादन करते हुये अनेक नामरूपवाला होता रहता है। जैसे एक ही मनुष्य स्नान, दान, ग्रहण आदि अनेक क्रियाओं को करते समय विभिन्न प्रकार का हो जाता है वैसे मन भी भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं को करते समय विभिन्नता को प्राप्त होता है। नाना प्रकार की क्रियायें करते समय मन के अनेक नाम होते हैं—कभी यह जीव कहलाता है, कभी वासना, और कभी कर्म इत्यादि। नीचे मन के कुछ नाम और रूपों का वर्णन है :—

(अ) मन :—

गतमेव कलङ्कत्वं कदाचित्कल्पनात्मकम् ।
उन्मेषरूपिणी नाना तदैव हि मनः स्थिता ॥ (३।९६।१७)

परम चित् (शुद्ध चेतन आत्मा) जब स्पन्दनयुक्त होकर कल्पनात्मक रूप को धारण करके विषय (दृश्य) से गर्भित होती है तब वह मन होती है।

(आ) बुद्धि :—

भावनामनुसंधानं यदा निश्चित्य संस्थिता ।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धिरियत्ताग्रहणक्षमा ॥ (३।९६।१८)
इदमित्थमितिस्पष्टबोधाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ (३।१८८।९)

वही परम चित् जब एक परिमित रूप को धारण करके विषयों की भावना करके यह अमुक विषय है, वह अमुक—इस निश्चय को धारण कर लेती है तब बुद्धि कहलाती है। यह पदार्थ इस प्रकार का है—इस स्पष्टज्ञान के कारण इसका नाम बुद्धि है।

(इ) अहङ्कार :—

अस्मीतिप्रत्ययादन्तरहंकारश्च कथ्यते । (३।१८८।६)

यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वयम् ।
अहंकाराभिमानेन प्रोच्यते भवबन्धनी ॥ (३।९६।१९)

"मैं हूँ" इस भावना के होने पर वह अहङ्कार कहलाती है। जब कि वह मिथ्या अभिमान के कारण अपने आप ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाकर संसार के बन्धन में पड़ जाती है तो उसका नाम अहङ्कार होता है।

(ई) चित्त :—

इदं त्यक्त्वेदमायाति बालवत्पेलवा यदि ।
विचारं संपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते ॥ (३।९६।२०)

जब वह बालक की नाईं चञ्चल कलना बिना विचारे ही एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय का चिन्तन करती रहती है तब वह चित्त कहलाती है।

(उ) कर्म :—

यदा स्पन्दैकधर्मत्वात्कर्तुर्वा शून्यशालिनी ।
आधावति स्पन्दफलं तदा कर्मेत्युदाहृता ॥ (३।९६।२१)

स्पन्दन (क्रिया) ही जिसका एक स्वभाव है ऐसी वह कलना अपने भीतर शून्यता का अनुभव करके जब क्रिया द्वारा प्राप्त होनेवाले किसी फल की ओर दौड़ती है तब वह कर्म कहलाती है।

(ऊ) कल्पना :—

काकतालीययोगेन त्यक्त्वैकघननिश्चयम् ।
यदेहितं कल्पयति भावं तेनेह कल्पना ॥ (३।९६।२२)

जब वह कलना अकारण ही (अर्थात् अकस्मात्) अपने पूर्व प्राप्त विषय की उपेक्षा करके अप्राप्त इच्छित विषयों की कल्पना करने लगती है तब उसका नाम कल्पना होता है।

(ए) स्मृति :—

पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा प्राग्दृष्टमिति निश्चयैः ।
यदैवेहां विधत्तेऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृता ॥ (३।९६।२४)

पूर्व काल में किसी वस्तु का अनुभव हुआ हो अथवा न हुआ हो किन्तु उसका निश्चय के साथ जब ऐसा ख्याल आये कि यह वस्तु पूर्व काल में अनुभूत हो चुकी है तब मन स्मृति कहलाता है।

(ऐ) वासना :—

यदा पदार्थशक्तीनां संभुक्तानामिवाम्बरे ।
वसत्यस्तमितान्येहा वासनेति तदोच्यते ॥ (६।९६।२४)
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ (५।९१।२९)

जब किसी ऐसे पदार्थ की इच्छा, जिसका भोग अभी तक वास्तव में नहीं, केवल मन ही में हुआ हो, इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसके सामने और किसी वस्तु की इच्छा न रहे, तब मन वासना कहलाता है। आगे पीछे का विचार छोड़कर जब किसी वस्तु को प्राप्त करने की दृढ़ भावना होती है उसको वासना कहते हैं।

(ओ) अविद्या :—

अस्त्यात्मतत्त्वं विमलं द्वितीया दृष्टिरक्षिता ।
जाता ह्यविद्यमानैव तदाविद्येति कथ्यते ॥ (३।९६।२९)
बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः । (३।१८८।८)
अविद्येयमनन्तेयं नानाप्रसवशालिनी ॥ (३।१६०।१३)

वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व ही एक पदार्थ है। जब वस्तुतः विद्यमान न होते हुए भी आत्मा से अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व का भान होने लगे तब इसका नाम अविद्या है। इसको अविद्या इसलिये कहते हैं कि ज्ञान होने पर यह विद्यमान नहीं रहती (अर्थात् ज्ञान हो जाने पर आत्मतत्त्व के अतिरिक्त और किसी वस्तु का भान नहीं होता)। यह अविद्या अनन्त प्रकार की है और नाना प्रकार के भ्रमों की उत्पादक है।

(औ) मल :—

स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम् ।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्प्यते ॥ (३।९६।२६)

नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं द्वारा परमपद को भुला कर आत्मा की हानि कराने के कारण इसका नाम मल होता है।

(अं) माया :—

सदसत्तां नयत्याशु सत्तां वाऽसत्त्वमञ्जसा ।
सत्तासत्ताविकल्पोऽयं तेन मायेति कथ्यते ॥ (३।९६।२९)

सत्ता को असत्ता अथवा सदसत्ता (सत् और असत् दोनों) बनाने की सामर्थ्य होने से इसको माया कहते हैं।

(अः) प्रकृति :—

सर्वस्य दृश्यजातस्य परमात्मन्यलक्षिते।
प्रकृतत्वे हि भावानां लोके प्रकृतिरुच्यते॥ (३।९६।२८)

परमात्मा का ज्ञान न होने पर, इस दृश्य संसार के सब भावों का कारण होने के कारण यह प्रकृति कहलाती है।

(क) ब्रह्मा इत्यादि :—

स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः।
कैश्चिद्ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कैश्चिद्विराडिति॥ (३।१८८।१७)
कैश्चित्सनातनाभिख्यः कैश्चिन्नारायणाभिधः।
कैश्चिदीश इति ख्यातः कैश्चिदुक्तः प्रजापतिः॥ (३।१८८।१८)

सृष्टि करने में लगा हुआ मन कभी ब्रह्मा कहलाता है, कभी विराट्, कभी सनातन, कभी नारायण, कभी ईश्वर और कभी प्रजापति।

(ख) जीव :—

जीवनाच्चेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते। (३।१८८।४)
चेतनं राम संसारे जीव एव पशुः स्मृतः॥ (३।७।७)

जीने और चेतन होने के कारण ही यह जीव कहलाता है। संसार में चेतन पदार्थ का नाम जीव और पशु है।

(ग) आतिवाहिक देह :—

पृथक्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम्।
आतिवाहिकदेहोक्त्या समुदाहियते बुधैः॥ (३।१८८।९)

यह सादि और सान्त, आकार रहित और अनामय कलना आतिवाहिक देह कहलाती है।

(घ) इन्द्रिय :—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा विमृश्य च।
इन्द्रमानन्दयति तेनेन्द्रियमिति स्मृतम्॥ (३।९६।२७)

इसको इन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि सुनकर, छूकर, देखकर,

भोगकर, सूँघकर और विचार कर यह आत्मा को, जो कि इस शरीर का इन्द्र (राजा) है, आनन्द देता है।

(ङ) पुर्यष्टक :—

प्रौढसंकल्पजालत्वात् पुर्यष्टकमिति स्मृतम्। (६।१८८।७)

पक्के संकल्पों से भरपूर होने के कारण इसको पुर्यष्टक कहते हैं।

(च) देह, पदार्थ आदि :—

देहभावनया देहो घटभावनया घटः। (६।५०।१७)

शरीर की भावना होने पर यह शरीर बन जाता है और घट आदि पदार्थों की भावना से यह घट आदि पदार्थ हो जाता है।

(छ) इस विषय में योगवासिष्ठ का अन्य दर्शनों से मतभेद :—

चितेश्चेत्यानुपातिन्या गतायाः सकलङ्कताम्।
प्रस्फुरद्रूपधर्मिण्या एताः पर्यायवृत्तयः॥ (३।९६।३१)
अहंकारमनोबुद्धिदृष्टयः सृष्टिकल्पनाः।
एकरूपतया प्रोक्ता या मया रघुनन्दन॥ (३।९६।३८)
नैयायिकैरितरथा तादृशैः परिकल्पिताः।
अन्यथा कल्पिताः सांख्यैश्चार्वाकैरपि चान्यथा॥ (३।९६।४९)
जैमिनीयैश्चार्हतैश्च बौद्धैर्वैशेषिकैस्तथा।
अन्यैरपि विचित्रैस्तैः पाञ्चरात्रादिभिस्तथा॥ (३।९६।५०)

ऊपर वर्णन किये हुये ये सब—मन, बुद्धि, अहंकार आदि—स्पन्दयुक्त कलंक को प्राप्त, दृश्य की ओर प्रवृत्त चिति (आत्मा) के अनेक नाम हैं। यहाँ पर जो ये सब नाना प्रकार की कल्पनाएँ—अहंकार, मन, बुद्धि आदि—एक ही वस्तु के नामरूप बतलाए गये हैं, वे न्याय, सांख्य, चार्वाक, मीमांसा, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, पाञ्चरात्र आदि दूसरे दर्शनों में भिन्न-भिन्न रीति से वर्णन किये गये हैं।

(४) जीव अहंभाव को कैसे धारण करता है :—

जीवोऽहंकृतिमादत्ते संकल्पकलयेद्धया।
स्वयैतया घनतया नीहिमानमिवाम्बरम्॥ (३।६४।१४)
तदेव घनसंवित्त्या यात्यहन्तामनुक्रमात्।
अहन्त्वणुः स्वेन्धनाक्तिन्यास्त्वी प्रकाशकतामिव॥ (३।६४।१२)

अहंभावो हि दिक्कालव्यवच्छेदी कृताकृतिः ।
स्वयं संकल्पवशतो वातस्पन्द इव स्फुरन् ॥ (३।६४।१९)

संकल्प शक्ति के जागृत हो जाने पर संकल्प की स्थूलता के कारण जीव इस प्रकार अहंभाव को धारण कर लेता है जैसे कि आकाश नीलिमा को। जैसे अग्नि का छोटा सा कण इन्धन की अधिकता होने पर विशाल प्रकाश को धारण कर लेता है वैसे ही जीव भी स्थूल संवेदन के कारण अहंभाव को धारण कर लेता है। जिस प्रकार वायु अपने भीतर की शक्ति से ही संचालित होने लगता है वैसे ही अपने ही संकल्प के कारण जीव अहंभाव को, जो कि आकारवान् होकर आत्मा को देश और काल में परिमित कर देता है, धारण कर लेता है।

(५) जीव शरीर कैसे बनता है :—

जीवाकाशस्त्विमं देहं यथा विन्दति तच्छृणु ।
जीवाकाशः स्वमेवासौ तस्मिंस्तु परमेश्वरे ॥ (३।१३।१८)
अणुतेजःकणोऽस्मीति स्वयं चेतति चित्ततः ।
पश्यतीवोच्छूनमिव भावयत्यात्मनाम्बरे ॥ (३।१३।१९)
असत्येव सदाकारं संकल्पेन्दुर्यथा न सत् ।
तमेव भावयन् द्रष्टृदृश्यरूपतया स्थितः ॥ (३।१३।२०)
एक एव द्वितामेति स्वप्ने स्वमृतिबोधवत् ।
किञ्चित्स्थौल्यमिवादत्ते तत्तारकतां निजम् ॥ (३।१३।२१)
पृथग्भावितमात्मत्वं भावितादित्थरूपतः ।
स एव स्वात्मा सततोऽप्ययं सोऽहमिति स्वयम् ॥ (३।१३।२२)
चित्तात्प्रत्ययसाद्भूते स्वप्ने स्वामिव पान्थताम् ।
तारकाकारमाकारं भाविदेहाभिधं तथा ॥ (३।१३।२३)
स्वप्नसंकल्पयोः संविद् स्थैर्यजीवकोऽणुके ।
स्वरूपतारकान्तस्थो जीवोऽयं चेतति स्वयम् ॥ (३।१३।२६)
सदेहद्विच्छिद्रादिज्ञानसत्तादिरूपकम् ।
जीवाकाशः स्वरूपस्तत्र तारकाकारकोऽनघ ॥ (३।१३।२७)
प्रेक्षेऽहमिति भावेन द्रष्टुं प्रसरतीव खे ।
ततो रन्ध्रद्वयेनैव भाविनाक्षाभिधं पुनः ॥ (३।१३।२८)

येन पश्यति तन्नेत्रयुगं नाम्ना भविष्यति ।
येन स्पृशति सा वै त्वग्यच्छृणोति श्रुतिस्तु सा ॥ (३।१३।२९)
येन जिघ्रति तद्घ्राणं स स्वमात्मनि पश्यति ।
ततस्य स्वदनं पश्चाद्रसना चोल्लसिष्यति ॥ (३।१३।३०)
स्पन्दते यत्स तद्वायुश्चेष्टा कर्मेन्द्रियव्रजम् ।
रूपालोकमनस्कारजातमित्यपि भावयन् ॥ (३।१३।३१)
आतिवाहिकदेहात्मा तिष्ठत्यम्बरमम्बरे ॥ (३।१३।३२)
मनोबुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ (६।५१।५०)
आतिवाहिकदेहात्मा चित्तदेहाम्बराकृतिः ।
स्वकल्पनान्त आकारमण्डं संस्थं प्रपश्यति ॥ (३।१३।३४)

जीवाकाश (निराकार आत्मा) स्थूल देह भाव को जिस प्रकार धारण करता है वह सुनो। परम ब्रह्म में स्वयं ही इस प्रकार की एक कल्पना का उदय होता है कि मैं प्रकाश का एक केन्द्र हूँ। इस केन्द्र का नाम जीव है। अपनी भावना द्वारा वह केन्द्र दीर्घ आकार को धारण करने लगता है। कल्पना के चन्द्रमा के समान वह सत्य न होता हुआ भी प्रतीत होता है। आकार की भावना से वह केन्द्र द्रष्टा और दृश्य रूप को धारण कर लेता है। जैसे मनुष्य स्वप्न में अपनी ही मृत्यु का अनुभव कर लेता है वैसे ही जीव केवल द्रष्टा होते हुए भी दृश्य भाव को प्राप्त हो जाता है। एक ही जीव द्विरूपता को धारण करता है। अपने प्रकाश-केन्द्र में स्थित होकर द्विरूपता को प्राप्त होकर वह जीव कुछ स्थूलता का अनुभव करने लगता है। जैसी-जैसी वह भावना करता है वैसे-वैसे ही दृश्य पदार्थ उसके चारों ओर उपस्थित हो जाते हैं। दीर्घकाल तक यह भावना करने से कि मैं कुछ हूँ उसमें अहम्भाव का उदय हो जाता है। जैसे कि अपने चित्त की कल्पना से जीव स्वप्न में अपने-आप को मुसाफिर के रूप में देखता है उसी प्रकार कल्पना द्वारा वह जीव अपने को सूक्ष्म और भविष्य में शरीर कहलानेवाले आकार में अनुभव करता है। अपने आप को सूक्ष्म शरीर के रूप में जीव इस प्रकार देखता है जैसे कि स्वप्न और सङ्कल्प में। विभु आत्मा इस प्रकार अपने आप ही सूक्ष्म रूप धारण करके अपनी सत्ता, ज्ञान, बुद्धि और चित्त आदि अवस्थाओं का अनुभव करता है। देखने की भावना से जब वह आकाश में गमन करता है तब पीछे आँखों के रूप में

परिणत होनेवाले दो रन्ध्रों (छेदों) का, जिनके द्वारा जीव देख सके, उदय होता है। इसी प्रकार जिस कारण द्वारा वह छू सके वह त्वचा, जिसके द्वारा वह सुन सके वह कान, जिसके द्वारा वह सूँघ सके वह नाक, जिसके द्वारा वह वस्तुओं का स्वाद ले सके वह जिह्वा (जीभ) बन जाता है; इसी प्रकार स्पन्दन करने के लिये प्राण और नाना प्रकार की क्रियाओं को करने के लिये कर्मेन्द्रियों का उदय होता है। इस प्रकार विषय (रूप), विषय ज्ञान (आलोक) और विषय का प्रत्यय (मनस्कार) तीनों आत्मा की भावना से ही उदय होते हैं। मन, बुद्धि, अहङ्कार और पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की तन्मात्राएँ—ये सब मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं। पुर्यष्टक ही आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है। आतिवाहिक शरीरयुक्त आत्मा, जो कि सूक्ष्म रूपवाला है, अपनी कल्पना में अपने को स्थूल अण्डाकार देह में स्थित अनुभव करने लगता है।

(६) जीव का बन्धन अपने आप का बनाया हुआ है :-

स्ववासनादशावेशादाशाविवशतां गताः।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः ॥ (४।४३।३)

स्वसङ्कल्पानुसन्धानात्पाशैरिव नयन्वपुः।
कष्टमस्मिन्स्वयम्बन्धमेत्यात्मा परितप्यते ॥ (४।४२।३२)

स्वसङ्कल्पितत्तन्मात्रज्वालाभ्यन्तरवर्ति च।
परां विवशतामेति शृंखलाबद्धसिंहवत् ॥ (४।४२।३४)

इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम्।
कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥ (४।४२।३१)

अपनी वासनाओं के द्वारा प्राप्त दशा के वशीभूत होने के कारण जीव नाना प्रकार के बन्धनों में बन्धे हुए हैं। कितने खेद की बात है कि अपने संकल्पों के पीछे दौड़ने के कारण आत्मा अपने आपको बन्धन के पाशों में बाँधकर दुःखी होता है। अपने ही संकल्पों द्वारा रचे हुए विषयों की अग्नि में पड़कर जीव ऐसा बेबस हो रहा है कि जैसे संकलों से बन्धा हुआ सिंह। नाना प्रकार की शक्तियों से युक्त चित्त घनीभूत अहंभाव को प्राप्त होकर अपनी इच्छा से ही इस

प्रकार बंधन को प्राप्त होता है, जैसे कि रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने बनाये हुए जाल में फँस जाता है।

(७) बीजनिर्णय :—

संसार का बीज क्या है ? इसके उत्तर में वशिष्ठजी कहते हैं :—

> अन्तर्लीनघनारम्भशुभाशुभमहाङ्कुरम् ।
> संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि राघव ॥ (५।९१।८)
> भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम् ।
> बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥ (५।९१।१०)
> द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
> एकं प्राण परिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥ (५।९१।१४)
> आमोदपुष्पवत्तैलतिलवच्च व्यवस्थिते ।
> वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना ॥ (५।९१।५३)
> वासनाप्राणपवनस्पन्दयोरनयोर्द्वयोः । (५।९१।६३)
> संवेद्यं बीजमित्युक्तं स्फुरतस्तौ यतस्ततः ॥ (५।९१।६४)
> यदा संकल्प्य संकल्प्य संवित्संविदते वपुः ।
> तदास्य जन्मजालस्य सैव गच्छति बीजताम् ॥ (५।९१।८९)
> अथास्याः संविदो राम सन्मात्रं बीजमुच्यते ।
> संविन्मात्रादुदेत्येषा प्राकाश्यमिव तेजसः ॥ (५।९१।९८)
> विशेषं संपरित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम् ।
> एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पदं विदुः ॥ (५।९१।१०२)
> सत्तासामान्यमात्रस्य या कोटिः कोविदेश्वर ।
> सैवास्य बीजतां याता तत एव प्रवर्त्तते ॥ (५।९१।१०९)
> सत्तासामान्यपर्यन्ते यत्तत्कलनयोज्झितम् ।
> पदमाद्यमनाद्यन्तं तस्य बीजं न विद्यते ॥ (५।९१।११०)
> तत्र किञ्चिच्च किञ्चिच्च जगदस्तीव नास्ति च ।
> तत्तद्दृश्यमदृश्यं च तत्त्वमसि न नास्ति च ॥ (५।९१।१२०)

हे राघव संसार रूपी वृक्ष का बीज यह शरीर है जिसके भीतर अंकुर की नाईं शुभ और अशुभ अनेक क्रियायें बिना दिखलाई दिये होती रहती हैं। इस शरीर का बीज चित्त है जो कि अपनी इच्छाओं के अनुसार चलनेवाला, भाव और अभाव की दशा का उद्गम और दुःख-रूपी रत्नों की पिटारी है। वृत्तिरूपी लता को धारण करनेवाले चित्त-

रूपी वृक्ष के दो बीज हैं—एक प्राण का स्पन्दन और दूसरी दृढ़ भावना। वासना और प्राणस्पन्दन दो अलग वस्तुयें नहीं हैं, दोनों का इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है जैसे कि सुगन्ध और फूल का और तेल और तिल का। वासना बिना प्राणस्पन्दन और प्राणस्पन्दन बिना वासना के नहीं रह सकती। वासना और प्राणस्पन्दन दोनों का बीज विषय-ज्ञान है जिसके होने पर ही इन दोनों का उदय होता है। जब कि बार-बार संकल्प करने से चिति में शरीर का भान होने लगता है तो चिति ही इस जन्म-मरण-रूपी विस्तार का बीज हो जाती है। चिति का बीज सत्तामात्र है क्योंकि सत्तासंवित् से चिति इस प्रकार उदय होती है जैसे कि अग्नि से चमक। सत्तामात्र उस अवस्था का नाम है जिसका एक और अनन्त स्वरूप बिना किसी विशेषण और संकल्प के स्थित रहता है। सत्ता का बीज वह अवस्था है जो केवल सत्तासामान्य है इससे ही सत्ता का उदय होता है। सत्तासामान्य में किसी प्रकार की कोई कल्पना नहीं है; न उसका कोई आदि है और न अन्त। न उसका कोई बीज है न उसे किसी नाम से पुकार सकते हैं। न वह सत् है और न असत्, न वह दृश्य है और न अदृश्य, न अहंकारयुक्त और न अहंकार रहित।

यहाँ पर यह सिद्धान्त है कि संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है उसका कारण रहित परमकारण परमब्रह्म है जिसका कोई नाम और आकार नहीं है; जो भाव और अभाव सबसे परे है। उसे यहाँ पर सत्तासामान्य कहा है। सत्तासामान्य से सत्तामात्र का; सत्तामात्र से चिति का; चिति से विषय-संवेदन का, विषय-संवेदन से वासना और क्रिया का; वासना और क्रिया से चित्त का, चित्त से शरीर का; और शरीर से संसार का उदय होता है। शरीर न हो तो संसार का अनुभव नहीं हो सकता।

(८) जीवों की संख्या अनन्त है :—

एवं जीवाश्रितो भावा भवभावनयोहिताः।
ब्रह्मणः कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः॥ (४।४३।१)
असंख्याताःपुरा जाता जायन्ते चापि चाद्य भोः।
उत्पतिष्यन्ति चैवाम्बुकणौघा इव निर्झरात्॥ (४।४३।२)

अनारतं प्रतिदिशं देशे देशे जले स्थले।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणि ॥ (४।४३।४)

इस प्रकार संसार की भावना से युक्त, चिति के रूपान्तर जीव कल्पित आकारवाले ब्रह्मा से लाखों और करोड़ों की संख्या में अथवा असंख्य तादाद में, भूत, वर्त्तमान और भविष्य में उत्पन्न होते हैं; जैसे कि झरने से जल के कण। जैसे जल के ऊपर सदा ही अनेक बुलबुले उठा करते हैं और नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सब देश और काल में अनन्त जीव उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं।

(९) जीव की सात अवस्थायें :—

बीजजाग्रत्तथाजाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च। (३।११७।११)
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ॥ (३।११७।१२)

जीव का मोह सात प्रकार का है :—बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् तथा सुषुप्ति।

(अ) बीजजाग्रत् :—

प्रथमे चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः। (३।११७।१३)
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ।
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥ (३।११७।१४)

सृष्टि के आदि में चिति का जो नाम रहित और निर्मल चिन्तन—जिसको भविष्य में होनेवाले जीवादि नामों से पुकारा जा सकता है और जिसमें जाग्रत् अवस्था का अनुभव बीजरूप से स्थित होता है—उसे बीजजाग्रत् कहते हैं।

(आ) जाग्रत् :—

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम। (३।११७।१५)
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥ (३।११७।१६)

परब्रह्म से तुरन्त उत्पन्न हुए जीव का यह ज्ञान कि "यह मैं हूँ" "यह मेरा है" जाग्रत् कहलाता है—इसमें पूर्व काल की कोई स्मृति नहीं होती।

(इ) :—महाजाग्रत् :—

अयं सोहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः। (३।११७।१६)
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन् ॥ (३।११७।१७)

पहले जन्मों में उदय हुआ और दृढ़ता को प्राप्त हुआ यह ज्ञान कि "यह मैं हूँ" और "यह मेरा है" महाजाग्रत् कहलाता है।

(ई) जाग्रत्स्वप्न :—

अरूढमथ वा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्। (३।११७।१७)
यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ॥ (३।११७।१८)
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः । (३।११७।१८)
अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ॥ (३।११७।१९)

जाग्रत् अवस्था का मनोराज्य (भ्रम) चाहे वह दृढ़ हो गया हो अथवा न हुआ हो—जब कि उसमें तन्मयता हो जावे अर्थात् जब जीव उसमें इतना मग्न हो जावे कि उसे कल्पना के बजाय सत्य समझने लगे—जाग्रत्-स्वप्न कहलाता है। वह कई प्रकार का होता है—जैसे एक चन्द्रमा की जगह दो का भान; सीप के स्थान पर चान्दी का भान, रेगिस्तान में मृगतृष्णा की नदी का भान आदि।

प्रचलित भाषा में इस प्रकार के ज्ञान को भ्रम कहते हैं। इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत् दशा में होता है इसलिये इसका नाम जाग्रत्स्वप्न है।

(उ) स्वप्न :—

अल्पकालं मया दृष्टमेवं नो सत्यमित्यपि। (३।११७।१९)
निद्राकालानुभूतेऽर्थे निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः।
स स्वप्नः कथितस्तस्य महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥ (३।११७।२०)

महाजाग्रत् अवस्था के भीतर निद्रा के समय अनुभव किये विषय के प्रति जागने पर जब इस प्रकार का भाव हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे थोड़े समय के लिये ही हुआ था—उस ज्ञान का नाम स्वप्न है।

(ऊ) स्वप्नजाग्रत् :—

चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद्वपुः । (३।११७।२०)
स्वप्नो जाग्रत्तया रूढो महाजाग्रत्पदं गतः ॥ (३।११७।२१)
अक्षते वा क्षते देहे स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ॥ (३।११७।२२)

जब अधिक समय तक जाग्रत् अवस्था के स्थूल विषयों का और स्थूल देह का अनुभव न हो तो स्वप्न ही जाग्रत् के समान होकर महा-

जाग्रत् सा मालूम पड़ने लगता है। स्थूल शरीर के मौजूद रहते हुए अथवा न रहते हुए जब इस प्रकार का अनुभव होता है उसे स्वप्न जाग्रत् कहते हैं।

(ए) सुषुप्ति :—

षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः। (३।११७।२२)
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः॥ (३।११७।२३)
एते तस्यामवस्थायां तृणलोष्टशिलादयः। (३।११७।२३)
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे परमाणुप्रमाणिनः॥ (३।११७।२४)

पूर्वोक्त ६ अवस्थाओं से रहित—भविष्य में दुःख देनेवाली वासनाओं से युक्त—जीव की अचेतन (जड़) स्थिति का नाम सुषुप्ति है। उस अवस्था में संसार के तृण, मिट्टी, पत्थर आदि सब ही पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान रहते हैं।

(१०) जीवों के सात प्रकार :—

ते स्वप्नजागराः केचित्केचित्संकल्पजागराः।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिरजाग्रत्स्थिताः परे॥ (३।९०।१२)
घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधा स्मृताः॥ (३।९०।१३)

जीव सात प्रकार के होते हैं।

स्वप्नजागर, संकल्पजागर, केवलजागर, चिरजागर, घनजागर, जाग्रत्स्वप्न, और क्षीणजागर।

(अ) स्वप्नजागर :—

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित्।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः॥ (३।९०।१९)
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत्।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीवकाः स्वप्नजागराः॥ (३।९०।१६)
क्वचिदेवं प्रसुप्तानां यः स्वप्नः समुपस्थितः।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्नंनरा जगत्॥ (३।९०।१७)
तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्गताः स्थिताः॥ (३।९०।१८)

जब कि ऐसा हो कि किसी पूर्व तथा अन्य कल्प के जगत् में रहने

वाले जीव सोते हुए स्वप्न देखें और उनका स्वप्न इस जगत् के रूप में स्थित हो जाए तो वे जीव स्वप्नजागर कहलाते हैं (अर्थात् वे जीव जिनका स्वप्न दूसरों के लिये जाग्रत् जगत् है)। इस प्रकार यदि कभी और कहीं सोते हुए जीवों का स्वप्न हमारे लिये जाग्रत् अवस्था का विषय हो और हम उनके स्वप्न के व्यक्ति हों, तो उन जीवों को जिनका स्वप्न-संसार हमारे लिये जाग्रत्संसार बन जाता है स्वप्नजागर जीव कहाते हैं।

(आ) संकल्पजागर :—

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित्।
अनिद्रालव एवान्तः संकल्पैकपराः स्थिताः ॥ (३।९०।१४)
ध्यानाद्विलुठिता वाथ मनोराज्यवशानुगाः।
सङ्कल्पदाढ्यमापन्ना गलिताग्रानुभूतयः ॥ (३।९०।१५)
संकल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतयागतः।
तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि संकल्पजागराः ॥ (३।५०।१७)

जब कि किसी पूर्व कल्प अथवा अन्य जगत् में रहने वाले जीव बिना सोये, ध्यान से च्युत होकर, संकल्प में रत और मनोराज्य में निमग्न हो जाएँ और इतने मग्न हो जाएँ कि उनको अपने जाग्रत्-संसार का कुछ भी ज्ञान न रहे, और उनका संकल्प ही अंशतः या पूर्णतया जाग्रत् भावको धारण कर ले, और उनकी बाहर की सब चेष्टायें शान्त हो जायेंगी, तो वे संकल्प जागर कहलाते हैं।

(इ) केवलजागर :—

प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः।
प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्राग्गुत्पत्य विकासिनः ॥ (३।९०।१९)

वृद्धिशील ब्रह्मा से उदय होने पर प्रथम ही जन्म वाले जीव जो आगे विकास को प्राप्त होंगे—केवल जागर कहलाते हैं।

(ई) चिरजागर :—

भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः।
कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणवादिनः ॥ (३।९०।२०)

वे ही (केवल जागर) जीव कार्य कारण के नियम के अनुसार दूसरे जन्मों में प्राप्त होकर प्रौढ होने पर चिरजागर कहलाते हैं।

(उ) घनजागर :—

स एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
घनजाग्रत्तथा प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ (३।९०।२१)

चिरजागर जीव पाप कर्मों के वश होकर स्थावरादि जड़ अवस्था को प्राप्त होकर स्थूल दशा में स्थित होने पर घनजागर कहलाते हैं।

(ऊ) जाग्रत्स्वप्न :—

ये तु शास्त्रार्थसत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।
पश्यन्ति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥ (३।९०।२२)

जो जीव शास्त्र तथा सज्जन-सङ्ग द्वारा बोध प्राप्त कर लेने पर जाग्रत् दशा को स्वप्न के समान समझने लगते हैं वे जाग्रत्स्वप्न कहलाते हैं।

(ए) क्षीणजागर :—

ये तु संप्राप्तसंबोधा विश्रान्ता परमे पदे ।
क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ (३।९०।२३)

जो जीव ज्ञान प्राप्त कर लेने पर परम पद में शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं, जिनके लिये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव क्षीण हो चुका है और जो चौथी भूमिका (तुर्यावस्था) में स्थित रहते हैं वे क्षीणजागर कहलाते हैं।

(११) जीवों की पन्द्रह जातियाँ :—

सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों के और शुभाशुभ कर्मों के आधार पर संसार के सब जीवों को वसिष्ठ जी ने १५ जातियों में विभक्त किया है। वे ये हैं :—

(१) इदंप्रथमता :—

इदंप्रथमतोत्पन्नो योऽस्मिन्नेव हि जन्मनि ।
इदंप्रथमतानाम्नी शुभाभ्याससमुद्भवा ॥ (३।९४।२)
शुभालोकाश्रया सा च शुभकार्यानुबन्धिनी । (३।९४।३)

जो जीव उत्पन्न होते ही प्रथम जन्म में ही शुभ कामों के करने के कारण और शुभ अभ्यास के द्वारा उत्तम लोकों में जाने के योग्य हो जाते हैं उनकी जाति का नाम "इदंप्रथमता" है।

(२) गुणपीवरी :—

सा चेद्विचित्रसंसारवासना व्यवहारिणी । (३।९४।३)
भवैः कतिपयैर्मोक्षमित्युक्ता गुणपीवरी ॥ (३।९४।४)

यदि वह (इदंप्रथमता) जाति विचित्र संसार के विषयों की वासनाओं में फँस जाने पर भी कुछ जन्मों के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो तो उसे गुणपीवरी (गुणों से भरी हुई स्थूल) कहते हैं।

(३) ससत्त्वा :—

तादृक्फलप्रदानेककार्याकार्यानुमानदा । (३।९४।४)
तेन राम ससत्वेति प्रोच्यते सा कृतात्मभिः ॥ (३।९४।५)

जो जाति शुभ अशुभ कर्मों को समझकर मोक्षदायक शुभ कर्मों का आश्रय लेती है वह आत्मानुभवी पुरुषों द्वारा ससत्त्वा (सत्त्व गुण सम्पन्न) कहलाती है।

(४) अधमसत्त्वा :—

अथ वैचित्रसंसारवासनाव्यवहारिणी । (३।९४।५)
अत्यन्तकलुषा जन्मसहस्रैर्ज्ञानभागिनी ॥ (३।९४।५)
तादृक्फलप्रदानैकधर्माधर्मानुमानदा ।
असावधमसत्त्वेति तेन साधुभिरुच्यते ॥ (३।९४।५)

जो जाति संसार के अनेक विषयों की वासना के अनुसार कार्य करने पर बहुत मलीन हो जाती है और हजारों जन्म बाद जिसमें धर्म और अधर्म के पहचानने की बुद्धि होकर मोक्षदायक धर्म पर चलने की प्रवृत्ति होती है उसे साधुलोग अधमसत्त्वा कहते हैं।

(५) अत्यन्त तामसी :—

सैव संख्यातिगानन्तजन्मवृन्दादनन्तरम् । (३।९४।७)
संदिग्धमोक्षा यदि तत्प्रोच्यतेऽत्यन्ततामसी ॥ (३।९४।८)

यदि किसी जाति के लिये अनगिन और अनन्त जन्मों के पश्चात् भी मोक्ष पाना संदिग्ध (संदेहयुक्त) हो तो उसे अत्यन्त तामसी कहते हैं।

(६) राजसी :—

अनद्यतनजन्मा तु जातिस्तादृक्कारिणी । (३।९४।८)
योत्पत्तिर्मध्यमा पुंसो राम द्वित्रिभवान्तरा ॥ (३।९४।९)
तादृक्कार्या तु सा लोके राजसी राजसत्तम ॥ (३।९४।९)

राजसी वह जाति कहलाती है जो मध्यम प्रकार की हो और जो दो तीन जन्मों के अनन्तर ही राजस प्रकार के कर्म करना आरम्भ कर दे।

(७) राजससात्त्विकी :—

अविप्रकृष्टजन्मापि सोच्यते कृतबुद्धिभिः।
सा हि तन्मृतिमात्रेण मोक्षयोग्या मुमुक्षुभिः ॥ (३।९४।१०)
तादृक्कार्यानुमानेन प्रोक्ता राजससात्त्विकी ॥ (३।९४।११)

राजससात्विकी वह जाति कहलाती है जो यद्यपि जन्म से शुद्ध न होते हुए भी जीवन में ऐसे काम करे कि शरीर की मृत्यु के पश्चात् उसे मोक्ष मिल सके। उसके शुभ कामों के कारण ही उसे राजस-सात्त्विकी कहते हैं।

(८) राजसराजसी :—

सैव चेद्वितरैरल्पैर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी । (३।९४।११)
तत्तादृशी हि सा तज्ज्ञैः प्रोक्ता राजसराजसी ॥ (३।९४।१२)

ज्ञानी लोग उस जाति को राजसराजसी कहते हैं जिसका जन्म अशुभ स्थिति में हो किन्तु उसके काम ऐसे हों कि थोड़े से जन्म के पीछे उसे मोक्ष प्राप्त हो सके।

(९) राजसतामसी :—

सैव जन्मशतैर्मोक्षभागिनी चेच्चिरैषिणी । (३।९४।१२)
तदुक्ता तादृगारम्भा सद्भिः राजसतामसी ॥ (३।९४।१३)

जिस जाति का जन्म अशुभ स्थिति में हुआ हो और उसकी इच्छायें इतनी अधिक हों कि उसे सैकड़ों जन्मों के पीछे मोक्ष-प्राप्ति की संभावना हो उसको सन्त लोग राजसतामसी कहते हैं।

(१०) राजस अत्यन्ततामसी :—

सैव संदिग्धमोक्षा चेत्सहस्रैरपि जन्मनाम् । (३।९४।१३)
तदुक्ता तादृशारम्भा राजसात्यन्ततामसी ॥ (३।९४।१४)

जिस जाति का जन्म शुभ स्थिति में न हुआ हो और उसके कर्म भी ऐसे हों कि उसके लिये हजारों जन्म तक मोक्ष की सम्भावना न हो उसे राजस अत्यन्ततामसी कहते हैं।

(११) तामसी :—

भुक्तजन्मसहस्रा तु योत्पत्तिर्ब्रह्मणो नृणाम् ।
चिरमोक्षा हि कथिता तामसी सा महर्षिभिः ॥ (३।९४।१५)

ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हजारों जन्म बीत गए हों जिस जाति के और जिसको अभी मोक्ष प्राप्त करने में भी बहुत समय लगे, उस जीव जाति को ऋषि लोग तामसी कहते हैं।

(१२) तामससत्त्वा :—

तज्जन्मनैव मोक्षस्य भागिनी चेत्तदुच्यते । (३।९४।१५)
तज्ज्ञैस्तामससत्त्वेति तादृशारम्भशालिनी ॥ (३।९४।१६)

जन्म लेते ही यदि कोई जाति ऐसे काम करने लगे कि वह मोक्ष प्राप्त करने योग्य हो जावे तो उसे तामससत्त्वा कहते हैं।

(१३) तमोराजसी :—

भवैः कतिपयैर्मोक्षभागिनी चेत्तदुच्यते । (३।९४।१६)
तमोराजसरूपेति तादृशैर्गुणबृंहितैः ॥ (३।९४।१७)

जिस जाति के ऐसे गुण हों कि वह कुछ जन्म के पीछे मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो उसे तमोराजसी कहते हैं।

(१४) तामसतामसी :—

पूर्वजन्मसहस्राणां पुरोजन्मशतैरपि । (३।९४।१७)
मोक्षमोक्षा ततः प्रोक्ता तज्ज्ञैस्तामसतामसी ॥ (३।९४।१८)

जिस जाति के हजारों जन्म पहिले हो चुके हैं और अभी सैकड़ों और होकर जिसे मोक्ष का अधिकार होगा, उसे ज्ञानी लोग तामस-तामसी कहते हैं।

(१५) अत्यन्त तामसी :—

पूर्वं तु जन्मलक्षाणां जन्मलक्षैः पुरोऽपि चेत् । (३।९४।१८)
संदिग्धमोक्षा तदसौ प्रोच्यतेऽत्यन्ततामसी ॥ (३।९४।१९)

जिस जाति के लाखों जन्म पहिले हो चुके हों और लाखों होने-पर भी जिसके मोक्ष प्राप्त करने में संदेह हो उसे अत्यन्त तामसी कहते हैं।

(१२) सब जीव ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं :—

वसिष्ठजी के मत में जीव अनादि और अनन्त नहीं हैं। उनकी

उत्पत्ति और लय दोनों ही होते हैं। जीवों का उदय ब्रह्मा से, जो कि परम ब्रह्म का सृष्टिकारक आकार है, होता है। ब्रह्मा से जीवों का उद्गम कैसे होता है, उसका योगवासिष्ठ में बहुत सुन्दर और साहित्यिक वर्णन है। उसका दिग्दर्शन मात्र हम यहाँ कराते हैं:—

सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूतजातयः। (३।९४।१९)
किञ्चित्प्रचलिता भोगात्पयोराशेरिवोर्मयः॥ (३।९४।२०)
स्वतेजःस्पन्दिता भोगाद्दीपादिव मरीचयः। (३।९४।२१)
स्वमरीचिवशोद्भूता ज्वलितागनेः कणा इव॥ (३।९४।२२)
मन्दारमञ्जरीरूपाश्चन्द्रबिम्बादिवांशवः। (३।९४।२३)
यथा विटपिनश्चित्रास्तद्रूपा विटपश्रियः॥ (३।९४।२४)
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनकादिव। (३।९४।२५)
निर्झरादमलोद्योतात्पयसामिव बिन्दवः॥ (३।९४।२६)
आकाशस्य घटस्थालीरन्ध्राकाशादयो यथा। (३।९४।२७)
सीकरावर्तलहरीबिन्दवः पयसो यथा॥ (३।९४।२८)
मृगतृष्णातरङ्गिण्यो यथा भास्करतेजसः। (३।९४।२९)
शीतरश्मेरिव ज्योत्स्ना स्वालोक इव तेजसः॥ (३।९४।३०)
सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो जीवराशयः। (३।९४।२५)

सब जीवों की उत्पत्ति ब्रह्मा से इस प्रकार होती है जैसे कि हिलते हुए जल से लहरों की; दीपक की रोशनी से उसकी किरणों की; जलती हुई आग की लटा से चिनगारियों की; चन्द्रमा के बिम्ब से मन्दार की मञ्जरी के समान किरणों की; वृक्ष से उसकी चित्रविचित्र शोभा की; सोने से कड़े, अङ्गद और केयूरादि गहनों की; साफ़ और चमकदार झरने से जलकणों की; आकाश से घटाकाश, थालीआकाश और रन्ध्राकाश आदि छोटे-छोटे आकाशों की; जल से भँवरों, लहरों, बून्दों, और बौछारों की; सूर्य की प्रभा से मृगतृष्णा की नदियों की; चन्द्रमा से चान्दनी की और रोशनी से उसकी चमक की।

(१३) सब जीवों की उत्पत्ति और लय एक ही नियम से होते हैं:—

यथा सम्पद्यते ब्रह्मा कीटः सम्पद्यते तथा। (३।६७।६९)
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक्संवेदनात्क्षयः॥ (३।६७।६८)

जिस प्रकार ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार कीड़े की होती

है; और ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब जीवों का लय केवल सद्ज्ञान द्वारा ही होता है।

(१४) संसारके सब पदार्थोंके भीतर मन है :—

एतच्चित्तशरीरत्वं विद्धि सर्वगतोऽस्यम्। (३।४०।२०)
यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा।
तथान्तःसंस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना ॥ (६।१०।१९)
चिच्छक्तिर्वासना बीजरूपिणी स्वापधर्मिणी।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु ॥ (६।१०।२३)
बीजेषूल्लासरूपेण जाड्येन जडरूपिषु।
द्रव्येषु द्रव्यभावेन काठिन्येनेतरेषु च ॥ (६।१०।२४)
प्राणीवीर्यरसान्तस्था संविजङ्गममाततम्।
तनोति लतिकान्तस्थो रसः पुष्पफलं यथा ॥ (६।२८।१८)

संसार की सब ही वस्तुओं के भीतर चित्त (मन) वर्तमान है। जड़ पदार्थों के भीतर भी वासना ऐसे मौजूद है जैसे कि बीज के भीतर पुष्प आदि और मिट्टी में घड़ा। स्थावर (जड़) पदार्थों के भीतर भी वासनाओं की बीजरूपी चित् शक्ति सोती हुई अवस्था में उनके रस के रूप में सदा वर्तमान रहती है। यह शक्ति बीजों में उल्लास के रूप में, जड़ पदार्थों में जड़ता के रूप में, द्रव्यों में द्रव्य भाव से और कड़ी वस्तुओं में काठिन्य के रूप में प्रगट होती है। जिस प्रकार लता के भीतर रहने वाला रस, फूल और फल के आकार में विकसित होता है, उसी प्रकार प्राणियों के वीर्य के रस के भीतर वास करती हुई यह चिति सब चेतन वस्तुओं का विकास करती है।

१०—मनकी अद्भुत शक्तियाँ

ऊपर यह बताया जा चुका है कि मन सर्वशक्तिमय, सर्वगत, और अनन्त परम ब्रह्म का ही एक कल्पनात्मक आकार है। मन का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है; मन और ब्रह्म दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं। ब्रह्म ही मन का आकार धारण करता है। इसलिये मन में भी ब्रह्म की माईं अनन्त और अपार शक्तियाँ हैं। यहाँ पर योगवासिष्ठ के अनुसार मनकी अनेक प्रकार की शक्तियों का उल्लेख किया जाता है।

(१) मन सर्वशक्तिसम्पन्न है।

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः। (३।९१।४)
स्वरूपं सर्वकृत्त्वं च शक्तत्वं च महात्मनः ॥१॥ (३।९१।१६)
मनो यदनुसंधत्ते तदेवाप्नोति तत्क्षणात्। (३।९२।१८)
यथैतद्भावयेत्स्वान्तं तथैव भवति क्षणात् ॥२॥ (३।९१।९२)
प्रतिभासमुपायाति यद्यदस्य हि चेतसः।
तत्तत्प्रकटतामेति स्थैर्यं सफलतामपि ॥३॥ (३।९१।१७)

मन जगत् को रचनेवाला है, मन ही स्वयं पुरुष है। मन में सब प्रकार की शक्तियाँ हैं और मन सब कुछ कर सकता है। मन जिस वस्तु के प्राप्त करने का इरादा कर लेता है उसे अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। मन अपने भीतर जैसी भावना करता है क्षण भर में वैसा ही हो जाता है। जो कल्पना चित्त के अन्दर उदय होती है वही बाह्य जगत् में स्थिर और फलयुक्त होकर प्रकट होती है।

(२) मनमें जगत् को रचने की शक्ति है।

तत्संकल्पात्मकं चेतो यथेदमखिलं जगत्।
संकल्पयति संकल्पैस्तथैव भवति क्षणात् ॥ (६।११४।१७)
विश्वबीजमहत्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते।
साद्रयब्ध्युर्वीनदीशादिनगजठरपादपः ॥ (६।७।११)
चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥ (६।१२३९।१)

अङ्कुरस्य यथा पत्रलतापुष्पफलश्रियः ।
मनसोऽस्य तथा जाग्रत्स्वप्नविभ्रमभूमयः ॥ (३।११०।४६)
कल्पं क्षणीकरोति क्षणं क्षणं नयति कल्पताम् ।
मनस्तदायत्तमतो देशकालक्रमं विदुः ॥ (३।१०३।१४)

मन का स्वभाव संकल्प है। जैसे जगत् की मन कल्पना करता है संकल्प द्वारा वैसा ही जगत् निर्मित हो जाता है। अहंभाव (मन) को ही जगत् का बीज समझना चाहिये। इस बीज से ही पहाड़, समुद्र, पृथ्वी और नदियोंवाले जगत् रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है। चित्त ही जगत् का उत्पादक है। वह जैसा जैसा संकल्प करता है उसी के अनुसार—सत्, असत् अथवा सदसत्—जगत् की उत्पत्ति होती रहती है। जाग्रत्, स्वप्न और भ्रम आदि सब अवस्थाएँ इस प्रकार मन के रूपान्तर हैं जैसे कि पत्ते, बेल, फूल, फल आदि अंकुर के रूपान्तर होते हैं। देश और काल का विस्तार और क्रम भी मन के ही आधीन हैं। मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प।

(३) मन जगत् की रचना में पूर्णतया स्वतंत्र है :—

तत्स्वयं स्वैरमेवाशु संकल्पयति देहकम् ।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्विततेन वितन्यते ॥ (३।४।७९)

मन अपने आप ही स्वतंत्रतापूर्वक शरीर की रचना करता है। देहभाव को धारण करके वह जगत्रूपी इन्द्रजाल की रचना करता है।

(४) प्रत्येक मन में इस प्रकार की शक्ति है :—

प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिकम् ।
पृथक्प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः ॥ (३।४०।२९)

प्रत्येक चित्त में इस प्रकार की जगत् के उत्पादन करने की शक्ति है। प्रत्येक चित्त में जगत्रूपी भ्रम का उदय पृथक् पृथक् होता है।

(५) जीव में सब कुछ प्राप्त करने की अनन्त शक्ति है :—

सर्वं सम्पाद्यत्याशु स्वयं जीवः स्वमीहितम् । (३।४५।१२)
प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीवशक्तिस्वरूपिणी ॥ (३।४९।१३)
जीवस्योदेति या शक्तिर्यस्य यस्य यथा यथा ।
भाति [illegible] तथा तथा ॥ (३।४९।१४)

यस्य यस्य यथोदेति स्वचित्प्रयतनं चिरम्।
फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ॥ (३।४६।१८)
तपो वा देवता वापि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत् ॥ (३।४६।१९)
स्वसंविद्यतनादन्यन्न किञ्चिच्च कदाचन।
फलं ददाति तेनाशु यथेच्छसि तथा कुरु ॥ (३।४५।२०)
स्वया वासनया लोको यद्यत्कर्म करोति यः।
स तथैव तदाप्नोति नेतरस्येह कर्तृता ॥ (४।१३।११)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥ (३।९२।८)

जीव जो कुछ चाहता है वह सब अपने आप ही सम्पादन कर लेता है। प्रत्येक जीव में चित्-शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति) वर्तमान है। जीव में जिस जिस प्रकार की शक्ति का उदय होता है उसी उसी प्रकार का फल उसको प्राप्त होता है। जीव जैसा प्रयत्न करता है यथा समय उसका फल मिलता रहता है। कभी तपके रूप में, कभी देवता के रूप में, स्वयं आत्मा ही आत्मा की इच्छायें अकस्मात् पूरी कर देता है। अपने ही प्रयत्न के सिवाय कभी और कोई हमको सिद्धि देनेवाला नहीं है। इसलिये जो कुछ प्राप्त करना चाहते हो उसके लिये प्रयत्न करो। अपनी वासना से प्रेरित होकर जो जैसा यत्न करता है वैसा ही फल पाता है। यहाँ दूसरा कोई हमारे भाग्य का निर्माण करनेवाला नहीं है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सत्कर्म और शुद्ध पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती हो।

(६) विषयों का रूप हमारे चिन्तन के आधीन है :—

यथा भावनमेतेषां पदार्थानां हि सत्यता। (३।९६।३०)
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ (३।९६।३१)
येन येन यथा यद्यथा संवेद्यतेऽनघ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते ॥ (३।६०।१६)
अमृतत्वं विषं याति सदैवामृतवेदनात्।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसम्वित्तिवेदनात् ॥ (३।६०।१७)
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ (३।६०।२०)

कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः ।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ (३।६०।२१)
मधुरं कटुतामेति कटुभावेन चिन्तितम् । (३।६०।२७)
कटु चायाति माधुर्यं मधुरत्वेन चिन्तितम् ॥ (३।६०।२८)
मित्रबुद्ध्या द्विषन्मित्रं रिपुबुद्ध्या रिपुः सुहृत् । (३।६०।२८)
भवतीति महाबाहो यथासंवेदनं जगत् ॥ (३।६०।२९)
वेदनात्पीतमानीलं शुक्लं वाप्यनुभूयते ।
आपद्बुद्ध्युत्सवः खेदं करोति परिमोहितः ॥ (३।६०।३२)
शून्यमाकीर्णतामेति वेदनात्स्वप्नदृष्टिवत् । (३।६०।३१)
असद्यक्षो विमूढानां प्राणानप्यपकर्षति ॥ (३।६०।३३)
वेदनात्स्वप्नवनिता जाग्रतीव रतिप्रदा ।
यद्यथा भासमायातं तत्तथा स्थिरतां गतम् ॥ (३।६०।३४)
यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम् ।
तत्तथैवानुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ (६।१००।३)
यं यं निश्चयमादत्ते संवित्स्वदृढनिश्चया ।
तथा तथा भवत्येषा फल्युक्त स्वभावतः ॥ (६।१४८।९)

संसार के सब पदार्थों का रूप हमारे चिन्तन पर निर्भर है। चिन्तन करते-करते असत्य पदार्थ भी सत्य प्रतीत होने लग जाता है। जिस वस्तु का जिस भाव से चिन्तन किया जाता है वह वस्तु उसी प्रकार से अनुभव में आने लगती है। सदा अमृतरूप से चिन्तन करने से विष भी अमृत हो जाता है और सदा मित्रभाव से चिन्तन करने से शत्रु भी मित्र हो जाता है। निमेषमात्र समय भी कल्पभाव से चिन्तन करने पर अवश्य ही कल्प के समान अनुभूत होने लगता है। इसी प्रकार यदि कल्प की निमेषभाव से चिन्तना की जाए तो जरूर ही कल्प निमेष के समान हो जाता है। आत्मा का प्रभाव ही ऐसा है। कटुभाव से चिन्तन करने पर मीठी वस्तु भी कड़वी मालूम होने लगती है और मिठाई के चिन्तन से कड़वी वस्तुएँ मीठी मालूम पड़ने लगती हैं। मित्र बुद्धि से शत्रु मित्र हो जाता है और शत्रु बुद्धि से मित्र शत्रु बन जाता है। जैसा हमारा विचार वैसा हमारा जगत्। चिन्तन द्वारा पीली वस्तु नीली अथवा श्वेत मालूम पड़ने लगती है, और उत्सव को भी आपत्ति समझ कर मूढ़ मनुष्य शोक करने लगता है। स्वप्न की भाँति शून्य स्थान भी भरा हुआ जान पड़ने लगता है और मौजूद न होता

हुआ भी भूत मूर्खों के प्राण ले लेता है। केवल चिन्तन के द्वारा ही स्वप्न की स्त्री जाग्रत् की स्त्री के समान रति-सुख देती है। जिसके मनमें जैसी चिन्तना उदय हो जाती है वह वैसा ही अनुभव किया करता है। जैसा ख्याल जिसके मन में दृढ़ हो जाता है वह उसको प्रत्यक्ष रूप से वैसा ही अनुभव किया करता है। दृढ़ निश्चयवाला आत्मा जैसा-जैसा चिन्तन करता है वैसा-वैसा फल प्राप्त करता है।

(७) जैसी दृढ़ जिसकी भावना वैसा ही फल :—

दृढभावनया चेतो यद्यथा भावयत्यलम् । (४।२१।५६)
तत्तत्फलं तदाकारं तावत्कालं प्रपश्यति ॥ (४।२१।५७)
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा । (४।२१।५७)
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते ॥ (४।२१।५८)
यादृशं भावमादत्ते दृढाभ्यासवशात्मनः ।
तथा स्पन्दात्मकर्माख्यप्रथाशाखा विमुञ्चति ॥ (४।२१।२०)
तथा क्रिया तत्फलतां निष्पादयति चादरात् ।
तदास्तमेव चास्वादमनुभूयाशु बध्यते ॥ (४।२१।२१)
यं यं भावमुपादत्ते तं तं वस्त्विति विन्दति ।
तत्तदेवोऽन्यन्नास्तीति निश्चयोऽस्य च जायते ॥ (४।२१।२२)
धर्मार्थकाममोक्षार्थं प्रयतन्ते सदैव हि ।
मनांसि दृढभिन्नानि प्रतिपत्त्या स्वयैव च ॥ (४।२१।२३)
न निम्बेषु कटुत्वात् शीतोष्णौ नेन्दुपावकौ ।
यद्यथा परमार्थस्तमुपलब्धं तथैव तत् ॥ (४।२१।३१)
दृढाभ्यासो य एवास्य जीवस्योदेत्यविघ्नतः ।
सोऽत्यन्तमसतेनापि तमेवाशु अनुभावति ॥ (६।६३।२४)
मनो विमलसत्त्वात्म यद्भावयति यादृशम् ।
तत्तथाशु भवत्येव यथावर्तो जलेऽम्भसः ॥ (५।१।५४)
जीवो वासनाबलात्तदेवात्मनः प्रपश्यति । (५।१७।३६)
आत्मनैव स्वमात्मानं देहोऽयमिति पश्यति ॥ (६।६३।२३)
यथा वासनया जन्तोर्विषमप्यमृतायते ।
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ (३।६६।३१)
यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति । (६।६१।१३)
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च विद्धि संवेदनं स्वकम् ॥ (६।६१।१४)

दृढ़ भावना युक्त होकर मन जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है उसको उसी आकार में, उतने ही समय तक, और उसी प्रकार का फल देनेवाला अनुभव होता है। यहाँ पर किसी वस्तु को न सत्य कह सकते हैं और न असत्। जिसने जिसको दृढ़ निश्चय के साथ जैसा समझ लिया है उसे वह वैसा ही दिखाई पड़ता है। दृढ अभ्यास के द्वारा जो मनुष्य अपने मन में जिस प्रकार के भाव को स्थिर कर लेता है उसी प्रकार की उसकी वासनायें और क्रिया होने लगती हैं। बड़े शौक से वह उसी प्रकार की क्रियायें करने लगता है, और उनके अनुसार अपनी भावना के अनुरूप फल पाकर उसका आस्वादन करके उसमें बँध जाता है। मनुष्य प्रत्येक वस्तु का रूप अपनी भावना के अनुरूप ही देखता है। क्या क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या नहीं—इस प्रकार का निश्चय भी भावना द्वारा ही होता है। दृढ निश्चय वाले सब अपनी भावना के अनुसार ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं। जैसी भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है वैसा ही अनुभव होने लगता है; स्वयं तो न नीम कड़वा है और न गन्ना मीठा, न आग गरम, और न चन्द्रमा शीतल। जिस विचार का जीव के हृदय में दृढ़ अभ्यास हो जाता है वही विचार—चाहे वह कितना ही दुखदायी क्यों न हो—बार बार उदय होता है और जीव को अपनी ओर खींचता रहता है। शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह वस्तु उसी प्रकार की तुरन्त ही हो जाती है; जैसे जल में भँवर उत्पन्न हो जाता है। जीव अपने भीतर उसी प्रकार की वस्तुओं का अनुभव करता है जैसी वासनाओं से वह बँधा हुआ है। भावना के कारण ही वह अपने आपको शरीर समझने लगता है। वासना के प्रभाव से ही जीव के लिये विष अमृत हो जाता है और असत्य पदार्थ भी सत्य हो जाता है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसका अनुभव होता है। इन्द्रियाँ और उनके विषय सब ही जीव के अपने ख़याल से ही बने हैं।

(८) अभ्यास का महत्व :—

> पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते।
> पुरुषार्थः स एवेह तेनास्ति न विना गतिः॥ (यो०६।७।४३)
> योऽभ्यासः प्रकटस्फारः शुभचित्तमयो ससत्।
> [illegible] [illegible]॥ (यो०६।७।२०)

आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ (६।६७।३०)
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गत्वमभ्येति पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ (६।६७।३१)
दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः ॥ (६।६७।३३)
दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
निजवेदनजेनैव सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ (६।६७।४४)

किसी काम को बार बार करने का नाम अभ्यास है; उसीको पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसके बिना किसी प्रकार की उन्नति नहीं होती। शुद्ध चित् (आत्मा) का उसी प्रकार का आकार दृढ़ हो जाता है जैसे आकार का उसमें अभ्यास होता है—यह बात बालक तक भी जानते हैं। भावना के अभ्यास से सूक्ष्म शरीर, जो कि वास्तव में शुद्ध चिदाकाश (आत्मा) है, आधिभौतिक (स्थूल) भाव को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार आधिभौतिक (स्थूल) देह भी सूक्ष्म धारणा के अभ्यास से पक्षी के समान आकाश में गमन करने लगता है। अभ्यास का इतना महत्व है। बराबर अभ्यास (यत्न) करने से नामुमकिन (असम्भव) भी मुमकिन (सम्भव) हो जाता है; शत्रु मित्र हो जाते हैं; और विष अमृत हो जाता है। यत्न नामवाले अपने ही पुरुषार्थ से, जिसका नाम दृढ़ अभ्यास है, मनुष्य को संसार में कामयाबी होती है; किसी दूसरे साधन से नहीं।

(९) मन के दृढ़ निश्चय की शक्ति :—

न मनोनिश्चयकृतं कश्चिद्रोधयितुं क्षमः ॥ (३।८८।१८)
यो बद्धपदतां यातो जन्तोर्मनसि निश्चयः ।
स तेनैव विना ब्रह्मचान्येन निवार्यते ॥ (३।८८।१९)
बहुकालं यदभ्यस्तं मनसा दृढनिश्चयम् ।
शापेनापि न तस्यास्ति क्षयो नष्टेऽपि देहके ॥ (३।८८।२०)
वीरं मनो भेदयितुं मनागपि न शक्यते । (३।८९।३८)
का नाम ता महाराज कीदृश्यः कस्य शक्तयः ॥ (३।८९।३८)
याभिर्मनांसि भिद्यन्ते दृढनिश्चयवन्त्यपि । (३।८९।३९)

(मन के दृढ़ निश्चय को मिटाने या रोकने की किसी में शक्ति नहीं

है। जिसके मन में जो निश्चय दृढ़ हो गया है उसको उसके सिवाय और कोई नहीं हटा सकता। बहुत समय तक जो बात किसी के मन में गहरे तौर पर बैठ गई है वह शरीर के नष्ट होने पर या शाप द्वारा भी नहीं मन से हटती। दृढ़ निश्चयवाले वीर मनको अपने निश्चय से भंग करने की शक्ति किसी में नहीं है। किसकी ऐसी शक्ति है जो मन को अपने दृढ़ निश्चय से हटा सके ?

(१०) जैसा मन वैसी गति :—

यथा संवित्तथा चित्तं सा तथात्रस्थितिं गता।
परमेण प्रयत्नेन नीयतेऽन्यदशां पुनः ॥ (३।४०।१३)
चित्तायत्तमिदं सर्वं जगत्स्थिरचरात्मकम्।
चित्ताधीनवतो राम बन्धमोक्षावपि स्फुटम् ॥ (३।९८।३)

जैसा जिसका विचार वैसा ही उसका मन, और जैसा मन वैसी ही उसकी स्थिति होती है। उस स्थिति को दूसरी दशा में लाने के लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। जड़ और चेतन समस्त जगत् चित्त के ही आधीन है। हमारा बन्धन और मुक्ति भी चित्त के हाथ में हैं।

(११) दुःख-सुख भी चित्त के आधीन हैं :—

मनःप्रमादाद्वर्धन्ते दुःखानि गिरिकूटवत्।
तद्वशादेव नश्यन्ति सूर्यस्याग्रे हिमं यथा ॥ (३।९९।४३)
सर्वेषु सुखदुःखेषु सर्वासु कलनासु च।
मनः कर्तृ मनो भोक्तृ मानसं विद्धि मानवम् ॥ (३।११५।२४)
मनः कर्मफलं भुङ्क्ते शुभं वाऽशुभमेव वा।
अतश्चित्तं नरं विद्धि भोक्तारं सुखदुःखयोः ॥ (३।११५।३४)
सर्वेषामेव देहानां सुखदुःखार्थभाजनम्।
शरीरं मन एवेह न तु मांसमयं मुने ॥ (४।१३।८)
यस्त्वकृत्रिम आनन्दस्तदर्थं प्रयतैर्नरैः।
मनस्तन्मयतां नेयं येनासौ समवाप्यते ॥ (४।२१।३४)

मन की मूर्खता से दुःख पहाड़ की चोटी की नाईं बढ़ते हैं और मन के द्वारा ही दुःखों का इस प्रकार नाश हो जाता है जैसे कि सूर्य के उदय होने पर पाले का। सब दुःख, सुख और अवस्थाओं का बनाने-वाला और भोगनेवाला मन ही है। मनुष्य मनोमय है अर्थात् जैसा किसी का मन वैसा ही वह मनुष्य होता है। शुभ या अशुभ कर्मों का

करनेवाला मन ही है ; इसलिये सुख-दुःख का भोगनेवाला मनुष्य मन ही है। हाड़ मांस से बना हुआ शरीर सुखदुःखों को भोगनेवाला नहीं है—सब शरीरों में मन ही को सुख या दुःख का अनुभव होता है। जो अलौकिक आनन्द मोक्ष दशा में अनुभव में आता है उसके प्राप्त करने के लिये भी पुरुषार्थी लोग मन की ही साधना करते हैं, क्योंकि उसकी सिद्धि भी मन के शुद्ध होने पर ही हो सकती है।

(१२) जीव की परिस्थितियाँ उसके मन की रची हुई हैं—

इदं चित्तेच्छयोदेति लीयते तदनिच्छया। (४।४९।३३)
दीर्घस्वप्नं तथैवेदं विद्धि चित्तोपपादितम् ॥ (४।४९।२४)
या येन वासना यत्र सतेवारोपिता यथा।
सा तेन फलभूस्तत्र तदेव प्राप्यते तथा ॥ (३।९३।१०)
स्वेनैव चित्तरूपेण कर्मणा फलधर्मिणा।
संकल्पैकशरीरेण नानाविस्तरशालिना ॥ (३।९६।८)
इदं ततमनेकात्म मायामयमकारणम्।
विश्वं विगतविन्यासं वासनाकल्पनाकुलम् ॥ (३।९६।९)

यह हमारा दृश्य जगत् चित्त की इच्छाओं द्वारा निर्मित है और इच्छाओं के न रहने पर लीन हो जाता है। चित्त द्वारा रचा हुआ यह एक महान् स्वप्न है। जहाँ पर जिसने जैसी इच्छा दृढ़ कर ली है वहीं पर वह उसी प्रकार से फल देती है। यह नाना प्रकार के अनगिन पदार्थोंवाला और तत्त्वरहित संसार वासना के अनुसार नाना प्रकार के विस्तार को धारण करनेवाले और फल प्राप्त करनेवाले संकल्पात्मक मन के कर्म द्वारा रचा हुआ है।

(१३) शरीर भी मन का ही बनाया हुआ है :—

मनसेदं शरीरं हि वासनार्थं प्रकल्पितम्।
कृमिकोशप्रकारेण स्वात्मकोश इव स्वयम् ॥ (४।४९।७)
करोति देहं संकल्पात्कुंभकारो घटं यथा ॥ (४।११।१९)
योऽयं मांसास्थिसंघातो दृश्यते पाञ्चभौतिकः।
मनोविकल्पनं विद्धि न देहः परमार्थतः ॥ (४।१३।९)
स्वप्नसंकल्पनाटेन यथान्यैव जगत्स्थितिः।
तथैवेयं हि संकल्पकल्पना कल्पितेव हि ॥ (३।२८।३०)

प्राक्प्रवाहचिराभ्यस्तो वासनातिशयेन यः ।
तथैव दृश्यते देहस्तथाऽऽकृत्युदयेन सः ॥ (३।२८।३४)
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः ।
देहभावनयाऽयुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते ॥ (३।८९।३)
यन्मयं हि मनो राम देहस्तदनु तद्वशः ।
तत्तामायाति गन्धान्तः पवनो गन्धतामिव ॥ (४।२१।१६)

जैसे रेशम का कीड़ा अपने रहने के लिये अपने आप ही अपना कोश तैयार कर लेता है वैसे ही मन ने भी यह शरीर अपनी वासनाओं की पूर्त्ति करने के लिये बनाया है। मन शरीर को अपने सङ्कल्पों द्वारा इस प्रकार बनाता है जैसे कि कुम्हार घड़े को। यह जो हड्डी और मांस का पंचभूतों से बना हुआ पुतला दिखाई पड़ता है वह शरीर नहीं है बल्कि मन की कल्पना द्वारा की हुई एक रचना है। जैसे स्वप्न-जगत् में सब पदार्थ संकल्प द्वारा रचे जाते हैं वैसे ही इस जाग्रत् अवस्था के जगत् में भी सब वस्तुएँ (शरीर भी) संकल्प द्वारा बनाई जाती हैं। यह शरीर क्या है—केवल पूर्व काल की, अभ्यास द्वारा दृढ़ हुई, वासनाओं की एक आकारवाली मूर्त्ति। देहभावना से मनको देहत्व का अनुभव होता है और देहभावना से स्वतन्त्र हो जाने पर देह के धर्मों का मन को अनुभव नहीं होता। अर्थात् जब तक हम अपने आप को भौतिक शरीर मानते हैं तब तक हमको शरीर के धर्मों का अनुभव होता है; किन्तु जब हम शरीर भाव से ऊँचे चढ़ कर अपने को मन और आत्मा समझने लगते हैं तब हम शरीर के धर्मों से मुक्त हो जाते हैं; उस समय हमें शरीर के सुखदुःखों का अनुभव नहीं होता; और इस प्रकार की भावना के धीरे-धीरे परिपक्व हो जाने पर हम भौतिक शरीर नहीं धारण करते। जैसे जिस प्रकार की गन्ध हवा में छोड़ दी जाती है हवा उसी प्रकार की गन्धवाली हो जाती है; इसी प्रकार जैसे विचार किसी के मन में होते हैं उसका शरीर उसी प्रकार का आकार धारण करता रहता है।

(१४) मानसी चिकित्सा :—

शरीर मन का बनाया हुआ है और मन द्वारा ही इसकी वृद्धि और तबदीली होती रहती है। शरीर के सब रोग विचार और जीवन की अशुद्धि के कारण होते हैं। उनके दूर करने का सबसे उत्तम उपाय

विचारों और जीवन को शुद्ध करना है। जब मन शुद्ध और पवित्र होता है और वासना उच्च कोटि की होती है तब शरीर निरोग और सुन्दर रहता है। ये सब विचार आजकल के समय में "क्रिश्चियन साइंस" के नाम से पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचलित होते जा रहे हैं और बहुत ही नवीन और महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, किन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार के विचार सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थे। योगवासिष्ठ इस प्रकार के विचारों की अनुपम निधि है। इसलिये यहाँ पर वसिष्ठ जीके मानसी चिकित्सा सम्बन्धी कुछ विचारों को उद्धृत किया जाता है :—

(अ) आधि और व्याधि :—

आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम् ।
तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्तत्क्षयो मोक्ष उच्यते ॥ (६।८१।१२)
देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम् ।
मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ॥ (६।८१।१४)
इदं प्राप्तमिदं नेति जाड्याद्वा घनमोहदाः ।
आधयः सम्प्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव ॥ (६।८१।१६)
भृशं स्फुरन्तीष्विच्छासु मौर्ख्ये चेतस्यनिर्जिते ।
दुरान्नाभ्यवहारेण दुर्देशाक्रमणेन च ॥ (६।८१।१७)
दुष्कालव्यवहारेण दुष्क्रियास्फुरणेन च ।
दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च ॥ (६।८१।१८)
क्षीणत्वाद्वा प्रपूर्णत्वान्नाडीनां रन्ध्रसंततौ ।
प्राणे विधुरतां याते काये तु विकलीकृते ॥ (६।८१।१९)
दौस्थित्यकारणं दोषाद्व्याधिर्देहे प्रवर्तते ॥ (६।८१।२०)

दुःख के दो कारण हैं—एक आधियाँ और दूसरी व्याधियाँ। उनके दूर होने से सुख होता है और ज्ञानद्वारा उनकी सम्भावना दूर होने का नाम मोक्ष है। शरीर के दुःखों का नाम व्याधि है और मानसिक दुःखों का नाम आधि है। दोनों मूर्खता से उत्पन्न होती हैं और तत्वज्ञान से दोनों का क्षय हो जाता है। गहरे मोह में डालने वाले मानसिक रोग अज्ञान से और "यह वस्तु मुझे प्राप्त हो गई है यह नहीं हुई है" इस प्रकार के मानसिक विचारों से ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे वर्षा ऋतु में मेंह बरसता है। देह के रोगों की उत्पत्ति इस प्रकार होती है:—

जब कि अज्ञान के कारण मनुष्य का मन उसके बस में नहीं होता और उसमें नाना प्रकार की तीव्र वासनायें उठती हैं, तो मनुष्य उनको पूरा करने के वास्ते अखाद्य द्रव्यों को खाने लगता है, अगम्य (बुरे) स्थानों में जाने लगता है, अनुचित समय पर और अनुचित तरह के काम करने लगता है, दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में बैठने लगता है, और अपने मन में खोटे भावों को स्थान देने लगता है। ऐसा होने पर उसकी नाडियाँ ठीक-ठीक प्रकार से काम करना छोड़ देती हैं। कुछ नाड़ियों की शक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ अधिक शक्तिवाली हो जाती हैं जिससे उनके द्वारा जीवन शक्ति (प्राण) का शरीर के भीतर समान बहाव नहीं रहता और प्राण शक्ति के संचार में उचित संगठन का ह्रास हो जाता है। ऐसा होने से शरीर की स्थिति डावाँडोल हो जाती है, और उसमें नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होकर दुःख देने वाले अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(आ) आधि से व्याधि की उत्पत्ति :—

चित्ते विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम्। (६।८१।३०)
संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः॥ (६।८१।३२)
असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम्। (६।८१।३३)
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम्॥ (६।८१।३४)
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा।
दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसञ्चारदुष्क्रमात्॥ (६।८१।३५)
तथान्नानि नयत्यन्तः प्राणवातः स्वमाश्रयम्। (६।८१।३६)
यान्यन्नानि निरोधेन तिष्ठन्त्यन्तः शरीरके॥ (६।८१।३७)
तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः। (६।८१।३७)
एवमाधेर्भवेद्व्याधिस्तस्याभावाच्च नश्यति॥ (६।८१।३८)

चित्त में गड़बड़ होने से अवश्य ही शरीर में गड़बड़ होती है। शरीर में जब संक्षोभ होता है तो प्राणों के प्रसार में विषमता आ जाती है और प्राणों की गति में विकार होने से नाड़ियों के परस्पर सम्बन्ध में खराबी उत्पन्न हो जाती है। कुछ नाड़ियाँ तो शक्ति से अधिक पूर्ण हो जाती हैं और कुछ खाली हो जाती हैं। प्राणों की गति में खराबी पैदा होने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता—कभी अन्न अच्छी तरह नहीं पचता, कभी कम पचता है और कभी अधिक पचता है। प्राणों

के यन्त्र में अन्न पहुँच कर वहाँ पर जमा होकर और सड़ कर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने लगता है। इस प्रकार मानसिक रोगों से शरीर के रोगों की उत्पत्ति होती है और उनके नाश होने पर इनका भी नाश हो जाता है।

(इ) आधि के क्षय होने पर व्याधि का क्षय :—

आधिक्षयेणाधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम्। (६।८१।२४)
शुद्धया पुण्यया साधो क्रियया साधुसेवया॥ (६।८१।४०)
मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव काञ्चनम्। (६।८१।४०)
आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव॥ (६।८१।४१)
सत्त्वशुद्ध्या वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः।
जरयन्ति तथान्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति॥ (६।८१।४२)
तन्मयं हि मनो राम देहस्तदनु तद्वशः।
तत्तामायाति गन्धान्तः पवनो गन्धतामिव॥ (४।२१।१६)

आधियों (मानसिक रोगों) के क्षीण हो जाने पर उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ (शारीरिक रोग) भी मिट जाते हैं। शुद्ध और शुभ कर्मों के करने से और सज्जनों के सङ्ग से मन इस प्रकार निर्मल हो जाता है जैसे कि सान पर चढ़ाने से सोना और चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द (निरोगता) का संचार होने लगता है। जीवन के शुद्ध होने पर प्राणों की गति ठीक-ठीक रीति से होने लगती है और शरीर में अन्न का पाचन ठीक-ठीक होने लगता है, जिससे कि शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। मन के जैसे विचार होते हैं देह उन्हीं के अनुसार चलती है और उसी प्रकार की हो जाती है जैसे हवा वैसी ही हो जाती है जैसी गन्ध उसमें छोड़ दी जाए।

(ई) मन्त्र चिकित्सा :—

मन्त्रों के अक्षरों में भी उसी प्रकार शरीर पर असर करने की शक्ति है जैसे कि दवाइयों में। किन्तु मन्त्रों का प्रभाव भावना द्वारा होता है।

यथा विरेकं कुर्वन्ति हरीतक्यः स्वभावतः।
भावनावशतः कार्ये तथा वर्णावलीरयः॥ (६।८१।३९)

जैसे हरीतकी (हर्र) का स्वभाव ऐसा है कि उसके खाने से शरीर में दस्त लग जाते हैं वैसे ही भावना (दृढ़ विश्वास) द्वारा मन्त्रों के अक्षर (य र ल व आदि) भी शरीर पर असर करते हैं।

(उ) मूल आधि :—

द्विविधो व्याधिरस्तीति सामान्यः सार एव च।
व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥ (६।८१।२३)
प्राप्तेनाभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः। (६।८१।२४)
आत्मज्ञानं विना सारो नाधिर्नश्यति राघव ॥ (६।८१।२५)
आधिव्याधिविलासानां राम साराधिसंक्षयः।
सर्वेषां मूलहा प्रावृण्णदीव तटवीरुधाम् ॥ (६।८१।२६)

रोग दो प्रकार के होते हैं—एक सामान्य और दूसरा मूल। सामान्य रोग उनको कहते हैं जो कि लौकिक जीवन में दिखाई पड़ते हैं। संसार में जन्म लेना मूल रोग है (क्योंकि जब तक जीव संसार में जन्म लेता रहेगा तब तक तो उसे कभी न कभी कोई न कोई रोग लगेगा ही। रोगों से पूरी निवृत्ति जन्म-मरण के चक्कर से बिल्कुल ही छूट जाने पर होती है) लौकिक रोगों की शान्ति तो यथोचित वस्तु प्राप्त हो जाने पर हो जाती है, किन्तु जो मूल रोग है, उसकी शान्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं होती। जीवन की सब आधियाँ (मानसिक रोग) और व्याधियाँ (शारीरिक रोग) मूल आधि (अज्ञान) के नाश होने पर ऐसे नष्ट हो जाती हैं जैसे कि नदी के किनारे उत्पन्न होनेवाली बेलें वर्षा ऋतु में नदी की बाढ़ से नष्ट हो जाती हैं।

(ऊ) जीवनको सुखी और निरोग रखनेका उपाय :—

मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः।
देहभावनयाऽयुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते ॥ (३।८९।३)
न मनोनिश्चयकृतं कश्चिद्रोधयितुं क्षमः ॥ (३।८८।१८)
यन्मनोनिश्चयकृतं तद्द्रव्यौषधिदण्डनैः। (३।९१।४)
हन्तुं न शक्यते जन्तोः प्रतिबिम्बमणेरिव ॥ (३।९१।५)
पौरुषं स्वमवष्टभ्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम्।
यदि तिष्ठत्यसौ दुःखानां तदनिन्दितः ॥ (३।९२।१४)
आधयो व्याधयश्चैव शापाः पापदृशस्तथा।
न खण्डयन्ति तच्चित्तं पद्मवाताः शिलामिव ॥ (३।९२।२५)
भावाभावमयीं चिन्तामीहितानीहितान्विताम्।
विमृश्यात्मनि तिष्ठामि चिरं जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१०)

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ।
इति चिन्ता न मे तेन चिरं जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१२)

प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम् ।
मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१६)

किमद्य मम सम्पन्नं प्रातर्वा भविता पुनः ।
इति चिन्ताज्वरो नास्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१८)

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१९)

अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यतः ।
इति ब्रह्मन्न जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२०)

आहरन्विहरन्तिष्ठन्नुत्तिष्ठन्नुच्छ्वसन्स्वपन् ।
देहोऽहमिति नो वेद्मि तेनास्मि चिरजीवितः ॥ (६।२६।२२)

अपरिक्षतया शक्त्या सुदृशा स्निग्धमुग्धया ।
ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२५)

यत्करोमि यदश्नामि तत्त्यक्त्वा तद्गतोऽपि मे ।
मनो नैष्कर्म्यमाधत्ते तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२७)

करोमीशोऽपि नाक्रान्तिं परितापे न खेदवान् ।
दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२९)

जीर्णं भिन्नं श्लथं क्षीणं क्षुब्धं क्षुण्णं क्षयं गतम् ।
पश्यामि नववत्सर्वं तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।३३)

सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जी[illegible]नामयः ॥ (६।२६।३४)

आपद्यचलधीरोऽस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
भावाभावेषु नैवास्मि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।३९)

मैं शरीर हूँ इस प्रकार की भावना से जीव शरीर के धर्मों का अनुभव करता है, और इस भावना से रहित होने पर जीव को शरीर के गुणों का अपने में अनुभव नहीं होता[illegible] मन जिस बात का दृढ़ निश्चय कर लेता है वही होती है—उसे टाल[illegible] वाला और कोई नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब, मणि पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब किसी साधन से नहीं मिट सकता उसी प्रकार मनने जो अपने लिये निश्चित कर लिया है वह भाव, द्रव्य, औषधि और दण्ड आदि किसी अन्य साधन से

नहीं दूर किया जा सकता। (मन के निश्चय का इतना महत्व है—इसलिये) यदि कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अटल धैर्य को धारण करके स्थिर रहे तो उसके पास दुःख नहीं फटक सकते। ऐसे पुरुष के मन को आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शरीर के रोग) शाप और कुदृष्टि (बुरी नज़र) आदि कुछ भी इस प्रकार हानि नहीं पहुंचा सकता जैसे कमल दंड से पीटने से पर्वत को कुछ नहीं होता। (वसिष्ठ जी ने जब काकभुशुण्डि मुनि से यह पूछा कि आप इतने दीर्घ काल से इतने निरोगी और युवा कैसे बने रहते हैं तो उन्होंने जो उत्तर दिया वह यह है :—) मैं सदा निरोगी इस वजह से रहता हूँ कि—इष्ट और अनिष्ट के होने और न होने की चिन्ता को त्याग कर मैं आत्म-भाव में स्थित रहता हूं; आज मैंने इस वस्तु को प्राप्त कर लिया, कल उस सुन्दर वस्तु को प्राप्त करूँगा – इस प्रकार की चिन्ता मुझे नहीं होती; मेरा मन चपलता और शोक से रहित शान्त और समाहित (स्थिर) है; आज मुझे क्या प्राप्त हुआ है और कल क्या होगा इस प्रकार की चिन्ता के ज्वर से मैं पीड़ित नहीं हूँ; बुढ़ापे और मौत के दुःख से मुझे डर नहीं है, और राज्य आदि के सुख मिलने से मुझे कोई खुशी नहीं होती; यह बन्धु है, यह शत्रु है, यह मेरा है, यह दूसरे का—इस प्रकार का भेद भाव मेरे मन में नहीं है; आहार-विहार में उठते-बैठते, साँस लेते और सोते—किसी समय भी मुझे यह ख्याल नहीं होता कि मैं देह हूं; अपने स्वरूप से, विचलित न होने वाली शक्ति तथा मधुर और प्रेमयुक्त दृष्टि से युक्त होकर मैं सबको समता से देखता हूँ; जो कुछ मैं करता हूँ अथवा जिस वस्तु का मैं भोग करता हूँ उस-उसमें से अभिमान त्याग कर सब कुछ करता हुआ भी मैं मन में निष्क्रिय ही रहता हूँ; मैं समर्थ होने पर भी किसी पर आक्रमण नहीं करता, दूसरों से दुःख दिये जाने पर भी मैं खिन्न नहीं होता, धनहीन होने पर भी मैं किसी से कुछ पाने की इच्छा नहीं करता; जीर्ण, टूटी हुई, शिथिल अङ्गवाली, क्षीण, क्षोभयुक्त, संचूर्णित और नष्टप्राय वस्तुओं में भी मुझे नवीनता का आनन्द आता है; दूसरों को सुखी देखकर मैं सुखी होता हूँ, दुःखी देखकर दुःखी होता हूँ, और सब का मैं प्रिय मित्र हूँ; आपत्ति आने पर मैं अचल और धैर्ययुक्त रहता हूँ, और सम्पत्ति की दशा में सारे जगत् के साथ मित्रता का व्यवहार करता हूँ; भाव और अभाव में मैं सर्वदा एक समान रहता हूँ।

(१९) मन के शान्त और महान् होनेपर ही सब ओर आनन्द का अनुभव होता है :—

मनः सर्वमिदं राम तस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते ।
चिकित्सितो वै सकलो जगज्जालमयो भवेत् ॥ (४।४।९)
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् । (४।२९।३३)
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावादाहमयं जगत् ॥ (४।९६।३४)
न तत्त्रिभुवनैश्वर्यान्न कोशाद्रत्नधारिणः ।
फलमासाद्यते चित्ताद्यन्महत्त्वोपबृंहितात् ॥ (९।२१।१२)
पूर्णे मनसि सम्पूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥ (५।२१।१४)

मन सब कुछ है, मन की अपने भीतर ही चिकित्सा करने से सारा संसार ठीक हो जाता है। अपने भीतर ही यदि शान्ति प्राप्त हो गई, तो सारा संसार शान्त दिखाई पड़ने लगता है। जो अपने भीतर ही तृष्णा की आग से जल रहा हो उसके लिये सारे संसार में आग सी लगी रहती है। चित्त को महान् बनाने से जो फल प्राप्त होता है वह न तीनों लोक (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) के ऊपर राज्य करने से, न रत्नों से भरे हुए खजाने के मिलने से होता है। मन के पूर्ण होनेपर सारा संसार अमृत से भरपूर दिखाई पड़ता है, जैसे कि जूता पहने हुए पुरुष के लिये समस्त पृथ्वी चमड़े से ढकी हुई सी प्रतीत होती है।

(१६) शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है :—

सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथात्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ (९।७१।३९)
आकाशोपलकुड्यादौ सर्वत्रात्मदशा स्थिता ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे चित्त एवात्र दृश्यते ॥ (९।७१।३६)
चित्तं वृत्तिविहीनं ते यदा यातमचित्तताम् ।
तदा मोक्षमयीमन्तः सत्तामाप्नोषि तां तताम् ॥ (९।२१।२६)

यद्यपि आकाश सब जगह मौजूद है तो भी उसका प्रतिबिम्ब केवल शीशे में ही पड़ता है। ऐसे ही यद्यपि आत्मा सब जगह वर्त्तमान है तो भी उसका दर्शन केवल मन के भीतर ही होता है। आत्मा

यद्यपि आकाश पत्थर और दीवार आदि सब ही वस्तुओं में वर्त्तमान है, तोभी जैसे केवल शीशे में ही वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, आत्मा का दर्शन केवल चित्त में ही होता है। जब चित्त वृत्तिहीन होकर चित्तभाव को त्याग देता है, तब अपने भीतर विस्तृत आकारवाली मोक्षमयी आत्मसत्ता का अनुभव करता है।

(१७) जबतक मन में अज्ञान है तभीतक जीव संसाररूपी अन्धकार में पड़ा रहता है :—

जडधर्मि मनो यावद्गर्तकच्छपवत्स्थितम्।
भोगमार्गवदामूढं विस्मृतात्मविचारणम् ॥ (६।६।२७)
तावत्संसारतिमिरं सेन्दुनापि सवह्निना।
अर्कद्वादशकेनापि मनागपि न भिद्यते ॥ (६।६।२८)

गड्ढे के कछुवे के समान जबतक अज्ञानी मन आत्मा को भूलकर मूर्खतावश भोगों के मार्ग पर चलता रहता है तबतक संसाररूपी अन्धेरा किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकता, चाहे आग और चन्द्रमा-सहित बारहों सूर्य भी अपना प्रकाश कर लें।

(१८) मन जगत्रूपी पहिये की नाभि है :—

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव।
चित्तं विद्धि महानाभि भ्रमतो भ्रमदायिनः ॥ (६।६०।६)
तस्मिन् द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः।
गृहीतनाभिवद्गनाम्मायाचक्रं निरुध्यते ॥ (६।६०।७)

इस भ्रम पैदा करनेवाले, घूमनेवाले, संसाररूपी मायाचक्र की नाभि चित्त है। इस नाभि को बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा जोर से पकड़कर रोक लेने से मायाचक्र की गति रुक जाती है।

११—सिद्धियाँ

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार मनुष्य के भीतर अनन्त और अद्भुत शक्ति वर्तमान है—केवल उसके उपयोग करने की ही कमी है। प्रायः हम अपनी शक्ति का उपयोग बिना जाने ही करते हैं। यदि जानकर और समझ-बूझकर हम अपनी ईश्वरीय शक्ति का उपयोग करें तो जो चाहें सो प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य का मन शक्ति का भण्डार है—क्योंकि वह ब्रह्म का ही एक आकार है। मन को जितना शुद्ध किया जाए वह उतना ही बलवान् और शक्तिशाली होता चला जाता है। मन के अतिरिक्त मनुष्य के शरीर में भी शक्ति का एक महान् केन्द्र है जिसमें जीव की अनन्त और अद्भुत शक्ति सोती रहती है। यदि योगमार्ग द्वारा उस शक्ति को-जिसको योगशास्त्रों में कुंडलिनी के नाम से पुकारा गया है—जगा दिया जाए तो मनुष्य को अनेक प्रकार की योग्यताएँ, जो कि साधारण मनुष्य को प्राप्त नहीं हैं, प्राप्त हो जाती हैं। उस महान् शक्ति के उपयोग से मनुष्य मन चाही बातें कर सकता है। ऐसी शक्तियों को प्राप्त कर लेने को, जो कि साधारणता से लोगों को प्राप्त नहीं हैं, सिद्धि कहते हैं। योग में आठ प्रकार की सिद्धियाँ मानी जाती हैं। उनके नाम ये हैं :—अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व। 'अणिमा' वह सिद्धि है जिसके द्वारा योगी इच्छा करने पर अपने स्थूल शरीर को सूक्ष्म से सूक्ष्म बना लेता है। 'लघिमा' उस सिद्धि को कहते हैं जिसके द्वारा योगी अपने शरीर को इतना हल्का बना लेता है कि वह आकाश-मार्ग से जहाँ चाहे जा सके। 'महिमा' वह सिद्धि है जिसके द्वारा योगी अपने शरीर को चाहे जितना बड़ा बना सके। 'गरिमा' द्वारा योगी अपने शरीर को जितना चाहे भारी बना सकता है। 'प्राप्ति' वह सिद्धि कहलाती है जिसके द्वारा योगी इच्छानुसार किसी भी अन्य लोक में जा सके। 'प्राकाम्य' सिद्धि द्वारा योगी जिस पदार्थ की इच्छा करे उसे ही प्राप्त कर लेता है। 'वशित्व' द्वारा योगी के वश में संसार की सब ही वस्तुएँ हो जाती हैं, और वह स्वयं किसी के बस में नहीं रहता। 'ईशित्व' वह सिद्धि है जिसके प्राप्त कर लेने पर

योगी में सब कुछ उत्पन्न और नाश करने की शक्ति आ जाती है। वह चाहे तो नवीन सृष्टि की उत्पत्ति कर सकता है। इनके अतिरिक्त पातञ्जल योगदर्शन में और बहुतसी सिद्धियों का वर्णन है और उनकी प्राप्ति के साधन भी बतलाये गये हैं—जिनमें से कुछ ये हैं:—सब प्राणियों की वाणी समझने की सिद्धि, पूर्वजन्म का ज्ञान, दूसरों के चित्त का ज्ञान, अदृश्य हो जाने की शक्ति, मृत्यु का ज्ञान, अपार बल की प्राप्ति, सूक्ष्म, गुप्त और दूर के पदार्थों का ज्ञान, दूसरे स्थूल और सूक्ष्म लोकों का ज्ञान, तारों की चाल का ज्ञान, अपने शरीर के भीतर के अङ्गों का ज्ञान, भूख और प्यास से निवृत्ति, स्थिरता, सिद्धों का दर्शन, सर्वज्ञता, अपने चित्त का पूर्ण ज्ञान, आत्मज्ञान, दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति, मृत्यु और शारीरिक दुःख पर विजय, दूर की वस्तुओं को इन्द्रियों द्वारा देखना, सुनना और स्पर्श करना, इन्द्रियोंपर विजय, और त्रिकाल दर्शन। यहाँपर योगवाशिष्ठ में वर्णन की हुई सिद्धियों का उल्लेख किया जाता है। योगवासिष्ठ में सिद्धियों के प्राप्त करने के दो विशेष मार्ग हैं। एक मन की शुद्धि और दूसरा कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन। प्रथम हम मन की शुद्धि द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमें से कुछ का वर्णन यहाँपर करते हैं।

(१) मन की शुद्धि द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ :—

मनो निर्मलसत्त्वात्म यद्भावयति यादृशम्।
तत्तथाशु भवत्येव यथाऽवर्तो भवेत्पयः ॥ (४।१७।४)

शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह अवश्य ही जल्द ही वैसी ही हो जाती है—जैसे जल भँवर का रूप धारण कर लेता है।

(अ) दूसरों के मन का ज्ञान :—

मलिनं हि मनोऽवीर्यं न मिथः श्लेषमर्हति।
अयोऽयसि च संतप्ते शुद्धे तप्तं तु लीयते ॥ (४।१७।२९)
चित्ततत्त्वानि शुद्धानि सम्मिलन्ति परस्परम्।
एकरूपाणि तोयानि यान्त्यैक्यं नाविलानि हि ॥ (४।१७।३०)

अशुद्ध मन शक्तिहीन होता है। वह दूसरे मन के साथ सङ्गम करने में अशक्त होता है। शुद्ध और गरम किया हुआ लोहा ही दूसरे शुद्ध और तप्त लोहे में मिल सकता है। जैसे समान रूपवाले जल

ही आपस में मिलकर एक होते हैं उसी प्रकार शुद्ध मनों में ही परस्पर एकता हो सकती है।

(आ) सूक्ष्म लोकों में प्रवेश करने की सिद्धि :—

अप्रबुद्धधियः सिद्धलोकान्पुण्यवशोदितान्।
न समर्थाः स्वदेहेन प्राप्तुं छाया इवातपान्॥ (३।९३।२९)
अतो ज्ञानविवेकेन पुण्येनाथ वरेण च।
पुण्यदेहेन गच्छन्ति परं लोकमनेन तु॥ (३।९३।३४)
तस्माद्ये वेद्यवेत्तारो ये वा धर्मं परं श्रिताः।
आतिवाहिकलोकांस्ते प्राप्नुवन्तीह नेतरे॥ (३।९४।१)
आतिवाहिकतां यातं बुद्धं चित्तान्तरैर्मनः।
सर्गजन्मान्तरगतैः सिद्धैर्मिलति नेतरत्॥ (३।२२।१०)
आतिवाहिकताज्ञानं स्थितिमेष्यति शाश्वतीम्।
यदा तदाऽसंकल्पांल्लोकान्द्रक्ष्यसि पावनान्॥ (३।१२।२२)

जैसे छाया का धूप में प्रवेश नहीं हो सकता, वैसे ही वे लोग जिनकी बुद्धि में जागृति नहीं हुई, पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्त होनेवाले सिद्ध लोकों में अपने शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकते। दूसरे लोक में प्रवेश पवित्र शरीर, ज्ञान और विवेक, पवित्र कर्म अथवा वर द्वारा होता है। इसलिये आतिवाहिक (सूक्ष्म) लोकों में उन्हीं लोगों का प्रवेश होता है जो या तो ज्ञानी (अर्थात् जो जानने योग्य सब तत्त्वों को जानते हैं) हों या जिनका जीवन पूर्णतया धार्मिक हो। जो जीव प्रबुद्ध होकर सूक्ष्म भाव को प्राप्त हो चुके हैं वे ही उन दूसरे जीवों से मिल सकते हैं जो कि सिद्ध होकर दूसरे लोकों में जन्म ले चुके हैं। जब सूक्ष्मतत्त्वों का ज्ञान पूर्णतया स्थिर हो जाता है, तब मनुष्य को संकल्प रहित पवित्र सिद्ध लोकों का दर्शन होता है।

(इ) आधिभौतिकता की भावना के कारण जीव को सूक्ष्म लोकों का दर्शन नहीं होता :—

आधिभौतिकदेहोऽयमिति यस्य मतिभ्रमः।
तस्यासावणुरन्ध्रेण गन्तुं शक्नोति नानघ॥ (३।४०।८)
अहं पृथ्व्यादिदेहः खे गतिर्नास्ति ममोत्तमा।
इति निश्चयवान्योऽन्तः कथं स्यात्सोऽन्यनिश्चयः॥ (३।९३।२२)
यत्र स्वसंकल्पपुरं स्वदेहेन न लभ्यते।

तत्रान्यसंकल्पपुरं देहोऽन्यो लभते कथम् ॥ (३।२१।४३)

जिसके मन में यह भ्रम दृढ़ हो गया है कि मैं आधिभौतिक (स्थूल) शरीर हूँ वह भला सूक्ष्म मार्ग द्वारा दूसरे लोकों में कैसे जा सकता है? जिसके मन में इस प्रकार की भावना दृढ़ हो गई है कि मैं भौतिक शरीर हूँ और मेरा गमन आकाश द्वारा नहीं हो सकता, उसको भला यह कैसे विश्वास हो सकता है कि वह सूक्ष्म देह है और वह आकाश-मार्ग द्वारा जा सकता है? जब कि मनुष्य अपने ही सङ्कल्प-जगत् में अपने स्थूल शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकता तो भला दूसरों के सङ्कल्प-जगत् में उसका प्रवेश स्थूल शरीर द्वारा कैसे हो सकता है?

(ई) सूक्ष्म भाव ग्रहण करने की युक्ति :—

तस्यैवाभ्यसतोऽप्येति साधिभौतिकतामतिः।
यदा शाम्यति सैवास्या तदा पूर्वा प्रवर्तते ॥ (३।९७।३०)
तदा गुरुत्वं काठिन्यमिति यश्च मुधाग्रहः।
शाम्येत्स्वप्ननरस्यैव बोद्धुर्बोधान्निरामयात् ॥ (३।९७।३१)
लघुतूलसमापत्तिस्ततः समुपजायते।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानादिव देहस्य योगिनः ॥ (३।९७।३२)
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानाद्यथा देहो लघुर्भवेत्।
तथा बोधादयं देहः स्थूलवत्प्लुतिमान्भवेत् ॥ (३।९७।३३)
रूढातिवाहिकदृशः प्रशाम्यत्याधिभौतिकः।
बुधस्य दृश्यमानोऽपि शरन्मेघ इवाम्बरे ॥ (३।९८।१४)
सद्वासनस्य रूढायामातिवाहिकसंविदि।
देहो विस्मृतिमायाति गर्भसंस्थेव यौवने ॥ (३।९८।१६)
वासनातानवं नूनं यदा ते स्थितिमेष्यति।
तदातिवाहिको भावः पुनरेष्यति देहके ॥ (३।२१।५६)
यथा सत्यपरिज्ञानाद्रज्ज्वां सर्पो न दृश्यते।
तथातिवाहिकज्ञानाद्दृश्यते नाधिभौतिकः ॥ (३।२१।६०)
स्वप्नसंकल्पदेहान्ते देहोऽयं चेत्यते यथा।
तथा जाग्रद्भावनान्ते उदेत्येवातिवाहिकः ॥ (३।२२।३)
शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम्।
आतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाम्बुताम् ॥ (३।२२।९)

अवबोधघनाभ्यासादेहस्यास्यैव जायते ।
संसारवासनाकार्श्ये नूनं चित्तशरीरता ॥ (३।२२।१७)

आधिभौतिक (स्थूल) भावना के त्याग देने पर आतिवाहिक (सूक्ष्म) भावना का उदय होता है। तब भारीपन और कड़ेपन का झूठा विश्वास इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे कि स्वप्न से अच्छी तरह जाग जाने पर स्वप्न की वस्तुओं की स्थूल भावना का अन्त हो जाता है। हलकेपन और सूक्ष्मता की भावना का तब योगी में ऐसे उदय हो जाता है जैसे स्वप्न में यह जान लेने पर कि यह स्वप्न है। जैसे स्वप्न को स्वप्न समझ लेने पर शरीर सूक्ष्म मालूम पड़ने लगता है वैसे ज्ञान प्राप्त होने पर स्थूल शरीर भी हलका मालूम पड़ने लगता है। जिस ज्ञानी के हृदय में सूक्ष्मभावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है उसके लिये आधिभौतिक (स्थूल) भावना का ऐसे अन्त हो जाता है जैसे सरदी के मौसम का बादल देखते-देखते नष्ट हो जाता है। जैसे गर्भ की अवस्था की यौवन काल में याद नहीं रहती उसी प्रकार जिसके मन में यह भावना दृढ हो गई है कि मैं सूक्ष्म हूँ वह अपने स्थूल भाव (स्थूल शरीर) को बिल्कुल भूल जाता है। वासनाओं के क्षीण होने पर अवश्य ही शरीर में सूक्ष्मभाव का उदय हो जाता है। जैसे यह जान लेने पर कि वास्तव में यह रस्सी है सर्प नहीं है, सर्प दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही यह जान लेने पर कि हमारा शरीर वास्तव में सूक्ष्म है स्थूल शरीर का अनुभव नहीं रहता। जैसे स्वप्न में अनुभव में आने वाले कल्पना के शरीर की भावना का अन्त होते ही जागने पर स्थूल शरीर की भावना का उदय हो जाता है, वैसे ही जाग्रत् भावना के अन्त होने पर स्थूल शरीर की भावना का नाश हो जाता है। जैसे गर्मी पाकर बर्फ़ पानी हो जाता है, वैसे ही सूक्ष्म वासनाओंवाला और शुद्ध भाव को प्राप्त हुआ मन भी सूक्ष्म हो जाता है। (संसार के पदार्थों की वासनाओं के कम हो जाने पर ज्ञान और अभ्यास द्वारा स्थूल शरीर में ही सूक्ष्म शरीर के अनुभव का उदय हो जाता है।)

(उ) ज्ञान द्वारा स्थूल भावना की निवृत्ति :—

असत्यमेव संकल्पभ्रमेणेदं शरीरकम् ।
जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिवोद्गतम् ॥ (३/२।८२।१७)
यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः ।
संकल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥ (३/२।८२।१८)

शान्तिमायाति देहोऽयं सर्वसङ्कल्पसंक्षयात् ।
तदा राघव निःशेषं दीपस्तैलक्षये यथा ॥ (६।८२।१९)
निद्राव्यपगमे जन्तुर्यथा स्वप्नं न पश्यति ।
जीवो हि भाविते सत्ये तथा देहं न पश्यति ॥ (६।८२।२०)
असत्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः ।
निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात् ॥ (६।८२।२१)
सत्यभावनदृष्टोऽयं देहो देहो भवत्यलम् ।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥ (६।८२।२७)

जैसे बालकको भूत दिखाई पड़ता है, वैसे ही मूर्ख जीवको भी शरीर न होते हुए भी संकल्पके भ्रमसे यह स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है। जब ज्ञान के दीपकसे चारों ओर चान्दना फैल जाता है तब जीवका संकल्प-मोह शरदृऋतुके बादलकी नाईं क्षीण हो जाता है। जैसे तेलके खत्म हो जानेपर दीपक बुझ जाता है, वैसे ही संकल्पोंके क्षीण हो जानेपर स्थूल शरीरका अनुभव क्षीण हो जाता है। निद्राके खत्म हो जानेपर जैसे जीवको स्वप्न दिखाई नहीं देते, वैसे ही सत्यकी भावनाके उदय होनेपर जीवको शरीरका अनुभव नहीं रहता। असत्यमें सत्यकी भावना होनेसे जीव स्थूल शरीरसे घिरा हुआ है। एक तत्त्वकी भावनाके दृढ़ हो जानेपर जीव शरीरसे मुक्त और सुखी हो जाता है। शरीरको सत्य समझनेसे ही शरीर सत्य मालूम पड़ता है, इसको असत्य जान लेनेपर इसका अनुभव नहीं रहता।

(२) कुण्डलिनी शक्तिके उद्बोधन द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ :—

(अ) कुण्डलिनी :—

परिमण्डलिकातारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।
आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ॥ (६।८०।३६)
वीणाप्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसन्निभा ।
ओंकारार्धाकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ॥ (६।८०।३७)
देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रखगादिषु ।
कीटादिष्वब्जजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ॥ (६।८०।३८)
शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्धद्धमण्डला । (६।८०।३९)

ऊरोभ्रूमध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ति वृत्तिचञ्चला ।
अनारतं च सस्पन्दा पवमानेव तिष्ठति ॥ (६।८०।४०)
तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन्कदलीकोशकोमले ।
या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ॥ (६।८०।४१)
सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।
प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ॥ (६।८०।४२)
अनिशं निःश्वसद्रूपा रुषितेव भुजङ्गमी ।
संस्कृतोर्ध्वीकृतमुखी स्पन्दनाहेतुतां गता ॥ (६।८०।४३)
तस्यां समस्ताः सम्बद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवापगाः ॥ (६।८०।४०)
नित्यं पातोत्सुकतया प्रवेशोन्मुखया तया ।
सा सर्व संविदां बीजं ह्येका सामान्युदाहृता ॥ (६।८०।४८)
एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।
प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ॥ (६।८१।१)
सान्तः कुण्डलिनीस्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।
कलोक्ता कलनेनाशु कथिता चेतनेन चित् ॥ (६।८१।२)
जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मनःस्थिता ।
संकल्पाच्चैव संकल्पो बोधाद्बुद्धिरिति स्मृता ॥ (६।८१।३)
अहंकारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।
स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ॥ (६।८१।४)
अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ॥ (६।८१।५)
सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नान्न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ (६।८१।७)
समस्तैर्वोर्ध्वमायाति यदि युक्त्या न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ (६।८१।८)
सर्वथात्मनि तिष्ठेच्चेत्त्यक्त्वोर्ध्वाधो गमागमौ ।
तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्माख्तरोधतः ॥ (६।८१।९)
पुर्यष्टकपराख्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥ (६।८१।४४)
मांसं कुर्यन्त्रजठरे स्थितं श्लिष्टमुखं मिथः ।
ऊर्ध्वाधःसंमिलत्स्थूलद्वयम्भःस्थैरिव वैतसम् ॥ (६।८१।६३)

तस्य कुण्डलिनी लक्ष्मीर्निलीनान्तर्निजास्पदे ।
पद्मरागसमुद्गस्य कोशे मुक्तावली यथा ॥ (६।८१।६४)
आवर्तफलमालेव नित्यं सलसलायते ।
दण्डाहतेव भुजगी समुन्नतिविवर्तिनी ॥ (६।८१।६५)

शरीर के मर्मस्थान में चक्र के आकारवाली, सैकड़ों नाड़ियों का आश्रय, आंत्रवेष्टनिका (आँतों से घिरी हुई) नाम की एक नाड़ी है। उसका आकार वीणा के मूल भाग में स्थित आवर्त (गोलाई) के, जलमें भँवर के, ओंकार अक्षर (ॐ) के आधे के, तथा कुण्डल के चक्र के समान है। वह नाड़ी देव, असुर, मनुष्य, मृग, नाकू (मगर), पक्षियों, कीड़े मकोड़े, जल में उत्पन्न होनेवाले जन्तुओं में—संक्षेपतः सब ही प्राणियां के भीतर मौजूद है। उस नाड़ी का आकार ऐसा है जैसे कोई सर्पिणी जाड़े से पीड़ित होकर गूंडली मार कर सो गई हो। गुदा से लेकर भों तक सब छिद्रों को स्पर्श करनेवाली, चञ्चल वृत्तिवाली, और बराबर स्पन्दन करते रहनेवाली वह नाड़ी है। उस नाड़ी के भीतर जो केले के डंडे के भीतरवाले छेद के समान कोमल है, वीणा की नाई स्पन्दनयुक्त एक परम शक्ति वर्त्तमान है। कुण्डल के आकारमें उसका स्पन्दन होने के कारण उसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है। वह प्राणियों की परम शक्ति है और उनकी अन्य सब शक्तियां को तेजी देनेवाली है। जैसे गुस्से में आकर साँपिनी फुंकार मारती हो, ऐसे ही वह शक्ति ऊपर को मुँह उठाये हुये हरदम सांस सा लेती हुई तमाम शरीर के स्पन्दन का कारण होती है। हृदय में पहुँचनेवाली सब ही नाड़ियाँ उससे सम्बन्ध रखती हैं और उसमें इस प्रकार आ मिलती हैं जैसे कि समुद्रमें नदियाँ। चूँकि सारी नाड़ियाँ उसमें आकर पड़ती हैं और उसका सब से ही सम्बन्ध है, उसको सब प्रकार के ज्ञानों का बीज सामान्य ज्ञान कहा जाता है। पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों का बीज कुण्डलिनी शक्तिमें स्थित है और प्राणोंके द्वारा वह बीज सञ्चालित होता है। वह कुण्डलिनी शक्ति, स्पन्दन, स्पर्श और ज्ञान सब की शुद्ध कला है। संकल्पयुक्त होने से उसका नाम कला है और चेतन होने से उसका नाम चिति है। जीने से जीव, मनन करने से वह मन और बोध-प्राप्त होने से बुद्धि होती है। वही शक्ति अहंभाव को प्राप्त होकर पुर्यष्टक कहलाती है। सब शक्तियों की परम शक्ति वह कुण्डलिनी

शक्ति शरीर में स्थित है। अपान वायु का रूप धारण करके वह शक्ति सदा नीचेकी ओर जाती है, नाभि के मध्य में स्थित होने से वह समान कहलाती है और उदान के नाम से वह ऊर्ध्व भाग में स्थित होती है। यदि उसकी सारी वृत्ति नीचे की ओर हो जाये और बीच में न रुके और न ऊपर को ही जाए, तो वह बाहर निकल जाती है और मनुष्य मर जाता है। इसी प्रकार यदि नीचे की ओर न जाकर और मध्यभाग में स्थित न रहकर उसकी सारी वृत्ति ऊपर की ओर हो जाए और वह जोर से ऊपर को निकल जाए तो भी मनुष्य मर जाता है। और यदि ऊपर नीचे न बह कर किसी जीव की प्राणशक्ति मध्यभाग में निरुद्ध होकर स्थिर हो जाए, तो वह प्राणी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। पुर्यष्टक नाम जीव की प्राणनामक शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। वह शरीर में इस प्रकार है जैसे फूल में सुगन्ध देनेवाली मञ्जरी। इस देहरूपी यन्त्र के उदर भाग में नाभि के पास परस्पर मिले हुये मुखवाली धोंकनियों के समान मांस का पिण्ड इस प्रकार काँपते हुये स्थित है जैसे कि ऊपर और नीचे से बहनेवाले दो जलों के बीज में स्थित सदा हिलनेवाला बेंत का कुञ्ज। उसके भीतर उसकी लक्ष्मी कुण्डलिनी शक्ति इस प्रकार स्थित है जैसे मूँगे की पिटारी में मोतियां की माला। रुद्राक्ष की माला के समान वह नित्य सरसराती है और डंडेसे मारी हुई सर्पिणीके समान वह ऊपर को मुँह उठाये रखती है।

इस सारे वर्णनका सार यह है कि मनुष्य के शरीर के उदर भाग में नाभि के आसपास एक ऐसा स्थान है जहाँपर एक इस प्रकार का चक्राकार अङ्ग है जिसमें जीव की परम शक्ति गुप्तरूप से वर्तमान है। उस अङ्ग का शरीर के सभी अङ्गों से सम्बन्ध है और उसके भीतर रहनेवाली शक्ति, जिसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है, शरीर की सब जाग्रत् तथा कार्यपरायण शक्तियां का आधार है। यदि वह शक्ति पूर्णतया जाग्रत् हो जाए तो मनुष्य को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसका जागरण प्राणों के निरोध और नियमित सञ्चालन से होता है ये बातें आगे बतलाई जाएँगी।

(आ) कुण्डलिनी-योग द्वारा सिद्धियोंकी प्राप्तिः—

तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्य स्थीयते समम्।
तदैति मैरवं स्थैर्यं कायस्य पीनता तथा॥ (६।८१।४९)

यदा पूरकपूर्णान्तरायतप्राणमारुतम् ।
नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं धर्मक्रमं श्रमम् ॥ (६।८१।४६)
सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।
नाडी: सर्वाः समादाय देहबद्धा लतोपमाः ॥ (६।८१।४७)
तदा समस्तमेवेदमुत्प्लावयति देहकम् ।
नीरन्ध्रं पवनापूर्णं भस्त्रेवाम्बुतलान्तरम् ॥ (६।८१।४८)
इत्यभ्यासविलासेन योनेन व्योमगामिना ।
योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चर्दीना इन्द्रदशामिव ॥ (६।८१।४९)
ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।
बहिरूर्ध्वं कपाटस्य द्वादशाङ्गुलमूर्धनि ॥ (६।८१।५०)
रेचकेन प्रयोगेण नाड्यन्तरनिरोधिना ।
मुहूर्तं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ॥ (६।८१।५१)
मुखाद्बहिर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ (६।८१।५६)
रेचकाभ्यासयोगेन जीवः कुण्डलिनीगृहात् ।
उद्धृत्य योज्यते यावदामोदः पवनादिव ॥ (६।८२।२९)
त्यज्यते विरतस्पन्दो देहोऽयं काष्ठलोष्ठवत् ।
देहेऽपि जीवेऽपि मतावासेवक इवादरः ॥ (६।८२।३०)
स्थावरे जङ्गमे वापि यथाभिमतयेच्छया ।
भोक्तुं तत्संपदं सम्यग्जीवोऽन्तर्विनिवेश्यते ॥ (६।८२।३१)
इति सिद्धिश्रियं भुक्त्वा स्थितं चेत्तद्वपुः पुनः ।
प्रविश्यते स्वमन्यद्वा यद्यत्तात विरोचते ॥ (६।८२।३२)
देहादयस्तथा बिम्बान्न्यासवत्याखिलानथ ।
संविदा जगदापूर्य संपूर्णं स्थीयतेऽथवा ॥ (६।८२।३३)

उस कुण्डलिनी में पूरक प्राणायाम के अभ्यास से जब प्राणी समरूप से स्थित हो जाता है तब सुमेरु के समान स्थिरता और गुरुता की सिद्धि हो जाती है । जिस समय पूरक प्राणायाम के अभ्यास से शारीरिक और मानसिक परिश्रम को सहकर कुण्डलिनी शक्ति अपने मूलाधार स्थान से ऊपर उठकर सुषुम्णा नाडी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है, और डण्डे के समान आकारवाली होकर सर्पिणी के समान जब वह ऊपर को जाती है, और सब नाडियों की शक्ति को भी अपने

साथ ऊपर ही ले जाती है, तब इस शरीर को वह इस प्रकार उड़ा ले जाती है (आकाशगमन की सिद्धि) जैसे हवा से भरी हुई मशक जल के ऊपर तैरती हो। इस प्रकार अभ्यास के द्वारा आकाशगमन से योगीजन ऐसे ऊँचे चढ़ जाते हैं जैसे कि कोई दीन जन इन्द्र की पदवी को प्राप्त हो जाता हो। जिस समय अन्य नाड़ियों के व्यापार को रोकनेवाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्णा) के भीतर को होकर दिमाग़ के किवाड़ खोलकर वहाँ से बारह अंगुल ऊपर की ओर मस्तक में जाकर एक मुहूर्त के लिये भी स्थिर हो जाती है, तो आकाशगामी सिद्ध लोगों का दर्शन होता है। रेचक के अभ्यासरूपी युक्ति से प्राण को मुख से १२ अंगुल बाहर बहुत सयय तक स्थिर करने के अभ्यास से योगी दूसरे पुरुष के शरीर में प्रवेश कर सकता है। रेचक के अभ्यास से जब योगी अपने जीव को कुण्डली के निवास-स्थान से बाहर इस प्रकार निकाल सके जैसे हवा में से सुगन्ध को, तब वह इस चेष्टारहित शरीर को लकड़ी और पत्थर के समान त्याग देता है, और दूसरे शरीर में, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन, इच्छानुसार प्रवेश करके उसकी सम्पत्ति का भोग कर सकता है। इस प्रकार योगी दूसरे शरीर के भोगों को भोगकर, यदि उसका शरीर बना रहा हो तो उसी में, नहीं तो अपनी रुचि के अनुसार किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करके स्थित रहता है। अथवा अपनी चिति को समस्त जगत् में फैलाकर सारे शरीर में व्याप्त होकर सर्वत्र स्थित रहता है।

(इ) सूक्ष्मता और स्थूलता की सिद्धि कैसे होती है :—

हृद्यब्जब्रह्मकोशोर्ध्वं प्रस्फुरत्यानलः कणः ।
हेमभ्रमरवत्सांध्यविद्युल्लव इवाम्बुदे ॥ (६।८२।२)
स प्रवर्धनसंवित्त्या वात्ययेवाशु वर्धते ।
संविद्रूपतया नूनमर्कवद्याति चोदयम् ॥ (६।८२।३)
सांध्याभ्रप्रथमार्काभो वृद्धिमभ्यागतः क्षणात् ।
गालयत्यखिलं साङ्गं देहं हेम यथानलः ॥ (६।८२।४)
जलस्पर्शाल्लहो युक्त्या गलयेत्प्रपदादपि ।
बाह्य एवानलस्पर्शात्स्वान्ते वस्तुविशेषतः ॥ (६।८२।५)

स शरीरद्वयं पश्चाद्विधूय क्वापि लीयते ।
विक्षोभितेन प्राणेन नीहारो वात्यया यथा ॥ (६।८२।६)
आधारनाडीनिर्हीना व्योमस्थैवावशिष्यते ।
शक्तिः कुण्डलिनी वह्नेर्धूमलेखेव निर्गता ॥ (६।८२।७)
क्रोडीकृतमनोबुद्धिसत्त्वजीवाद्यहंकृतिः ।
अन्तःस्फुरच्चमत्कारा धूमलेखेव नागरी ॥ (६।८२।८)
विसे शैले तृणे भित्तावुपले दिवि भूतले ।
सा यथा योज्यते यत्र तेन निर्यात्यलं तथा ॥ (६।८२।९)
संवित्तिः सैव यात्यङ्ग रसान्तं यथाक्रमम् ।
रसेनापूर्णतामेति तंत्रीभार इवाम्बुना ॥ (६।८२।१०)
रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा ।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम् ॥ (६।८२।११)
दृढभाववशादन्तरस्थीन्याप्नोति सा ततः ।
मातृगर्भनिषण्णेषु स सूक्ष्मेवाङ्कुरस्थितिः ॥ (६।८२।१२)
यथाभिमतमाकारं प्रमाणं वेत्ति राघव ।
जीवशक्तिरवाप्नोति सुमेर्वादि तृणादि च ॥ (६।८२।१३)

हृदय-कमल के चक्र के कोश के ऊपर अग्नि (प्रकाश) का एक कण ऐसे चमकता है जैसे सोने का भौंरा अथवा सायंकाल के समय मेघ में बिजली का कण। वह प्रकाश-कण विस्तार भावना के द्वारा वायु की नाईं फैलने और ज्ञान रूप से शरीर में सूर्य के समान चमकने लगता है। प्रातःकाल के बादल से उदय होकर जिस प्रकार सूर्य का तेज क्षण भर में ही वृद्धि को प्राप्त हो जाता है वैसे ही वह अग्नि कण वृद्धि को पाकर सारे अङ्गों समेत शरीर को ऐसे गला देता है जैसे कि आग सोने को। जल के स्पर्श को न सहने वाली वह योग-अग्नि शरीर को सिर से पैर तक भीतर बाहर जला देती है। शरीर के पार्थिव और जलमय दोनों भागों को जलाकर अपने आप भी वह कण विक्षुब्ध प्राण द्वारा कहीं ऐसे गायब हो जाता है जैसे वायु के द्वारा धूम्र। उस समय सुषुम्णा नाड़ी के जल जाने पर कुण्डलिनी शक्ति आकाश में ऐसे स्थित होती है जैसे कि अग्नि से निकली हुई धुवें की लटा। उस समय वह कुंडलिनी शक्ति अपने भीतर मन, बुद्धि, जीव, अहंकार आदि समेत और नाना प्रकार की वासनाओं से पूर्ण, आकाश में ऐसे

सुशोभित होती है जैसे किसी शहर से निकला हुआ धुँवे का स्तम्भ। ऐसी अवस्था में उसका प्रवेश चाहे जिस वस्तु—कमलदंड, पहाड़, तृण, दीवार, पत्थर, आकाश, पृथ्वी—में हो सकता है। वही कुण्डलिनी जब स्थूल भाव को धारण करना चाहती है तो फिर रसभावना द्वारा रस से इस प्रकार भरने लगती है जैसे सूखा हुआ चड़स पानी से भरे जाने पर फूल जाता है। रस से पूर्ण होकर वह जिस आकार को चाहे ऐसे धारण कर लेती है जैसे चित्रकार के मन की रेखाएँ नाना प्रकार के रूप धारण कर लेती हैं। दृढ़ भावना द्वारा वह हड्डियों की इस प्रकार रचना कर लेती है जैसे कि माता के गर्भाशय में पड़ा सूक्ष्म बीज स्थूल आकार को धारण कर लेता है। तब वह जीव-शक्ति इच्छा अनुसार बड़े से बड़ा (सुमेरु के समान) और छोटे से छोटा (तृण के समान) आकार धारण कर सकती है।

(ई) प्राणायाम द्वारा भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं :—

> राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः।
> देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥ (६।८०।३९)

हे राम! प्राणों को वस में कर लेने पर प्रत्येक मनुष्य राज्यप्राप्ति से लेकर मोक्षप्राप्ति तक सब ही प्रकार की सम्पत्तियों को प्राप्त कर सकता है।

प्राण क्या हैं? उनको कैसे वश में किया जाता है और उनके वश में करने पर क्या विशेष लाभ होता है—इन सब बातों का वर्णन आगे चलकर विस्तारपूर्वक होगा।

१२—मैं क्या हूँ ?

अभी तक हमने पाठकों के आगे योगवासिष्ठ के बाह्य जगत् तथा मन सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही वर्णन किया है। अब हमें यह बतलाना है कि योगवासिष्ठ में आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का माना गया है। आत्मा का असली स्वरूप जानने के लिये आन्तर अनुभव का विश्लेषण करना आवश्यक है इसलिये पहिले हमको चारों अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या—को भलीभाँति समझ लेना चाहिये। आत्मा वह पदार्थ है जो चारों अवस्थाओं में अनुस्यूत रहता है अर्थात् जिसका अभाव किसी भी अवस्था में न हो उस सत्ता का नाम आत्मा है। आत्मा क्या है इसके विषय में नानाप्रकार के मत हैं। कोई कोई तो शरीर ही को आत्मा मान बैठे हैं; कोई मन को; कोई आत्मा को शरीर और मन आदि से परे की कोई ऐसी वस्तु मानते हैं जो इनसे बिल्कुल कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती—इन सब मतों से ऊँचा वह मत योग-वासिष्ठ को सबसे अधिक मान्य है जिसके अनुसार आत्मा कोई यह या वह, भीतर या बाहर की वस्तुविशेष नहीं है, बल्कि वह अनन्त और विभु सच्चिदानन्द तत्त्व है जिसका प्रकाश यह सारा विश्व है, जो सब कुछ है, सब जगह है, सदा है, और जिससे बाहर कुछ भी नहीं है।

(१) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और चौथी (तुर्या) अवस्था :—

> जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ॥ (६।१२४।३६)
> घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहास्थितम् ।
> घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ॥ (६।१२४।३७)
> मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ।
> यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ॥ (६।१२४।३८)

चित्त (मन) की तीन अवस्थायें हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। चित्त की अवस्थाओं के दूसरे नाम हैं—घोर, शान्त और मूढ़। जाग्रत् अवस्था के चित्त को घोर कहते हैं, स्वप्नावस्था के चित्त को शान्त और सुषुप्ति अवस्था के चित्त को मूढ़। इन तीनों अवस्थाओं से स्वतन्त्र होने

पर चित्त मृतप्राय हो जाता है (अर्थात् चित्त चित्त नहीं रहता)। मरा हुवा चित्त सत्त्व रूप में स्थित होता है जो कि सर्वत्र एक और समान रूप से स्थित है।

(अ) जाग्रत् अवस्था :—

जीवधातुः शरीरेऽन्तर्विद्यते येन जीव्यते।
तेजो वीर्यं जीवधातुरित्याद्यभिधमङ्ग यत्॥ (४।१९।१५)
व्यवहारी यदा कायो मनसा कर्मणा गिरा।
भवेत्तदा मरुन्नुन्नो जीवधातुः प्रसर्पति॥ (४।१६।१६)
तस्मिन्प्रसर्पत्यङ्गेषु सर्वा संविदुदेति हि। (४।१९।१६)
ईक्षणादिषु रन्ध्रेषु प्रसरन्ती बहिर्मयम्।
नानाकारविकाराढ्यं रूपमात्मनि पश्यति॥ (४।१९।१७)
स्थिरत्वात्तत्तथैवाथ जाग्रदित्यवगम्यते। (४।१९।१९)

स्थूल शरीर के भीतर जीवधातु नामक वह एक तत्त्व मौजूद है जिसके रहने से यह शरीर जीवित रहता है। तेज और वीर्य भी उसी के नाम हैं। जब शरीर की किसी प्रकार की क्रिया (मनन, वचन, कर्म) होती है तब यह जीवधातु प्राणों द्वारा क्रियात्मक अङ्गों की ओर प्रवाहित होती है। अङ्गों में जीव धातु का प्रसरण होनेपर उनमें चेतना का अनुभव होता है। ज्ञानेंद्रियों के द्वारा बाहर की ओर प्रवृत्त होकर वह जीवधातु अपने भीतर नाना प्रकार के बाह्य जगत् का अनुभव करती है। जीव धातु के इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में स्थित रहने पर जो अनुभव होता है उसका नाम जाग्रत् है।

(आ) सुषुप्ति :—

मनसा कर्मणा वाचा यदा क्षुभ्यति नो वपुः।
शान्तात्मा तिष्ठति स्वस्थो जीवधातुस्तदात्वसौ॥ (४।१९।२०)
समतामागतैर्वातैः क्षोभ्यते न हृदम्बरे।
निर्वातसद्मनि दीपो यथाऽऽलोकैककारकः॥ (४।१९।२१)
ततः सरति नाङ्गेषु संवित्क्षुभ्यति तेन नो।
न चेक्षणादीन्यायाति रन्ध्राण्यायाति नो बहिः॥ (४।१९।२२)
जीवोऽन्तरेव स्फुरति तैलसंविद्यथा तिले।
शीतसंविद्धिम इव स्नेहसंविद्यथा घृते॥ (४।१९।२३)

जीवाकारा कला काचिच्चितिः स्वच्छतयात्मनि ।
दशामायाति सौषुप्तिं सौम्यधातां विचेतनाम् ॥ (४।१९।२४)

जब कि शरीर में मन, वचन और कर्म रूपी कोई भी क्रिया नहीं होती तब जीव धातु अपने स्वरूप में शान्त भाव से स्थित रहती है, प्राणों की क्रिया में समता आ जाती है, और हृदय में स्थित जीव-धातु में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता। जैसे कि हवारहित स्थान में चान्दना देने वाला दीपक क्षोभ रहित होकर स्थित रहता है उसी प्रकार जीवधातु भी शान्त रहती है। उस अवस्था में जीवधातु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की ओर नहीं दौड़ती इस कारण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में चेतना का अभाव रहता है, और उनकी क्रिया बाहिर की ओर प्रवृत्त नहीं होती। उस समय चेतना जीव के भीतर ही ऐसे रहती है जैसे कि तिलों में तेल, बर्फ में शीतलता और घी में चिकनाई। प्राणों के सौम्य हो जाने पर, बाह्यज्ञान के नष्ट हो जाने पर, जीव के आकार वाली कला नामक चिति सुषुप्ति की दशा में पहुँच जाती है।

(३) स्वप्न :—

सुषुप्ते सौम्यतां यातैः प्राणैः सञ्चाल्यते यदा ।
स जीवधातुः सा संवित्तदा चित्ततयोदिता ॥ (४।१९।२६)
स्वान्तःसंस्थजगज्जालं भावाभावैः क्रमभ्रमैः ।
पश्यति स्वान्तरेवाशु स्फारं बीज इव द्रुमम् ॥ (४।१९।२७)
जीवधातुर्यदा वातैः किञ्चित्संक्षुभ्यते भृशम् ।
ततोऽस्म्यहं सुस इति पश्यत्यात्मनि खे गतिम् ॥ (४।१९।२८)
यदाम्भसा प्लाव्यतेऽसौ तदा वार्यादिसम्भ्रमम् ।
अन्तरेवानुभवति स्वामोदं कुसुमं यथा ॥ (४।१९।२९)
यदा पित्तादिनाक्रान्तस्तदा ग्रीष्मादिसम्भ्रमम् ।
अन्तरेवानुभवति स्फारं बहिरिवाखिलम् ॥ (४।१९।३०)
रक्तापूर्णो रक्तवर्णान्देशान्कालान्बहिर्यथा ।
पश्यत्यनुभवात्मत्वात्तत्रैव च निमज्जति ॥ (४।१९।३१)
सेवते वासनां यां तां सोऽन्तः पश्यति निद्रितः ।
पवनक्षोभितो स्पन्दैर्बहिरक्षादिभिर्यथा ॥ (४।१९।३२)
अनाक्रान्तेन्द्रियच्छिद्रो यतः क्षुब्धोऽन्तरेव सः ।
संविदनुभवत्याशु स स्वप्न इति कथ्यते ॥ (४।१९।३३)

सुषुप्ति अवस्था में जब वह जीवधातु सौम्य अवस्था को प्राप्त हुये प्राणों द्वारा क्षुब्ध होती है तब चिति चित्त का आकार धारण करती है, और अपने भीतर ही सारे जगत् के भाव, अभाव, और क्रम के भ्रम को इस प्रकार विस्तृत रूप से अनुभव करती है जैसे बीज अपने भीतर वृक्ष का अनुभव करता है। जब सोती हुई हालत में जीव धातु वायु द्वारा क्षोभित होती है तब स्वप्न में आकाश में उड़ने का अनुभव होता है; जब जल द्वारा क्षोभित होती है तब जल सम्बन्धी स्वप्नों का अनुभव होता है; जब पित्त द्वारा क्षोभित होती है तो गरमी की मौसम के स्वप्नों का मन के भीतर अनुभव होता है। जब रक्त की अधिकता होती है तब लाल रङ्ग के पदार्थों का अनुभव होता है। जीव के अन्दर जैसी-जैसी वासनायें उठती हैं वैसे-वैसे ही प्रकार के स्वप्न वह इस प्रकार देखता है जैसे कि प्राणों से क्षोभित होकर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर के पदार्थों को देखता हो। स्वप्न उस ज्ञान का नाम है जो बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया के बिना अन्दर के क्षोभ से ही होता है।

(ई) चौथी अवस्था :—

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ (६।१२४।२३)
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते ॥ (६।१२४।२४)
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नं संकल्पानामसंभवात्।
सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाज्जडता स्थितेः ॥ (६।१२४।२५)
शान्तं सम्यक्प्रबुद्धानां यथा स्थितमिदं जगत्।
विलीनं तुर्यमेवाहुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ (६।१२४।२६)
अहंकारकलात्यागे समतायाः समुद्भवे।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ (६।१२४।२७)
निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवास्तीह नेतरत् ॥ (६।१२४।३६)

अहंभाव और अनहंभाव, सत्ता और असत्ता, दोनों से रहित जो असक्त, सम और शुद्ध स्थिति है उसे चौथी अवस्था कहते हैं। जो स्वच्छ, सम और शान्त साक्षी रूप से जीवन्मुक्त भाव में स्थिति है वह तुर्या अवस्था कहलाती है। यह स्थिति न जाग्रत् है, और न स्वप्न, क्योंकि इस अवस्था में संकल्पोंका अभाव होता है, और न सुषुप्ति क्योंकि

इसमें जड़ताका अभाव रहता है। ज्ञानियों की उस अवस्था का नाम जिसमें कि उनके लिये उस जगत् का अनुभव, जो कि अज्ञानियों के लिये स्थिर रूप से स्थित है, शान्त और लीन हो जाता है, तुर्या (चौथी) अवस्था कहलाती है। तुर्यावस्था का अनुभव तब होता है जब कि अहंकार का त्याग, समता की प्राप्ति और चित्त की शान्ति हो जाती है। संकल्प-विकल्प से रहित चिति की स्थिति का ही नाम चौथी अवस्था है।

(२) चार प्रकारका अहंभाव :—

(मैं क्या हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकारसे दिया जाता है। कोई कोई तो अपने आपको स्थूल और नाशवान् शरीर ही समझते हैं और कोई मन समझते हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि शरीर और मन से परे कोई जीव या आत्मा नाम का तत्त्व है जो इन दोनों के धर्मों से बरी है—वे वह आत्मा हैं। इन सब से ऊँचा और श्रे‍ष्ठ समझना बहुत थोड़ेसे लोगोंका है जो अपने आपको सारा विश्व या वह तत्त्व जो सारे विश्व में व्याप्त और प्रकाशित हो रहा है, समझते हैं। आत्मा-सम्बन्धी इन चार निश्चयों का योगवासिष्ठ में इस प्रकार वर्णन है :—

१—मैं देह हूँ :—

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः।
इत्येको निश्चयो राम बन्धायासद्विलोकनात् ॥ (५।१७।१४)

देहोऽहमिति तां विद्धि दुःखायैव न शान्तये। (५।७३।११)
वर्ज्य एव दुरात्माऽसौ शत्रुरेव परः स्मृतः ॥ (४।३३।५४)

अनेनाभिहतो जन्तुर्न भूयः परिरोहति।
रिपुणानेन बलिना विविधाधिप्रदायिना ॥ (४।३३।५५)

एक यह विश्वास है कि मैं माता-पिता से उत्पन्न सिरसे पैर तक विस्तारवाला स्थूल देह हूँ। यह विश्वास सत्य नहीं है। इसी कारण बन्धन में डालनेवाला है। अपने आपको स्थूल देह समझना दुःख का कारण है, शान्ति का साधन नहीं। यह विश्वास हमारा शत्रु है; इसको जहाँतक हो सके दूर करना चाहिये। इस नानाप्रकार के मानसिक क्लेशों के देनेवाले बलवान् शत्रु द्वारा मारा हुआ जीव कभी नहीं पनपता।

२— चित्त हूँ :—

स्वसंकल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत् ।
चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामातिवाहिकम् ॥ (६।१२४।१९)

हे राम ! जबतक संसार है तब तक रहनेवाला और अपने संकल्प के अनुसार रूप धारण करनेवाला मन जीव का सूक्ष्म रूप है ।

३—मैं सब भावोंसे परे रहनेवाला सूक्ष्म आत्मा हूँ :—

अतीतः सर्वभावेभ्यो बालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति तृतीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥ (५।१७।१६)
परोऽणुः सकलातीतरूपोऽहं चेत्यहंकृतिः । (५।७३।१०)
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं बालाग्रशतकल्पितः ॥ (४।३३।५१)

तीसरा निश्चय जो कि मोक्ष की ओर ले जानेवाला है वह है कि मैं सब भावों से मुक्त, बालकी नोक के सौवें भाग से भी सूक्ष्म, परम अणु, और सब दृश्य पदार्थोंसे परे और सब वस्तुओंसे अलग रहनेवाला (आत्मा) हूँ ।

(अ) मैं सर्वातीत कैसे हूँ :—

देहस्तावज्जडो मूढो नाहमित्येव निश्चयः । (६।७८।१७)
भावयामेतत्संसिद्धं मतौ चैवानुभूयते ॥ (६।७८।१८)
कर्मेन्द्रियगणश्चास्माद्भिन्नावयवात्मकाः । (६।७८।१८)
अवयवावयविनोर्न भेदो जड एव च ॥ (६।७८।१९)
प्रेर्यते मनसा यस्माद्यष्ट्येव भुवि लोष्टकः ।
मनश्चैव जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत् ॥ (६।७८।२०)
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः ।
बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडा सत्तैव निश्चयः ॥ (६।७८।२१)
जातेनैव सरित्पूर्णं साहंकारेण जायते ।
अहङ्कारोऽपि निःसारो जड एव भवात्मकः ॥ (६।७८।२२)
जीवेन जन्यते यक्षो बालेनेव भ्रमात्मकः ।
जीवश्च चेतनाकाशो वातात्मा हृदये स्थितः ॥ (६।७८।२३)
जीवो जीवति जीर्णेन चिद्रूपेणात्मरूपिणा ।
चैत्यक्रमवता जीवश्चिद्रूपेणैव जीवति ॥ (६।७८।२५)

सद्वासद्वा यदाभाति चित्सभावौ सति स्वतः । (६।७८।२७)
स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति क्षणात् ॥ (६।७८।२८)
एवं चिद्रूपमप्येतच्चेत्योन्मुखतया स्वयम् । (६।७८।२८)
जडं शून्यमसत्कल्पं चैतन्येन प्रबोध्यते ॥ (६।७८।२९)
एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः । (६।७८।३१)
असन्तः सर्व एवाद्यो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः ॥ (६।७८।३२)
महाचिदेकैवास्तीह महासत्तेति योच्यते । (६।७८।३२)
निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी ॥ (६।७८।३३)
शुद्धसंवेदनाकारा शिवं सन्मात्रमच्युतम् । (६।७८।३३)
सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा ॥ (६।७८।३४)

बालक तक भी इस बात को समझता है और सबको इस बात का अपने मन में अनुभव होता है कि मैं जड़ और ज्ञानहीन स्थूल शरीर नहीं हूँ। कर्मेन्द्रियां (वाक्, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग जिनसे शरीर की क्रियाएँ होती हैं) इस जड़ शरीर के अङ्ग ही हैं; अङ्ग और अङ्गी (अङ्गोंवाली वस्तु) में भेद न होने के कारण वे भी जड़ ही हैं। जैसे कि लकड़ी के द्वारा मिट्टी का ढला इधर से उधर फेंक दिया जाता है वैसे ही इन्द्रियाँ मन की प्रेरणा से क्रिया करती हैं, स्वयं नहीं। सङ्कल्प शक्तिवाला मन भी स्वयं जड़ ही है क्योंकि वह बुद्धि के निश्चयों के द्वारा ऐसे इधर उधर होता रहता है जैसे कि फेंकने से पत्थर। निश्चय करने वाली बुद्धि भी जड़ ही है क्योंकि उसका संचालन अहङ्कार द्वारा ऐसे होता है जैसे नदी का गहरे स्थान की ओर हुआ करता है। अहंकार भी स्वयं चेतन नहीं है; वह तो असार और मुर्दे के समान जड़ है क्योंकि जीव उसको ऐसे उत्पन्न करता है जैसे कि बालक भूत के भ्रम को। यह जीव, वायुरूप चिदाकाश, हृदय के भीतर रहता है। यह जीव विषय के भ्रमयुक्त पुरातन चितिस्वरूप आत्मा द्वारा प्रेरित होता है। जैसी-जैसी, सत्य वा असत्य भावनायें चिति में उठती हैं चिति अपने स्वरूप को छोड़ कर वैसा ही रूप धारण कर लेती है। इसलिये विषय की ओर प्रवृत्त जो चेतन आत्मा है वह भी असत् के समान ही है और चेत्योन्मुखता के कारण वह जड़ है और चैतन्य द्वारा प्रेरित होती है। चिति द्वारा कल्पित सब दिखाई देने वाले दूसरे चन्द्रमा के समान असत्य हैं। सत्य तो केवल एक ही वस्तु है। और वह है महाचिति जिसको महासत्ता भी कहते हैं। वह निष्कलङ्क,

सम, शुद्ध, निरहङ्कार, शुद्ध-ज्ञान स्वरूप शिव, सन्मात्र और अच्युत (सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहनेवाली) है। वह मल रहित है और सदा प्रकाशवाली है।

(आ) शरीर और आत्मा में सम्बन्ध नहीं है :—

नात्मा शरीरसम्बन्धी शरीरमपि नात्मनि।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा॥ (६।६।६)
देहेनास्य न सम्बन्धो मनागेवामलात्मनः।
हेम्नः पङ्कलवेनेव तद्गतस्यापि मानवाः॥ (६।६।२९)
पृथगात्मा पृथग्देही जलपद्मलवोपमौ। (६।६।२६)
मनागपि न संश्लेषः सर्वगस्यापि देहिनः॥ (६।६।१३)
तद्गतस्याप्यतद्वृत्तेरम्बरस्येव वायुतः।
जरामरणमापच्च सुखदुःखे भवाभवौ॥ (६।६।१९)
मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निर्वृतो भव। (६।६।१६)

आत्मा का शरीर के साथ कोई (तादात्म्य) सम्बन्ध नहीं है और न शरीर का आत्मा के साथ। शरीर और आत्मा अन्धेरे और चान्दने के भाईं दो विलक्षण पदार्थ हैं। जैसे कीचड़ में पड़े हुए सोने से कीचड़ के कणों का कोई सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही शुद्ध स्वरूपवाले आत्मा का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जल और कमल के समान शरीर और आत्मा पृथक् हैं, सर्वत्र वर्तमान रहने वाले आत्मा का शरीर से जरा भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे आकाश उस वायु के गुणों से स्पृष्ट नहीं होता जो उसमें स्थित रहती है वैसे ही शरीर की अवस्थाएँ—जन्म, मरण, आपत्ति, दुःख-सुख, आना-जाना आदि आत्मा में नहीं होतीं। इसलिये इनसे मुक्त होकर रहो।

(इ) आत्मा यद्यपि सब जगह है तो भी उसका प्रकाश केवल पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर) में ही होता है :—

संस्थितः स हि सर्वत्र त्रिषु कालेषु भास्करः।
सूक्ष्मत्वात्सुमहत्त्वाच्च केवलं न विभाव्यते॥ (६।७३।२०)
सर्वमात्ममयं विश्वं नास्त्यात्ममयं क्वचित्। (६।७२।४९)
सति पुर्यष्टके तस्मिञ्जीवः स्फुरति नोपले॥ (६।७३।२४)

आत्मा सब जगह और सब कालों में स्थित है किन्तु बहुत सूक्ष्म और बहुत महान् होने के कारण दिखाई नहीं पड़ता। आत्मा संसार की

सब वस्तुओं में वर्त्तमान है, कोई वस्तु आत्मा से रहित नहीं है तो भी जहाँ पुर्यष्टक (मन अथवा सूक्ष्म शरीर) होता है वहीं पर आत्मा का अनुभव होता है। पत्थर आदि जड़ पदार्थों में नहीं होता।

२—मैं सारा विश्व हूँ:—

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा।
एवमेष चतुर्थोऽन्यो निश्चयो मोक्षसिद्धये॥ (५।१७।१७)
अहं खमहमादित्यो दिशोऽहमहमप्यधः।
अहं दैत्या अहं देवा लोकाश्चाहमहं महः॥ (५।७६।३)
अहं तमोऽहमभ्राणि भूः समुद्रादिकं त्वहम्।
रजो वायुरथाग्निश्च जगत्सर्वमिदं त्वहम्॥ (५।७३।४)
अहं चिदम्बरे भानावहं चिद्भूतपञ्जरे।
सुरासुरेषु चिदहं स्थावरेषु चरेषु च॥ (५।२७।१२)
कुसुमेष्वहमामोदः पुष्पपत्रेष्वहं छविः।
छविष्वहं रूपकला रूपेष्वनुभवोऽप्यहम्॥ (५।३४।९२)
अपारपर्यन्तनभो दिक्कालादिक्रियान्वितम्।
अहमेवेति सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।२९)
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
चित्तं तु नाहमेवेति यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।३१)
सर्वशक्तिरनन्तात्मा सर्वभावान्तरस्थितः।
अद्वितीयश्चिदित्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।२८)
यन्नाम किञ्चित्त्रैलोक्यं स एवावयवो मम।
तरङ्गोऽब्धाविवेत्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।३३)

चौथा आत्मा-सम्बन्धी विश्वास जो कि मोक्ष को प्राप्त करानेवाला है यह है कि मैं समस्त जगत् हूँ अथवा वह शून्य, सम, चिदाकाश हूँ जो विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। मैं आकाश हूँ, मैं सूर्य हूँ, मैं दिशायें हूँ, मैं नीचे हूँ, (मैं ऊपर हूँ), मैं दैत्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं सब लोक हूँ, मैं यश हूँ, मैं तम हूँ, मैं बादल हूँ, मैं समुद्र आदि सब ही हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं रज हूँ, वायु हूँ, अग्नि हूँ, मैं यह सब जगत् हूँ। मैं वह चिति हूँ जो कि आकाश में सूर्य के रूप में चमकती है, जो कि सब प्राणियों में है जो कि सुर और असुरों में, जड़ चेतन सब ही वस्तुओं में है। फूलों में मैं खुशबू हूँ, मैं फूल पत्तियों का सौन्दर्य हूँ। सुन्दर वस्तुओं की

सबकला मैं हूँ और सब रूपों में मैं अनुभव हूँ। जो यह समझता है कि "मैं दिक, काल और क्रियावाला अनन्त और अपार, सर्वत्र फैला हुआ आकाश हूँ" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "मैं चित्त नहीं हूँ, वह आत्मा हूँ जिस में जगत् की सारी वस्तुयें इस प्रकार पिरोई हुई हैं जैसे कि माला के तागे में उसके मोती" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "मैं सब वस्तुओं के भीतर रहनेवाला, सर्व शक्तियुक्त, अन्तरात्मा हूँ" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "जैसे तरङ्ग समुद्र का एक क्षुद्र अङ्ग है वैसे ही तीनों लोक में जो कुछ है वह मेरा ही अंग है" वही ठीक समझता है।

१३—मौत

संसार में सबसे भयानक घटना मौत जान पड़ती है। मौत क्या है ? मौत जीवन का अन्त करनेवाली घटना है, जैसा कि प्रायः दिखाई पड़ता है, अथवा मौत के पश्चात् भी कोई दूसरा जीवन प्राप्त होता है—इस विषय में बहुत मतभेद है। कुछ लोग, जो शरीर को ही सब कुछ मानते हैं, कहते हैं कि मौत के द्वारा जब शरीर का सर्वथा नाश हो गया तो फिर बाकी ही क्या रहा ? दूसरे लोग, जो शरीर को केवल आत्मा का निवास-स्थान समझते हैं, यह कहते हैं कि मौत केवल शरीर के नाश होने का नाम है। शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव या आत्मा का नाश नहीं होता। वह तो एक शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे शरीर में प्रवेश कर लेता है। भारतवर्ष में तो केवल चार्वाक् दर्शन के अनुयायियों को छोड़कर प्रायः सभी लोगों का ऐसा विश्वास था। पाश्चात्य देशों में अधिक लोगों के प्रकृतिवादी होने के कारण मृत्यु का अर्थ जीवन का सर्वनाश ही समझा जाता है। कुछ समय से वहाँ पर विज्ञान ने इस समस्या को समझने का बहुत साहस किया है, और "सायकिकल रिसर्च" नामक विज्ञान की एक शाखा का काम इस प्रश्न का भलीभाँति अध्ययन करना ही है। इस क्षेत्र में काम करनेवाले अनेक विद्वानों को तो पूरा विश्वास हो गया है कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं कर देती; मृत्यु के पश्चात् भी जीवन है और मृत जीवों से हमारा वार्तालाप का सम्बन्ध हो सकता है। कभी-कभी हमको मृत जनों (प्रेतों) का दर्शन भी हो सकता है और होता है। बहुत सी घटनायें कभी-कभी ऐसी भी होती रहती हैं जिनमें मृत्यु के पश्चात् प्राप्त किये हुए जीवन में मृत्यु के पूर्व के जीवन के अनुभव की याद बनी रहती है। आजकल इस प्रकार की अनेक पुस्तकें छप रही हैं जिनमें मृत्यु के पश्चात् जीवन और पूर्वजन्म के सिद्ध करने के लिये अनेक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक प्रमाण दिये जाते हैं। योगवासिष्ठकार का मत तो स्पष्टतया ऐसा ही है जैसेकी ओर आजकल का दर्शन और विज्ञान हमें ले जा रहे हैं। यहाँ पर हम योगवासिष्ठ से मृत्यु-सम्बन्धी विचारों का संग्रह करके पाठकों के सामने रखते हैं।

(१) मौत डरने की वस्तु नहीं है :—

वसिष्ठजी का कहना है कि मृत्यु से डरना तो बिल्कुल ही मूर्खता है। क्योंकि मौत का दो में से एक ही अर्थ हो सकता है : या तो मरने पर मनुष्य का सर्वथा अन्त हो जाता हो या मृत्यु के पश्चात् उसे दूसरा जीवन मिलता हो। इन दोनों बातों में से जो भी हो अच्छी ही है। अन्त ही जब हो गया तो डर किस बात का ? चलो सब आफ़तों और मुसीबतों से सदा के लिये छुट्टी मिली। जीवन का, जिसमें नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं, झंझट मिटा। ऐसा होने पर अफ़सोस किस बात का और ऐसा होने से डर किस बात का है ? यदि मौत से जीवन का अन्त नहीं होता, बल्कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश होता है, तो फिर भी किस बात का डर और अफ़सोस है ? पुराने और रोगी शरीर को छोड़कर नये में प्रवेश करना किसको बुरा लगेगा ? यह तो ऐसा ही है जैसा कि फटे-पुराने कपड़ों को फेंक कर नये कपड़ों को पहनना, अथवा पुराने और टूटे-फूटे मकान को छोड़कर दूसरे नये मकान में प्रवेश करना। ऐसा होने पर तो दुःख के बजाय सुख मानना चाहिये।

(अ) मौत यदि सर्वनाश है तो बहुत अच्छी बात है :—

मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भवामयसंक्षयः । (६।१०१।२६)
मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽप्यभ्युपचयो महान् ॥ (६।१०१।२३)
भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः । (६।१०१।२३)
मरणं जीवितं तस्मान्न दुःखं न सुखं यतः ॥ (६।१०१।२४)

अगर मौत से प्राणी का सर्वथा नाश हो जाता हो और मरकर फिर किसी प्रकार का जीवन न हो तो इससे बढ़कर कौन-सा लाभ है ? क्योंकि तब तो संसार के सब ही दुःखों से छुटकारा मिल गया; होने, न होने, लेने और देने के ज्वर की शान्ति हो गई। ऐसी मौत ही तो सच्चा जीवन है, क्योंकि न उसके बाद सुख है और न दुःख।

(आ) मौत के पीछे यदि दूसरा जीवन है तो बहुत उत्सव की बात है :—

मृतस्य देहलाभश्चेत्तत्र एव बहूत्सवः ।
मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥ (६।१०१।२५)

देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथ ॥ (६।१०१।२२)

मृत्यु के पीछे जीव को यदि दूसरे नवीन शरीर की प्राप्ति होती है तो बहुत हर्ष का अवसर है, क्योंकि तब तो मौत का अर्थ शरीरका ही नाश है। ऐसा होने पर तो सुखी होना चाहिये। एक शरीर को छोड़ कर यदि दूसरा शरीर मिलता है तो बहुत ही खुशी का अवसर है। मरने पर तो आनन्द होना चाहिये न कि अफसोस !

योगवासिष्ठ के अनुसार मौत सर्वनाश नहीं है। मौत क्या है वह यहाँ बतलाया जाता है।

(२) मौत क्या है :—

मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते। (६।१८।१)
मृतो नष्ट इति प्रोक्तो मन्ये तद मृषा ह्यसत् ॥ (५।७१।६४)
स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वानुभूयते ॥ (५।७१।६५)
स्वसंकल्पान्तरस्थैर्यं मृतिरित्यभिधीयते। (६।१८।१)
वासनात्रस्थितो जीवो यात्युत्सृज्य शरीरकम् ॥ (५।७१।६७)
अन्यस्मिन्वितते देशे कालेऽन्यस्मिंश्च राघव। (५।७१।६८)
इतश्चेतश्च नीयन्ते जीवा वासनया स्वया ॥ (५।७०।६९)
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान्।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ (६।१०९।२४)
इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते। (६।१०९।२९)
मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ (६।१०९।३०)
अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्च्छनम्।
विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रत ॥ (३।२०।३१)
प्रतिभान्ति जगन्त्याशु मृतिमोहादनन्तरम्।
जीवस्योन्मीलनादक्ष्णो रूपाणीवाखिलान्यलम् ॥ (३।२१।१)
निमेषेणैव जीवस्य मृतिमोहादनन्तरम्। (३।२०।४४)
त्रिजगद्दृश्यसर्गश्रीः प्रतिभामुपगच्छति ॥ (३।२०।४५)
दिक्कालकलनाकाशधर्मकर्ममयानि च।
परिस्फुरन्त्यनन्तानि कल्पान्तस्थैर्यवन्ति च ॥ (३।२१।२)
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्धीन्द्रियादि च।
झटित्येव मृतेरन्ते वपुः पश्यति यौवने ॥ (३।२०।४८)

सर्वनाश करने वाली मौत कभी नहीं होती। ऐसा कहना कि मरा हुआ प्राणी नष्ट हो गया है बिल्कुल झूठ है। वह तो मरने पर दूसरे देश और काल में दूसरी सृष्टि का अनुभव करने लगता है। अपने संकल्पों के जगत् के भीतर स्थिर हो जाने को मौत कहते हैं (मौत में चेतना भीतर ही रहती है बाहर नहीं रहती)। एक शरीर को छोड़ कर जीव अपनी वासनाओं के आधार पर दूसरे देश और कालमें अपने को पाता है। वासना के कारण ही जीव इधर-उधर भ्रमता रहता है। जैसे स्वप्न के अनुभव करने वाले जीव की स्वप्न-संसार में मौत होजाती है और वह जाग्रत्-संसार में आकर जाग्रत्-रूपी स्वप्न देखने लगता है, ठीक इसी प्रकार यहाँ पर मर कर जीव दूसरे जगत् में जाग जाता है। वहाँपर जागनेपर यह लोक उसको एक स्वप्न सा मालूम पड़ने लगता है। मिथ्या मौत की मूर्च्छा का कुछ देर तक अनुभव करके पूर्व अवस्था को भूल कर जीव दूसरी अवस्था का अनुभव करने लगता है। जैसे आँख मींजते ही नाना प्रकार की स्वप्नसृष्टि का अनुभव होने लगता है वैसे ही मौत की मूर्च्छा आते ही दूसरे संसार का अनुभव उदय हो जाता है। मौत की मूर्च्छा आते ही तुरन्त ही तीनों लोक की विचित्र सृष्टि फिर अनुभव में आने लगती है। कल्प के अन्त तक स्थिर रहने वाले अनेक जगत् अपने-अपने देश, काल, आकाश, धर्म और कर्म सहित दिखाई पड़ने लगते हैं। मौत के बाद तुरन्त ही देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि, इंद्रिय आदि का अनुभव ऐसा होने लगता है जैसा कि जीव को युवावस्था में होता था।

(३) मरनेके समयका अनुभव :—

यदा व्यथावशान्नाड्यः स्वसंकोचविकासनैः।
गृह्णन्ति मारुतो देहे तदोज्झति निजां स्थितिम्। (३।५४।५९)
प्रविष्टा न विनिर्यान्ति गताः संप्रविशन्ति नो।
यदा वाता विनाडीत्वात्तदाऽस्पन्दात्स्मृतिर्भवेत्॥ (३।५४।६०)
न विशत्येव वातो न निर्याति पवनो यदा।
शरीरनाडीवैधुर्यान्मृत इत्युच्यते तदा॥ (३।५४।६१)
नाडीप्रवाहे विधुरे यदा वातविसंस्थितिम्।
जन्तुः प्राप्नोति हि तदा शाम्यतीवास्य चेतना॥ (३।५५।२)

केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति ।
मृत इत्युच्यते देहस्तदासौ जडनामकः ॥ (३।९९।४)
तस्मिन्देहे शवीभूते वाते चानिलतां गते ।
चेतनं वासनायुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति ॥ (३।९९।५)
जीव इत्युच्यते तस्य नामाणोर्वासनावतः । (३।९९।६)
मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ॥ (३।१८।६)
सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्संकल्पगर्भितैः ।
सर्वा एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समन्ततः ॥ (३।१८।१०)
स्ववातेऽन्तर्मृतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
मनसोऽन्तर्जगद्विद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ (३।१८।१०)
इदं दृश्यं परित्यज्य यदास्ते दर्शनान्तरे ।
स स्वप्न इव संकल्प इव नामाकृतिस्तदा ॥ (३।९९।८)
तस्मिन्नेव प्रदेशेऽन्तः पूर्ववत्स्मृतिमान्भवेत् ।
तदैव मृतिमूर्च्छान्ते पश्यत्यन्यशरीरकम् ॥ (३।९५।९)
यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र यावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ (३।६३।३२)

जब कि रोगों के कारण नाड़ियों में संकोच और विकास होता है तब शरीर में रहनेवाले प्राण की गति अस्तव्यस्त हो जाती है। भीतर गया हुआ साँस मुश्किल से बाहर आता है और बाहर निकलकर साँस कठिनाई से भीतर जाता है। नाड़ियों की गड़बड़ से प्राण की गति में गड़बड़ हो जाती है, और चेतना केवल भीतर ही रहती है, बाहर की ओर प्रवृत्त नहीं होती। शरीर की नाड़ियों की खराबी से जब कि प्राण-की गति ऐसे रुक जाये कि साँस न बाहर निकल सके और न भीतर जा सके, उस समय यह कहा जाता है कि प्राणी मर गया। नाड़ियों में प्राण की इस प्रकार गति रुक जाने पर ऐसा जान पड़ता है कि उस प्राणी की चेतना बिलकुल शान्त हो गई है। वायु की गति के रुक जाने पर प्राणी की सब चेष्टाएँ रुक जाती हैं और उसे मुर्दा कहते हैं। शरीर उस समय सर्वथा जड़ हो जाता है। शरीर के इस प्रकार मुर्दा हो जाने पर और प्राणी के प्राण बाहर निकलकर आकाश में स्थिर रहने पर वासनायुक्त चेतना आत्मा में स्थिर रहती है। उस सूक्ष्म वासनाओं-वाली चेतना का नाम जीव है। पुरुष के शरीर से निकलकर प्राणवायु बाहर के वायुमण्डल में स्थित हो जाता है। इस प्रकार अपने भीतर

नाना प्रकार के संकल्पों को धारण किये हुए अनेक प्राणवायुओं द्वारा भरी हुई सब दिशायें (उनको जो देख सकते हैं) दिखाई पड़ती हैं। वायुमण्डल में मुर्दों के प्राण और उन प्राणों के भीतर उनके मन और मनों के भीतर उनके जगत् इस प्रकार मौजूद हैं जैसे कि तिलों के भीतर तेल रहता है। जब जीव इस दृश्य संसार को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश करता है तो उसे ऐसा जान पड़ता है कि यह जगत् स्वप्न अथवा संकल्प-सा था। जिस स्थान पर जीव के शरीर की मौत होती है उसी स्थान पर उसे पहिले जगत् की तरह दूसरे जगत् का अनुभव होने लगता है। मौत की मूर्च्छा के खत्म होते ही उसे दूसरे शरीर का अनुभव होने लगता है। जो जीव बिना मोक्ष प्राप्त किये हुए मर जाते हैं वे सब इसी प्रकार वायुमण्डल में स्थित होकर अपने-अपने लोकों का अनुभव करते हैं।

(४) मौत के समय अज्ञानी को ही क्लेश होता है :—

अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथा सुखम्।
प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च॥ (३।५४।३६)
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः। (३।५४।३७)
दीनतां परमामेति परिलूनमिवाम्बुजम्॥ (३।५४।३८)
अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः।
मृतावनुभवत्यन्तर्दाहमग्नाविव च्युतः॥ (३।५४।३९)
यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्जनम्।
गच्छत्येषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः॥ (३।५४।४४)
परमान्ध्यमनालोको दिवाप्युदितवारकः।
साभ्रदिग्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः॥ (३।५४।४१)
मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमद्दृष्टिमण्डलः।
अकाशीभूतवसुधो वसुधाभूतखान्तरः॥ (३।५४।४२)
परिवृत्तककुप्चक्र उह्यमान इवार्णवे।
नीयमान इवाकाशे घननिद्रोन्मुखाशयः॥ (३।५४।४३)
अन्धकूप इवापन्नः शिलान्तरिव योजितः।
स्वयं जडीभवद्वर्णो विनिकृत्त इवाशये॥ (३।५४।४४)
पततीव नभोमार्गात्तृणावर्त इवार्पितः।
रथे द्रुत इवारूढो हिमवद्गलनोन्मुखः॥ (३।५४।४५)

व्याकुर्वन्निव संसारं बान्धवान्न स्पृशन्निव ।
भ्रमितक्षेपणेनेव वातयन्त्र इवास्थितः ॥ (३।५४।४६)
भ्रमितो वा भ्रम इव कृष्टो रसनयेव वा ।
भ्रमन्निव जलावर्ते शस्त्रयन्त्र इवार्पितः ॥ (३।५४।४७)
प्रोह्यमानस्तृणमिव वहत्पर्जन्यमारुते ।
आरुह्य वारिपूरेण निपतन्निव चार्णवे ॥ (३।५४।४८)
अनन्तगगने श्वभ्रे चक्रावर्ते पतन्निव ।
अब्भिरुर्वी विपर्यासदशामनुभवन्स्थितः ॥ (३।५४।४९)
पतन्निवानवरतं प्रोत्पतन्निव चाभितः ।
सुत्काराकर्णनोद्भ्रान्त पूर्णसर्वेन्द्रियव्रणः ॥ (३।५४।५०)
क्रमाच्छ्यामलतां यान्ति तस्य सर्वाक्षसंविदः । (३।५४।५१)
पूर्वापरं न जानाति स्मृतिस्तानवमागता ॥ (३।५४।५२)
मनः कल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः ।
अविवेकेन तेनासौ महामोहे निमज्जति ॥ (३।५४।५३)

धारणा का अभ्यास करनेवाला तथा युक्ति (ज्ञान) युक्त पुरुष धारणा करके शरीर को सुखपूर्वक त्याग देता है। लेकिन मूर्ख (अज्ञानी) को, जिसके वश में अपना मन नहीं है, मरते समय बहुत दुःख होता है, और वह टूटे हुए कमल की नाई दीन हो जाता है। जिसने शास्त्रों के अनुसार अपनी बुद्धि को शुद्ध नहीं किया है, जो दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में रहता है उसको मरते समय ऐसी आन्तरिक वेदना होती है जैसे कि अग्निकुण्ड में गिर पड़ा हो। मृत्यु के समय जब कि गले में घरड़वा, चेहरेपर विकृति, और आँखों के सामने अन्धेरा होने लगता है, तब ऐसे पुरुष का मन जिसको विवेक नहीं हैं, बहुत दुःखी होता है। तब घना अन्धेरा छा जाता है, आँखों से कुछ दिखाई नहीं पड़ता, दिन में ही तारे दिखाई पड़ने लगते हैं, चारों ओर आकाश में काले बादल छाए हुए नजर आने लगते हैं, हृदय दर्द से मानो फटने लगता है, दृश्यमान पदार्थ घूमते हुए मालूम पड़ने लगते हैं; पृथ्वी आकाश के स्थान पर और आकाश पृथ्वी के स्थान पर दिखाई पड़ने लगता है। सब दिशाएँ घूमती हुई दिखाई पड़ती हैं; ऐसा जान पड़ता है कि समुद्र के ऊपर को ले जाया जा रहा है, आकाश में उड़ाया जा रहा है। गहरी नींद की ओर मन की प्रवृत्ति होती है। ऐसा जान पड़ता है कि

अन्धेरे कूएँ में डाल दिया गया हो या पत्थर के भीतर दबा दिया गया हो। रंग फीका पड़ जाता है और हृदय विदीर्ण सा हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है मानो आँधी द्वारा फेंका हुआ आकाशमार्ग से गिर रहा हो; तेजी से दौड़नेवाले रथपर सवार हो; बर्फ की तरह गलता हो; संसार का अनुभव फैलता जा रहा हो; बन्धुजनों को छू नहीं सकता हो; घुमाकर किसी वायुयंत्र में जोर से फेंक दिया गया हो; चक्कर आ गया हो; जीभ खींच ली गई हो; जल के भँवर में पड़ कर चक्कर खाने लगा हो; शस्त्रों की मशीन में भींच दिया गया हो; बादल को जोर से उड़ाए ले जाती हुई हवा में तृण के समान उड़ता हुआ हो; जल के साथ जोर से समुद्र में पड़ता हो; अनन्त आकाश में चक्कर खाकर गिरते हुए समुद्र और पृथ्वी को उलटता हुआ देखता हो। चारों ओर गिरता पड़ता हुआ चिल्लाने की आवाज सुनता हुआ पागलसा होकर अपनी सब इन्द्रियों में चोट लगी हुई अनुभव करता है। उसकी सब इन्द्रियों का ज्ञान धीरे-धीरे मन्द पड़कर चारों ओर अन्धेरा छा जाता है। स्मरण शक्ति इतनी खराब हो जाती है कि उसको पहिले पीछे का ज्ञान तनिक भी नहीं रहता। मोह के कारण मन में कल्पना शक्ति भी नहीं रहती, और सब प्रकार का विवेक नष्ट होकर वह महा अन्धेर में डूब जाता है।

(५) मौत के पीछे का अनुभव :—

मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येकेनानुभूयते।
यैषा तां विद्धि सुमते महाप्रलययामिनीम् ॥ (३।४०।३१)
तदन्ते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक्पृथक्।
सहजस्वप्नसंकल्पान्संभ्रमाचलनृत्यवत् ॥ (४।४०।३२)
महाप्रलयरात्र्यन्ते चिरादात्ममनोवपुः।
यथेदं तनुते तद्वत्प्रत्येकं मृत्यनन्तरम् ॥ (३।४०।३३)
अन्ये त्वमिव ये जीवास्तेषां मरणजन्मसु।
स्मृतिः कारणतामेति मोक्षाभाववशादिह ॥ (३।४०।३७)
जीवो हि मृतिमूर्च्छान्ते यदन्तः प्रोन्मिषन्निव।
अनुन्मिषित एवास्ते तत्प्रधानमुदाहृतम् ॥ (३।४०।३८)
तद्व्योमप्रकृतिः प्रोक्ता तद्व्यक्तं जडाजडम्।
संस्मृतेरस्मृतेश्चैव क्रम एष भवोदये ॥ (३।४०।३९)

बोधोन्मुखत्वे हि महत्तत्प्रबुद्धं यदा भवेत्।
तदा तन्मात्रदिक्कालक्रिया भूताद्युदेति स्वात्॥ (३।४०।४०)
तदेवोच्छूनमाबुद्धं भवतीन्द्रियपञ्चकम्।
तदेव बुध्यते देहः स एषोऽस्यातिवाहिकः॥ (३।४०।४१)
चिरकालप्रत्ययतः कल्पनापरिपीवरः।
आधिभौतिकताबोधमाधत्ते चैष बालवत्॥ (३।४०।४२)
ततो दिक्कालकलनास्तदाधारतया स्थिताः।
उद्यन्त्यनुदिता एव वायोः स्पन्दनक्रिया इव॥ (३।४०।४३)
वृद्धिमित्थमयं यातो मुधैव भुवनभ्रमः।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमस्त्वनुभूतोऽप्यसन्मयः॥ (३।४०।४४)
यत्रैव म्रियते जन्तुः पश्यत्याशु तदैव सः।
तत्रैव भुवनाभोगमिममित्थमिव स्थितम्॥ (३।४०।४६)
सुरपत्तनशैलार्कतारानिकरसुन्दरम्।
जरामरणवैलव्यं च व्याधिसङ्कटकोटरम्॥ (३।४०।४७)
स्वभावाभावसंरम्भस्थूलसूक्ष्मचराचरम्।
साब्ध्यद्र्युर्वीनदीशाहोरात्रिकल्पक्षणक्षयम्॥ (३।४०।४८)

मरने के समय प्रत्येक जीव मूर्च्छा का अनुभव करता है। वह मूर्च्छा जीव के अनुभव में महाप्रलय की रात्रि के समान होती है। उसके पश्चात् प्रत्येक जीव अपनी अपनी सृष्टि स्वप्न और संकल्प की नाईं रचता है। जैसे महाप्रलय की रात्रि के पश्चात् परमात्मा इस दृश्य-जगत् की रचना करता है तैसे ही प्रत्येक जीव मृत्यु के पीछे अपने अपने परलोक की सृष्टि करता है। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता तब तक जीव को अपनी स्मृति के कारण मरने जीने का अनुभव होता है। मौत की मूर्च्छा के पश्चात् जीव का अपने भीतर जागकर जो ज्ञान-विस्तार होने लगता है उसे प्रधान कहते हैं। वही जड़-चेतनमय ज्ञानका विस्तार अव्यक्त कहलाता है; उसीसे आकाश की उत्पत्ति होती है। संसार की प्रलय और उसका उद्गम इसी में और इसी से होता है। जब बोध का उदय होता है तो उस अवस्था का नाम महत् है। उसके पश्चात् तन्मात्रायें आदि कालक्रिया और महाभूत आदि की उत्पत्ति होती है। वही ज्ञान बाहर की ओर प्रवृत्त होकर पाँचो इन्द्रियाँ हो जाता है। वही आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर हो जाता है। कुछ समय तक कल्पना द्वारा परिपोषित होकर वह सूक्ष्म शरीर बालक

सा स्थूल शरीर धारण कर लेता है। उसी ज्ञान से दिक् और काल के भेद उदय होकर उसी के आधार पर ऐसे स्थिर रहते हैं जैसे वायु-मण्डल में उसके स्पन्दन। जैसे स्वप्न में स्त्रीसङ्ग का अनुभव होने पर भी असत् ही होता है वैसे ही यह सब मृत्यु के पीछे उदय हुआ संसार का विस्तार असत् होता हुआ भी विस्तृत दिखाई पड़ता है। जहाँ पर कोई जीव मरता है वहीं पर वह इस प्रकार की सृष्टि का अनुभव करने लगता है। वहीं पर उसे इन्द्रपुरी, पहाड़, तारागण, बुढ़ापा, कमजोरी, संकट, रोग, मौत, स्वभाव, अभाव, स्थूल और सूक्ष्म, जड़ चेतन सृष्टि, समुद्र, पहाड़, पृथ्वी, दिन, रात, क्षण, कल्प, सर्जन और संहार आदि मय जगत् का अनुभव होने लगता है।

(६) मरने के पश्चात् का अनुभव अपनी अपनी वासना और कर्मों के अनुसार होता है :—

स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम्।
मूर्च्छान्तेऽनुभवन्त्यन्तः क्रमेणैवाक्रमेण च॥ (३।५५।२६)
आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात्।
बन्धुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इव वेदिनः॥ (३।५५।२७)
ततो यमभटा एते कालपाशान्विता इति।
नीयमानः प्रयाम्येभिः क्रमाद्यमपुरं त्विति॥ (३।५५।२८)
उद्यानानि विमानानि शोभनानि पुनः पुनः।
स्वकर्मभिरुपात्तानि दिव्यानीत्येव पुण्यवान्॥ (३।५५।२९)
हिमानीकण्टकश्वभ्रशस्त्रपत्रवनानि च।
स्वकर्मदुष्कृतोत्थानि सम्प्राप्तानीति पापवान्॥ (३।५५।३०)
इयं मे सौम्यसम्पाता सरणिः शीतशाद्वला।
स्निग्धच्छाया सवापीका पुरःसंस्थेति मध्यमः॥ (३।५५।३१)
अयं प्राप्तो यमपुरमहमेष स भूतपः।
अयं कर्मविचारोऽत्र कृत इत्यनुभूतिमान्॥ (३।५५।३२)
इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने।
गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च॥ (३।५५।३९)
यः स्वर्गोऽयं मया भुक्तो भुक्तोऽयं नरकोऽथवा।
इमास्ता योनयो भुक्ता जायेऽहं संसृतौ पुनः॥ (३।५५।२७)

भवन्ति षड्विधाः प्रेतास्तेषां भेदमिमं शृणु ।
सामान्यपापिनो मध्यपापिनः स्थूलपापिनः ॥ (३।९९।११)
सामान्यधर्मा मध्यमधर्मा चोत्तमधर्मवान् ॥ (३।९९।१२)
कश्चिन्महापातकवान्वत्सरं स्मृतिमूर्च्छनम् ।
विमूढोऽनुभवत्यन्तः पाषाणहृदयोपमः ॥ (३।९९।१३)
ततः कालेन सम्बुद्धो वासनाजठरोदितम् ।
अनुभूय चिरं कालं नारकं दुःखमक्षयम् ॥ (३।५९।१४)
भुक्त्वा योनिशतान्युच्चैर्दुःखादुःखान्तरं गतः ।
कदाचिच्छममायाति संसारस्वप्नसंभ्रमे ॥ (३।९९।१९)
अथवा मृतिमोहान्ते जड़दुःखशताकुलाम् ।
क्षणाद्वृक्षाद्दितामेव हृत्स्थामनुभवन्ति ते ॥ (३।९९।१७)
स्ववासनानुरूपाणि दुःखानि नरके पुनः ।
अनुभूयाथ योनीषु जायन्ते भूतले चिरात् ॥ (३।९९।१७)
अथ मध्यमपापो यो मृतिमोहादनन्तरम् ।
स शिलाजठरं जाड्यं किञ्चित्कालं प्रपश्यति ॥ (३।९९।१८)
ततः प्रबुद्धः कालेन केनचिद्वा तदैव वा ।
तिर्यगादिक्रमैर्भुक्त्वा योनीः संसारमेष्यति ॥ (३।९९।१९)
मृत एवानुभवति कश्चित्सामान्यपातकी ।
स्ववासनानुसारेण देहं सम्पन्नमक्षतम् ॥ (३।९९।२०)
स स्वप्न इव संकल्प इव चेतति तादृशम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे तस्य स्मृतिरित्थमुदेति च ॥ (३।९९।२१)
ये तूत्तममहापुण्या मृतिमोहादनन्तरम् ।
स्वर्गविद्याधरपुरं स्मृत्वा त्वनुभवन्ति ते ॥ (३।९९।२२)
ततोऽन्यकर्मसदृशं भुक्त्वाऽन्यत्र फलं निजम् ।
जायन्ते मानुषे लोके सश्रीके सज्जनास्पदे ॥ (३।९९।२३)
ये च मध्यमधर्माणो मृतिमोहादनन्तरम् ।
ते व्योमवायुवलिताः प्रयान्त्योषधिपल्लवम् ॥ (३।९९।२४)
तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भे जातिक्रमोचिते ॥ (३।९९।२९)

मौत की मूर्च्छा के पश्चात् प्रेत लोग (मरे हुए जीव) अपनी अपनी वासना के अनुसार क्रमपूर्वक अथवा क्रम बिना इस प्रकार की स्थिति का अनुभव करते हैं :—हम मर गये हैं और अब बन्धुओं द्वारा

दिये पिण्ड आदि से हमारा नवीन शरीर बना है। तब ऐसा अनुभव होता है कि यमराज के दूत काल के पासों में बाँध कर हमें यमपुर को ले जा रहे हैं। पुण्यवान् प्रेतों को अपने शुभ कर्मों द्वारा प्राप्त अच्छे अच्छे स्वर्ग के बाग़ और विमान दिखाई पड़ते हैं। पापियों को उनके बुरे कामों द्वारा उत्पन्न बर्फ़ की चट्टानें, काँटे, गड्ढे, शस्त्र, पत्ते और वन दिखाई पड़ते हैं। जो मध्यम श्रेणी के (न पुण्यात्मा और न पापी) प्रेत हैं उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि वे ऐसे मार्ग पर चल रहे हैं जो बहुत सुगम है, जो शीतल (हरे) घास से भरा हुआ है, जिसपर ठण्ढी छाया और पानी पीने के लिये कुएँ हैं। तब प्रेत को ऐसा अनुभव होता है कि वह यमपुर में पहुँचकर यमराज के सामने पेश किया गया है; वहाँ-पर उसके कर्मोंके ऊपर विचार किया जाता है; कर्मों के अनुसार उनका फल मिलता है; शुभ कर्मों के कारण स्वर्ग में और अशुभ कर्मों के कारण नरक में वह जा रहा है; वह स्वर्ग अथवा नरक में अपने कर्मों के फल भोग रहा है; अनेक योनियों का भोग कर रहा है; और फिर उसी जगत् में (जहाँ कि वह मरा था) उत्पन्न हो रहा है। प्रेत ६ प्रकार के होते हैं, उनके भेद ये हैं:—सामान्य पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले और उत्तम धर्मवाले। कोई-कोई महा पाप प्रेत साल भर तक मृत्यु की मूर्च्छा (अज्ञ अवस्था) का अनुभव करके अपने भीतर पत्थर जैसी जड़ अवस्था का अनुभव करता है। कुछ समय के पीछे उस अवस्था से जाग कर वह अपनी वासनाओं से उत्पन्न हुए नरक का बहुत समय तक कठोर दुःख भोगकर नाना प्रकार की नीची और ऊँची योनियों में दुःख भोग कर संसाररूपी स्वप्न के भ्रम में किसी समय शान्ति पाता है। अथवा मौत की मूर्च्छा के पश्चात् वे नाना-प्रकार के जड़ स्थिति के दुःखों को वृक्षादि योनियों में अनुभव करके, अपनी वासनाओं के अनुसार नरक लोक के दुःख भोग कर, बहुत समय के पीछे पृथ्वीमण्डलपर अनेक योनियों में जन्म लेते हैं। मध्यम पाप-वाले जीव मौत की मूर्च्छा के पश्चात् पत्थर के भीतर जैसी जड़ता होती है वैसी का अनुभव अधिक या थोड़े समय तक करके पशु आदि योनियों का भोग करके (मनुष्य) संसार में आते हैं। सामान्य (थोड़े से) पापवाला जीव मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार इस प्रकार दूसरे शरीर का अनुभव करने लगता है जैसे स्वप्न और संकल्प के भीतर किया जाता है, और उसकी चेतना तुरन्त ही उदय हो जाती

है। उत्तम और महा पुण्यवाले जीव मौत की मूर्च्छा से जागने पर अपने विचारों के अनुसार स्वर्ग में विद्याधर आदि की योनियों में अपने अपने कर्मों का सुख भोगकर मनुष्य लोक में सज्जन और धन-सम्पन्न घरों में जन्म लेते हैं। मध्यम पुण्यवाले जीव मौत की मूर्च्छा के पश्चात् वायु द्वारा उड़कर, औषधि और फूलों आदि की योनियों में अपने अपने कर्मों का यथायोग्य फल भोगकर उनके द्वारा मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करके वीर्य के द्वारा यथोचित गर्भ में प्रवेश करते हैं।

(७) परलोक के अनुभव के पश्चात् फिर वही जीवन की दशायें भुगतनी पड़ती हैं:—

संसुप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ नरे।
तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि॥ (३।९९।३८)
स गर्भो जायते लोके पूर्वकर्मानुसारतः।
भव्यो भवत्यभव्यो वा बालको ललिताकृतिः॥ (३।५९।३९)
ततोऽनुभवतीन्द्वाभं यौवनं मदनोन्मुखम्।
ततो जरां पद्ममुखे हिमाशनिमिव च्युताम्॥ (३।९९।४०)
ततोऽपि व्याधिमरणं पुनर्मरणमूर्च्छनाम्।
पुनः स्वप्नवदायातं पिण्डैर्देहपरिग्रहम्॥ (३।९९।४१)
याम्यं याति पुनर्लोकं पुनरेव भ्रमक्रमम्।
भूयो भूयोऽनुभवति नाना योन्यन्तरोदये॥ (३।९९।४२)
इत्याजवं जवीभावमामोक्षमतिभासुरम्।
भूयो भूयोऽनुभवति व्योम्न्येव व्योमरूपवान्॥ (३।५९।४३)

इस प्रकार (जैसा कि ऊपर बतलाया है) वह जीव, जिसकी सब इन्द्रियाँ सुप्त अवस्था में हैं, मनुष्य के भीतर वीर्य रूप में आ जाता है। वह वीर्य स्त्री की योनि में पड़कर गर्भ का रूप धारण कर लेता है। समय पाकर वह गर्भ अपने पूर्व कर्मों के अनुसार अच्छा या बुरा, सुन्दर बालक बन कर जन्म लेता है। तब वह बालक चन्द्रमा के समान धीरे धीरे बड़ा होकर काम पूर्ण यौवन का अनुभव करता है। तब उस बुढ़ापे का जिसमें कि उसके मुख रूपी कमल पर बर्फ़ का वज्रपात होता है। तब रोगों का और मरने की मूर्च्छा का अनुभव; तब फिर उसी स्वप्न के सदृश पिण्डादि द्वारा उत्पन्न शरीर का; फिर उन लोकों का जहाँ पर उसे अपने कर्मों के

अनुसार जाना पड़ता है; तब नाना प्रकार की, एक के पीछे दूसरी, योनियों का। इस प्रकार जब तक जीव को इस जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति नहीं मिलती तब तक बार-बार एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने का अनुभव होता ही रहता है।

(८) योगमार्ग पर चलनेवालों की गति :—

योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः। (६।१२६।४७)
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम्॥ (६।१२६।४८)
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च। (६।१२६।४८)
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः॥ (६।१२६।४९)
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते। (६।१२६।४९)
भोगबाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि॥ (६।१२६।४०)
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम्। (६।१२६।५०)
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः॥ (६।१२६।५१)
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्॥ (६।१२६।५१)

जिस जीव ने योग की कुछ भूमिकाओं को पार कर लिया है उसके पाप उन भूमिकाओं के अनुसार क्षीण हो जाते हैं। मरने के पश्चात् वह जीव सुंदर स्त्रियों के साथ देवलोक के विमानों में बैठकर, लोकपालों के नगरों में रहकर और सुमेरु पर्वत के उपवन के कुंजों में विचरकर अनेक प्रकार के सुखों का भोग करता है। जब इस प्रकार के अनेक भोग भोगने पर उसके पूर्वकाल के शुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं और पाप कर्म उदय होते हैं तो वह इस संसार में गुणयुक्त, धनवान्, पवित्र आचारवाले योगियों के घर में आकर जन्म लेता है। जन्म लेकर योग मार्ग का आश्रय लेता है और पूर्व जन्म में जिन भूमिकाओं का अभ्यास कर चुका था उनको शीघ्र ही स्मरण करके उनसे ऊँची भूमिकाओं का अभ्यास करना आरम्भ कर देता है और क्रम से ऊँचे चढ़ता है।

(९) एक शरीर को छोड़कर जीव दूसरे में प्रवेश करता है :—

आशापाशशताबद्धा वासनाभावधारिणः।
कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजाः॥ (४।४३।३६)

काले काले चिता जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वयम्।
भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥ (६।५१।३९)

जैसे पक्षी एक वृक्ष को छोड़ कर दूसरे वृक्ष पर जा बैठता है वैसे ही आशा के सैकड़ों फाँसों से बँधा हुआ और अनेक वासनाओं के भावों से युक्त जीव भी एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में चला जाता है। अपने भीतर की वासनाओं की कलियों के खिलने से भावना के अनुसार आकार धारण करने के कारण समय-समय पर जीव अपने विचार के अनुसार अपना आकार बदलता रहता है।

(१०) जन्ममरणका अनुभव तब तक होता है जब तक कि आत्मज्ञान नहीं होता :—

तावद्भ्रमन्ति संसारे वारिण्यावर्तराशयः।
यावन्मूढा न पश्यन्ति स्वमात्मानमनिन्दितम् ॥ (४।४३।२८)
दृष्ट्वात्मानमसत्त्यक्त्वा सत्यमासाद्य संविदम्।
कालेन पदमागत्य जायन्ते नेह ते पुनः ॥ (४।३३।२९)

जब तक अज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्मा का दर्शन नहीं कर पाते तभी तक इस संसार में जल में भँवरों की नाईं चक्कर काटते रहते हैं। आत्मा का दर्शन करके, असत्य का त्याग करके, सत्य ज्ञान पर आरूढ़ होकर और परम पदको पाकर मौत के पीछे जीव इस संसार में पुनर्जन्म नहीं पाता। मौत से उसका स्थूल शरीर नष्ट हो जाने पर उसे किसी दूसरे शरीर में जाने की आवश्यकता नहीं रहती।

(११) मरने के पीछे जीवन्मुक्त की गति :—

सैव देहक्षये राम पुनर्जननवर्जिता।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नायान्ति दृश्यताम् ॥ (६।४२।१३)
भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ (६।४२।१४)
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ (३।९।१४)
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥ (३।९।१९)

जीवन्मुक्ति जिसको प्राप्त हो गई है (अर्थात् जो अपने सांसारिक जीवन में रहते हुए ही मुक्त अवस्था का अनुभव करने लगा है) वह

मरने के पीछे दूसरा जन्म प्राप्त नहीं करता। जीवन्मुक्त मरकर विदेह मुक्त हो जाता है। उसे फिर दृश्य जगत् का अनुभव नहीं करना पड़ता। जीवन्मुक्त के मन की वासनाएँ इतनी शुद्ध हो जाती हैं कि उनके कारण वह मौत के पीछे संसार में ऐसे जन्म नहीं लेता जैसे भुना हुआ बीज नहीं उगता। जैसे हवा की गति रुक जाती है वैसे ही मौत द्वारा स्थूल शरीर के नष्ट हो जानेपर जीवन्मुक्तता की दशा से वह विदेहमुक्तता की दशा में प्रवेश करता है। विदेहमुक्त को जन्म, मरण, नाश आदि का अनुभव नहीं होता। वह न सत् कहा जा सकता है न असत्, न "मैं" और न "दूसरा" (अर्थात्—विदेहमुक्ति वह दशा है जिसमें जीव ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है)।

(१२) आत्मा के लिये जीवन-मरण नहीं है:—

न जायते न म्रियते चेतनः पुरुषः क्वचित्।
स्वप्नसंभ्रमवद्भ्रान्तमेतत्पश्यति केवलम्॥ (३।५५।६७)
पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति।
चेतनव्यतिरिक्तत्वे वदान्यत्किं पुमान्भवेत्॥ (३।५४।६८)
कोऽद्य यावन्मृतं ब्रूहि चेतनं कस्य किं कथम्।
म्रियन्ते देहलक्षाणि चेतनं स्थितमक्षयम्॥ (३।५४।६९)
वासनामात्रवैचित्र्यं यज्जीवोऽनुभवेत्स्वयम्।
तदैव जीवमरणे नामनी परिकल्पिते॥ (३।५४।७१)
एवं न कश्चिन्म्रियते जायते न च कश्चन।
वासनावर्तगर्तेषु जीवो लुठति केवलम्॥ (३।५४।७२)
यथा लतायाः पर्वाणि दीर्घायां मध्यमध्यतः।
तथा चेतनसत्ताया जन्मानि मरणानि च॥ (३।५४।६६)
शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति। (३।५५।३)
न जायते न म्रियते संविदाकाशमक्षयम्॥ (३।१४१।१६)

चेतन पुरुष (आत्मा) न कभी जन्म लेता है न मरता है। भ्रम के कारण केवल स्वप्न की नाईं इन सब बातों का अनुभव करता है। पुरुष तो चेतनामात्र है; वह कब और कहाँ नष्ट होता है? चेतनता के अतिरिक्त पुरुष में और क्या है? लाखों शरीरों का नाश होता रहता है, लेकिन चेतन आत्मा तो अक्षय स्थित रहता है। कौन ऐसा जीव आजतक मरा है जिसकी चेतना किसी प्रकार नष्ट हो गई

हो? वासनाओं की नाना रूपों में तबदीली होने का नाम ही जीवन और मरण है। न कोई जीव मरता है और न कोई उत्पन्न होता है, केवल अपनी वासनाओं के भँवरवाले गड्ढे में गिरकर लोटपोट होता रहता है।

(१३) आयु के थोड़े और अधिक होने का कारण :—

देशकालक्रियाद्रव्यशुद्ध्यशुद्धी स्वकर्मणाम् ।
न्यूनत्वे चाधिकत्वे च नृणां कारणमायुषः ॥ (३।९४।३०)
स्वकर्मधर्मे ह्रसति ह्रसत्यायुर्नृणामिह ।
वृद्धे वृद्धिमुपायाति सममेव भवेत्समे ॥ (३।९४।३०)
वृद्धमृत्युप्रदैर्वृद्धः कर्मभिर्मृतिमृच्छति ।
बालमृत्युप्रदैर्बालो युवा यौवनमृत्युदैः ॥ (३।९४।३१)
यो यथाशास्त्रमारब्धं स्वधर्ममनुतिष्ठति ।
भाजनं भवति श्रीमान्स यथाशास्त्रमायुषः ॥ (३।९४।३२)
मृत्यो न किञ्चिच्छक्तस्त्वमेको मारयितुं बलात् ।
मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तृणीति नेतरत् ॥ (३।२।१०)

मनुष्यों की आयु के अधिक और कम होने में देश, काल, क्रिया और द्रव्यों की तथा उनके किये हुए कर्मों की शुद्धि और अशुद्धि ही कारण होते हैं। आयु का घटना बढ़ना और सम रहना मनुष्यों के धर्म और कर्मों के ऊपर निर्भर है। ऐसे कर्मों से जो वृद्धता में मौत लाते हैं बुढ़ापे में मौत आती है, और ऐसे कर्मों के करने से जो बालकपन में मौत लाते हैं बचपन में मौत होती है। ऐसे कर्मों के करने से जो यौवनावस्था में मौत लाते हैं यौवन में मौत आती है। जो शास्त्रों के अनुसार धर्म और कर्मों को करता है उसको शास्त्र में बतलाई हुई आयु की प्राप्ति होती है। हे मृत्यो! तू अपने बल से किसी को नहीं मार सकती! जो मरता है वह अपने ही कर्मों द्वारा मारा जाता है, किसी दूसरे कारण से नहीं।

(१४) कौन मौत के वस से बाहर है :—

दोषमुक्ताफलप्रोता वासनातन्तुसन्ततिः ।
हृदि न ग्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।९)

निःश्वासवृक्षक्रकचाः सर्वदेहलताघुणाः ।
आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।६)
शरीरतरुसर्पौघाश्चिन्तार्पितशिरःफणाः ।
आशा यं न दहन्त्यन्तर्मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।७)
रागद्वेषविषापूरः स्वमनोबिलमन्दिरः ।
लोभव्यालो न भुंक्ते यं मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।८)
तीतावेशविवेकाम्बुः शरीराम्भोधिवाडवः ।
न निर्दहति यं कोपस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।९)
यन्त्रं तिलानां कठिनं राशिमुग्रमिवाकुलम् ।
यं पीडयति नानङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।१०)
एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।
संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।११)
वपुःखण्डाभिपतितं शाखामृगमिवोदितम् ।
न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।१२)

जिस मनुष्य के गले में पापरूपी मोतियों से गुन्दी हुई वासनारूपी तागों की मालायें नहीं हैं (अर्थात् जिसके चित्त में पापवासनायें नहीं हैं); जिसको मानसिक रोग रूपी आरे नहीं चीरते, जो कि सांसों के वृक्ष को काटते हैं और सारे शरीर में घुण पैदा कर देते हैं (अर्थात् जो मानसिक रोगों से मुक्त हैं); जिसे चिन्ता रूपी फणों वाली और शरीर रूपी वृक्ष में वास करनेवाली आशारूपी सर्पिणियां अपने विष से नहीं जलातीं (अर्थात् जो सर्व प्रकार की आशाओं से मुक्त है जो कि चिन्ता उत्पन्न करने वाली हैं); जिसको राग द्वेष के विष से भरा हुआ मनरूपी बिल में रहने वाला लोभरूपी सर्प नहीं डँसता (अर्थात् जो लोभ से बरी है); जिसको विवेकरूपी जल को सुखानेवाला और शरीररूपी समुद्र को जलानेवाला क्रोधरूपी वड़वानल (समुद्र की अग्नि) नहीं जलाता (अर्थात् जो क्रोध के आवेश में आकर विवेक को खोकर अपने शरीर को क्षीण नहीं करता); जिसको कामदेव इस प्रकार नहीं पीड़ा देता जैसे कि तिलों के बड़े और कड़े ढेर को कोल्हू पीड़ देता है (अर्थात् जो काम के वश में नहीं है); जिसका मन एक निर्मल परम पावन ब्रह्म में स्थित होकर शान्त हो गया है; और जिसका चञ्चल मनरूपी बन्दर शरीररूपी टुकड़ोंपर नहीं आ गिरता (अर्थात् जो शरीर की

सुन्दरता पर मोहित नहीं होता) उसको मौत भी नहीं खा सकती, चाहे वह उसे कितना ही खाना चाहे (अर्थात् वह पुरुष मौत के कब्जे से बाहर है)।

१४—ब्रह्मा

योगवासिष्ठ के जीव और जगत् सम्बन्धी विचार पाठकों के सामने विस्तृत आकार में रक्खे जा चुके हैं। अब हमको यह बतलाना है कि योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् का कारण क्या है। जगत् की रचना कौन करता है और किससे जगत् और जीव उदय होते हैं, कहां रहते हैं और किसमें विलीन हो जाते हैं ? योगवासिष्ठ में जगत् की सृष्टि करने वाले का नाम ब्रह्मा है। वह ब्रह्मा नित्य और अनन्त परम तत्त्व ब्रह्म की सर्जन शक्ति का मूर्तिमान् आकार है। ब्रह्म की स्पन्द शक्ति ही ब्रह्मा के आकार में प्रकट होकर जगत् की सृष्टि करती है। सबसे पहिले यहां ब्रह्मा का वर्णन किया जाएगा।

(१) जगत् की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है :—

सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनादिप्रजापतिः।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाद्यापि स्थिता स्थितिः॥ (३।९९।४७)
संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः।
तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत्॥ (३।१८६।६५)

सृष्टि के आदि में स्वप्नपुरुष की नाईं जो आदि प्रजापति (प्रथम सृष्टिकर्ता ब्रह्मा) उत्पन्न हुआ था वह अब भी स्थित है। वह आदि प्रजापति जैसा-जैसा संकल्प करता है वैसी-वैसी सृष्टि उत्पन्न होती है। यह सारा जगत् उसी की कल्पना है।

(२) ब्रह्मा का स्वरूप मन है :—

मन एव विरिञ्चित्वं तद्धि संकल्पनात्मकम्।
स्ववपुः स्फारतां नीत्वा मनसेदं वितन्यते॥ (३।३।३४)
विरिञ्चो मनसो रूपं विरिञ्चस्य मनो वपुः। (३।३।१९)
मनस्तामिव यातेन ब्रह्मणा तन्यते जगत्॥ (३।३।२९)

मन ही ब्रह्मा का रूप धारण करता है। ब्रह्मा संकल्प करनेवाला मन है। मन ही अपने-आप को विस्तृत करके इस संसार की रचना करता है। मन ब्रह्मा का स्वरूप है और ब्रह्मा मन का स्वरूप है। मन का रूप धारण करके ही ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करता है।

(३) ब्रह्मा की उत्पत्ति परमब्रह्म से होती है :—

मनः सम्पद्यते तेन महतः परमात्मनः ।
सुस्थिरादस्थिराकारस्तरङ्ग इव वारिधेः ॥ (३।१।१९)
स्वयमक्षुब्धविमले यथा स्पन्दो महाम्भसि ।
संसारकारणं जीवस्तथायं परमात्मनि ॥ (३।१००।२९)
निस्पन्दवपुषस्तस्य स्पन्दत्वमाचिदेव हि ।
प्रदेशाद्घनतामेति सौम्योऽब्धिरचलनादिव ॥ (४।४२।४)
अन्तरब्धेजलं यद्वत्स्पन्दास्पन्दवदीहते ।
सर्वशक्तिस्तथैकत्र गच्छति स्पन्दशक्तिताम् ॥ (४।४२।५)
आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा रसति मारुतः ।
तथा चैवात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम् ॥ (४।४२।६)
स्वशिखास्पन्दशक्त्यैव दीपः सौम्यो यथोन्नतम् ।
एति तद्वदसावात्मा तत्स्वे वपुषि वल्गति ॥ (५।४२।७)
य एवानुभवात्मायं चित्स्पन्दोऽस्ति स एव हि ।
जीवकारणकर्माख्यो बीजमेतद्धि संसृतेः ॥ (३।६७।१)
शिवात्प्राकारणात्पूर्वं चिच्चेत्यकलनोन्मुखी ।
उदेति सौम्याज्जलधेः पयः स्पन्दो मनागिव ॥ (३।६७।१८)
स्फुरणाज्जीवचक्रत्वमेति चित्तोर्मितां दधत् ।
चिद्वारिब्रह्मजलधौ कुरुते सर्गबुद्बुदान् ॥ (३।६७।१९)

जैसे शान्त महासमुद्र से चञ्चल लहर उदय होती है वैसे ही महान् परमात्मा से मन का उदय होता है। जैसे निर्मल और क्षोभ रहित समुद्र में स्पन्दन उत्पन्न हो जाता है वैसे ही संसार का कारण जीव (ब्रह्मा परमात्मा में उदय हो जाता है। जैसे शान्त समुद्र में स्पन्द होने से उसके एक भाग में घनता आ जाती है वैसे ही स्पन्दरहित ब्रह्म में स्पन्द न होनेपर उसके एक प्रदेश में घनता आ जाती है। जैसे समुद्र के जल के भीतर स्पन्दन और शान्ति दोनों ही वर्तमान रहते हैं वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म में स्पन्दशक्ति प्रगट होती है। जैसे आकाशमण्डल में आपसे आप ही वायु की गति आरम्भ हो जाती है वैसे ही ब्रह्म में अपनी शक्ति से ही चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है। जैसे दीपक की स्थिर लौ अपनी भीतरी शक्ति द्वारा ही चञ्चलता को धारण कर लेती है वैसे ही ब्रह्म अपने आप ही सृष्टि करने लगता है।

इस प्रकार चिति का अनुभवयुक्त स्पन्दन जो जीव कारण और कर्म आदि नामोंवाला है वही सृष्टि का बीज है। जैसे क्षणभर में शान्त समुद्र में जल का स्पन्दन उदय हो जाता है वैसे ही बिना किसी पूर्व कारण के चिति में चेत्य की ओर प्रवृत्ति उदय हो जाती है। ब्रह्मरूपी समुद्र में चितिरूपी जल चित्त (मन) रूपी लहरों को उठाता हुआ स्पन्दन से जीवरूपी भंवरों को उत्पन्न करता हुआ अनेक सृष्टिरूपी बुल्बुलों को जन्म देता है।

(४) ब्रह्म का यह स्पन्दन स्वाभाविक है :--

यथा वातस्य चलनं कृशानोरुष्णता यथा।
शीतता वा तुषारस्य तथा जीवत्वमात्मनः ॥ (३।६४।१०)
चिद्रूपस्यात्मतत्त्वस्य स्वभाववशतः स्वयम्।
मनाक्संवेदनमिव यत्तज्जीव इति स्मृतम् ॥ (३।६४।११)

जैसे हवा का चलना, अग्नि की गरमी और बर्फ की शीतलता (स्वाभाविक) हैं वैसे ही आत्मा (ब्रह्म) का जीवत्व है। चितिरूप आत्म-तत्त्व (ब्रह्म) के अपने स्वभाव द्वारा चेतन होने का नाम जीव (ब्रह्मा) है।

(५) ब्रह्म में स्पन्दन होना उसकी अपनी लीला है :—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः। (४।४४।१४)
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः ॥ (४।४४।१५)
समुदेति स्वतस्तस्मात्कला कलनरूपिणी।
जलादाक्तलेखेव स्फुरज्जलतयोदिता ॥ (६।९।३)
स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम्।
यदा करोति स्फुरतां स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥ (६।११४।१५)
तदा पृथगिवाभासं संकल्पकलनामयम्।
मनो भवति विश्वात्मा भावयन्स्वाकृतिं स्वयम् ॥ (६।११४।१६)

देश काल आदि से अपरिमित आत्मतत्त्व अपनी ही शक्ति से लीला द्वारा देश और काल से परिमित रूप को धारण कर लेता है। जैसे जल में चञ्चल जलवाला भँवर अपने आप ही उदय हो जाता है वैसे ही उस परमतत्व में अपने आप ही सृष्टि करने वाली कला का उदय हो जाता है। जब आत्मा (ब्रह्म) अपने आप ही अपनी संकल्प

नामक शक्ति का प्रकाश इस प्रकार करता है जैसे कि वायु अपनी स्पन्द शक्ति का, तब आकार की भावना करके वह विश्व का आत्मा (ब्रह्म) संकल्प करनेवाला पृथक् आकारवाला मन बन जाता है।

(६) ब्रह्म का स्पन्दन ब्रह्म से अन्य सा रूप धारण कर लेता है :—

स्वयमन्यैवमस्मीति भावयित्वा स्वभावतः ।
अन्यतामिव संयाति स्वविकल्पात्मिकां स्वतः ॥ (६।३३।२१)
आदित्यव्यतिरेकेण यो भावयति राघव ।
रश्मिजालमिदं ह्येतत्तस्यान्यदिव भास्वतः ॥ (६।११४।४)
कनकव्यतिरेकेण यो भावयति राघव ।
केयूरमेव तत्तस्य न तस्य कनकं हि तत् ॥ (६।११४।९)
सलिलव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भावितः ।
तरङ्गबुद्धिरेवैका स्थिता तस्य न वारिधीः ॥ (६।११४।७)
पावकव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाविता ।
तस्याग्निबुद्धिर्गलति ज्वालाधीरेव तिष्ठति ॥ (६।११४।१०)
किञ्चित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्महार्णवे । (४।४।११)
आत्मनोऽव्यतिरिक्तैव व्यतिरिक्तेव तिष्ठति ॥ (२।४२।१२)

परमब्रह्म अपने स्वभाव द्वारा अपने आप ही यह भावना करके कि मेरी संकल्प-विकल्प करनेवाली शक्ति मेरे से अन्य है, अपना एक अन्य सा रूप धारण कर लेता है। यह ऐसे ही होता है जैसे कोई पुरुष अपनी भावना द्वारा सूर्य की किरणों को सूर्य से अलग, सोने के गहने को सोने से अलग, जल की तरङ्ग को जल से अलग, अग्नि की ज्वाला को अग्नि से अलग समझने लगे। चित् शक्ति चिति रूपी समुद्र में कुछ क्षोभयुक्त होकर आत्मा से अतिरिक्त दूसरे आकार को धारण कर लेती है।

(७) ब्रह्मा (मन) ब्रह्म की सङ्कल्प-शक्ति का रचा हुआ रूप है :—

अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
संकल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥ (३।९६।२)

सब शक्तियोंवाले महान् और अनन्त आत्म-तत्त्व (ब्रह्म) की संकल्प शक्ति द्वारा रचे हुये रूप को मन (ब्रह्मा) कहते हैं।

(८) ब्रह्मा की उत्पत्ति का कोई विशेष हेतु नहीं है :—

शक्तिर्निहेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत् । (३।११।३७)
तस्मादकारणं भाति वा स्वचित्तैककारणम् ।
स्वकारणादनन्यात्मा स्वयंभूः स्वयमात्मवान् ॥ (३।३।९)
चित्स्वभावात्समायातं ब्रह्मत्वं सर्वकारणम् ।
संसृतौ कारणं पश्चात्कर्म निर्माय संस्थितम् ॥ (३।६४।२९)
आद्यः प्रजापतिः पूर्वं स्वयंभूरिति विश्रुतः ।
प्राक्तनानां स्वकार्याणामभावादप्यकारणः ॥ (३।१४।७)
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयंभुवः । (३।१३।४३)

(ब्रह्म की) शक्ति का (ब्रह्म के) भीतर बिना किसी हेतु के स्फुरण होता है। स्वयंभू (ब्रह्मा) या तो बिना कारण, या अपने ही मन से, या अपने आप ही प्रकट होता है। सब वस्तुओं का कारण ब्रह्मा ब्रह्म के स्वभाव से ही (बिना और किसी कारण के) उदय होता है। उदय होकर सृष्टि में कार्य-कारण के नियम की स्थापना करता है। पूर्व कर्मों के अभाव से आदि प्रजापति (ब्रह्मा) अपने आप ही, बिना किसी कारण के उत्पन्न होता है। पिछली (पूर्व कल्प की) कोई स्मृति भी ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण नहीं है।

(९) ब्रह्मा कर्मबन्धन से मुक्त है :—

प्राक्तनानि न सन्त्यस्य कर्माण्यद्य करोति नो । (३।२।२४)
प्राणस्पन्दोऽस्य यत्कर्म लक्ष्यते चास्मदादिभिः ।
दृश्यतेऽस्माभिरेवं तन्न त्वस्यास्त्यत्र कर्मधीः ॥ (३।२।२९)

ब्रह्मा के न तो पूर्व जन्म के कर्म हैं और न अब वह (ऐसे) कर्म करता है (जिनका फल उसे भोगना पड़े)। हम लोगों को जो उसका प्राण आदि की क्रिया रूपी कर्म दिखाई पड़ता है उसमें उसकी कर्मबुद्धि नहीं है।

(१०) ब्रह्मा का शरीर केवल सूक्ष्म है, स्थूल नहीं :—

सङ्कल्पमात्रमेवैतन्मनो ब्रह्मेति कथ्यते ।
सङ्कल्पाकाशपुरुषो नास्य पृथ्व्यादि विद्यते ॥ (३।२।५४)
यथा चित्रकृदन्तःस्था निर्देहा भाति पुत्रिका ।
तथैव भासते ब्रह्मा चिदाकाशाच्छरञ्जनम् ॥ (३।२।५५)

आतिवाहिक एवासौ देहोस्त्यस्य स्वयंभुवः।
नत्वाधिभौतिको राम देहोऽस्योपपद्यते ॥ (३।३।६)
सर्वेषामेव देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम्।
अजस्य कारणाभावादेक एवातिवाहिकः ॥ (३।३।८)
सर्वासां भूतजातीनामेकोऽजः कारणं परम्।
अजस्य कारणं नास्ति तेनासावेकदेहवान् ॥ (३।३।९)
नास्त्येव भौतिको देहः प्रथमस्य प्रजापतेः।
आकाशात्मा च भात्येष आतिवाहिकदेहवान् ॥ (३।३।१०)
चित्तमात्रशरीरोऽसौ न पृथ्व्यादिकमात्मकः।
आद्यः प्रजापतिर्व्योमवपुः प्रतनुते प्रजाः ॥ (३।३।११)

जिस मन को ब्रह्मा कहते हैं वह संकल्प मात्र है; वह संकल्प के आकाश में रहनेवाला जीव है; उसमें कोई स्थूल तत्त्व, पृथ्वी आदि नहीं है। जैसे चित्रकार के मन के भीतर रहनेवाली प्रतिमा स्थूल शरीर से रहित होती है वैसे ही ब्रह्मा भी बिना किसी प्रकार की स्थूलताके शुद्ध चिदाकाश रूप में रहता है। ब्रह्मा का शरीर केवल आतिवाहिक है, आधिभौतिक नहीं है। जिन प्राणियों की उत्पत्ति कारण द्वारा होती है उन सबके दो शरीर (एक सूक्ष्म दूसरा स्थूल) होते हैं, किन्तु ब्रह्मा का जिसकी उत्पत्ति किसी कारण द्वारा नहीं होती, सूक्ष्म शरीर ही एक शरीर होता है। सब प्राणियों का एक परम कारण ब्रह्मा है। उसका कोई कारण नहीं है, इसलिये ब्रह्मा केवल एक ही शरीर वाला है। आदि प्रजापत्ति (ब्रह्मा) का भौतिक शरीर नहीं होता, वह तो शून्य स्वरूप सूक्ष्म देह युक्त ही होता है। आदि प्रजापति केवल मानसिक शरीर वाला होता है, भौतिक शरीर वाला नहीं। सूक्ष्म रूपवाला रहकर ही वह प्रजा की सृष्टि करता है।

(११) ब्रह्मा ही सारे संसार की रचना करता है —

मनो नाम्नो मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः।
मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम् ॥ (३।३।३३)
अहंमयी पङ्कजभावना चित्
संकल्पभेदाद्वितनोति विश्वम्।
अन्तर्मुखैवानुभवत्यनन्त-
निमेषकोट्यंशविधौ युगान्तम् ॥ (३।६१।३८)

मनस्त्वामिव यातेन ब्रह्मणा तन्वते जगत् ।
अनन्यादात्मनः शुद्धाद्द्रवत्वमिव वारिणः ॥ (३।३।२९)
अस्मात्पूर्वात्प्रतिस्पन्दादनन्यैतत्स्वरूपिणी ।
इयं प्रविसृता सृष्टिः स्पन्दसृष्टिरिवानिलात् ॥ (३।३।१९)

यह जगत् ब्रह्मा का आकार धारण करने वाले मन नामक जीव (ब्रह्मा) का मनोराज्य (कल्पना) है, किन्तु सत्य प्रतीत होता है। अहं-युक्त ब्रह्मारूपी भावना संकल्पों द्वारा सृष्टिकी रचना करती है। यह चिति अपने भीतर ही निमेष के भी करोड़वें हिस्से में युगों के अन्त तक का अनुभव कर लेती है। मनका रूप धारण करके ब्रह्म इस सृष्टि की जो कि आत्मा से अन्य नहीं है, ऐसे रचना करता है जैसे शुद्ध जल से बहते हुए जल की रचना हो जाती है जैसे वायुमण्डल में हवा चलने लगती है वैसे ही ब्रह्म के सर्व प्रथम स्पन्द ब्रह्मा से उससे अनन्य स्वरूपवाली सृष्टि उदय होती है।

(१२) ब्रह्मा से उत्पन्न जगत् मनोमय है :—

मनोमात्रं यदा ब्रह्मा न पृथ्व्यादिमयात्मकः ।
मनोमात्रमतो विश्वं यद्यज्जातं तदेव हि ॥ (३।३।२९)

जो वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न होती है वह उसी प्रकार की होती है। इसलिये ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ जगत् मनमात्र है क्योंकि ब्रह्मा स्वयं मनमात्र ही है, उसमें स्थूलता तनिक भी नहीं है।

(१३) हरेक सृष्टि नई है :—

अपूर्व एव स्वप्नोऽयं यद्वै सर्गोऽनुभूयते । (३।१९।४१)
महाकल्पे विमुक्तत्वाद्ब्रह्मादीनामसंशयम् । (३।१३।४२)
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयंभुवः ॥ (३।१३।४३)

सृष्टि के रूप से अनुभव में आने वाला स्वप्न अपूर्व है। महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा आदि सबकी मुक्ति हो जाने के कारण पूर्व काल की कोई स्मृति भी ब्रह्मा का कारण नहीं हो सकती।

ऊपर के सब वर्णन का सार यह है कि अनन्त और सर्व शक्तिमय ब्रह्ममें अपने ही स्वभाव से, बिना और किसी कारण के लीला रूपसे, एक सृष्टि कारक जीवका उदय होता है। वह मन के आकारका बिना किसी स्थूल देहके, होता है। उसे ब्रह्मा कहते हैं। उसीसे कल्पना द्वारा इस समस्त सृष्टि का उदय होता है और उदय होकर सत्य सा प्रतीत होता है।

१५—शक्ति

ब्रह्मा जो कि सारे विश्व का रचनेवाला है ब्रह्म की स्पन्दशक्ति का प्रकाश है। ब्रह्म में स्पन्दशक्ति के अतिरिक्त और बहुत सी शक्तियाँ हैं। बल्कि यह कहना चाहिये कि ब्रह्म अनन्त शक्तियों का भण्डार है। यहाँपर ब्रह्म की शक्तियों का और विशेषतः स्पन्दशक्ति का योगवासिष्ठ के अनुसार वर्णन किया जाता है।

(१) ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ:—

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा।
यथैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति ॥ (३।६७।२)

सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम्।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसङ्कल्पविजृम्भितम् ॥ (३।३३।४१)

सर्वशक्तिर्हि भगवान्यैव तस्मै हि रोचते।
शक्तिं तामेव विततां प्रकाशयति सर्वगः ॥ (३।१००।६)

सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम्।
न तदस्ति न तस्मिन्यद्विद्यते विततात्मनि ॥ (३।१००।५)

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृताऽपि च।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः ॥ (६।३७।१६)

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु जडशक्तिस्तथोपले ॥ (३।१००।७)

द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु तेजःशक्तिस्तथानले।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे भवशक्तिर्भवस्थितौ ॥ (३।१००।८)

ब्रह्मणः सर्वशक्तिर्हि दृश्यते दशदिग्गता।
नाशशक्तिर्विनाशेषु शोकशक्तिश्च शोकिषु ॥ (३।१००।९)

आनन्दशक्तिर्मुदिते वीर्यशक्तिस्तथा भटे।
सर्गेषु सर्गशक्तिश्च कल्पान्ते सर्वशक्तिता ॥ (३।१००।१०)

सब का ईश्वर (नियन्ता) ब्रह्म सब शक्तियों से सम्पन्न है। वह जिस शक्ति को चाहें जहाँपर प्रकट कर सकता है। आत्मा (परमात्मा) सब शक्तियों से युक्त है। वह जिस शक्ति की जहाँ भावना करता है वहीं

पर उसे अपने संकल्प द्वारा प्रकट हुआ देखता है। भगवान् सब प्रकार की शक्तियोंवाला है और सब जगह वर्तमान है। वह जहाँ जिस शक्ति को चाहता है वहीं उसे प्रकट कर देता है। नित्य पूर्ण और अक्षय ब्रह्म में सब शक्तियाँ मौजूद हैं। कोई वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जो उस सर्वत्र स्थित ब्रह्म में शक्तिरूप से मौजूद न हो। शान्त आत्मा ब्रह्म में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृताशक्ति, अकर्तृताशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ वर्तमान हैं। ब्रह्म की चेतनशक्ति शरीरधारी जीवों में दिखाई पड़ती है; स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति) हवा में, जड़शक्ति पत्थर में; द्रव (बहने की) शक्ति जल में; चमकने की शक्ति आग में; शून्य (खालीपन) शक्ति आकाश में; भव (कुछ होने की) शक्ति संसार की स्थिति में; सब को धारण करने की शक्ति दशों दिशाओं में; नाशशक्ति नाशों में; शोकशक्ति शोक करनेवाले में; आनन्दशक्ति प्रसन्न चित्तवालों में; वीर्यशक्ति योद्धाओं में; सृष्टि करने की शक्ति सृष्टि में। कल्प के अन्त में सब शक्तियाँ स्वयं ब्रह्म में रहती हैं।

(२) ब्रह्म की स्पन्दशक्ति :—

> स्पन्दशक्तिस्तथेच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा।
> साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम्॥ (६।८४।६)
> सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी।
> जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा॥ (६।८५।१४)
> प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता।
> दृश्याभासानुभूतानां कारणात्सोच्यते क्रिया॥ (६।८४।८)

जैसे शरीरधारी मनुष्य की इच्छा कल्पना के नगर की रचना कर लेती है वैसे ही स्पन्दशक्ति रूपी भगवान् की इच्छा इस दृश्य जगत् की रचना करती है। परमेश्वर शिव की वह स्वाभाविक स्पन्दनशक्ति प्रकृति कहलाती है और वही जगन्माया (जगत् को रचनेवाली माया) के नाम से भी प्रसिद्ध है। जगत् का उपादान होने के कारण वह प्रकृति कहलाती है। दृश्यमान पदार्थों का कारण होने की वजह से उसे क्रिया भी कहते हैं।

(३) प्रकृति :—

> यदैव खलु शुद्धाया मनागपि हि संविदः।
> जडेव शक्तिरुदिता तदा वैचित्र्यमागतम्॥ (३।९६।७०)

भावदार्ढ्यात्मकं मिथ्या ब्रह्मानन्दो विभाव्यते ।
आत्मैव कोशकारेण लालादार्ढ्यात्मकं यथा ॥ (३।६७।७३)
ऊर्णनाभाद्यथा तन्तुर्जायते चेतनाज्जडः ।
नित्यात्प्रबुद्धात्पुरुषाद्‌ब्रह्मणः प्रकृतिस्तथा ॥ (३।९६।७१)
सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेते सा कल्प्यते त्रिधा । (६/१।९।४)
तिष्ठत्येतास्ववस्थासु भेदतः कल्प्यते त्रिधा ॥ (६/१।९।९)
सत्त्वं रजतम इति एषैव प्रकृतिः स्मृता । (६/१।९।९)
अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम् ॥ (६/१।९।६)
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारं परं पदम् । (६/१।९।३)
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यमनयैव तदाश्रितम् ॥ (६/१।९।८)

जब शुद्ध संवित् में जड़शक्ति का उदय हो जाता है तब ही संसार की विचित्रता उत्पन्न होती है। ब्रह्मानन्द रूप आत्मा ही भाव-की दृढ़ता से मिथ्या रूप में इस प्रकार प्रकट हो रहा है जैसे कि रेशम-का कीड़ा स्वयं ही अपनी राल को दृढ़ करके जाला बना लेता है। जैसे चेतन मकड़ी से जड़ जाले की उत्पत्ति हो जाती है वैसे ही नित्य और चेतन ब्रह्म से प्रकृति की उत्पत्ति हो जाती है। प्रकृति के तीन प्रकार होते हैं– सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल। इन तीन अवस्थाओं में प्रकृति स्थित रहती है और इसी कारण तीन प्रकार की प्रकृति होती है। प्रकृति के तीन भेद हैं सत्त्व, रजस और तमस्। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति को अविद्या भी कहते हैं। इस अविद्या से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इससे परे परमब्रह्म है। सारे दृश्य पदार्थ इस अविद्या के आश्रय पर हैं। अर्थात् अविद्या ही सब दृश्य पदार्थों का उपादान कारण है।

(५) शक्ति का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध :—

यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥ (६/१।८४।३)
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् । (६/१।८४।२)
व्यावृत्यैव तथैवास्ते शिव इत्युच्यते तदा ।
चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ॥ (६/१।८४।२६)
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥ (६/१।८४।२७)

चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ॥ (६।८२।६)
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना । (६।८२।७)
विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ॥ (६।८२।९)
अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ॥ (६।८२।१०)
चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना ।
क्वचित्स्थातुं न शक्नोति वस्त्ववस्तुतया यथा ॥ (६।८२।१४)
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ (६।८५।१५)
भ्रमति प्रकृतिस्तावत्संसारे भ्रमरूपिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ (६।८५।१६)
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् । (६।८५।१७)
संविन्मात्रैकधर्मित्वात्काकतालीययोगतः ॥ (६।८५।१८)
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति । (६।८५।१८)
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ (६।८५।१९)
तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे । (६।८५।१९)
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवासाद्य शाम्यति ॥ (६।८५।२१)
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिद्धधाविवाब्धिताम् ॥ (६।८५।२६)

जैसे हवा और उसकी चलने की क्रिया, आग और उसकी गरमी सदा एक ही हैं वैसे ही चिति और स्पन्दशक्ति एक ही हैं। मनोमयी स्पन्दनशक्ति ब्रह्म से अलग नहीं है। जब कि चितिशक्ति, क्रिया-देवी, क्रिया से निवृत्त होकर, अपने स्थान की ओर आत्मा में वापिस आ जाती है और वहीं पर शान्तभाव से स्थित रहती है तो उस अवस्था को शिव (शान्त ब्रह्म) कहते हैं। क्रिया देवी चिच्छक्तिरूपी उस महान् आकृतिवाली स्पन्दशक्ति का अपने असली रूप में स्थित रहने का नाम शिव है। जैसे स्वर्ण किसी आकार के विना स्थित नहीं होता वैसे ही परम ब्रह्म भी चेतनता के विना जो कि उसका स्वभाव है स्थित नहीं रहता। जैसे तिक्तता के विना मिर्च और मधुरता के बिना गन्ने का रस नहीं रहता वैसे ही चिति की चेतनता कुछ स्पन्दन बिना नहीं रहती। प्रकृति से परे, दिखाई न देनेवाला पुरुष है जो कि सदा ही शरद् ऋतु के अकाश की

नाई स्वच्छ है, शान्त है, और शिवरूप है। भ्रमरूपावली प्रकृति जो कि परमेश्वर की इच्छारूपी स्पन्दात्मक शक्ति है, तभीतक संसार में भ्रमण करती रहती है (अर्थात् पदार्थों की सृष्टि करती रहती है) जब तक कि वह नित्य तृप्त और अनामय (अविकार) शिव का दर्शन नहीं करती। संवित्मात्र सत्ता के साथ उसका तादात्म्य होने के कारण प्रकृति जब कभी भी दैवयोग से पुरुष को स्पर्श कर लेती है (अर्थात् पुरुष का ज्ञान उसे हो जाता है) तभी वह अपने प्रकृतित्व को छोड़कर पुरुष के साथ तन्मय (तदात्म) हो जाती है। जैसे नदी समुद्र में पड़कर अपना रूप छोड़कर समुद्र ही बन जाती है वैसे ही प्रकृति पुरुष को प्राप्त करके पुरुषरूप हो जाती है। शिव की इच्छा चिच्छक्ति शिव को प्राप्त करके शान्त हो जाती है। जैसे नदी समुद्र में पड़कर समुद्र हो जाती है वैसे ही प्रकृति चिति के शान्त हो जानेपर परम पद को पाकर तद्रूप हो जाती है।

———

१६—परम ब्रह्म

योगवासिष्ठ के अनुसार उस परम तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं जिससे जगत् के सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जिसमें सब पदार्थ वर्त्तमान रहते हैं, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं; जो सब जगह, सब कालों में और सब वस्तुओं में मौजूद रहता है। यहाँपर उस परम ब्रह्म का वर्णन किया जायेगा।

(१) ब्रह्म :—

सर्वशक्ति परं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम्।
सर्वदा सर्वथा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम्॥ (३।१४।८)
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत्।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम्॥ (३।१८४।४६)
यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥ (१।१।१)
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टादर्शनदृश्यभूः।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः॥ (१।१।२)
स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः॥ (१।१।३)

परब्रह्म सब प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न है और उसमें सब वस्तुयें हैं। वह सदा ही सब प्रकार से सब कुछ है; सब के साथ सब में और सब जगह है। वह परम तत्त्व है जिसमें सब कुछ है, जो सब ओर है, जो पूर्णरूप से सब कुछ है, जो कि सदा और सब जगह पूर्णरूप से स्थित है। जिससे सब प्राणी प्रकट होते हैं, जिसमें सब स्थित हैं, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं, उस सत्यरूप तत्त्व को नमस्कार हो। जिससे ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का, द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का, और कर्ता, हेतु और क्रिया का उदय होता है उस ज्ञानस्वरूप तत्त्व को नमस्कार हो। जिससे पृथ्वी और स्वर्ग में आनन्द की वर्षा होती है और जिससे सबका जीवन है उस ब्रह्मानन्द स्वरूप तत्त्वको नमस्कार हो। (अर्थात

ब्रह्म उस परम तत्व को कहते हैं जो सब कुछ है, जिसमें सब कुछ है, और जिससे सब कुछ है; जो सत्, चित् और आनन्द है)।

(२) ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकता :—

> अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् । (६/२।६२।२७)
> स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ (६/२।३१।३०)
> प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यदगम्यमचिह्नितम् ।
> स्वानुभूतिभवं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥ (६/१।१९८।६९)

ब्रह्म केवल उसको जाननेवाले के अनुभव में ही आ सकता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह अवाच्य है (शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता), अनभिव्यक्त है (किसी प्रकार उसको प्रकट नहीं कर सकते), इन्द्रियों से परे है (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता), और उसको कोई विशेष नाम नहीं दिया जा सकता। उसका कोई चिह्न नहीं है और वह प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव द्वारा होता है। बहस मुबाहसे से ब्रह्म नहीं जाना जा सकता।

(३) नेति नेति (ब्रह्म न यह है और न वह है) :—

> न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः ।
> नाहं नान्यो न चैवैको नानेको नाप्यनेकवान् ॥ (५।७२।४१)
> नाभ्याशस्थो न दूरस्थो नैवास्ति न च नास्ति च ।
> न प्राप्यो नापि चाप्राप्यो न वा सर्वो न सर्वगः ॥ (५।७२।४२)
> न पदार्थो नापदार्थो न पञ्चात्मा न पञ्च च ॥ (५।७२।४३)

ब्रह्म न चेतन है न जड़; न सत् है न असत्; न अहं (मैं) है और न दूसरा; न एक है, न अनेक और न अनेक युक्त; न वह नज़दीक है न दूर; न वह है, न नहीं है; न प्राप्त होनेवाला है और न वह अप्राप्य है; न वह सब कुछ है और न वह सब वस्तुओं में रहनेवाला है; न वह कोई विशेष पदार्थ है और न अपदार्थ; न वह पाञ्च (भूत) है और न पाञ्च भूतों का आत्मा है। (इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म तो जो कुछ संसार में है वह सब कुछ है; इसलिये ब्रह्म को कोई विशेष वस्तु कहना उसकी विरोधी वस्तु से उसे बाहर करना है अर्थात् उसको परिमित करना है। दोनों विरुद्ध भावों के भीतर और

बाहर ब्रह्म रहता है; इसलिये उसको दोनों में से कोई भी नहीं कह सकते)।

(४) ब्रह्म को एक अथवा अनेक भी नहीं कह सकते :-

सति द्वित्वे किलैकं स्यात्सत्येकत्वे द्विरूपता।
कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत्॥ (६।३३।४)
एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्वयोर्द्वयो।
एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता॥ (६।३३।५)
सनानातोऽप्यनानातो यथाण्डरसबर्हिणः।
अद्वैतद्वैतसत्त्वात्मा तथा ब्रह्मजगद्भ्रमः॥ (६।४७।३१)

दूसरा मौजूद होने पर ही किसी को एक कहा जाता है; एक के मौजूद होने पर दूसरे को दूसरा कहा जाता है। दोनों ही चिति के रूप हैं और दोनों के चिति होने के कारण दोनों का दो होना असत् है। एक के बिना कोई दूसरा नहीं होता और दूसरे के बिना कोई एक नहीं होता। एक के अभाव से एकता और द्वितीयता दोनों का अभाव हो जाता है। जैसे (मोर के) अण्डे के भीतर रस रूप से एकता और पक्षी रूप से अनेकता दोनों ही रहती हैं वैसे ही यहाँ पर ब्रह्म रूप से एकता और जगत् रूप से अनेकता रहती है।

(५) ब्रह्म शून्य है अथवा कोई भावात्मक पदार्थ है यह भी कहना कठिन है :--

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा॥ (६।९३।९)
यथा सदसतोः सत्ता समतायामवस्थितिः।
यतः सदसतो रूपं भावस्थं विद्धि तं परम्॥ (६।४७।३२)
न सन्नासन्न मध्यं च शून्याशून्यं न चैव हि। (६।४८।१२)
न तदस्ति न तन्नास्ति न वाग्गोचरमेव तत्॥ (६।२१।३६)
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना।
अशून्यत्वात्सम्भवतः शून्यताशून्यते कुतः॥ (३।१०।१४)
सलिलान्तर्यथा वीचिर्मृदन्तर्घटको यथा।
तथा यत्र जगत्सत्ता तत्कथं सात्मकं भवेत्॥ (३।१०।२०)

अनुत्कीर्णा यथा स्तम्भे संस्थिता शालभञ्जिका ।
तथा विश्वं स्थितं तत्र तेन शून्यं न तत्पदम् ॥ (३।१०।७)
एवमित्थं महारम्भपूर्णमप्यजरं पदम् ।
असदृदृष्ट्या स्थितं शान्तं शून्यमाकाशतोऽधिकम् ॥ (३।१०।३६)

जैसे कि हम चितिरूप ब्रह्म के सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि 'वह नहीं है' वैसे ही हम उसके सम्बन्ध में यह भी नहीं कह सकते कि 'वह है'। वह परम तत्त्व वह है जिसमें कि सत्ता और असत्ता दोनों भावों का समावेश है। न वह सत् है, न असत्, न दोनों के बीच की स्थिति; न शून्य है और न अशून्य है। न वह है और न नहीं है। उसको किसी प्रकार वर्णन नहीं कर सकते। शून्य और अशून्य सापेक्षक शब्द हैं। जिसको शून्य नहीं कह सकते उसके सम्बन्ध में शून्यता और अशून्यता का भला क्या जिक्र? भला वह तत्त्व शून्य कैसे कहा जा सकता है जिसमें सारा जगत् इस प्रकार मौजूद रहता है जैसे कि जल में तरङ्ग और मिट्टी में घड़ा? भला उस तत्त्व को शून्य कैसे कहें जिसके भीतर तमाम विश्व इस प्रकार मौजूद रहता है जैसे लकड़ी के टुकड़े के भीतर उससे बनाई जानेवाली पुतलियाँ? लेकिन हमारे दृष्टिकोण से वह शान्त और अजर तत्त्व जिसमें कि सारी सृष्टि वर्तमान है आकाश से भी अधिक शून्य (सूक्ष्म) है। इसलिये उसे हम शून्य से भी शून्य कह सकते हैं (यद्यपि ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि वह शून्य नहीं कहा सकता)।

(६) ब्रह्म विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) दोनों से परे है :—

विद्याऽविद्यादृशोर्भेदभावनादेव भिन्नता ।
पयस्तरङ्गयोर्द्वित्वभावनादेव भिन्नता ॥ (६।९।१७)
पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ।
नाविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ॥ (६।९।१८)
विद्याऽविद्यादृशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदवशात्तद्रूपमूह्यह ॥ (६।९।१९)
विद्याविद्यादृशौ न स्तः शेषे बद्धपदो भव ।
नाविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयानया ॥ (६।९।२०)

मिथः स्वान्ते तयोरन्तरछायातपनयोरिव ।
अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥ (६/१।१२३)
एते राघव लीयेते अवाप्यं परिशिष्यते ।
अविद्यासंक्षयात्क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ॥ (६/१।१२४)

विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) तब ही तक भिन्न हैं जबतक कि भेदभावना है, जैसे कि जल और तरङ्ग तभीतक एक दूसरे से भिन्न हैं जबतक कि हम उनको दो समझते हैं। जैसे जल और तरङ्ग वास्तव में एक ही हैं, भिन्न नहीं हैं, वैसे ही वास्तव में न विद्या है और न अविद्या। दोनों प्रतियोगी (विरुद्ध भाव) एक दूसरे का व्यवच्छेद करते हैं (अर्थात एक के होते हुए दूसरा नहीं रहता)। इसलिये परम तत्त्व में न विद्या का अस्तित्व है और न अविद्या का, क्योंकि दोनों विरुद्ध भाव हैं (ब्रह्म दोनों से ऊपर या परे है) उस तत्त्व में स्थित होना चाहिये जिसमें न विद्या की सत्ता है न अविद्या की; क्योंकि न वास्तव में विद्या है और न अविद्या। दोनों कल्पनाओं का त्याग करना चाहिये। अविद्या और विद्या दोनों एक ही सत्ता का प्रकाश हैं, जैसे कि धूप और छाया। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तो अविद्या और विद्या दोनों ही कल्पनायें क्षीण हो जाती हैं। ये दोनों जब लीन हो जाती हैं तब वह तत्त्व शेष रहता है जिसको प्राप्त करना है। अविद्या के क्षीण होनेपर विद्या की भावना भी क्षीण हो जाती है।

(७) ब्रह्म तम और प्रकाश दोनों से परे है :—

मुक्तं तमःप्रकाशाभ्यामित्येतदजरं पदम्। (३।१०।१८)
ब्रह्मण्ययं प्रकाशो हि न संभवति भूतजः ॥ (३।१०।१९)
महाभूतप्रकाशानाममावस्तम उच्यते ।
महाभूताभावजं तु तेनात्र न तमः क्वचित् ॥ (३।१०।१६)
स्वानुभूतिप्रकाशोऽस्य केवलं व्योमरूपिण: ।
योऽन्तरस्ति स तेनैव नत्वन्येनानुभूयते ॥ (३।१०।१७)

यह अजर (क्षीणता का अनुभव न करनेवाला) पद (सामान्य) तम और प्रकाश से परे है (अर्थात् परम तत्त्व ब्रह्म में हम लोगों के अनुभव में आने वाला न तम (अन्धेरा) है और न प्रकाश (चान्दना) है। अग्नि आदि स्थूल तत्त्वों से उत्पन्न होने वाला प्रकाश ब्रह्म में सम्भव नहीं है। अग्नि आदि महाभूतों के प्रकाश के अभाव का नाम

तम (अन्धेरा) है। वह अन्धेरा भला ब्रह्म में कैसे हो सकता है ? (क्योंकि ब्रह्म तो सब महाभूतों का उद्गम है)। शून्य रूपवाले परम तत्त्व ब्रह्म में अपने अनुभव का ही प्रकाश है (किसी महाभूत—स्थूल तत्त्व का नहीं)। वह प्रकाश उसके अन्दर ही होता है; उसका अनुभव दूसरे किसी को नहीं होता।

(८) ब्रह्म न जड़ है, न चेतन :—

जडचेतनभावादिशब्दार्थश्रीर्न विद्यते।
अनिर्देश्यपदे पत्रलतादीव महामरौ ॥ (३।११।३६)

जैसे महामरुस्थल में लता पत्र आदि का सर्वथा अभाव रहता है वैसे ही उस परम तत्त्व के लिये, जिसका किसी प्रकार वर्णन नहीं हो सकता, जड़, चेतन आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता।

(९) ब्रह्म को "आत्मा" भी नहीं कह सकते :—

नात्मा ॥ (६।९२।३०)
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
तस्य चात्मादिकाः संज्ञाःकल्पिता न स्वभावजाः ॥ (३।१।१)
नात्मायमयमप्यात्मा संज्ञाभेद इति स्वयम्।
तेनैव सर्वगतया शक्त्या स्वात्मनि कल्पितः ॥ (९।७३।१९)

ब्रह्म आत्मा भी नहीं कहा जा सकता। जिसको शब्दों द्वारा वर्णन नहीं कर सकते, जिसका अनुभव केवल मुक्त पुरुषों को ही होता है, उसके लिये "आत्मा" आदि संज्ञा (नाम) स्वाभाविक नहीं हैं, केवल कल्पित हैं (अर्थात् हम लोग कल्पना द्वारा ही उसको आत्मा कह सकते हैं; वास्तव में ब्रह्म आत्मा नहीं है)। न वह आत्मा है और न अनात्मा। आत्मा और अनात्मा का भेद उसने अपनी सर्वत्र रहनेवाली शक्ति के द्वारा अपने ही भीतर कल्पित कर रक्खा है।

(१०) ब्रह्म का क्या स्वभाव है यह कहना असम्भव है :—

ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसंभवात् ॥ (६।१०।१४)
अभावसव्यपेक्षस्य भावस्य सम्भवादपि।
पदं बध्नन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः ॥ (६।१०।१९)

ब्रह्म का क्या स्वभाव (वास्तवि स्वरूप) है यह बतलाना नामुमकिन है, क्योंकि अनन्त और परम तत्त्व में, क्या उसका रूप है और क्या उसका रूप नहीं है—यह कहना सर्वथा असम्भव है। भाव की अपेक्षा से अभाव का वर्णन होता है, लेकिन अनन्त और परब्रह्म में भाव और अभाव और स्वभाव और परभाव का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

(११) ब्रह्म के कुछ कल्पित नाम :—

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः॥ (३।१।१२)
यः पुमान्सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवादिनाम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम्॥ (३।५।६)
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम्।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्ता सदैव सः॥ (३।५।७)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम्॥ (६।८७।१९)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम्॥ (६।८७।२०)

व्यवहार (बोल चाल) के वास्ते विद्वानों ने परम तत्त्व को 'ऋत', 'आत्मा', 'परब्रह्म', 'सत्य' आदि अनेक कल्पित नामों से पुकारा है। (ये सब नाम ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं करते)। सांख्य दर्शन वाले उसको 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्ती लोग 'ब्रह्म', विज्ञानवादी बौद्ध उसे शुद्ध और एकस्वरूप 'विज्ञानमात्र' ('विज्ञप्तिमात्र') कहते हैं। वह शून्यवादियों का 'शून्य' है, सूर्य के उपासक लोग उसे 'प्रकाश' कहते हैं। वही 'वक्ता' (बोलनेवाला जीव) 'मन्ता' (विचार करनेवाला मन), 'ऋत' (सत्य), 'भोक्ता' (भोगनेवाला), 'द्रष्टा' (देखनेवाला), 'कर्ता' (कर्म करनेवाला) है। वह सांख्य दर्शन-वालों का 'पुरुष', योगदर्शनवालों का 'ईश्वर', शैवों का 'शिव', काल-वादियों का 'काल', आत्मज्ञानियों का 'आत्मा', अनात्मवादियों का "नैरात्म्य" (अनात्मभाव), माध्यमिकों का 'मध्य', और जिनकी सब ओर समदृष्टि है उनका 'सर्व' है।

(१२) ब्रह्मका वर्णन :—

यद्यपि ऊपर यह बताया जा चुका है कि परम तत्त्व 'ब्रह्म' का किसी प्रकार भी वास्तविक वर्णन नहीं हो सकता, तथापि मनुष्य किसी न किसी प्रकार उसका वर्णन करने का प्रयत्न करते ही हैं। सब ही दार्शनिक ग्रन्थों में परम तत्त्व का कुछ न कुछ वर्णन किया जाता है। योगवासिष्ठ में भी अनेक स्थानों पर ब्रह्मका विस्तारपूर्वक और साहित्यिक रूप से अति सुन्दर वर्णन पाया जाता है। इसलिये यहाँ पर हम उस वर्णन का सार पाठकों के सामने रखते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ब्रह्म (परम तत्त्व) का इतना सुन्दर वर्णन संसार के और किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेऽपि या शुद्ध चिन्मात्रसत्ता विद्यते
सा हि परमार्थसंवित् ॥ (६/२।६१।६)

न दृश्यं नोपदेशार्हं नात्यासन्नं न दूरगम्। (६/२।४८।१०)
केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ॥ (६/२।४८।११)
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम्। (६/२।९२।३६)
सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ (६/२।९२।२७)
तन्न वायुर्न चाकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम्।
न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नभः ॥ (६/२।९२।२८)
न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशदिक्।
न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ (६/२।९२।३०)
यत्संवेद्यविनिर्मुक्तं संवेदनमनिर्मितम्।
चेत्यमुक्तं चिदाभासं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ (६/२।९९।४)
सा परा परमा काष्ठा सा दृशां दृगनुत्तमा।
सा महिम्नां च महिमा गुरूणां सा तथा गुरुः ॥ (६/२।९९।५)
स तन्तुर्भूतमुक्तानां परिप्रोतहृदम्बरः।
स भूतमरिचौघानां परमा तीक्ष्णता तथा ॥ (६/२।९९।९)
स पदार्थे पदार्थत्वं स तत्त्वं यदनुत्तमम्।
स सतो वस्तुनः सत्त्वमसत्त्वं वा सतः स्वतः ॥ (६/२।९९।१०)
सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम्। (६/२।१४।१४)
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ॥ (६/२।९२।३६)
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य संस्थितम् ॥ (६/२।१४।९)

सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ (६/२।१४।१०)
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (६/२।१४।११)
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ (६/२।३५।१६)
ईदृशं तत्परं स्थूलं यस्याग्रे यदिदं जगत् ।
परमाणुवदाभाति क्वचिदेव न भाति च ॥ (६/१।३५।१६)
ईदृशं तत्परं सूक्ष्मं तस्याग्रे यदिदं नभः ।
अणोः पार्श्वे महामेरुरिव स्थूलात्म लक्ष्यते ॥ (६/१।१९६।१६)
स आत्मा तच्च विज्ञानं स शून्यं ब्रह्म तत्परम् ।
तच्छ्रेयः स शिवः शांतः सा विद्या सा परा स्थितिः ॥ (६/१।५९।६)
योऽयमन्तश्चितेरात्मा सर्वानुभवरूपकः । (६/१।५९।७)
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ (३।७।२)
स जगत्तिलतैलात्मा स जगद्गृहदीपकः ।
स जगत्पादपरसः स जगत्पशुपालकः ॥ (६/१।५९।८)
सन्नप्यसन्नो जगति यो देहस्थोऽपि दूरगः ।
चित्प्रकाशो ह्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः ॥ (३।५।८)
यस्माद्विष्ण्वादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः ।
यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ (३।५।९)
यं यान्ति दृश्यवृन्दानि पयांसीव महार्णवम् ।
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत् ॥ (३।५।१०)
य आकाशे शरीरे च दृषत्स्वप्सु लतासु च ।
पांसुष्वद्रिषु वातेषु पातालेषु च संस्थितः ॥ (३।५।११)
व्योम येन कृतं शून्यं शैला येन घनीकृताः ।
आपो द्रुताः कृता येन दीपो यस्य वशो रविः ॥ (३।५।१३)
प्रसरन्ति यतश्चित्राः संसारासारवृष्टयः ।
अक्षयामृतसम्पूर्णादम्भोदादिव वृष्टयः ॥ (३।५।१४)
आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त्यतितते यस्मिन्मराविव मरीचयः ॥ (३।५।१४)
नाशरूपो विनाशात्मा योऽन्तस्थः सर्वजन्तुषु ।
गुप्तो योऽप्यतिरिक्तोऽपि सर्वभावेषु संस्थितः ॥ (३।५।१६)

यश्चिन्मणिः प्रकचति प्रतिदेहसमुद्गके ।
यस्मिन्निन्दौ स्फुरन्त्येता जगज्जालमरीचयः ॥ (३।५।१८)
नियतिर्देशकालौ च चलनं स्पन्दनं क्रिया ।
इति येन गताः सत्तां सर्वसत्तातिगामिना ॥ (३।५।२२)
अत्यन्ताभाव एवास्ति संसारस्य यथास्थितेः ।
यस्मिन्बोधमहाम्बोधौ तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२०)
द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमयं गतः ।
यदनाकाशमाकाशं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२१)
अशून्यमिव यच्छून्यं यस्मिन्शून्यं जगत्स्थितम् ।
सर्गौघे सति यच्छून्यं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२२)
यन्महाचिन्मयमपि बृहत्पाषाणवत्स्थितम् ।
जडं वाजडमेवान्तस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२३)
चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥ (३।९।५०)
अकर्णजिह्वानासात्वङ्नेत्रः सर्वत्र सर्वदा ।
शृणोत्यास्वादयति यो जिघ्रत्स्पृशति पश्यति ॥ (३।९।५२)
यस्यान्यदस्ति न विभोः कारणं शशशृंगवत् ।
यस्येदं च जगत्कार्यं तरङ्गौघ इवाम्भसः ॥ (३।९।५५)
सस्पन्दे समुदेतीव निःस्पन्दान्तर्गतेन च ।
इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता ॥ (३।९।५८)
जगन्निर्माणविलयविलासो व्यापको महान् ।
स्पन्दास्पन्दात्मको यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः ॥ (३।९।५९)
स्पन्दास्पन्दमयी यस्य पवनस्येव सर्वगा ।
सत्तानाम्नैव भिन्नेव व्यवहारान्न वस्तुतः ॥ (३।९।६०)
यदस्पन्दं शिवं शान्तं यत्स्पन्दं त्रिजगत्स्थितिः ।
स्पन्दास्पन्दविलासात्मा य एको भरिताकृतिः ॥ (३।९।६२)
नाशयित्वा स्वमात्मानं मनसो वृत्तिसंक्षये ।
सद्रूपं यदनाख्येयं तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ (३।१०।३९)
नास्ति दृश्यं जगद्द्रष्टा दृश्याभावाद्विलीनवत् ।
भातीति भासनं यत्स्यात्तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ (३।१०।४०)
चितेर्जीवस्वभावाया यदचेत्योन्मुखं वपुः ।
चिन्मात्रं विमलं शान्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४१)

अस्वप्नाया अनन्ताया अजडाया मनःस्थितेः ।
यद्रूपं चिरनिद्रायास्तत्तदानघ शिष्यते ॥ (३।१०।४३)
वेदनस्य प्रकाशस्य दृश्यस्य तमसस्तथा ।
वेदनं यदनाद्यन्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४७)
मनः स्वप्नेन्द्रियैर्मुक्तं यद्रूपं स्यान्महाचितेः ।
जङ्गमे स्थावरे वापि तत्सर्वान्तेऽवशिष्यते ॥ (३।१०।५२)
देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्ताया संविदो वपुः ।
निमेषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ (३।१०६।४)
विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
यादृशः स्यात्समो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ (३।१०६।६)
अनागतायां निद्रायां मनोविषयसङ्क्षये ।
पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ (३।१०६।७)
रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्यामृतस्य यः ।
भावः पुंसः शरद्व्योमविशदस्तच्चिदम्बरम् ॥ (३।१०६।९)
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
यत्र वास्तमयश्चिरस्थं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ (३।१०६।११)
यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्रा परिणमन्त्यलम् ।
पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ (३।१०६।१२)
नेदं नेदं तदित्येव सर्वं निर्णीय सर्वथा ।
यन्न किञ्चिरसदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥ (३।१०६।१९)
संवेद्येनापरामृष्टं शान्तं सर्वात्मकं च यत् ।
तत्सच्चिदाभासमयमस्तीह कलनोज्झितम् ॥ (३।१९।२)
मूकोपमोऽपि योऽमूको मन्ता योऽप्युपलोपमः ।
यो भोक्ता नित्यतृप्तोऽपि कर्ता यश्चाप्यकिंचन ॥ (३।१९।६४)
योऽनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः सहस्रकरलोचनः ।
न किंचित्संस्थितेनापि येन व्याप्तमिदं जगत् ॥ (३।१९।६५)
निरिन्द्रियबलस्यापि यस्याशेषेन्द्रियक्रियाः ।
यस्य निर्मननस्यैता मनोनिर्माणरीतयः ॥ (३।१९।६६)
साक्षिणि स्फार आभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ।
सति यस्मिन्प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दपूर्विकाः ॥ (३।१९।६८)
यस्माद्घटपटाकारपदार्थशतपङ्क्तयः ।
तरङ्गगणकल्लोलवीचयो वारिधेरिव ॥ (३।१९।६८)

स एवान्यतयोदेति यत्पदार्थशतभ्रमैः।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम्॥ (३।९।७०)
यतः कालस्य कलना यतो दृश्यस्य दृश्यता।
मानसी कल्पना येन यस्य भासा विभासनम्॥ (३।९।७३)
क्रियां रूपं रसं गन्धं शब्दं स्पर्शं च चेतनम्।
यद्वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ॥ (३।९।७४)
परमाणोरपि परं तदणीयो ह्यणीयसः।
शुद्धं सूक्ष्मं परं शान्तं तदाकाशोदरादपि॥ (३।१०।३२)
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नरूपत्वादतिविस्तृतम्।
तदनाद्यन्तमाभासं भासनीयविवर्जितम्॥ (३।१०।३३)
यद्व्योम्नो हृदयं यद्वा शिलायाः पवनस्य च।
तस्याचेत्यस्य चिद्व्योम्नस्तद्रूपं परमात्मनः॥ (३।१०।४४)
अचेत्यस्यामनस्कस्य जीवतो या स्वभावतः।
स्यास्स्थितिः सा परा शान्ता सत्ता तस्याद्यवस्तुनः॥ (३।१०।४९)
स्थावराणां हि यद्रूपं तच्चेद्बोधमयं भवेत्।
मनोबुद्ध्यादिनिर्मुक्तं तत्परेणोपमीयते॥ (३।१०।५३)
चित्प्रकाशस्य यन्मध्यं प्रकाशस्यापि स्वस्य वा।
दर्शनस्य च यन्मध्यं तद्रूपं ब्रह्मणो विदुः॥ (३।१०।४६)
पदार्थौघस्य शैलादेर्बहिरन्तश्च सर्वदा।
सत्ता सामान्यरूपेण या चित्सोऽहमलेपकः॥ (३।११।९०)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगे पदे।
समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपास्महे॥ (३।११।९८)
परमाकाशनगरनाट्यमण्डपभूमिषु।
स्वशक्तिवृत्तं संसारं पश्यन्ती साक्षिवत्स्थिता॥ (३।३७।१२)
प्रत्यक्षादेरगम्यत्वात्किमप्येव तदुत्तमम्।
सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमात्रकम्॥ (३।९६।२७)
स सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च।
मनोवचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम्॥ (३।११९।२३)

आकाश के परमाणु के हज़ारवें भाग के भीतर भी जो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता वर्तमान है वही परमार्थ संवित् है। न वह दिखाई देती है और न वर्णन की जा सकती है। न वह समीप है और न दूर है। शुद्धात्मा का चित्-रूप केवल अनुभव किया जा सकता है (वर्णन

नहीं)। वह सब कुछ है; सबका आत्मा है; और सबसे रहित भी है। वह सब भूतों का आत्मा, शून्य और सत् तथा असत् दोनों ही है। वह न वायु है; न आकाश है; न बुद्धि आदि है; न शून्य है; वह 'कुछ' नहीं है तो भी सबका आत्मा है; वह कोई ऐसा पदार्थ है जो कि आकाश से भी सूक्ष्म है। न वह काल है, न वह मन है, न वह आत्मा है, न सत्ता है, न असत्ता, न देश, न दिशायें, न कोई इन सबके बीच का पदार्थ न अन्त का; न वह ज्ञान है और न अज्ञ पदार्थ है। वह संवेद्य रहित संवित् है, चेत्य रहित चिति है; वह संसार की परम पराकाष्ठा है; वह सब दृष्टियों की सर्वोत्तम दृष्टि है। वह सब महिमाओं की महिमा है; और सब गुरुओं का गुरु है। वह सब प्राणी रूपी मोतियों का तागा है जो कि उनके हृदय रूपी छेदों में पिरोया हुआ है। वह सब प्राणी रूपी मिर्चों की तीक्ष्णता है। वह पदार्थ का पदार्थत्व है, वह सर्वोत्तम तत्त्व है। वह वर्तमान वस्तुओं की सत्ता है और स्वयं सत्ता और असत्ता दोनों है। सब जगह सब वस्तुओं से युक्त तथा सर्व भावों से मुक्त है। सब ओर उसके हाथ और पैर हैं, सब ओर उसके सिर और मुख हैं, सब ओर उसके कान हैं; संसार की सब वस्तुओं को घेरकर वह स्थित है। वह इन्द्रियों द्वारा जाने जाने वाले सब गुणों से रहित है, और उनसे युक्त भी है। सबका भरण करनेवाला, किन्तु असक्त है; सब गुणों के भोगनेवाला, किन्तु निर्गुण है। सब प्राणियों के भीतर और बाहर है। चर और अचर दोनों है। अति सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय (जानने योग्य नहीं) है। वह दूर भी है और समीप भी। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, स्थूल से भी स्थूल, भारी से भी भारी और अच्छे से भी अच्छा है। वह इतना बड़ा है कि उसके आगे सारा जगत् भी परमाणु के समान दिखाई पड़ता है; बल्कि दिखाई भी नहीं पड़ता। वह इतना सूक्ष्म है कि उसके सामने सूक्ष्म आकाश तत्त्व भी अणु के मुकाबले में महा मेरु जैसा स्थूल मालूम पड़ता है। वह आत्मा है; वह विज्ञान है; वह शून्य है; वह परमब्रह्म है; वह श्रेय है; वह शिव है; वह विद्या है; और वही परम स्थिति है। वह सबका अनुभव रूप अन्तरात्मा है। शरीर में सदा वह चिन्मात्र रूप से स्थित है। वह जगत् रूपी तिल का तेल है; जगत् रूपी घर का दीपक है, जगत् रूपी वृक्ष का रस है; जगत् रूपी पशु का पालनेवाला ग्वाला है। वह जगत् में वर्तमान होते हुए भी नहीं है; वह शरीर में रहते

हुए भी अत्यन्त दूर है; वह ऐसा प्रकाश है जिससे सूर्य का प्रकाश उदय होता है। उससे विष्णु आदि देवता ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि सूर्य के उसकी किरणें; उससे अनन्त जगत् ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि समुद्र से बुलबुले। उसकी ओर तमाम दृश्य पदार्थ इस प्रकार जा रहे हैं जैसे कि महा समुद्र की ओर नदियाँ; वह सब पदार्थों को और आत्मा को दीपक की नाईं प्रकाशित करता है। वह आकाश में, शरीर में, पत्थरों में, लताओं में, घाटियों में, पहाड़ों में, हवाओं में और पाताल में वर्तमान है। उसने आकाश को शून्य बनाया, पहाड़ों को कठिन बनाया, और जलों को बहनेवाला बनाया। सूर्य उसके बस में एक दीपक है। जैसे बादल से वर्षा की बून्दें गिरती हैं वैसे ही उस अक्षय और पूर्ण अमृत से नाना प्रकार के असार संसारों के दृश्य उदय होते हैं। जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदियां दिखाई पड़ती हैं वैसे ही उसमें भी त्रिभुवन के उदय और अस्तरूपी लहरें उठा करती हैं। वह सब प्राणियों के भीतर रहकर उनका संहार करनेवाला काल है। सब भावों में गुप्तरूप से वर्तमान रहता हुआ भी वह सबसे अतिरिक्त है। वह हरेक शरीररूपी पिटारी में चितिरुपी मणी के रूप में मौजूद है। उससे नाना प्रकार के जगत् ऐसे उदय होते रहते हैं जैसे कि चन्द्रमा से उसकी किरणें। उस सर्व सत्ताओं से परे की सत्तावाले के कारण ही नियति, देश, काल, गति स्पन्दन और क्रिया की सत्ता है। परमात्मा (ब्रह्म) का वह महान् ज्ञानात्मक रूप है जिसमें संसार का अत्यन्त अभाव रहता है, यद्यपि देखने में वह मौजूद है। परमात्मा का वह शून्य (सूक्ष्म) रूप है जिसमें वर्तमान होता हुआ भी दृश्य जगत् अस्त रहता है। परमात्मा का ऐसा रूप है कि वह महा ज्ञानरूप होते हुये भी बड़ी भारी शिला की नाईं जड़ सा प्रतीत होता है। वह चेत्य रहित चिन्मात्र है; वह अनन्त, अजर, आदि, मध्य और अन्तरहित निरामय शिव है। सदा और सब जगह वह बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है, बिना जिह्वा के स्वाद लेता है, बिना त्वचा के स्पर्श करता है, बिना नाक के सूँघता है। उसका और कोई कारण नहीं है; जगत् उसका ऐसा कार्य है जैसे कि तरङ्गें जल का। जैसे मशाल के घुमाने से उसमें चक्र दिखाई पड़ने लगता है और उसको स्थिर कर देनेपर चक्र गायब हो जाता है ऐसे ही ब्रह्म में जब स्पन्दन होता है तो संसार की शोभा उदय हो जाती है, और जब शान्ति हो

जाती है तो जगत् का दृश्य ग़ायब हो जाता है। उसका यह व्यापक महान् अक्षय और शुद्ध स्वभाव है कि जब उसमें स्पन्दन होता है तो जगत् की सृष्टि हो जाती है और जब स्पन्दन की शान्ति होती है तो जगत् का प्रलय हो जाता है। जैसे हवा की सत्ता सब जगह या तो शान्तरूप में है या चलते हुये रूप में, उसी प्रकार ब्रह्म अपने शान्त और स्पन्दनयुक्त रूप से सर्वत्र वर्तमान है; उन दोनों सत्ताओं में व्यवहार के कारण ही नाममात्र का भेद है, वास्तविक भेद नहीं है। वह जब स्पन्दन से रहित होता है तो शान्त शिव होता है और जब स्पन्दन-युक्त होता है तब तीनों जगत्; स्पन्दनयुक्त और स्पन्दनरहित दोनों स्थितियों में वह एक ही पूर्ण पदार्थ है। उस तत्त्व का अवाच्य सद्रूप स्वरूप तब अनुभव में आता है जब कि मन वृत्ति को क्षीण करके अपना अन्त कर दे। उस तत्त्व का रूप वह है जिसमें दृश्य जगत् का अभाव है और दृश्य का अभाव होने से द्रष्टा का भी अभावसा ही हो जाता है; केवल प्रकाशमात्र का अनुभव रहता है। जीव स्वभाववाली चिति की चेत्य की ओर प्रवृत्ति न होनेपर जो शान्त, मलरहित और चिन्मात्र स्थिति होती है वही परमात्मा का स्वरूप है। मन की उस अवस्था का, जो स्वप्नरहित, अजड़ और अनन्त गाढ़ निद्रा है, जो रूप है वही शेष रहता है। ज्ञान का, प्रकाश का, दृश्य का और तम का जो अनादि और अनन्त वेदन (प्रकाश, ज्ञान) रूप भाव है वही परमात्मा का रूप है। महाचिति का वह रूप जो कि जड़ और चेतन सब ही पदार्थों में वर्त्तमान है, और जो मन, कल्पना और इन्द्रियों से परे है वही सबके अन्त हो जानेपर स्थित रहता है। निमेषमात्र में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को प्राप्त होनेवाली जो संवित् है उसमें जो सत्ता है उसे चिदाकाश कहते हैं। शान्तचित्त पुरुष की उस समान भाव में स्थिति के सदृश चिदाकाश (चित्-आकाश) है जिसमें समस्त इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है। चिदाकाश पुरुष की उस स्वाभाविक अवस्था को कहते हैं जिसमें निद्रा भी न हो और मन के समक्ष कोई विषय भी न हो। पुरुष के उस शरद् ऋतु के आकाश की नाईं निर्मल भाव को चिदाकाश कहते हैं जो मौत से और दृश्य, दर्शन और चिन्तन सबसे परे है। चिदाकाश वह विकाररहित तत्त्व है जिससे और जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों का उदय और अस्त होता है; जिसमें सब पदार्थों के अनुभव उदय होकर तबदील होते रहते हैं; जो कुछ

भी नहीं होत हुआ सदा सब कुछ है; जो यह या वह कुछ न होता हुआ भी सब ही है। (परम ब्रह्म वह तत्त्व है) जो संवेदन (चिन्तन) रहित, कल्पना से मुक्त, शान्त, सत् और चित्—प्रकाशमय सब का आत्मा है; जो अमूक होता हुआ भी मूक है, मनन करता हुआ भी पत्थर के तुल्य जड़ है, भोक्ता होनेपर भी नित्य तृप्त है, और कर्ता होने पर भी कुछ न करनेवाला है। जो अङ्गहीन होते हुए भी सब अङ्गोंवाला और हजारों हाथों और आँखोंवाला है; जो किसी वस्तु में न रहते हुए भी सारे जगत् में हैं व्याप्त है; जिसमें किसी इन्द्रिय की शक्ति नहीं रहते हुए भी सब इन्द्रियों की क्रियायें होती रहती हैं; जिसमें मन्न न होते हुए भी मनकी सब निर्माण-क्रियायें (जगत् की कल्पना) होती रहती हैं। जैसे दीपक के मौजूद होनेपर व्यवहार होता रहता है वैसे ही उस प्रकाशमान और विस्तृत साक्षी के रहते हुए चित्त की क्रियात्मक इच्छायें प्रवृत्त होती रहती हैं। जैसे समुद्र से तरङ्गें, भँवर और लहरें उदय होती हैं वैसे ही उससे घटपट आदि के आकारवाले अनेक पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे कटक, अङ्गद, केयूर और नूपुर आदि अनेक आभूषणों के रूप में सोना प्रकट होता है वैसे ही वह भी सैकड़ों पदार्थों के झूठे आकार में अन्य सा होकर प्रकट हो रहा है। उससे ही कालकी गति है, दृश्य की दृश्यता है, मनकी क्रिया है, उसी के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित हो रहा है। क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, चेतनता आदि का जिसको और जिसके द्वारा ज्ञान होता है वह परमेश्वर है। वह परमाणु से भी परे है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, आकाश के भीतरी भाग से भी शुद्ध, सूक्ष्म, और शान्त है। वह देश और काल आदि से अवच्छिन्न (महदूद) न होने के कारण अति विस्तृत है। उसके प्रकाशका न आदि है और न अन्त, और उसको प्रकाशित करनेवाला और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। परमात्मा का रूप वह है जो कि आकाश के, शिला के और पवन के भीतर मौजूद है और जो अचेत्य (विषय न होने वाला) चिदाकाश है। उस आद्य तत्त्वकी सत्ता का अनुभव तब होता है जब कि जीवकी स्वभावपूर्वक अचेत्य और मन रहित परम शान्त सत्ता में स्थिति हो जाए। उस परमरूप की उपमा जड़ पदार्थों के रूप से दी जा सकती है यदि वे मन और बुद्धि आदि से मुक्त रहते हुए भी बोधमय हो जाएं (अर्थात् परम तत्त्व वह शान्त

और निष्क्रिय बोध है जिसमें मन और बुद्धि की क्रियायें भी न हों और वह जड़वत् शान्त हो)। चिति के प्रकाश के भीतर, आकाश के प्रकाश के भीतर और वस्तुओं के ज्ञान के भीतर भी जो प्रकाश है वह ब्रह्म का रूप समझो। जो निर्लेप चित् समस्त पदार्थों, पहाड़ आदि में भीतर और बाहर सदा ही समान रूप से स्थित है वही मेरा आत्मा है। जो चित् आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और तुर्यातीत अवस्थाओं में सदा ही सब जगह और समान रूप से स्थित है उसकी मैं उपासना करता हूँ। वह परम चिति परम आकाश, नगर, नाट्य (नाटक), मण्डप, और भूमि आदि सब स्थानों में, संसार को अपनी शक्ति द्वारा घिरा हुआ देखती हुई साक्षी के समान स्थित है। वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परे होने के कारण अवर्णनीय है—केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह कोई बहुत उत्तम, सूक्ष्म, सर्वात्मक शुद्ध अनुभव मात्र तत्त्व है जो कि सब कुछ है; वह न सत् है, न असत्; न दोनों का मध्य; वह कुछ भी नहीं है तो भी सब कुछ है; वह मन और वचन में आनेवाली कोई वस्तु नहीं है; वह शून्य से शून्य और सुख से भी अधिक सुखरूप है (अर्थात् परमानन्द है)।

१६—ब्रह्म का विकास

ब्रह्म, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक मात्र परमतत्त्व है जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जगत् में जो कुछ दिखाई पड़ रहा है वह सब ब्रह्म से ही उदय होकर ब्रह्म में ही स्थित है। यहाँ पर इस सिद्धान्त का योगवासिष्ठ के अनुसार सविस्तार वर्णन किया जायेगा।

(१) जगत् ब्रह्म का बृंहणमात्र है :—

ब्रह्मबृंहैव हि जगज्जगच्च ब्रह्मबृंहणम्। (६।२।९१)
ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ॥ (६।२।२७)
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तुजातैरिवोदितम्।
तरङ्गकणकल्लोलैरनन्ताम्भवम्बुधाविव ॥ (९।७२।२३)
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥ (६।११।१६)
चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते।
यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यन्न विद्यते ॥ (६।२१३।१८)
इदमाद्यन्तरहितं सर्वं संसारनामकम्।
चिच्चमत्कृतिनामात्मनभः कचकचायते ॥ (६।९९।८)
यदिदं भासते तत्सत्परमेवात्मनि स्थितम्।
परं परे परापूर्णं सममेव विजृम्भते ॥ (६।९९।१८)
जायते नश्यति तथा यदिदं याति तिष्ठति।
तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा च विवर्तते ॥ (३।१००।२८)
शून्यं शून्ये समुच्छूनं ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहितम्।
सत्यं विजृम्भते सत्ये पूर्णं पूर्णमिव स्थितम् ॥ (६।३।११)
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहामित्र ह्यशक्त्येव बृंहति। (६।११।२०)
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाहमस्मीतरात्मकः ॥ (६।११।२३)
अज्ञानमेव यद्भाति संविदाभासमेव तत्।
यज्जगद्दृश्यते स्वप्ने संवित्कचनमेव तत् ॥ (३।११।१६)
यथा पुरमिवास्तेऽन्तर्विदेव स्वप्नसंविदः।
तथा जगदिवाभाति स्वात्मैव परमात्मनि ॥ (३।११।२०)

यदिदं भासते किञ्चित्तत्तस्यैव निरामयम् ।
काञ्चनं काचकस्येव कान्तस्यातिमणेरिव ॥ (३।२१।६८)
नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चिद्विनश्यति ।
जगद्गन्धर्वनगररूपेण ब्रह्म जृम्भते ॥ (३।६७।६६)
अपारावारविस्तारसंवित्सलिलवल्गनैः ।
चिदर्णव एवायं स्वयमात्मा विजृम्भते ॥ (३।६५।४)
ब्रह्मणा चिन्मयेनात्मा सर्गात्मैव विभाव्यते ।
न भाव्यते चानन्यत्वाद्बीजेनान्तरिव द्रुमः ॥ (३।६१।२६)
शुद्धचिन्मात्रममलं ब्रह्मास्तीह हि सर्वगम् ।
तद्यथा सर्वशक्तित्वाद्विन्दते याः स्वयं कलाः ॥ (३।१४।२१)
चिन्मात्रानुक्रमेणैव सम्प्रफुल्ललतामिव ।
ननु मूर्तामसूर्तां वा तामेवाशु प्रपश्यति ॥ (३।१४।२२)
यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाक्षयानिशम् ।
सर्गेऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चितिरव्ययम् ॥ (६।२१३।२२)
तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ (६।१६९।४४)
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥ (६।२।२३)
यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः ।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि ॥ (६।११।४०)
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ ।
या भावरचना योऽर्थस्तथा तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ (६।११।४१)
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि ॥ (६।२।२८)

ब्रह्म की बृंहा ('वर्द्धन शक्ति) ही जगत् है और जगत् ब्रह्म का बृंहण है। अनादि और अनन्त ब्रह्म ही समुद्र की नाईं बढ़ रहा है। जैसे तरङ्ग, कण और लहरों के रूप में समुद्र प्रकट होता है वैसे ही समस्त वस्तुओं के रूप में आत्मा ही प्रकट हो रहा है। जो कुछ भी यह फैला हुआ जगत्-जाल दिखाई दे रहा है वह सब शुद्ध ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित है। जगत् में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह स्वच्छ चिदाकाश ही चमक रहा है; और कुछ नहीं है। यह संसार क्या है? अनादि और अनन्त आत्माकाश ही चमक रहा है। यह जो कुछ

दिखाई देता है सब परम सत् अपने में स्थित है; पूर्ण और सम परम-ब्रह्म अपने आप में ही विस्तृत हो रहा है। ब्रह्म ही ब्रह्म में उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, और स्थित होता है; ब्रह्म ही ब्रह्म द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। शून्य शून्य में फूल रहा है; ब्रह्म ब्रह्म में फैल रहा है; सत्य सत्य में विस्तृत हो रहा है; पूर्ण पूर्ण में स्थित है। ब्रह्म ब्रह्म में ही अपनी वर्द्धन शक्ति द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है; ब्रह्म ही ब्रह्म में प्रकाशित हो रहा है; मैं और कुछ दूसरा पदार्थ नहीं हूँ। जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब अज्ञान ही है; संवित् (ज्ञान) का आभास मात्र है; जैसे जो जगत् स्वप्न में दिखाई देता है वह संवित् का ही प्रकाश है और कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न-संवित् के भीतर नगर आदि दिखाई पड़ते हैं वैसे ही जो वस्तु हमको जगत् के आकार में दिखाई पड़ती है वह आत्मा ही आत्मा के भीतर नजर आ रहा है। जैसे चन्द्रकान्त मणि की चमक चारों ओर फैलती है वैसे ही जो कुछ यहांपर दिखाई देता है वह सब उस (आत्मा) का ही विकार रहित प्रकाश है। न यहाँ (और कुछ) उत्पन्न होता है और न (और कुछ) नष्ट होता है; केवल ब्रह्म ही गन्धर्व नगर (भ्रम-जगत्) की नाईं जगत् रूप से दिखाई पड़ता है। चिदात्मा रूपी समुद्र ही, जिसकी संवित् का विस्तार अपार और अनन्त है, जगत् रूपी जल की लहरों के रूप में प्रकट हो रहा है, चिन्मय ब्रह्म ही सृष्टि रूप से प्रकट हो रहा है, दूसरा और कुछ नहीं है; जैसे बीज ही वृक्ष का आकार धारण कर लेता है। सब वस्तुओं के भीतर मल रहित, शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म ही वर्त्तमान है; वह सर्व-शक्ति-युक्त होने के कारण अपनी जिस कला का चाहे अनुभव करने लगता है। वह क्रमपूर्वक सूक्ष्म और स्थूल रूपों में विकास पाता है और उनका अनुभव भी करता है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में निद्रा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है वैसे ही सृष्टि और प्रलय दोनों में ब्रह्म की अक्षय चिति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे स्वप्न में स्वप्न के ज्ञान के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है वैसे ही निराकृति परमात्मा ही जगत् की नाना प्रकार की आकृतियों में स्थित है। देश और काल से अनवच्छिन्न, ब्रह्म ही, जिसको न यह कह सकते हैं न वह, जगत् रूप से स्थित होकर द्वैत भाव को प्राप्त हो रहा है। जैसे जल की बूँद, कण, लहर, तरङ्ग, फेन, भँवर आदि जल में जल ही हैं, वैसे ही शरीर, इच्छा, दृश्य जगत्, सृष्टि और प्रलय, भाव की उत्पत्ति, विषय आदि जो कुछ भी जगत् में

हैं वह सब ब्रह्म में ब्रह्म ही है। पाताल में, पृथ्वीपर, स्वर्ग में, तृण में, प्राणियों में, आकाश में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब चिद्रूप ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

(२) तीनों जगत् ब्रह्म के भीतर स्थित हैं :—

फलपुष्पलतापत्रशाखाविटपमूलवान् ।
वृक्षबीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ (३।१००।११)
सूर्यकान्ते यथा वह्निर्यथा क्षीरे घृतं तथा। (६।९।२७)
तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये।
यथा स्फुलिङ्गा अनलाद्यथा भासो दिवाकरात् ॥ (६।९।२८)
तस्मात्तथेमा निर्यान्ति स्फुरन्त्याः संविदश्चितः ॥ (६।९।२९)
यथाम्भोधिस्तरङ्गाणां यथामलमणिस्त्विषाम्। (६।९।२९)
कोशो नित्यमनन्तानां तथा तत्संविदां त्विषाम् ॥ (६।९।३०)
वटश्च वटधानायामिव पुष्पफलादिमान्। (६।९।२६)
चिदन्तरस्ति त्रिजगन्मरिचे तीक्ष्णता यथा ॥ (६।२।९२)
यथैतत्स्परणं वायौ तथा सर्गः स्थितः परे।
असत्कल्पेऽपि सत्कल्पः सत्येऽसत्य इवापि च ॥ (३।६१।२२)
अन्यरूपा यथाऽनन्या तेजस्यालोकतोदरे।
तथा ब्रह्मणि विश्वश्रीः सत्यासत्यात्मिका चिति ॥ (३।६१।२३)
अनुत्कीर्णा यथा पङ्के पुत्रिका चाऽथ दारुणि।
यथा वर्णा मषीकल्पे तथा सर्गाः स्थिताः परे ॥ (३।६१।२४)

जैसे जड़, तने शाख, पत्तों, बेल, फूल और फूलोंवाला वृक्ष अपने बीज के भीतर मौजूद रहता है वैसे ही यह जगत् ब्रह्म में मौजूद है। जैसे सूर्यकान्त मणि के भीतर आग और दूध के भीतर घी रहता है वैसे ही यह सारा जगत् उस ब्रह्म में स्थित रहता है जिससे देश और काल के क्रम का उदय होता है। जैसे आग से चिनगारियाँ और सूर्य से रोशनी उत्पन्न होती है वैसे ही संसार की सभी दृश्य वस्तुयें ब्रह्म से उदय होती हैं। जैसे समुद्र तरङ्गों का और जैसे साफ़ मणि किरणों का कोश है वैसे ही वह (ब्रह्म) अनन्त दृश्य वस्तुओं के ज्ञान का कोश है। जैसे फूल और फलवाला बड़ का पेड़ बड़ के बीज के भीतर रहता है और जैसे मिरच में तीक्ष्णता रहती है वैसे ही तीनों जगत् (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) चिति के भीतर रहते हैं। जैसे वायु का

चलना वैसे ही ब्रह्म का सृष्टि-क्रम है। वह सत्य में असत्य और असत्य में सत्य की नाईं दिखाई दे रहा है। जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य से अन्य न होती हुई भी अन्य के समान उत्पन्न हो जाती है वैसे ही यह जगल्लक्ष्मी चेतन ब्रह्म में सत्य और असत्य रूप से स्थित है। जैसे गारे और लकड़ी में बिना गढ़ी हुई मूर्तियाँ और स्याही में बिना बनाई हुई तस्वीरें वर्तमान रहती हैं वैसे ही परमब्रह्म में सब सृष्टियाँ मौजूद रहती हैं।

(३) ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रकट होता है:—

सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत्।
सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धं चाशुद्धवत्ततम्॥ (६।३९।६)
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वाऽशून्यवत्स्फुटम्।
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम्॥ (६।३९।७)
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत्।
सदेवासदिवादृश्यं तदेवातदिवोदितम्॥ (६।३९।८)
अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवत्स्थितम्।
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम्॥ (६।३९।९)
अनहं सोऽहमिव तदनाशमिव नाशवत्।
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत्॥ (६।३९।१०)
आलोकि ध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम्।
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजद्गणम्॥ (६।३९।११)
सर्वात्मकमपि त्यक्तं दृष्टं कष्टेन भूयसा।
अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा॥ (६।३९।१२)
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम्।
ब्रह्म विद्धि विदां नाथमपामिव महोदधिम्॥ (६।३९।१३)

एक सत्य ब्रह्म अनेक प्रकार के जगत् के रूप में प्रकट हो रहा है; एक सबके आकार में; शुद्ध अशुद्ध के रूप में; अशून्य शून्य के रूप में; शून्य अशून्य के रूप में; प्रकाशित अप्रकाशित के रूप में और अप्रकट प्रकट के रूप में; अविकार (विकार रहित) विकारवान् के रूप में; सम और शांत अशान्त के रूप में; सत् असत् के रूप में; अदृश्य दृश्य के रूप में; अचेत्य चेतत्य के रूप में; अंशरहित अंशयुक्त के रूप में; अहंभावरहित अहंभाव-युक्त के रूप में; नाश-रहित नाशयुक्त के रूप में; कलङ्करहित कलङ्कयुक्त के

रूप में; निर्वेद्य वेद्य के रूप में; प्रकाशमय गहन तम के रूप में; नया पुराने के रूप में; परमाणु से भी सूक्ष्म आकारवाला ऐसे आकार में जिसके भीतर सारा जगत् मौजूद हो; जाल (पेचीदगी) से रहित जाल से पूर्ण रूप में; अकेला अनेक आकारों में; माया-रहित होता हुआ भी वह ब्रह्म माया की किरणों से सूर्य की नाँई घिरा हुआ, सब प्रकार के विषय-ज्ञानों से इस प्रकार पूर्ण दिखाई पड़ता है जैसे जलों से समुद्र।

(४) जगत् के रूप में प्रकट होना ब्रह्म का स्वभाव ही है :—

> एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा। (३।११।१०)
> एतत्तु स्वप्नसङ्कल्पनगरेष्वनुभूयते ॥ (३।११।११)

यह इस (ब्रह्म-चिति) का स्वभाव ही है कि इस प्रकार यह प्रकट हो; स्वप्न और संकल्पनगर (दिवास्वप्न) में चिति के इस स्वभाव का अनुभव होता है।

(५) सारा सृष्टिकाल ब्रह्म के लिये निमेष का अंश मात्र है :—

> तुल्यकालनिमेषं शलक्षभागप्रतीति यत्।
> निजं विदः प्रकचनं तत्सर्गौघपरम्परा ॥ (३।६१।१७)
> क्षणकल्पजगत्संघा समुद्यन्ति गलन्ति च।
> निमेषात्कस्यचित्कल्पात्कस्यचिच्च क्रमं शृणु ॥ (३।४०।३०)

अपनी आत्म-संवित् का जो निमेष के लाखवें भाग का अनुभव है वह सृष्टि का सारा क्रम होता है। किसी के क्षण के अनुभव में और किसी के कल्प के अनुभव में; क्षण कल्प और जगत् की सृष्टियाँ होती और बिगड़ती रहती हैं।

(६) एक ब्रह्म में अनेक प्रकार की सृष्टि करने की शक्ति है :—

> चिति तत्त्वेऽस्ति नानाता तदभिन्न्यजनात्मनि।
> विचित्रपिच्छिकापुञ्जो मयूराण्डरसे यथा ॥ (३।४७।२९)
> स्फटिकान्तः सन्निवेशः स्थाणुताऽवेदनाद्यथा।
> शुद्धेऽनानापि नानेव तथा ब्रह्मोदरे जगत् ॥ (३।६७।३९)

ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम् ।
फलपत्रलतागुल्मपीठबीजमिव स्थितम् ॥ (३।६७।३६)
एकमेव चिदाकाशं साकारत्वमनेककम् ।
स्वरूपमजहद्धत्ते यत्स्वप्न इव तज्जगत् ॥ (६।१४४।२३)
यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिकाः ।
यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ (६।३४।२९)
तेजःपुञ्जैर्यथा तेजः पयःपूरैर्यथा पयः ।
परिस्फुरति सस्पन्दैस्तथा चित्सर्गविभ्रमैः ॥ (४।३६।१६)

उस चितितत्व में, जो कि स्वयं अविभक्त-रूप है, नानाता (बहुरूपता) इस प्रकार मौजूद रहती है जैसे कि मोर के अण्डे के रस के भीतर उसकी पूँछ के नाना प्रकार के रङ्ग। जैसे शिला के भीतर न दिखाई देनेवाली स्थूल प्रतिमा मौजूद रहती है वैसे ही शुद्ध और एकरूप ब्रह्म में जगत् की बहुरूपता मौजूद होती है। जैसे फल, फूल, बेल, पत्ती और तने सहित वृक्ष बीज के आकार में स्थित रहता है वैसे ही सारा जगत् एक अखण्ड पिण्ड के आकार में ब्रह्मरूप से स्थित है। जैसे अपना स्वरूप न त्यागते हुए स्वप्नज्ञान नाना प्रकार के स्वप्नों में प्रकट होता रहता है वैसे ही अपना स्वरूप न त्यागते हुए एक चिदाकाश अनेक प्रकार के जगत् के साकाररूपों में दिखाई पड़ता है। ब्रह्म में सृष्टि इस प्रकार रहती है जैसे जल में तरङ्ग आदि, वृक्ष में पुतलियाँ और मिट्टी में घड़े आदि। ब्रह्म जगत् के भ्रम में इस प्रकार अपने स्पन्दनों से प्रकट होता है जैसे कि प्रकाश अपनी किरणों में और जल अपने कणों में।

(७) स्वयं ब्रह्म में नानाता का स्पर्श नहीं होता :—

चित्स्थैः सर्गैश्चिदाधारैर्न स्पृष्टा चित्परा तथा ।
स्वाधारैरम्बुदैः स्वस्थैर्न स्पृष्टं गगनं यथा ॥ (४।३६।९)
जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजत् ।
रूपं त्यजति नो शान्तं ब्रह्म शान्तत्वबृंहणम् ॥ (६।७२।३)
यथा पयसि वीचीनामुन्मज्जननिमज्जनैः ।
न जलान्यत्वमेवं हि भावाभावैः परैः पदे ॥ (६।१९९।२७)

परम चित् को उसमें स्थित नाना प्रकार की सृष्टियाँ इस प्रकार स्पर्श नहीं करतीं (अर्थात् उसमें किसी प्रकार की नानाता नहीं आती)

जैसे आकाश को उसमें स्थित बादल नहीं भिगो सकते। जगत्‌रूपी महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में प्रवेश करते हुए भी शान्त ब्रह्म अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। जैसे जल में लहरों के उत्थान और पतन से जल से अन्य कोई रूप परिवर्त्तन नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि और प्रलयों के होने से ब्रह्म का अपना रूप तबदील नहीं होता (ब्रह्म वैसे का वैसा ही रहता है)।

(८) सत्तामात्र से ही ब्रह्म का कर्तृत्व है :—

सर्वकर्ताऽप्यकर्तैव करोत्यात्मा न किञ्चन।
तिष्ठत्येवमुदासीन आलोकं प्रति दीपवत् ॥ (४।९६।१७)
कुर्वन्न किञ्चित्कुरुते दिवाकार्यमिवांशुमान्।
गच्छन्न गच्छति स्वस्थः स्वास्पदस्थो रविर्यथा ॥ (४।९६।१८)
सङ्कल्पपुरुषस्वप्नजनद्वीन्दुत्वविभ्रमम् ।
यथा पश्यसि पश्य त्वं भावजातमिदं तथा ॥ (४।९६।२४)
इयं सन्निधिमात्रेण नियतिः परिजृम्भते।
दीपसन्निधिमात्रेण निरिच्छैव प्रकाशते ॥ (४।९९।२७)
अभ्रसन्निधिमात्रेण कुटजानि यथा स्वयम्।
आत्मसन्निधिमात्रेण त्रिजगन्ति तथा स्वयम् ॥ (४।९६।२८)
सर्वेच्छारहिते भानौ यथा व्योमनि तिष्ठति।
जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया ॥ (४।९६।२९)
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथालोकः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवे तु तथैवायं जगद्गणः ॥ (४।९६।३०)
अतः स्वात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥ (४।९६।३१)
सर्वेन्द्रियाद्यतीतत्वात्कर्ता भोक्ता न सन्मयः।
इन्द्रियान्तर्गतत्वात्तु कर्ता भोक्ता स एव हि ॥ (४।९६।३२)
सर्वदैवाविनाशात्म कुम्भानां गगनं यथा।
यथा मणेरयःस्पन्दे अयस्कान्तस्य कर्तृता ॥ (६।९।३१)
अकर्तुरेव हि तथा कर्तृता तस्य कथ्यते।
मणिसन्निधिमात्रेण यथाऽयः स्पन्दते जडम् ॥ (६।९।३२)

परमात्मा सर्वकर्ता (सब कुछ करनेवाला) होने पर भी कुछ नहीं करता। जैसे रोशनी के उत्पादन में दीपक उदासीन की नाईं स्थित

रहता है वैसे ही सृष्टि करने में ब्रह्म उदासीन रूप से स्थित रहता है। जैसे सूर्य दिन के कामों का कारण है वैसे ही ब्रह्म कुछ न करता हुआ भी सब कुछ करता है। न चलता हुआ भी वह ऐसे चलता है जैसे कि अपने स्थानपर स्थित सूर्य चलता है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह ब्रह्म के स्वभाव से उत्पन्न हो रहा है; तुम उसको ऐसे जानो जैसे कि संकल्प का पुरुष, स्वप्न की प्रजा और दो चन्द्रमाओं का भ्रम (अर्थात् कुछ न होते हुए भी दिखाई दे रहा है)। जैसे दीपक के मौजूद होनेपर ही प्रकाश का उदय हो जाता है वैसे ही ब्रह्म के वर्तमान रहने पर ही सारा सृष्टिक्रम प्रचलित होता रहता है। जैसे बादल के होनेपर कुटज खिल उठते हैं वैसे ही परमात्मा की सत्तामात्र से ही तीनों जगत् स्वयं ही उदय होते रहते हैं। जैसे सूर्य को कोई इच्छा न रहते हुए भी आकाश में उसकी मौजूदगी मात्र से सारी क्रिया होती रहती हैं वैसे ही परमात्मा के मौजूद होने से ही सारा जगत् का व्यवहार होता रहता है। जैसे रत्न के मौजूद होनेपर बिना उसकी इच्छा के चान्दना हो जाता है उसी प्रकार परमात्मा की सत्तामात्र से ही संसार की उत्पत्ति होती रहती है। परमात्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही हैं। किसी प्रकार की इच्छा न होने से वह अकर्ता है और उसकी मौजूदगी मात्र से सृष्टि होने के कारण वह कर्ता है। वह सब इन्द्रियों से परे होने के कारण कर्ता और भोक्ता नहीं है, लेकिन सब इन्द्रियों के भीतर मौजूद रहने के कारण कर्ता और भोक्ता है। अमर परमात्मा, जो सब जगह रहनेवाला है, इस प्रकार जगत् का कर्ता है जैसे आकाश घटाकाशों का और चुम्बकमणि लोहे के प्रति कर्ता है। चुम्बकमणि के मौजूद होते ही जड़ लोहा चलने लगता है, वैसे ही ब्रह्म अकर्ता होते हुए भी जगत् का कर्ता हो जाता है।

१८—अद्वैत

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि जगत् के सब पदार्थ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय है। जब कि सब पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। योगवासिष्ठ के अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है। यह सिद्धान्त यहाँपर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है:—

(१) सब कुछ ब्रह्म से अभिन्न है:—

द्वैतं यथा नास्ति चिदात्मजीवयोस्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोः।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोस्तथैव भेदोऽस्ति न देहकर्मणोः॥
(३।६१।१२)

कर्मैव देहो ननु देह एव चित्तं तदेवाहमितीह जीवः।
स जीव एवेश्वरचित्स आत्मा सर्वः शिवस्त्वेकपदोक्तमेतत्॥ (३।६१।१२)

जैसे चिदात्मा और जीव में द्वैत नहीं है वैसे ही जीव और चित्त में द्वैत नहीं है। जैसे जीव और चित्त में भेद नहीं है वैसे ही शरीर और कर्म में भेद नहीं है। कर्म ही देह है; देह ही चित्त है; चित्त ही अहंकार और जीव है; जीव ही ईश्वर है; वही आत्मा है, वही सब कुछ है; वही एक परम पद शिव है।

(२) प्रकृति का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध:—

नात्मनः प्रकृतिर्भिन्ना घटान्मृन्मयता यथा।
सन्मृन्मात्रं यथा चान्तरात्मैवं प्रकृतिः स्थिता॥ (६।४९।२९)
आवर्तः सलिलस्येव यः स्पन्दस्त्वयमात्मनः।
प्रोक्तः प्रकृतिशब्देन तेनैवेह स एव हि॥ (६।४९।३०)
यथैकः स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया।
तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्नौ न सत्तया॥ (६।४९।३१)

अबोधादेतयोर्भेदो बोधेनैव विलीयते ।
अबोधात्तन्मयो याति रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ (६।४९।३२)
यद्ब्रह्मात्मापि तुर्यश्च याऽविद्या प्रकृतिश्च या ।
तद्भिन्नसदैकात्म यथा कुम्भशतेषु मृत् ॥ (६।४९।२८)
ब्रह्माहं त्रिजगद्ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः ।
द्वितीया कलना नास्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ (६।४९।२३)
अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः ।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ (६।४९।१७)

आत्मा से प्रकृति ऐसे भिन्न नहीं है जैसे कि मिट्टी से घड़ा भिन्न नहीं है। जैसे घड़ा मिट्टी ही है वैसे ही प्रकृति भी आत्मा ही है। आत्मा का स्पन्दन ही प्रकृति कहलाता है जैसे जल का स्पन्दन भँवर; इसलिये प्रकृति आत्मा ही है। जैसे हवा और उसका स्पन्दन (चलना) दो भिन्न सत्तायें नहीं हैं, केवल नाम मात्र का ही भेद है, वैसे ही आत्मा और प्रकृति दो वस्तुएँ नहीं हैं नाम मात्र का ही उनमें भेद है। अज्ञान के कारण ही इन दोनों में भेद दिखाई पड़ता है; ज्ञान से भेद नष्ट हो जाता है; जैसे कि रस्सी और साँप का भेद ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है। जैसे सैकड़ों घड़ों में एक ही मिट्टी अभिन्न सत्ता से स्थित रहती है वैसे ही प्रकृति, अविद्या, तुर्या, ब्रह्म और आत्मा सब वास्तव में एक ही हैं। मैं ब्रह्म हूँ; तू ब्रह्म है; तीनों जगत् ब्रह्म हैं; सारी दृश्य वस्तुएँ ब्रह्म हैं; दूसरा कुछ भी नहीं है; जैसा चाहो करो। यह अविद्या है, यह जीव है—इस प्रकार की विचारधारा अज्ञानियों को समझाने के लिये बुद्धिमानों ने बना रक्खी है (वास्तव में सत्य नहीं है)।

(३) मन का ब्रह्म के साथ तादात्म्य :—

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यारूपादयश्च ये ।
मनःशब्दैः प्रकल्प्यन्ते ब्रह्मजान्ब्रह्म विद्धि तान् ॥ (३।१००।२३)
ब्राह्मी शक्तिरसौ तस्माद्ब्रह्मैव तदरिन्दम । (३।१००।१७)
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ (६।८४।२)

प्रतियोगी (एक दूसरे के विरुद्ध) शब्दों द्वारा वर्णन किये जाने योग्य, संख्या और रूपवाले जो मन हैं वे सब ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, अतएव उन्हें ब्रह्म ही समझो। मन ब्रह्म की शक्ति है; इसलिये वह ब्रह्म ही है। उसकी मनोमयी स्पन्दशक्ति को उससे अनन्य समझो।

(४) जगत् का ब्रह्म के साथ तादात्म्य :—

यथा कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात् ।
न हेमकटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परे ॥ (३।१।१७)

कटकत्वं पृथग्घेम्नस्तरङ्गत्वं पृथग्जलात् ।
यथा न संभवत्येवं न जगत्पृथगीश्वरात् ॥ (३।६१।४)

यथोर्मयोऽनभिव्यक्ता भाविनः पयसि स्थिताः ।
न स्थिताश्चात्मनोऽन्यत्वाच्चित्तत्त्वे सृष्टयस्तथा ॥ (४।३६।२)

स्पन्दत्वं पवनादन्यन्न कदाचन कुत्रचित् ।
स्पन्द एव सदा वायुर्जगत्तस्मान्न भिद्यते ॥ (३।९।३३)

काकतालीयवच्चित्त्वाज्जगतो भाति ब्रह्म स्वम् ।
स्वप्नसंकल्पपुरवत्तत्स्मान्भिद्यते कथम् ॥ (३।३४।२४)

यथा न भिन्नमनलादौष्ण्यं सौगन्ध्यमम्बुजात् ।
कार्ष्ण्यं कज्जलतः शौक्ल्यं हिमान्माधुर्यमिक्षुतः ॥ (३।३।५)

आलोकश्च प्रकाशाङ्गादनुभूतिस्तथा चितेः ।
जलाद्वीचिर्यथाऽभिन्ना चित्स्वभावात्तथा जगत् ॥ (३।३।६)

यदात्ममरिचस्यान्तश्चित्त्वात्तीक्ष्णत्ववेदनम् । (५।५७।१)
यदात्मलवणस्यान्तश्चित्त्वाल्लवणवेदनम् ॥ (५।५७।२)
स्वतो यदन्तरास्मेक्षोश्चित्त्वान्माधुर्यवेदनम् । (५।५७।३)
स्वतो यदात्मदृषदश्चित्त्वात्काठिन्यवेदनम् ॥ (५।५७।४)
स्वतो यदात्मशैलस्य जतया जाड्यवेदनम् । (५।५७।५)
स्वतो यदात्मतोयस्य चिद्द्रवत्वाद्विवर्तनम् ॥ (५।५७।६)
यदात्मगगनस्यान्तश्चित्त्वाच्छून्यत्ववेदनम् । (५।५७।८)
स्वतो यदात्मवृक्षस्य शाखादिस्तस्य वेदनम् ॥ (५।५७।७)
स्वतो यदात्मकुड्यस्य नैरन्तर्यं निरन्तरम् । (५।५७।१०)
स्वतो यदात्मसत्तायाश्चित्त्वात्सत्त्वैकवेदनम् ॥ (५।५७।११)
अन्तरात्मप्रकाशस्य स्वतो यद्वभासनम् । (५।५७।१२)
परमात्मगुडस्यान्तर्यच्चित्त्वाद्रूदयात्मकम् ॥ (५।५७।१४)

अन्तरस्ति यदात्मेन्दोश्चिद्रूपं चिद्रसायनम् ।
स्वत आस्वादितं तेन तदहंतादिनोदितम् ॥ (५।५७।१३)

अनया तु वचोभङ्ग्या मया ते रघुनन्दन ।
नाहंतादिजगत्तादिभेदोऽस्तीति निदर्शितम् ॥ (५।५७।१९)

चिद्रूपेण स्वसंवित्त्या स्वचिन्मात्रं विभाव्यते।
स्वयमेव रूपहृद्यं वातेन स्पन्दनं यथा॥ (३।६१।११)
यथा क्षीरस्य माधुर्यं तीक्ष्णत्वं मरिचस्य च।
द्रवत्वं पयसश्चैव स्पन्दनं पवनस्य च॥ (३।६१।२७)
स्थितोऽन्यो यथाऽन्यः सन्नास्ति तत्र तथात्मनि।
सर्गो निर्गलचिद्रूपः परमात्मात्मरूपभृत्॥ (३।६१।२८)
कचनं ब्रह्मरत्नस्य जगदित्येव यत्स्थितम्।
तदकारणकं यस्मात्तेन न व्यतिरिच्यते॥ (३।६१।२९)
चिदग्न्यौष्ण्यं जगल्लेखा जगच्चिच्छङ्खशुक्लता।
जगच्चिच्छैलजठरं चिज्जलद्रवता जगत्॥ (३।१४।७२)
जगच्चिदिक्षुमाधुर्यं चित्क्षीरस्निग्धता जगत्।
जगच्चित्क्षौद्रमाधुर्यं जगच्चित्कनकाङ्गदम्॥ (३।१४।७३)
जगच्चित्सर्षपस्नेहो वीचिश्चित्सरितो जगत्।
जगच्चिद्धिमशीतत्वं चिज्ज्वालाज्वलनं जगत्॥ (३।१४।७४)
जगच्चित्पुष्पसौगन्ध्यं चिल्लताप्रफलं जगत्।
चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः॥ (३।१४।७६)
चित्त्वंचेत्यविकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम्।
विकारादि तदेवान्तस्तत्सारत्वान्न भिद्यते॥ (३।३३।७)
पुष्पपल्लवपत्रादि लताया नेतरद्यथा।
द्वित्वैकत्वजगत्त्वादि त्वन्त्वाहन्त्वं तथा चितेः॥ (३।३३।१२)

जैसे 'कड़ा' शब्द का अर्थ सोने से कोई पृथक् वस्तु नहीं है और जैसे सोना कड़े से 'कोई' पृथक् वस्तु नहीं है वैसे ही जगत् शब्द से कोई परम 'ब्रह्म' से अन्य वस्तु नहीं समझनी चाहिये। सोने से पृथक् कड़े का और जल से पृथक् तरङ्ग का अस्तित्व नहीं हो सकता; वैसे ही जगत् ईश्वर से पृथक् नहीं हो सकता। जैसे जल से पृथक् उसकी लहरें नहीं स्थित हो सकतीं वैसे ही सृष्टियाँ भी आत्मा से पृथक् स्थित नहीं हो सकतीं। जैसे पवन से उसका स्पन्दन कभी अन्य नहीं है, स्पन्दन सदा वायु ही है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म से अन्य वस्तु नहीं है। ब्रह्माकाश ही काकतालीय योग से (अकस्मात् ही) जगत्रूप से प्रकट हो जाता है, जैसे स्वप्न और संकल्प का जगत्; इसलिये जगत् ब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकता है? जैसे आग से उसकी उष्णता भिन्न नहीं है, कमल से उसकी गन्ध भिन्न नहीं है, स्याही से उसकी कालिमा भिन्न नहीं है;

वर्फ से उसकी सुफैदी भिन्न नहीं है, गन्ने स उसका मिठास भिन्न नहीं है, धूप से उसकी चमक भिन्न नहीं है, चिति से उसका अनुभव भिन्न नहीं है, जल से उसकी लहर भिन्न नहीं है, वैसे ही चित्स्वभाव (आत्म तत्त्व) से जगत् भिन्न नहीं है। अहंकारादिका अनुभव आत्मा में ऐसा है जैसा कि मिरच के लिये उसकी तीक्ष्णता का, नमक के लिये उसकी नमकीनता का, गन्ने के लिये उसके मिठास का, शिला के लिये उसकी कठोरता का, पहाड़ के लिये उसकी जड़ता का, जल के लिये उसकी द्रवता का, आकाश के लिये उसकी शून्यता का, वृक्ष के लिये उसकी शाखा आदि का, दीवार के लिय उसके ठोसपन का, आत्मा को अपनी सत्ता का, अन्तरात्मा को अपने प्रकाश का, गुड़ को अपने स्वाद का, चन्द्रमा को अपने भीतर स्थित रसायन (अमृत) का। वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम ! इन दृष्टान्तों द्वारा मैंने तुमको यह समझाया है कि जगत् और अहंभाव आदि में कोई भेद नहीं है। चिद्रूप से स्वयं चिदात्मा ही प्रकाशित हो रहा है, जैसे कि स्पन्दनरूप से स्वयं वायु। जैसे दूध का मिठास, मिरच का चिरचिरापन, जल का पतलापन और वायु का स्पन्दन, उनसे अन्य होते हुए अनन्य ही है वैसे ही यह सारा जगत् भी परमात्मा का ही रूप है। यह जगत् ब्रह्मरूपी रत्न की अकारण चमक है; अतएव उससे अलग कोई वस्तु नहीं है। जगत् चित्रूपी अग्नि की चमक है, चित्रूपी शंख की जगत् शुक्लता है; चित् रूपी पहाड़ की जगत् कठिनता है; चित्-रूपी जल की जगत् द्रवता है; चित्-रूपी गन्ने का जगत् मिठास है; चित्-रूपी सोने का जगत् कड़ा है; चित्-रूपी सरसों का जगत् तेल है; चित्-रूपी नदी की जगत् लहर है; चित्-रूपी बर्फ की जगत् शीतलता है; चित्-रूपी फूल की जगत् सुगन्ध है; चित्-रूपी लता का जगत् फल है; चित् की सत्ता जगत् की सत्ता है, और जगत् की सत्ता चित् की सत्ता है। चित्-सत्ता ही चेत्य के आकार में विकल्प को प्राप्त होती है और अपने भीतर ही विकार को धारण करती है; वही सारे जगत् का सार है इसलिये जगत् उससे भिन्न नहीं है। जैसे पत्ते, कोंपल और फूल आदि लता से अन्य नहीं हैं वैसे ही चिति से, द्वित्व, एकत्व, जगत्, तुम और मैं आदि अलग नहीं हैं।

(५) ईश्वर की सत्ता जगत् के बिना नहीं है :—

सन्निवेशं विना सत्ता यथा हेम्नो न विद्यते। (६।९६।४३)
तथा जगदहंभावं विना नैतस्य संस्थितिः॥ (६।९६।४४)

चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः। (३।१४।७९)
अत्र भेदविकारादि नभे मलमिव स्थितम्॥ (३।१४।७६)

जैसे किसी आकार के बिना सोना नहीं रहता वैसे ही ईश्वर भी बिना अहंभाव और जगत् के नहीं रहता। चित् की सत्ता जगत् की सत्ता है और जगत् की सत्ता चित् की सत्ता है। भेद और विकार आदि ईश्वर में इस प्रकार स्थित है जैसे कि आकाश में मल (नीलापन)।

(६) सब कुछ ब्रह्म ही है:—

करणं कर्म कर्ता च जननं मरणं स्थितिः।
सर्वं ब्रह्मैव नह्यस्ति तद्विना कल्पनेतरा॥ (३।१००।३०)
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम्॥ (६।६०।२८)
पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः॥ (६।९६।३)
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः।
परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः॥ (३।९९।४९)
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम्॥ (६।११।१६)
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि॥ (६।२।२८)

करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति—सब कुछ ब्रह्म ही है; उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जगत् का जाल ब्रह्माकाश है, दशों दिशायें ब्रह्माकाश हैं; कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब ही ब्रह्माकाश हैं। जैसे स्वप्न के पदार्थ पहाड़ और नगर आदि सब ही चिदाकाश हैं वैसे ही जाग्रत् जगत् के पदार्थ भी चिदाकाश ही हैं। पृथ्वी, आकाश, पहाड़ और वृक्ष सब ही परमार्थ तत्त्व हैं। जो कुछ भी इस जगत् में दिखाई पड़ता है वह सब शुद्ध ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित दिखाई पड़ता है। पाताल में, पृथ्वीपर, स्वर्ग में, प्राणियों में और आकाश में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह सब चित्-रूप परम ब्रह्म ही है; और कुछ भी नहीं है।

———

१९—जगत् का मिथ्यापन

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् में ब्रह्म के सिवाय और कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। जगत् के सारे पदार्थ ब्रह्ममय हैं; जगत् की नानाता ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है। यहाँपर हमको जगत् के ऊपर एक दृष्टि डालकर यह विचार करना है कि जगत् स्वयं सत्य है अथवा मिथ्या। अद्वैत वेदान्त का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"

अर्थात् ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। योगवासिष्ठ का भी सिद्धान्त इसी प्रकार का है:—

> मायेयं स्वप्नवद्भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका।
> मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी ॥ (४।४७।४१)

यह सृष्टि माया है, स्वप्न के समान भ्रम है, मिथ्या रचे हुए चक्र के समान है, मनोराज्य (कल्पना) के समान चञ्चल है, जल के भँवर के समान सुन्दर दिखाई पड़नेवाली है।

यहाँपर हमें यह देखना है कि योगवासिष्ठ के अनुसार इन सब कथनों के क्या अर्थ हैं। जगत् को मिथ्या, भ्रम, माया, और असत् क्यों और किस अर्थ में कहा है।

(१) सत्य और असत्य का अर्थ:—

> आदावन्ते न यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत्। (६।५।९)
> आदावन्ते च यत्सत्यं वर्तमाने सदैव तत् ॥ (४।४५।४६)
> आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (४।४५।४५)
> आदावन्ते च यन्नास्ति कीदृशी तस्य सत्यता ॥ (६।५।९)
> यदस्ति तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन राघव। (३।४।६२)

आदि और अन्त में जो नित्य है वही 'सत्य' है, दूसरा नहीं; जो आदि और अन्त में सत्य है वही वर्त्तमान में भी सत्य है। जो आदि और अन्त में नहीं रहता वह वर्त्तमान में भी सत्य नहीं कहा जा सकता। जो आदि और अन्त में नहीं है उसकी सत्यता कैसी जो (सत्य) है

उसका नाश कभी नहीं हो सकता (अर्थात् जिसका नाश हो जाता है वह सत्य नहीं कहा जा सकता)।

इस कथन का अर्थ यह है कि जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होती है वह नित्य नहीं हो सकती; अतएव वह सत्य भी नहीं हो सकती। सत्य वही वस्तु है जो तीनों काल—भूत, वर्त्तमान और भविष्य में वर्त्तमान रहे। जिसका आदि और अन्त हो वह तो केवल एक ही काल में रहती है। अतएव वह सत्य नहीं कही जा सकती।

जगत् और जगत् के सब पदार्थ सादि और सान्त हैं। अतएव सत्य नहीं है। लेकिन उनको सर्वथा असत्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो वस्तु किसी काल में भी प्रतीत हो सकती है वह सर्वथा असत्य नहीं है। सर्वथा असत्य तो वह पदार्थ है जो कभी भी प्रतीत न हो। अतएव जगत् न सत्य है और न असत्य। जो न सत्य है न असत्य, उसे मिथ्या कहते हैं। वह भ्रम की नाईं वास्तव में सत्य न होता हुआ भी प्रतीत होता है। अतएव उसे सत्य और असत्य दोनों भी कह सकते हैं।

(२) जगत् न सत्य है, न असत्य :—

न सन्नासन्न सञ्जातश्चेतसो जगतो भ्रमः।
अथ धीसमवायानामिन्द्रजालमिवोत्थितः॥ (३।६१।६)
नातः सत्यमिदं दृश्यं न चासत्यं कदाचन। (३।४४।३३)
न तत्सत्यं न चासत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा॥ (३।४४।४१)
न सत्यं न च मिथ्यैव स्वप्नजालमिवोत्थितम्। (६।११४।२०)
एवं न सन्नासदिदं भ्रान्तिमात्रं विभासते॥ (३।४४।२७)

जगत् का दृश्य न सत्य है, न असत्य, वह चित्त में इस प्रकार भ्रम रूप से उदय हुआ है जैसे कि बुद्धि में इन्द्रजाल का दृश्य उदय हो जाता है। यह दृश्य-जगत् न सत्य है और न असत्य। रस्सी में साँप के भ्रम की नाईं न वह सत्य है और न सर्वथा असत्य ही। स्वप्न जगत् की नाईं वह उत्पन्न हुआ है; न वह सच्चा है और न झूठा। केवल भ्रान्तिमात्र है; केवल दिखाई पड़ता है।

(३) जगत् सत् और असत् दोनों ही है :—

सती वाप्यसती तापनद्येव लहरी चला।
मनसेंद्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते॥ (३।१।२९)

असत्यमस्थैर्यवशात्सत्यं संप्रतिभा सतः ।
यथा स्वप्नस्तथा चित्तं जगत्सदसदात्मकम् ॥ (३।६९।९)
यथा नभसि मुक्तालीपिच्छकेशोण्ड्रकादयः ।
असत्याः सत्यतां याता भात्येवं दुर्दशां जगत् ॥ (३।४२।७)
असत्यमेव सत्याभं प्रतिभानमिदं स्थितम् । ३।९४।२१)
अकृतं चानुभूतं च न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ॥ (३।१३।४२)

जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है, जैसे कि मृगतृष्णा की बहती हुई नदी। मन द्वारा ही यह जगत्-रूपी इन्द्रजाल की शोभा रची गई है। जगत् सदा स्थिर न होने के कारण असत्य कहलाता है और प्रतीत होने के कारण सत्य कहलाता है। अतएव स्वप्न की नाईं जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है। जैसे भ्रमवश आकाश में मोतियों की लड़ियाँ, मोर की पूँछ और केशों के गुच्छे आदि दिखाई पड़ने लगते हैं, और वास्तव में असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होने लगते हैं, वैसे ही जगत् भी दिखाई पड़ता है। असत्य होता हुआ भी जगत् सत्य सा प्रतीत होता है; न होता हुआ भी अनुभव में आता है; सत्य न होता हुआ भी सत्य के समान स्थित है।

(४) जगत् केवल भ्रम है, वास्तव में सत्य नहीं है :—

एवं तावदिदं विद्धि दृश्यं जगदिति स्थितम् ।
अहं चेत्याद्यनाकारं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ॥ (४।१।२)
मृगतृष्णाम्बुवदसत्यं सत्यवत्प्रत्ययप्रदम् । (४।१।७)
अनुभूतं मनोराज्यमिवासत्यमवास्तवम् ॥ (४।१।१२)
शून्ये प्रकचितं नानावर्णमाकारितात्मकम् ।
अपिण्डगृहमाशून्यमिन्द्रचापमिवोत्थितम् ॥ (४।१।१३)
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदमनुभूयते ।
तत्संविद्व्योमकचनं स्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ॥ (३।९४।२०)
मृगतृष्णा यथा तापान्मनसोऽनिश्चयात्तथा ।
असन्त इव दृश्यन्ते सर्वे ब्रह्मादयोऽप्यमी ॥ (४।४९।१७)
मिथ्याज्ञानघनाः सर्वे जगत्याकारराशयः ।
यथा नौ यायिनो मिथ्या स्थाणुस्पन्दमतिस्तथा ॥ (४।४९।१८)
मनोव्यामोह एवेदं रज्ज्वामहिभयं यथा ।
भावनामात्रवैचित्र्याच्चिरमावर्तते जगत् ॥ (४।४९।२१)

मिथ्यात्मिकैव सर्गश्रीर्भवतीह महामरौ ।
तीरद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पालीव तरङ्गिणी ॥ (३।६२।४)
स्वप्नेन्द्रजालपुरवत्संकथेहापुराद्रिवत् ।
संकल्पवदसत्यैव भाति सर्गानुभूतिभूः ॥ (३।६२।५)
समस्तस्याप्रबुद्धस्य मनोजातस्य कस्यचित् ।
बीजं विना मृषैवेयं मिथ्यारूढिमुपागता ॥ (३।५७।१९)
स्वप्नोपलम्भं सर्गाख्यं स सर्वोऽनुभवन्स्थितः ।
चिरमावृत्तदेहात्मा भूचक्रभ्रमणं यथा ॥ (३।५७।२०)
मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः ।
मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्या स्वप्नानुभूतयः ॥ (३।५७।५४)
प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरीक्षयम् ।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ (३।३३।४५)
स्वप्नार्थमृगतृष्णाम्बुद्वीन्दुसङ्कल्पितार्थवत् ।
मिथ्या जगदहं त्वं च भाति केशोण्ड्रकं यथा ॥ (३।११०।१३)
मायामात्रकमेवेदमशेषकमभित्तिमत् ।
इदं भास्वरमाभातं स्वप्नसंदर्शनं स्थितम् ॥ (३।६०।३६)
भ्रान्तिरेवमनन्तेऽयं चिद्व्योमव्योम्नि भासुरा ।
अपकुड्या जगन्नाम्नी नगरी कल्पनात्मिका ॥ (३।२।१४)
एतज्जालमसद्रूपं चिद्भानोः समुपस्थितम् ।
यथा स्वप्नमुहूर्तेऽन्तः सम्वत्सरशतभ्रमः ॥ (३।४१।५०)
यथा सङ्कल्पनिर्माणे जीवनं मरणं पुनः ।
यथा गन्धर्वनगरे कुड्यमण्डनवेदनम् ॥ (३।४१।५१)
यथा नौयानसंरम्भे वृक्षपर्वतवेपनम् ।
यथा स्वधातुसंक्षोभे पूर्वपर्वतनर्तनम् ॥ (३।४१।५२)
यथा समञ्जसं स्वप्ने स्वशिरःप्रविकर्तनम् ।
मिथ्यैवैवमियं प्रौढा भ्रान्तिराततरूपिणी ॥ (३।४१।५३)
यथा मरौ जलं बुद्धं कटकत्वं च हेमनि ।
असत्सदिव भातीदं तथा दृश्यत्वमात्मनि ॥ (३।२८।१९)
ससप्तावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुष्टदृष्टे व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा ॥ (३।२०।१०)
यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षिमलाविलम् ।
चिच्चेतनकलाक्रान्ता तथैव परमात्मनि ॥ (३।६६।७)

यथा मद्वशाद्भ्रान्तान्क्षीबः पश्यति पादपान् ।
तथा चेतनविक्षुब्धान्संसारांश्चित्प्रपश्यति ॥ (३।६६।८)
यथा लीलाभ्रमाद्बालाः कुम्भकृच्चक्रवज्जगत् ।
भ्रान्तं पश्यन्ति चित्तात्तु विद्धि दृश्यं तथैव हि ॥ (३।६६।९)
पत्रमात्राहृते नान्यत्कदलया विद्यते यथा ।
भ्रममात्राहृते नान्यज्जगतो विद्यते तथा ॥ (३।६६।४)
अलीकमिदमुत्पन्नमलीकं च विवर्धते ।
अलीकमेव स्वदते तथालीकं विलीयते ॥ (३।६७।७६)

जो दृश्य जगत् और अहं आदि पदार्थ स्थित दिखाई पड़ते हैं उन्हें केवल भ्रान्ति मात्र और असत्य समझो। मृगतृष्णा के जल के समान, अनुभव में आए हुए कल्पना-जगत् के समान, यह जगत् सत्य के समान प्रतीत होता हुआ भी अवास्तव और असत्य है। इन्द्र धनुष की नाईं यह शून्य पट पर नाना रङ्गों द्वारा रचा हुआ बिना किसी वास्तविक पदार्थ के सर्वथा शून्य है। जगत् कभी स्वयं उत्पन्न नहीं हुआ; जो कुछ दिखाई पड़ता है वह केवल चिदाकाश की ऐसी काल्पनिक रचना है जैसा कि स्वप्न की स्त्री के साथ सम्भोग। जैसे सूर्य की गरमी से मृगतृष्णा की नदी की दृष्टि उदय हो जाती है वैसे ही मन के विचलित होने से ब्रह्मा आदि असत्य होते हुए भी अनुभव में आने लगते हैं। जैसे नाव में बैठे हुए मनुष्य को स्थिर वस्तुयें भी चलती हुई दिखाई पड़ने लगती हैं वैसे ही जगत् की सब वस्तुएँ मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होती हैं। भावना की विचित्रता से ही जगत् का विकार उत्पन्न होता है, जैसे मन के भ्रम से रस्सी में साँप का भ्रम उदय हो जाता है। जैसे महामरुस्थल में तीरपर पेड़, लता और पुष्पवाली मृगतृष्णा की नदी दिखाई पड़ने लगती है वैसे ही मिथ्या सृष्टि भी दिखाई पड़ने लगती है। स्वप्न इन्द्रजाल और सङ्कल्प के नगर और पहाड़ की नाईं सृष्टि का अनुभव मिथ्या ही होता है। यह सृष्टि सब अज्ञानी मनों के भीतर बिना किसी बीज के मिथ्या ही उत्पन्न हो गई है। जैसे घूमता हुआ व्यक्ति सारी पृथ्वी को घूमता हुआ देखता है वैसे ही स्वप्न के समान इस सृष्टि का अनुभव ही होता है। ये सब सृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ हैं, और मोह से उत्पन्न होती हैं। ये सब स्वप्न की अनुभूतियों के समान शून्य हैं और दृष्टि की भ्रान्ति होने के कारण मायामात्र हैं। सृष्टि का उदय भ्रान्ति है, सृष्टि का लय भ्रान्ति है, जैसा गन्धर्व नगर

(भ्रम का दृश्य) वैसी ही जगत् की सृष्टि। जगत्, मैं, तुम और सब कुछ, स्वप्न के पदार्थ मृगतृष्णा की नदी के जल, दूसरे चान्द, सङ्कल्प की वस्तु और भ्रम के केशोण्ड्रक की नाईं मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न के दृश्य होते हैं वैसे ही ये हैं। यह जगत् माया मात्र है; इसमें न ठोसता है और न स्थूलता, यद्यपि इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। यह जगत् नामवाली कल्पना की नगरी आकाश में शून्य रूपवाली अनन्त भ्रान्ति है; इसमें कहीं भी ठोसपन नहीं है। जैसे एक घंटे के स्वप्न के भीतर सैकड़ों बरसों का भ्रम पैदा हो जाता है वैसे ही असत् रूपवाला यह जगत्-भ्रम चित्त-रूपी सूर्य के आगे उपस्थित हो गया है जैसे सङ्कल्प के संसार में जीना और मरना होता है; जैसे गन्धर्व नगर में दीवार आदि की रचना होती है; जैसे नाव में बैठे हुए पुरुष को नाव के हिलने पर वृक्ष और पर्वत हिलते हुए दिखाई देते हैं, जैसे अपना जी घबराने पर पूर्व का पहाड़ डोलता दिखाई देता है; जैसे स्वप्न में अपना सिर कटता अनुभूत होता है, उसी प्रकार यह संसार की विस्तृत भ्रान्ति भी मिथ्या उदय होती है। जैसे मरुस्थल में झूठा जल दिखाई पड़ता है, जैसे स्वर्ण के स्थान पर कड़ा ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा में यह असत्य दृश्य दिखाई पड़ता है। जैसे मैल से आक्रान्त होने पर आँखें एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा देखती हैं, वैसे ही चेत्य की कलना के वशीभूत होकर चिति परमात्मा में जगत् को देखती है। जैसे नशेबाज शराब पीकर वृक्षों को घूमता और हिलता देखता है वैसे ही आत्मा भी संसार का अनुभव करता है, जैसे खेलते समय बच्चे घूम कर जगत् को कुम्हार के चाक की तरह घूमता हुआ देखते हैं वैसे ही चित्त इस दृश्य जगत् का अनुभव करता है। जैसे केले में पत्तों के सिवाय और कुछ भी नहीं है वैसे ही जगत् में भ्रम के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जगत् की उत्पत्ति झूठी है, जगत् की वृद्धि झूठी है; जगत् का स्वाद (अनुभव) झूठा है, और जगत् का लय होना भी झूठा ही है।

(५) जीवका मिथ्यापन :—

आत्मैवानात्मवदिह जीवो जगति राजते ।
द्वीन्दुत्वमिव दुर्दृष्टेः सत्यासत्य समुत्थितम् ॥ (३।१००।३९)

पिच्छकैः स्पन्दकाकेश समन्यः कल्पते मनः ।
मिथ्यैव [तत्समुत्पन्नं मिथ्याज्ञानं यदुच्यते ॥ (६।१३।८८)

एषा अविद्या कथिता मायैषा सा निगद्यते ।
परमेतत्तदज्ञानं संसारादिविषप्रदम् ॥ (५।१३।८९)

जैसे दोषयुक्त दृष्टिवाले को दूसरा चन्द्रमा दिखाई पड़ता है वैसे ही जीव भी सत्य और असत्य रूप से आत्मा में अनात्म रूपका भ्रम उत्पन्न हो गया है। चित्-शक्ति और स्पन्द-शक्ति के झूठे और कल्पित सम्बन्ध का नाम मन है। वह मिथ्या ही उदय हुआ है और मिथ्या ज्ञान कहलाता है। इसी को अविद्या कहते हैं; इसी को माया कहते हैं; यही परम अज्ञान है जो कि संसार आदि के विष को उत्पन्न करने वाला है।

(६) अविद्या :—

संसारबीजकणिका यैषा विद्या रघूद्वह ।
एषा ह्यविद्यमानैव सतीव स्फारतां गता ॥ (३।११३।११)
दृश्यते प्रकाशभासा सद्यं नोपयुज्यते । (३।११३।१६)
अतः शून्यापि सर्वत्र दृश्यते सारसुन्दरी ॥ (३।११३।१७)
न क्वचित्संस्थितापीह सर्वत्रैवोपलक्ष्यते । (३।११३।१७)
निमेषमप्यतिष्ठन्ती स्थैर्याशङ्कां प्रयच्छति ॥ (३।११३।१८)
प्रतिभासवशादेषा त्रिजगन्ति महान्ति च ।
मुहूर्तमात्रेणोत्पाद्य धत्ते ग्रासीकरोति च ॥ (३।११३।२७)
मनोराज्यमिवाकारभासुरा सत्यवर्जिता ।
सहस्रशतशाखापि न किञ्चित्परमार्थतः ॥ (३।११३।३३)
इयं दृश्यभरभ्रान्तिरनन्वविद्येति चोच्यते ।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ (६।९२।९)
अविद्येति धृता संविद्ब्रह्मणात्मनि सत्तया ।
तद्भ्रमेणासदप्यस्याः सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ (६।१६०।११)
असन्मयमविद्याया रूपमेव सदैव हि ।
यद्वीक्षितासती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥ (६।९१।१३)

संसार के बीज को अविद्या कहते हैं। यह अविद्या न होते हुए भी होती हुई के समान विस्तार को प्राप्त हो जाती है। यद्यपि यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है तो भी इसको सत्य नहीं कह सकते। भीतर शून्य रूपवाली होने पर भी देखने में सारवाली सुन्दर मालूम पड़ती है। कहीं पर सत्य न होते हुए भी यह सब जगह दिखाई पड़ती है।

निमेष मात्र के लिये भी स्थिर न होती हुई ऐसी जान पड़ती है कि वह स्थिर है। तीनों महान् जगतों को यह प्रतिभास (भ्रम) द्वारा मुहूर्त मात्र में उत्पन्न करके धारण करती है और ग्रास कर जाती है। मनोराज्य (कल्पना) की नाईं प्रकट आकारवाली, सहस्रों शाखाओंवाली होती हुई भी वह सत्य से रहित है और परमार्थतः कुछ भी नहीं है। यह दृश्य जगत् की भ्रान्ति अविद्या कहलाती है क्यों वह वस्तुतः ऐसे विद्यमान नहीं है जैसे मृगतृष्णा की नदी में जल नहीं होता। ब्रह्म ने अपनी सत्ता द्वारा अपने भाव अविद्या को धारण कर रक्खा है; इसी कारण से असत्य होते हुए भी वह सत्य सी जान पड़ती है। असत्यरूप अविद्या का यह स्वभाव है कि जब उसका ज्ञान हो जाता है तब ही वह नष्ट हो जाती है और फिर दिखाई नहीं पड़ती।

(अ) चित्त ही अविद्या है :—

चित्तमेव सकलाडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि ।
सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति ।
अविद्याचित्तजीवबुद्धिशब्दानां भेदो नास्ति
वृक्षतरुशब्दयोरिव ॥ (३।११६।८)

चित्त को ही सारे आडम्बर को उत्पन्न करने वाली अविद्या समझना चाहिये। वह ही विचित्र इन्द्रजाल शक्ति द्वारा इस जगत को उत्पन्न करती है। जैसे वृक्ष और तरु शब्द एक ही वस्तु के नाम हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है, वैसे ही अविद्या, चित्त, जीव और बुद्धि आदि में कोई भेद नहीं है।

(आ) अविद्या की असत्ता :—

कृता शास्त्रः प्रबोधाय । (६/१।९१।१७)
नामैवेदमविद्येति भ्रममात्रमसद्विदुः ।
न विद्यते या सा सत्या कीदृशाम भवेत्किल ॥ (६/१।४९।१४)

ब्रह्मतत्त्वमिदं सर्वमासीदस्ति भविष्यति ।
निर्विकारमनाद्यन्तं नाविद्यास्तीति निश्चयः ॥ (६/१।४०।११)

कुत एषा कथं चेति विकल्पामनुदाहरन् ।
नेदमेषा न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः ॥ (६/१।५२।७)

'अविद्या' शब्द की रचना शास्त्रों ने बोध कराने के लिये की है। अविद्या असत्य और भ्रममात्र है, केवल नाम-मात्र है। जो वास्तव में है ही नहीं उसका नाम ही क्या होगा। केवल ब्रह्म तत्त्व ही सब कुछ है, था और होगा। वह निर्विकार और अनादि और अनन्त है। अविद्या नाम का और कोई तत्त्व नहीं है—यह निश्चय है। अविद्या कहाँ से आई? कैसे आई? इन प्रश्नों के करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञान द्वारा यह जान लोगे कि न यह है और न और कुछ है।

(७) माया :—

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया॥ (६।७०।१८)
ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति॥ (४।४१।१९)
विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम्।
न च विज्ञायते कैषा पश्याश्चर्यमिदं जगत्॥ (४।४१।१६)
अप्रेक्ष्यमाणा स्फुरति प्रेक्षिता तु विनश्यति।
मायेयमपरिज्ञायमानरूपैव वल्गति॥ (४।४१।१७)
नूनं स्थितिमुपायाता समासाद्य पदं स्थिता।
कुतो जातेयमिति ते राम मास्तु विचारणा॥ (४।४१।३२)
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा।
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि राघव॥ (४।४१।३३)
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्।
वस्तुतः किल नास्त्येषा विभात्येषा न वेक्षिता॥ (४।४१।३४)
उपदेश्योपदेशार्थं शास्त्रार्थप्रतिपत्तये।
शब्दार्थवाक्यरचनाक्रमो मा तन्मयो भव॥ (४।४१।६)
शब्दार्थवाक्प्रपञ्चोऽयमुपदेशेषु कल्पितः।
सदाऽज्ञेषु न तज्ज्ञेषु विद्यते पारमार्थिकः॥ (४।४१।९)
कलनामलमोहादि किञ्चिन्नात्मनि विद्यते।
नीरागं ब्रह्म परमं तदेवेदं जगत्स्थितम्॥ (४।४१।१०)

ब्रह्म की अपार आदि और अन्त रहित चित्-शक्ति ही माया के रूप में प्रकट होती है। माया का स्वभाव कोई नहीं जानता; ज्ञान होते ही यह नष्ट हो जाती है और नाश होने पर यह सुख देती है। माया

क्या है यह नहीं जाना जाता; यह विवेक को नष्ट करके जगत् के अनुभव को उत्पन्न करती है। यह जब तक नहीं जानी जाती तभी तक सृष्टि करती है; जब इसका ज्ञान हो जाता है तब यह नष्ट हो जाती है। कैसे और कहाँ से यह उत्पन्न हुई है इस प्रकार के विचार करने की आवश्यकता नहीं है; विचार यह होना चाहिये कि मैं इसे किस प्रकार नष्ट करूँ। जब यह अस्त होकर क्षीण हो जावेगी तब इसका स्वरूप समझ में आजायेगा। तब यह समझ में आजायेगा कि यह कहाँ से आई और क्या है और कैसे नष्ट हो जाती है। वस्तुतः माया कोई वस्तु नहीं है; केवल दिखाई ही पड़ती है। अधिकारी को उपदेश देने के लिये और शास्त्र का ज्ञान कराने के लिये यह शब्द, अर्थ और वाक्यों का भ्रम खड़ा किया गया है। उसमें नहीं फँसना चाहिये। यह सब बातें उपदेश के लिये रची गई हैं और अज्ञानी जनों के लिये ही हैं; वस्तुतः ज्ञानियों के लिये नहीं हैं। आत्मा में माया और मोह आदि कुछ भी नहीं हैं। परम ब्रह्म जो रागरहित है; और वही जगत् के रूप में स्थित है।

(८) मूर्खों के लिये ही जगत् सत्य है :—

यस्त्वबुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत्॥ (३।४२।१)

यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत्॥ (३।४२।२)

ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमकारणम्।
असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत्॥ (३।४२।३)

यथा स्वप्नमृतिर्जन्तोरसत्या सत्यरूपिणी।
अर्थक्रियाकरी भाति तथा मूढधियां जगत्॥ (३।४२।४)

अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा।
कटकज्ञप्तिरेवास्ति न मनागपि हेमधीः॥ (३।४२।५)

तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रभासुरा।
दृश्यं दृश्यदृगेवास्ति न त्वन्या परमार्थदृक्॥ (३।४२।६)

येन बुद्धं तु तस्यैतदाकाशादपि शून्यकम्।
न बुद्धं येन तस्यैतद्वज्रसाराचलोपमम्॥ (३।२८।१३)

दीर्घसंसारमायेयं राम राजसतामसैः।
धार्यते जन्तुभिर्नित्यं सुस्तम्भैरिव मण्डपः॥ (५।५।२)

सत्त्वस्थजातिभिर्धीरैस्त्वादृशैर्गुणबृंहि ।
हेलया त्यज्यते पक्का मायेयं त्वगिवोरगैः ॥ (६।६।३)

यह झूठा जगत् उस पुरुष के लिये वज्र के समान दृढ़ सारवाला है जिसकी बुद्धि में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है और जो परम पद में स्थित नहीं हुआ है। जैसे बाल को वास्तव में न होता हुआ भूत मौत तक का दुःख देता है वैसे ही मूढ़ बुद्धि वाले के लिये यह जगत् दुःख देनेवाला है। जैसे असत्य मृगतृष्णा का जल मृगों के चित्त में भ्रम पैदा कर देता है वैसे ही यह जगत् मूर्खों के लिये है। जैसे स्वप्न की झूठी मौत सत्य सी अनुभव में आकर दुःख देती है वैसे ही मूर्खों के लिये यह जगत् है। जैसे नासमझ आदमी के लिये सोने के गहनों में सोने का भाव न होकर केवल गहने का भाव ही रहता है, वैसे ही मूर्ख को इस दृश्य जगत् में शहर, महल और पहाड़ आदि की भावना होती है; परमार्थ की भावना नहीं होती। जिसको ज्ञान हो गया है उसके लिये तो यह जगत् आकाश से भी शून्य है, और जो अज्ञानी है उसके लिये यह वज्र और पहाड़ के समान कठोर है। जैसे मण्डप मज़बूत खम्भों के ऊपर खड़ा होता है वैसे ही यह संसार की माया रजोगुण और तमोगुण वाले पुरुषों के ऊपर टिकी हुई है। हे राम! तेरे जैसे सत्त्व गुणवाले पुरुष इस माया को सहज में ही इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे कि साँप अपनी केंचुली को त्याग देते हैं।

(९) जब तक अज्ञान है तभी तक जगत् का अनुभव है :—

यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ॥ (३।२।३०)

देहे यावदहंभावो दृश्येऽस्मिन्यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥ (३।२।३१)

यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
यावन्मौर्ख्यं न संक्षीणं तावच्चित्तादिनिम्नता ॥ (३।२।३२)

यावच्छिथिलतां यातं नेदं भुवनभावनम् ।
सम्यग्दर्शनशवत्यान्तस्तावच्चित्तादयः स्फुटाः ॥ (३।२।३३)

यावज्जडत्वमन्धत्वं वैवश्यं विषयाशया ।
मौर्ख्यान्मोहसमुच्छ्रायस्तावच्चित्तादिकल्पना ॥ (३।२।३४)

यावदाशाविषामोदः परिस्फुरति हृद्वने ।
प्रविचारचकोरोऽन्तर्न तावत्प्रविशत्यलम् ॥ (३।२।३९)

जब तक अज्ञान है, जब तक ब्रह्मभावना का उदय नहीं हुआ, जब तक जगत् में आस्था है, तभी तक चित्त आदि की कल्पना दृढ़ रहती है। देह में जब तक अहंभाव है, दृश्य जगत् के साथ जब तक आत्मभाव है, जब तक "यह मेरा है" इस प्रकार की भावना है, तब तक यह भ्रम रहता है। जब तक सज्जनों की सङ्गत से उच्च भावनायें उत्पन्न नहीं हुईं, जब तक मूर्खता क्षीण नहीं हुई, तब तक ही नीची अवस्था रहती है। जब तक कि सम्यक् दर्शन की शक्ति से अपने भीतर से जगत् की भावना मन्द नहीं पड़ गई है, तभी तक जगत् का अनुभव स्पष्ट है। जब तक अज्ञान, अन्धापन, विवशता, विषयों के ऊपर निर्भरता और मूर्खता के कारण मोह का प्रसार है तभी तक जगत् की कल्पना है। जब तक हृदयरूपी वन में आशारूपी विष की गन्ध फैली हुई है तब तक विचाररूपी चकोर का वहाँ प्रवेश नहीं होता।

(१०) ज्ञान से अविद्या का नाश :—

अविद्यैवमवमविज्ञाता चिरानन्तावभासते ।
परिज्ञाता तु नास्त्येव मृगतृष्णानदी यथा ॥ (३।१६०।८)
यथोदिते दिनकरे क्वापि याति तमस्विनी ।
तथा विवेकेऽभ्युदिते क्वाप्यविद्या विलीयते ॥ (३।११४।१)
यदा ब्रह्मात्मिकैवेयमविद्या नेतरात्मिका ।
तदास्त्येषाऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न विद्यते ॥ (३।१६०।१२)
एवमालोक्यमानैषा क्वापि याति पलायते ।
असद्रूपा ह्यवस्तुत्वाद्दृश्यते ह्यविचारणात् ॥ (३।२०।३६)

अज्ञात अविद्या ही बहुत और अनन्त काल तक अनुभव में आती है। ज्ञात अविद्या मृगतृष्णा की नदी की नांई तुरन्त ही नष्ट हो जाती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही रात गायब हो जाती है वैसे ही विवेक के उदय होते ही अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या ब्रह्मात्मक है और किसी दूसरे तत्त्व के आश्रित नहीं है; इसलिये जब तक इसका ज्ञान नहीं होता तभी तक यह है। जब ज्ञान हो जाता है तब उसमें ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं रहता। असत्य और अवास्तविक होने के कारण यह

अविद्या विचार के बिना अनुभव में आती है; ज्ञान होने पर कहु भाग जाती है।

(११) जगत् के भ्रम का क्षय :—

भोगेष्वनास्थमनसः शीतलामलनिर्वृतेः ।
छिन्नाशापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः ॥ (६।२।३६)
तृष्णामोहपरित्यागान्नित्यशीतलसंविदः ।
पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रबुद्धा त्यक्तचित्तभूः ॥ (६।२।३७)
भाविताननन्तचित्तत्स्वरूपरूपान्तरात्मनः ।
स्वान्तावलीनजगतः शान्तो जीवादिविभ्रमः ॥ (६।२।३९)
असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि ।
उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने ॥ (६।२।४०)
अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत् ।
चित्तं विगलितं विद्धि वह्नौ घृतलवं यथा ॥ (६।२।४१)
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक्संवेदनात्क्षयः । (३।६७।६८)

जिसके मन में भोगों के प्रति लालसा नहीं है; जो शीतल, मल रहित और विरक्त है, जिसने आशा-रूपी पाशों के जाल को तोड़ दिया है, उसके लिये यह भ्रम क्षीण हो जाता है। जिसका मन तृष्णा और मोह को त्याग देने से सदा के लिये शीतल और शान्त हो गया है, उसकी बुद्धि चित्त की भूमि को त्याग कर प्रबुद्ध हो जाती है। जिसने अपने भीतर अपने अन्तरात्मा के अनन्त स्वरूप की भावना कर ली है और उसमें जगत् लीन कर दिया है, उसके लिये जीवत्व आदि का भ्रम शान्त हो जाता है। मिथ्या भ्रम को उत्पन्न करने वाले असत्य विश्वास के लीन होने पर परमार्थ मात्र के दर्शन कराने वाले परम ज्ञान रूपी सूर्य के उदय हो जाने पर, चित्त इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे घी की बून्द आग पर पड़ने से; और फिर उसका अनुभव ऐसे नहीं होता जैसे कि सूखे पत्ते जल जाने पर दिखाई नहीं पड़ते। ब्रह्मा से लेकर कीड़े तक के (दृश्य) ज्ञान का क्षय सम्यक-ज्ञान द्वारा होता है।

(१२) अविद्या के विलीन होने का नाम नाश नहीं है :—

यदस्ति नाम तत्रैव नाशानाशक्रमो भवेत् ।
वस्तुतो यत्र नास्त्येव नाशः स्यात्तस्य कीदृशः ॥ (३।२१।९८)

रज्ज्वां सर्पभ्रमे नष्ट सत्यबोधवशात्सुत ।
सर्पो न नष्ट उत्पन्नो वेत्येवं कैव सा कथा ॥ (३।२१।६९)
न विनश्यत एवेदं यतः पुत्र न विद्यते ।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ (३।२१३।११)
यत्तु वस्तुत एवास्ति न कदाचन किञ्चन ।
यदभावात्म तद्राम कथं नाम विनश्यति ॥ (३।२१३।१२)

जो वास्तव में मौजूद होता है उसके लीन होने पर 'नाश' शब्द का प्रयोग उपयुक्त मालूम पड़ता है। जो वास्तव में है ही नहीं उसका नाश कैसा ? सत्य ज्ञान द्वारा जब रस्सी में दिखाई देने वाला साँप विलीन हो जाता है तो यह कहना कि सर्प नष्ट हो गया कुछ अर्थ नहीं रखता। जो मौजूद ही नहीं है वह नष्ट भी नहीं होता। और जो नहीं है (असत्य है) उसकी मौजूदगी (भाव) नहीं हो सकती, और जो सत्य है उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। जो सत्य वस्तु है उसका कभी भी किसी प्रकार से अभावात्मक नाश नहीं हो सकता।

(१३) ज्ञान द्वारा जगत् आत्मा में विलीन हो जाता है :—

स्वप्नभ्रमेऽथ सङ्कल्पे पदार्थाः पर्वतादयः ।
संविदोऽन्तर्मिलन्त्येते स्पन्दनान्यनिले यथा ॥ (३।९७।४४)
अस्पन्दस्य यथा वायोः सस्पन्दोऽन्तर्विशत्यलम् ।
अनन्यात्मा तथैवायं स्वप्नार्थः संविदो मलम् ॥ (३।९७।४५)
स्वप्नाद्यर्थावभासेन संविदेह स्फुरत्यलम् ।
अस्फुरन्ती तु तेनैव यात्येकत्वं तदात्मिका ॥ (३।९७।४६)

जैसे वायु के झोंके वायु में लीन हो जाते हैं वैसे ही स्वप्न, भ्रम और संकल्प के पर्वत आदि पदार्थ संवित् में ही लीन हो जाते हैं। जैसे जब वायु शान्त हो जाती है तो चलनेवाली वायु उसी में लीन हो जाती है वैसे ही स्वप्न के पदार्थ संवित् में लीन हो जाते हैं। स्वप्न आदि अनुभवों में संवित् ही पदार्थों का रूप धारण कर लेती है। जब संवित् का स्पन्दन शान्त हो जाता है तो वे सब पदार्थ तद्रूप (संविद्रूप) हो जाते हैं।

२०—सब से ऊँचा सिद्धान्त

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। यहाँ पर योगवासिष्ठ का इससे भी ऊँचा सिद्धान्त वर्णन किया जायेगा जिसका नाम अजातवाद है। अजातवाद, जिसका कि वसिष्ठ, गौड़पाद और नागार्जुन ने विशेषता से प्रतिपादन किया है, दर्शन का सबसे ऊँचा और कठिनता से समझ में आनेवाला सिद्धान्त है। इसके अनुसार जगत् की उत्पत्ति कभी न हुई और न होगी। वास्तव में जगत् है ही नहीं; जो है, वह ब्रह्म ही ब्रह्म है। संक्षेपतः यह सिद्धान्त योगवासिष्ठ के अनुसार इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है:—

जगच्छब्दस्य नामार्थो ननु नास्त्येव कश्चन। (३।४।६७)
वस्तुतस्तु जगन्नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्॥ (४।४०।३०)

जगत् नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। वास्तव में जगत् है ही नहीं। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है।

अब हम अजातवाद की योगवासिष्ठ के अनुसार विशेष व्याख्या करेंगे।

(१) भेद को मान लेना केवल अज्ञानियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने के लिये है :—

अप्रबुद्धदृशां पक्षे तत्प्रबोधाय केवलम्।
वाच्यवाचकसम्बन्धकृतो भेदः प्रकल्प्यते॥ (३।१००।४)
अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः॥ (६।४९।१७)
काचिद्वा कलना यावन्न नीता राघव प्रथाम्।
उपदेश्योपदेशश्रीस्तावल्लोके न शोभते॥ (३।९५।९)
अतो भेददृशादीनामङ्गीकृत्योपदिश्यते।
ब्रह्मेदमेते जीवा वै वेति वाचमयं क्रमः॥ (३।९५।६)
अप्रबुद्धजनाचारो यत्र राघव दृश्यते।
तत्र ब्रह्मण उत्पन्ना जीवा इत्युक्तयः स्थिताः॥ (३।९५।३)

उपदेशाय शास्त्रेषु जातः शब्दोऽथवार्थतः ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यालक्षणपक्षवान् ॥ (३।८४।१९)
भेदो दृश्यत एवायं व्यवहारान्न वास्तवः ।
वेतालो बालकस्येव कार्यार्थं परिकल्पितः ॥ (३।८४।२०)
कार्यकारणभावो हि तथा स्वस्वामिलक्षणम् ।
हेतुश्च हेतुमांश्चैवावयवावयविविभ्रमः ॥ (३।८४।२२)
व्यतिरेकाव्यतिरेकौ परिणामादिविभ्रमः ।
तथा भावविलासादि विद्याविद्ये सुखासुखे ॥ (३।८४।२३)
एवमादिमयी मिथ्यासङ्कल्पकल्पना मिता ।
अज्ञानमवबोधार्थं न तु भेदोऽस्ति वस्तुनि ॥ (३।८४।२४)

अज्ञानियों की दृष्टि का पक्ष लेकर केवल उनको ज्ञान कराने के लिये भेद की कल्पना की जाती है। विद्वान् लोग अज्ञानियों को उपदेश देने के लिये ही इस प्रकार की बातें मान लेते हैं कि यह अविद्या है, यह जीव है। जब तक किसी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं की जाती तब तक उपदेश भी नहीं किया जा सकता। इसलिये यह ब्रह्म है, ये जीव हैं, इस प्रकार के भेद को मान कर ही उपदेश किया जाता है। जहाँ पर अज्ञान का व्यवहार दिखाई पड़े वहाँ पर इस प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है कि ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते हैं। शास्त्रों में "उत्पत्ति" शब्द उपदेश के लिये ही प्रयुक्त होता है। जैसे बालक को समझाने के लिये "भूत" की कल्पना की जाती है वैसे ही व्यवहार के लिये ही भेद की कल्पना की जाती है। कार्य-कारण, स्व-स्वामी, हेतु हेतुमान्, अवयव-अवयवी, व्यतिरेक-अव्यतिरेक, परिणाम-परिणामी, भाव-अभाव, विद्या-अविद्या, सुख-दुःख आदि भेदों की मिथ्या कल्पना अज्ञानियों को उपदेश देने के लिये ही की जाती है; वास्तव में भेद है ही नहीं।

(२) परम सिद्धान्त :—

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्लमम् ॥ (६।१२५।१)
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यं चिद्घनमक्षतम् ।
कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन ॥ (३।११४।१४)
परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम् । (३।४।६८)
सर्वमेकमनाद्यन्तमविभागमखण्डितम् ॥ (३।८४।२६)

केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् ।
चेत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥ (३।११४।१६)
चेत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम् ।
यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥ (३।११४।१२)
तस्मान्नैवाविचारोऽस्ति नाऽविद्यास्ति न बन्धनम् ।
न मोक्षोऽस्ति निराबाधं शुद्धबोधमिदं जगत् ॥ (३।२१।७२)
बुधानामस्मदादीनां न किंचिन्नाम जायते ।
न च नश्यति वा किञ्चित्सर्वं शान्तमजं च सत् ॥ (६।१४६।११)
परे शान्ते परं नाम स्थितमित्थमिदन्तया ।
नेह सर्गो न सर्गाख्या काचिदस्ति कदाचन ॥ (३।११९।२९)
न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥ (३।११४।१९)
न जगन्नापि जगती शान्तमेवाखिलं स्थितम् ।
ब्रह्मैव कचति स्वच्छमित्थमात्मात्मनात्मनि ॥ (३।१३।९१)
नाधेयं तत्र नाधारो न दृश्यं न च द्रष्टृता ।
ब्रह्माण्डं नास्ति न ब्रह्मा न च वैतण्डिका क्वचित् ॥ (३।१३।९०)
तेन जातं ततो जातमितीयं रचना गिराम् ।
वाक्संव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः ॥ (४।४०।१७)
न दृश्यमस्ति सद्रूपं न द्रष्टा न च दर्शनम् ।
न शून्यं न जडं नो चिच्छान्तमेवेदमाततम् ॥ (३।४।७०)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि परमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किञ्चिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ (६।१४६।२१)
वस्तुतस्त्वस्ति न स्वप्नो न जाग्रन्न सुषुप्तता ।
न तुर्यं न ततोऽतीतं सर्वं शान्तं परं नभः ॥ ६।१६७।१८)

अध्यात्म शास्त्रों का सब से ऊँचा सिद्धान्त यही है कि न अविद्या है, न माया है, केवल शान्त ब्रह्म ही सब कुछ है। सब कुछ नित्य चिद्रूप ब्रह्म ही है; मन नाम की कोई कल्पना नहीं है। सब कुछ अजर, अमर, अव्यय, अनादि, अनन्त और खण्ड और विभाग रहित परम ब्रह्म ही है। सर्व सामान्य लक्षणवाला, चेत्य की भावना रहित, प्रकाशमय, चिन्मात्र ब्रह्म ही है; और कुछ नहीं है। सामान्य रूप से सब जगह रहनेवाला, चेत्यता रहित, अवर्णनीय चित् तत्त्व ही परमात्मा ईश्वर है। न अज्ञान है, न अविद्या है, न बन्धन है, न मोक्ष है। जो है वह

विरोध रहित, शुद्ध बोध ही प्रकाशित हो रहा है (वसिष्ठ जी कहते हैं) हम जैसे ज्ञानियों की दृष्टि में न कुछ उत्पन्न होता है, न कुछ नष्ट होता है। न कुछ है ही। जो है वह शान्त और अजन्म ब्रह्म ही है। परम शान्त ब्रह्म में ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित है। न सृष्टि है और न सृष्टि के नाम की ही कोई वस्तु है। तीनों लोकों में न कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही होता है। यहाँ पर किसी भी विकार का अस्तित्व नहीं है। जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है; आत्मा ही आत्मा में प्रकाशित हो रहा है। न आधार है न आधेय है, न दृश्य है और न द्रष्टा है, न ब्रह्मा है और न ब्रह्माण्ड है, न और किसी प्रकार का झगड़ा है "जगत् उसने पैदा किया है, उससे उत्पन्न हुआ है" इस प्रकार की बातें शास्त्र और व्यवहार के लिये ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। न दृश्य सत्य है न द्रष्टा, न दर्शन। न शून्यता सत्य है, न जड़ता, न चेतनता। जो कुछ है वह सब शान्त ब्रह्म ही है। परमार्थ जानने-वालों के लिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि कुछ नहीं है; जो है सो है। वास्तव में न स्वप्न है न जाग्रत्, न सुषुप्ति, न तुर्या और न तुर्यातीत पद। जो कुछ है वह सब शान्त ब्रह्म ही है।

(३) ब्रह्म को जगत् का कर्ता नहीं कह सकते :—

अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः ।
स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम् ॥ (६।९८।८)

नेदं कर्तृकृतं किंचिन्न वा कर्तृकृतक्रमम् ।
स्वयमाभासते चेदं कर्त्रकर्तृपदं गतम् ॥ (४।५६।५)

अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्म कर्तृ कथं भवेत् ॥ (६।९१।१३)

निराकार ईश्वर जो कि विरोध रहित अपना आत्मा है और जिसके स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता जगत् की उत्पत्ति करता है, यह उक्ति हास्यजनक है। यह जगत् किसी का बनाया हुआ नहीं है, न इसमें किसी के बनाने का क्रम दिखाई पड़ता है। स्वयं वही प्रकाशित हो रहा है। वह ब्रह्म भला जगत् का कर्ता कैसे हो सकता है जो ज्ञान और तर्क से परे है और जिसके लिये कर्ता, कर्म, करण, कारण, और बीज आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता ?

(४) ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता :—

अपुनः प्रागवस्थानं यत्स्वरूपविपर्ययः ।
तद्विकारादिके तात यत्क्षीरादिषु वर्तते ॥ (६।४९।२)
पयस्तां पुनरभ्येति दधित्वान्न पुनः पयः ।
बुद्धमाद्यन्तमध्येषु ब्रह्म ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ (६।४९।३)
क्षीरादेरिव तेनास्ति ब्रह्मणो न विकारिता ।
अनाद्यन्तविभागस्य न चैषोऽव्ययविक्रमः ॥ (६।४९।३)
आत्मा त्वाद्यन्तमध्येषु समः सर्वत्र सर्वदा ।
स्वमप्यन्यत्वमायाति नात्मतत्त्वं कदाचन ॥ (६।४९।८)
अरूपत्वात्तथैकत्वान्नित्यत्वादयमीश्वरः ।
वशं भावविकाराणां न कदाचन गच्छति ॥ (६।४९।९)
न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादृते ।
कारणं क्वचिदेवेह किंचिद्भवितुमर्हति ॥ (६।१९।१४)
न जन्यजनकाद्यास्ताः सम्भवन्त्युक्तयः परे ।
एकमेव अनन्तत्वात्किं कथं जनयिष्यति ॥ (४।४०।२६)
सर्वस्मात्सर्वगात्तस्मादनन्तात्ब्रह्मणः पदात् ।
नान्यत्किञ्चित्संभवति तदुत्थं यत्तदेव तत् ॥ (४।४०।३४)
यादृगाद्यन्तयोर्वस्तु तादृगेव तदुच्यते ।
मध्ये यस्य यदन्यत्वं तदबो राद्विजृम्भितम् ॥ (६।४९।७)
समस्याद्यन्तयोरेवं दृश्यते विकृतिः क्षणात् ।
संविदः सम्भ्रमं विद्धि नाऽविकारेऽस्ति विक्रिया ॥ (६।४९।९)

इस प्रकार की रूप की तबदीली को जिसमें वस्तु फिर अपने पहिले रूप को न प्राप्त हो सके विकार कहते हैं; जैसे दूध से दही बन जाना। जब दूध दही बन जाता है तो फिर वह दूध नहीं बन सकता। लेकिन ब्रह्म तो जगत् के आदि, मध्य और अन्त में भी ब्रह्म ही रहता है। इस लिये जिसमें आदि और अन्त का विभाग नहीं हो सकता और जिसमें अवयवों की विक्रिया नहीं हो सकती उस ब्रह्म में उस प्रकार का विकार जो दूध से दही बनने में होता है, नहीं हो सकता। ईश्वर में किसी प्रकार की तबदीली (उत्पत्ति, वृद्धि, नाश आदि) सम्भव नहीं है, क्योंकि वह रूपरहित है, एक है, और नित्य है। अविकार और अजर कारण बिना नाशको प्राप्त हुए कैसे विकारवान हो सकता है?

इसलिये परम ब्रह्म के सम्बन्ध में उत्पन्न और उत्पादक आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि वह एक और अनन्त होने से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं कर सकता। वस्तु का मध्य में भी वही रूप होना चाहिये जो आदि और अन्त में होता है। यदि मध्य में कोई दूसरा रूप दिखाई पड़ने लगे तो उसे भ्रममात्र समझना चाहिये। सदा एक समान रूपवाले ब्रह्म की जो क्षणिक विकृति दिखाई पड़ती है उसे अज्ञानजनित भ्रम समझना चाहिये, क्योंकि वास्तव में विकार रहित वस्तु में विकार होना असम्भव है।

(५) ब्रह्म को जगत् का कारण कहना ठीक नहीं है :—

नित्यानन्दतयाऽस्य कारणं नास्ति कार्यकृत्। (६।१०।१०)
स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम् ॥ (६।१७।२)
संस्थितं सर्वदा सर्वं सर्वाकारमिवोदितम्।
अदृश्यत्वादलभ्यत्वान्न तत्कार्यं न कारणम् ॥ (६।९६।२६)
आख्यानाख्यास्वरूपस्य निराभासप्रभादृशः।
सतो वाप्यसतो वाथ कथं कारणता भवेत् ॥ (६।९६।२८)
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत्। (६।९७।८)
अनिङ्गितमनाभासमप्रतर्क्यं कथं भवेत् ॥ (६।९७।९)
न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत्।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ (६।९३।१७)
न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादृते।
कारणं क्वचिदेवेह किञ्चिद्भवितुमर्हति ॥ (६।११९।१४)
न हि कारणतः कार्यमुदेत्यसदृशं क्वचित्। (३।१८।१८)
ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ॥ (६।११०।९)
सम्पद्यते हि यत्कार्यं कारणैः सहकारिभिः।
मुख्यकारणवैचित्र्यं किञ्चित्तत्रावलोक्यते ॥ (३।१८।२०)
न ब्रह्मजगतामस्ति कार्यकारणतोदयः।
कारणानामभावेन सर्वेषां सहकारिणाम् ॥ (३।२१।३७)

अजन्मा परमात्मा नित्य ही आनन्द से परिपूर्ण है। इसलिये वह जगत्‌रूपी कार्य का कारण कैसे हो सकता है? अपनी ही सत्ता में स्थित ब्रह्म न किसी का कारण है और न बीज। वह सदा ही सर्व आकारों में स्थित है, लेकिन न दिखाई देता है और न प्राप्त होता है।

इसलिये न वह कारण है और न कार्य (कार्य और कारण भिन्न होते हैं, किन्तु ब्रह्म तो सब ही आकारों में समान रूप से मौजूद है। इस लिये न वह कारण है और न कार्य। जिसका रूप ऐसा है जो वर्णन में न आ सके और जिसका प्रकाश किसी दूसरे प्रकाश के आधीन नहीं है, जो सत् और असत् दोनों हो है, भला वह कारण कैसे हो सकता है ? यदि वह कारण हो सकता है तो अवर्णनीय, स्वयंप्रकाश और अतर्क्य कैसे रह सकता है ? आदि और अन्त रहित, निराकार ब्रह्म भला अब्रह्म रूप, साकार, दृश्य जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? अविकार और अजर ब्रह्म बिना क्षय को प्राप्त हुए विकार वाले जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? जैसा कार्य होता है वैसा ही उसका कारण समझना चाहिये। लेकिन ज्ञान ज्ञेय कैसे हो सकता है ? जो कार्य सहकारी (कार्य के उत्पादन में कारण की सहायता करनेवाले) कारणों की सहायता से उत्पन्न होता है वही मुख्य कारण से भिन्न रूप का हो सकता है। लेकिन ब्रह्म के साथ दूसरे सहकारी कारण न होने से ब्रह्म से भिन्न जगत् रूपवाला कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

(६) ब्रह्म को जगत् का बीज भी नहीं कह सकते :—

इदं बीजेऽङ्कुर इव दृश्यमास्ते महाशये।
भूते च एवमज्ञत्वमेतत्तस्यास्ति शैशवम् ॥ (४।१।२१)
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्यादतितरामणु।
बीजं तद्भवितुं शक्तं स्वयंभूर्जगतां कथम् ॥ (४।१।२५)
आकाशादपि सूक्ष्मस्य परस्य परमात्मनः।
सर्वाख्यानुपलंभस्य कीदृशी बीजता कथम् ॥ (४।१।२६)
गगनाङ्गादपि स्वच्छे शून्ये तत्र परे पदे।
कथं सन्ति जगन्मेरुसमुद्रगगनादयः ॥ (४।१।२८)
मेरुरास्ते कथमणौ कुतः किञ्चिदनाकृतौ।
तदतद्रूपयोरैक्यं क छायातपयोरिव ॥ (४।१।३२)
साकारवटधानादावङ्कुराः सन्ति युक्तिमत्।
नाकारे तन्महाकारं जगदस्तीत्ययुक्तिकम् ॥ (४।१।३३)
यत्तु ब्रह्म परं शान्तं का तत्राकारकल्पना।
परमाणुत्वयोगेऽपि [illegible] केवात्र बीजता ॥ (६।५४।२२)

जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ (३।६४।२४)
सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
निराकारस्य किं बीजं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ (३।६४।२६)
यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।
जन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ (३।६४।२०)
सहकारीकारणानामभावे त्वङ्कुरोद्गतिः ।
वन्ध्याकन्येव दृष्टेह न कदाचन केनचित् ॥ (४।२।३)
समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ (३।६४।२१)
बीजं जहद्बीजवपुः फलीभूतं विलोक्यते ।
ब्रह्माजहन्निजवपुः फलं बीजे च संस्थितम् ॥ (४।१८।२४)
बीजोदरे तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत् ।
बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संश्रितो नोपलभ्यते ॥ (३।१९१।३४)
ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्तैवं जगत्तैवोपलभ्यते ।
अस्ति चेत्तद्भवेन्नित्यं सा ब्रह्मैवाविकारि तत् ॥ (३।१९१।३५)
अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम् ।
उदेतीति किलास्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम् ॥ (३।१९१।३६)
अनाकृतावाकृतिमन्न चैतत्स्थातुमर्हति ।
परमाणौ न वैवान्तरिव सम्भान्ति मेरवः ॥ (३।१९१।३७)
समुद्गके रत्नमिव जगद्ब्रह्मणि तिष्ठति ।
महाकारं निराकारे इत्युन्मत्तवचो भवेत् ॥ (३।१९१।३८)
शान्तं परं च साकारस्याधार इति राजते ।
न वक्तुं राजते क्वेव साकारस्याविनाशिता ॥ (३।१९१।३९)

जो व्यक्ति यह कहता है कि यह दृश्य जगत् ब्रह्म में इस प्रकार रहता है जैसे बीज में अंकुर रहता है वह अपने अज्ञान और शैशव का परिचय देता है। जो स्वयम्भू ब्रह्म मन और इन्द्रियों से भी अतीत है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूपवाला है, वह भला जगत् का बीज कैसे हो सकता है? आकाश से भी सूक्ष्म और संख्या आदि से अतीत ब्रह्म भला कैसे बीज हो सकता है? जगत् सुमेरु-पर्वत, आकाश आदि भला आकाश से भी सूक्ष्म परम ब्रह्म में कैसे मौजूद रह सकते हैं। आकृति रहित परम सूक्ष्म ब्रह्म में जगत्, जो उससे इतना भिन्न है

जितनी धूप से छाया, कैसे रह सकता है? आकारवाले बड़ के बीज में बड़ का अंकुर रहे यह तो युक्तियुक्त भी जान पड़ता है, लेकिन परम शान्त ब्रह्म में आकारवाला जगत् रहे यह समझ में नहीं आ सकता। ब्रह्म में किसी आकार की कल्पना करना ठीक नहीं है। इसलिये वह बीज नहीं हो सकता। जगत् परम अणु (सूक्ष्म) ब्रह्म के भीतर रहता है यह ऐसी ही अज्ञान जन्य कल्पना है जैसे यह कहना कि सरसो के कण के भीतर सुमेरु-पर्वत। जब बीज ही मौजूद हो तब ही कार्य कारण की परिभाषा का प्रयोग होता है। निर्विकार न किसी का बीज ही हो सकता है और न उससे किसी की उत्पत्ति हो सकती है। जब बीज़ मौजूद होता है तभी सहकारी कारणों द्वारा अंकुर और शाखा आदि फैलते हैं। सहकारी कारणों के बिना भी बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती; यह कहना कि होती है ऐसा कहना है कि बाँझ स्त्री के यहाँ कन्या उत्पन्न हुई है—जो कभी देखी न सुनी। जब सब प्राणियों का प्रलय हो गया तो उस समय आकारवाला कौन सा बीज रह गया और कौन से उसके सहकारी कारण रह गये जिनसे जगत् की उत्पत्ति हो जाये? (दूसरी बात यह है कि) बीज से जब अंकुर की उत्पत्ति होती है तो बीज का पूर्वरूप नष्ट हो जाता है; लेकिन ब्रह्म का रूप तो सदा ही एक समान रहता है। बीज के भीतर जो सत्ता होती है वह बीज के ही आकार की होती है, अंकुर के आकार की नहीं। बीज में अंकुर कहीं दिखाई नहीं देता। लेकिन ब्रह्म के भीतर रहनेवाला जगत् तो जगत् ही दिखाई पड़ता है। लेकिन यदि ब्रह्म में जगत् सदा ही रहे तो वह ब्रह्म के समान नित्य और विकार-रहित होगा। अविकार और अनाकार से विकार और आकारवाले की उत्पत्ति होना न देखा है और न सुना। यदि आकाररहित में आकारवाला रह सकता है तो परमाणु के भीतर भी सुमेरु रह सकता है। जो यह कहता है कि जगत् ब्रह्म में इस प्रकार रहता है जैसे कि डिबिया में रत्न, वह उन्मत्त है। परम शान्त ब्रह्म आकारवाले जगत् का आधार है यह कहना उचित नहीं है। आकारवाला कभी नाशरहित नहीं हो सकता।

(७) कारण रहित होने से जगत् भ्रममात्र है :—

कारणं यस्य कार्यस्य भूमिपाल न विद्यते।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ (६।९४।९४)

अकारणं तु यत्कार्यं संविद्याग्रेऽनुभूयते।
तद्द्रष्टुर्विभ्रमाद्विद्धि मृगतृष्णाजलोपमम्॥ (६।९४।९६)
कारणाभावतः कार्यमभूत्वा भवतीति यत्।
मिथ्याज्ञानादृते तस्य न रूपमुपपद्यते॥ (६।९९।९९)
कारणाभावतः कार्यं न कस्यचिदिदं जगत्।
अकारणत्वादकार्यत्वं भ्रमाद्विद्धि त्विदं जगत्॥ (६।९९।१७)
कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते।
यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत्॥ (६।९४।१९)
यस्त्वकारणको भाति न स्वभावो विजृम्भते।
सर्वरूपेण संकल्पगन्धर्वनगरादिवत्॥ (६।९४।१६)
यादृगेव परं ब्रह्म तादृगेव जगत्त्रयम्। (३।३।२८)
स्वरूपमजहत्त्वेव राजतेऽर्थविवर्तवत्॥ (६।९४।१७)

जिस कार्य का कोई कारण नहीं वह कार्य वास्तविक नहीं होता, वह केवल दृष्टि का भ्रम है। जो कारण रहित कार्य प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़े उसे मृगतृष्णा के जल के समान देखने वाले की दृष्टि का भ्रम समझो। बिना कारण के जो कार्य होता है उसका स्वरूप भ्रम से अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इसलिये कारण न होने से जगत् वास्तविक कार्य नहीं है, भ्रममात्र है। बिना कारण के कार्य कैसे हो सकता है? यदि कहीं दिखाई पड़े तो उसे भ्रम समझो – जैसे बिना पुत्र वाले को पुत्र का दर्शन। जो कारण रहित जगत् दिखाई दे रहा है वह आत्मा ही के भीतर संकल्प और गन्धर्व नगर के समान मिथ्या दृष्टि उदय हो रही है। जगत् का विवर्त (भ्रम) है। वास्तव में जगत् और ब्रह्म एक ही हैं।

(८) जगत् का दृश्य स्वप्न के समान है :—

स्वप्ने चिन्मात्रमेवाद्य स्वयं भाति जगत्तया।
यथा तथैव सर्गादौ नात्रान्यदुपपद्यते॥ (६।१७६।९)
तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः॥ (६।१९९।४४)

जैसे स्वप्न में चिति जगत् का आकार धारण कर लेती है ठीक वैसे ही सृष्टि के आदि में भी चिति में जगत् का दृश्य उदय होता है। इसलिए संवित् रूप आत्मा में स्वयं निराकार परमात्मा ही जगत् के रूप में प्रकट हो रहा है।

(९) अजातवाद :—

न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत्किलादौ न विद्यते ।
उत्पत्तिः कीदृशी तस्य नाशशब्दस्य का कथा ॥ (३।१११९)
यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति स्वानुभूताऽपि कुत्रचित् ।
तथेयं दृश्यता नास्ति स्वानुभूताप्यसन्मयी ॥ (३।११११२२)
न किञ्चिदपि सम्पन्नं न च जातं न दृश्यते । (३।१३।४०)
न मिथ्यात्वं न सत्यत्वं किमपीदमजं ततम् ॥ (३।११९।२३)
तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते । (३।९३।१९)
यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ॥ (३।९३।१६)
यथा सौवर्णकटके दृश्यमानमिदं स्फुटम् ।
कटकत्वं तु नैवास्ति जगत्त्वं न तथा परे ॥ (३।११।८)
हेम्न्यूर्मिकारूपधरेऽप्यूर्मिकात्वं न विद्यते ।
यथा तथा जगद्रूपे जगन्नास्ति च ब्रह्मणि ॥ (३।२१।३३)
अनुभूतान्यपीमानि जगन्ति व्योमरूपिणि ।
पृथ्व्यादीनि न सन्त्येव स्वप्नसङ्कल्पयोरिव ॥ (३।१९।६)
पिण्डग्रहो जगत्यस्मिन्विज्ञानाकाशरूपिणि ।
मरुनद्यां जलमिव न सम्भवति कुत्रचित् ॥ (३।१९।७)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादिपरमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किञ्चिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ (३।१४६।२१)
स्वप्नसङ्कल्पपुरयोर्नास्त्यप्यनुभवस्थयोः ।
मनागपि यथा रूपं सर्गादौ जगतस्तथा ॥ (३।१४६।२२)
जगत्संविद्धि जातायामपि जातं न किञ्चन । (३।१३।४८)
परमाकाशमाशून्यमच्छमेव व्यवस्थितम् ॥ (३।१३।४९)
जातशब्दो हि सन्मात्रपर्यायः श्रूयतां कथम् ।
प्रादुर्भावे जनिस्तूक्तः प्रादुर्भावस्य भूर्वपुः ॥ (३।१४६।१६)
सत्तार्थ एव भूः प्रोक्तस्तस्मात्सज्जातमुच्यते ।
सर्गतो जात इत्युक्ते संसर्ग इति शब्दितम् ॥ (३।१४६।१७)
एवं न किंचिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि ।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम् ॥ (३।२१।२४)
तस्माद्राम जगन्नासीन्न चास्ति न भविष्यति ।
चेतनाकाशमेवाशु कचतीत्थमिवात्मनि ॥ (४।२।८)

जगत् नाम की कोई वस्तु न उत्पन्न हुई है और न नाश होती है और न है ही। जब है ही नहीं तो उसकी उत्पत्ति और नाश का क्या कहना है ? जैसे स्वप्न में अनुभूत होने पर भी पृथ्वी कहीं नहीं है वैसे ही अनुभव में आनेवाली दृश्यता भी कहीं नहीं है। न कुछ उत्पन्न हुआ है, न कुछ है और न कुछ वास्तव में दिखाई ही पड़ता है। न मिथ्यात्व है, न सत्यत्व है। जो है वह अजन्मा है। कारण के अभाव से जगत् न उत्पन्न हुआ है और न है। जो अकारण है उसकी सत्ता नहीं होती। जैसे सोने के कड़े में कड़ापन दिखाई देने पर सोने से अतिरिक्त कड़े की कोई सत्ता नहीं है तैसे ही ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् की कोई सत्ता नहीं है। जैसे अँगूठी के आकारवाले सोने में अँगूठी की कोई सत्ता नहीं है वैसे ही ब्रह्म में जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है। जैसे स्वप्न और संकल्प में अनुभूत होने पर भी पृथ्वी आदि नहीं होती वैसे ही अनुभव में आनेवाला जगत् भी शून्य ही है। इस शून्य, विज्ञानआकारवाले जगत् में स्थूलता तनिक भी नहीं है; जैसे मरुस्थल में उत्पन्न हुई मृगतृष्णा की नदी में जल नहीं होता। परमार्थ को जाननेवालों के लिये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि कुछ भी नहीं है—जो है सो है। जैसे स्वप्न और संकल्प के जगत् अनुभव में आने पर भी असत् हैं वैसे ही दृश्य जगत् भी असत् है। जगत् का दृश्य दिखाई देने पर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। परम आकाश शुद्ध रूप से स्थित है। "जात" (उत्पन्न) होने का अर्थ धातु के अनुसार वर्तमान ही है। कैसे ? सुनो ! जात का अर्थ है "प्रादुर्भूत"। प्रादुर्भूत में "भू" धातु है। भू का अर्थ सत्तात्मक है। इसलिये जात शब्द का अर्थ सत् ही है। इसलिये जगत् उत्पन्न नहीं हुआ। इसलिये जगत् नाम की कोई वस्तु न उत्पन्न हुई है और न है। केवल चिदाकाश ही अपने में स्थित है ! हे राम जगत् न उत्पन्न हुआ है न है और न होगा। चेतमाकाश ही अपने आप में प्रकाशित हो रहा है।

(१०) यह सिद्धान्त उसको नहीं बताना चाहिये जो इसका अधिकारी नहीं है :—

अर्धव्युत्पन्नबुद्धेस्तु नैतद्वक्तुं हि शोभते।
दृश्यानया भोगदृशा भावयन्नेष नश्यति ॥ (४।३९।२१)

परां दृष्टिं प्रयातस्य भोगेच्छा नाभिजायते।
सर्वं ब्रह्मेति सिद्धान्तः काले नामास्य युज्यते॥ (४।३९।२२)
आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्।
पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत्॥ (४।३९।२३)
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः॥ (४।३९।२४)
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः।
नास्त्यविद्यामलमिति युक्तं वक्तुं महात्मनः॥ (४।३९।२५)

जिसमें अभी बुद्धि का पूरा प्रकाश नहीं हुआ है उसको इस प्रकार के सिद्धान्त का उपदेश करना उचित नहीं है, क्योंकि वह इस सिद्धान्त को भोग की दृष्टि से काम में लाकर नाश की ओर प्रवृत्त होगा। जिसके चित्त में भोग की इच्छा न हो और जिसकी दृष्टि ऊँची हो गई हो उसी को "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस प्रकार का उपदेश देना चाहिये। पहिले शिष्य को शम, दम आदि अच्छे गुणों द्वारा शुद्ध करना चाहिये। तब उसको "यह शुद्ध ब्रह्म ही है" इस प्रकार का उपदेश करना चाहिये। जो अज्ञानी और अप्रबुद्ध को "सब कुछ ब्रह्म है" इस सिद्धान्त का उपदेश देता है वह उसे नरक की ओर प्रवृत्त करता है। जिसकी बुद्धि चेतन हो गई है, जिसके मन से भोग की इच्छायें निकल गई हैं और जिसको किसी प्रकार की आशायें नहीं हैं, उस महात्मा को ही यह उपदेश देना चाहिये कि न अविद्या है और न पाप है। और को नहीं।

२१—परमानन्द

ब्रह्म चिन्मात्र सत्ता ही नहीं है, आनन्द भी है। संसार और जीवन में जो आनन्द का लेश दिखाई पड़ता है वह ब्रह्मानन्द का ही आभास मात्र है। सारे प्राणी आनन्द की खोज में रहते हैं, किन्तु कोई भी आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह आनन्द की तलाश बाह्य विषयों में करता रहता है। आनन्द की प्राप्ति तभी होती है जब जीव बाहर के विषयों में उसकी खोज न करके अपने आत्मा में ही उसका अनुभव करने लगता है। संसार में आनन्द कहीं नहीं है। आनन्द केवल आत्मा में ही है। जब तक मनुष्य की दृष्टि बाहर के विषयों पर लगी रहती है तब तक वह दुःखी रहता है। विषयों को त्याग कर जब वह आत्मा में स्थित हो जाता है तब ही सुखी हो सकता है। योगवासिष्ठ का यह सिद्धान्त यहाँ पर विशेषतया प्रतिपादित किया जायेगा। योगवासिष्ठ के अनुसार सब ही प्राणी आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं :—

आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित्। (६।१०८।२०)

सब प्राणी आनन्द के लिये ही यत्न करते हैं।

लेकिन जीवन में आनन्द कहाँ है।

(१) विषयों के भोग दूर से देखने मात्र को अच्छे लगते हैं :—

आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिक्षयम् ।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम्॥ (५।२२।३०)
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः॥ (६।६।८)

विषयों का भोग कभी भी सुख देनेवाला नहीं है, वह तो दूर से देखने मात्रको अच्छा लगता है और क्षण भर में क्षीण हो जाता है। संसार के सभी भोग आरम्भ में और दूर से अच्छे दिखाई पड़ते हैं, लेकिन वे सब क्षणिक हैं, संसार में फँसाने वाले हैं, भय के उत्पादन करने वाले और अल्प काल में ही दुःख में तबदील हो जाने वाले हैं।

(२) संसार के सब सुख दुःखदाई हैं :—

सर्वस्या एव पर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम् । (४।९।१६)
मालिन्यं दुःखमप्येवं ज्वालाया इव कज्जलम् ॥ (४।९।१७)
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता ।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥ (५।१।४१)
रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरतापि च ।
सत्येष्वसत्यतार्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥ (६।९३।११)
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसाः सरसवैरस्या लुठन्नेषु न को हतः ॥ (६।९३।३९)
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥ (६।९३।७३)
भोगा विषयसम्भोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक्स्पृष्टा दृष्टाः नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ (६।९३।७९)
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ (६।९३।७८)
शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ (६।९३।८४)
संसार एव दुःखनां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ (५।९।९२)

जैसे अग्नि की ज्वाला के सिर पर धुएँ की कालस मौजूद रहती है वैसे ही संसार के सभी सुखों की आशाओं का अन्त दुःख में ही होता है। भाव का अन्त अभाव में, सौन्दर्य का अन्त कुरूपता में और सुख का अन्त दुःख में होता है—किसके पीछे दौड़ूँ ? रम्य वस्तुओं में अरम्यता दिखाई पड़ती है; स्थिर पदार्थों में अस्थिरता; सत्य में असत्यता। इसी कारण मेरे लिये किसी वस्तु में रस नहीं रहा। विषय विष के समान दुःखदाई हैं; स्त्रियाँ काम के मोह में फँसाने वाली हैं; स्वादों का अन्त निरसता में होता है; इनके चक्कर में पड़ कर कौन नहीं मारा जाता ? संसार की जितनी सम्पत्तियाँ हैं वे सब आपत्तियाँ हैं, जितने सुख हैं वे सब दुःख देने वाले हैं; जीवन मरने के लिए है। विषयों के भोग साँपों के फणों की नाईं विषैले हैं; जहाँ जरा उनको स्पर्श किया कि फ़ौरन ही डँस लेते हैं। विषय भोग इतने क्षणिक हैं कि देखते-देखते उनका

अन्त हो जाता है। सम्पत्तियाँ और स्त्रियों का सौन्दर्य तरङ्गों के समान चलायमान हैं। कौन बुद्धिमान आदमी इनके सहारे ऐसे रहेगा जैसे कोई साँपो के फणों की छाया में बैठकर सुखी होगा? यौवन का सौन्दर्य ऐसा अस्थिर है जैसा कि शरदृऋतु के बादल की छाया; दूर से रम्य दिखाई पड़नेवाले विषय जीवन के अन्त तक दुःख देते हैं। संसार तो दुःखों की अन्तिम सीमा है, उसमें पड़कर सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

(३) संसार का सारा व्यवहार असार है :—

पातः पक्वफलस्येव मरणं दुर्निवारणम्। (६।७८।३)
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव॥ (६।७८।४)
शैलनद्यारय इव सम्प्रयात्येव यौवनम्। (६।७८।५)
इन्द्रजालमिवासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति॥ (६।७८।६)
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः। (६।७८।६)
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम्॥ (६।७८।७)
बुद्बुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभंगुरम्। (६।७८।७)
रम्भागर्भ इवासारो व्यवहारो विचारगः॥ (६।७८।८)
सत्वरं युवता याति कान्तेवाप्रियकामिनः। (६।७८।८)
बलादरतिरायाता वैरस्यमिव पादपम्॥ (६।७८।९)

जैसे पके हुए फल का नीचे गिरना नहीं रुक सकता, (उसे अवश्य ही गिरना है), वैसे ही मौत भी नहीं रोकी जा सकती, (एक न एक दिन अवश्य ही आती है)। प्रत्येक क्षण आयु ऐसे क्षीण होती जा रही है जैसे कि हथेली पर रक्खा हुआ जल। यौवन इस तेजी से दौड़ा जा रहा है जैसे कि पहाड़ी नदी; अस्थिर जीवन ऐसा झूठा है जैसे इन्द्रजाल का दृश्य। सुख इतनी जल्दी से भाग जाते हैं जितनी जल्दी से धनुष से छूटे हुए बाण। दुःख मन के ऊपर इस प्रकार आक्रमण करते हैं जैसे गिद्ध मांस के ऊपर आ गिरता है। शरीर इतना क्षणभंगुर है जितने कि बरसाती नालों के ऊपर के बुल्बुले। विचार करने पर संसार का सारा व्यवहार इतना सारहीन दिखाई पड़ता है जितना कि केले का खम्भा। यौवन इस शीघ्रता से भाग जाता है जैसे किसी अप्रिय कामी को छोड़ कर उसकी प्रिया दूसरे युवक के साथ भाग जाती है। सब विषयों में नीरसता उदय हो जाती है, जैसे कटे हुए पेड़ का रस सूख जाता है।

(४) सांसारिक अभ्युदय सुख देनेवाला नहीं है :—

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः ।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥ (४।४६।३)
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥ (४।४६।४)

धन और स्त्री पुत्र आदि की वृद्धि होने पर हर्ष करने का अवसर क्या है ? मृग-तृष्णा की नदी में यद्यपि बाढ़ भी आ जाए तो भी जल की चाहना रखनेवालों (प्यासों) को क्या आनन्द हो सकता है ? धन और स्त्री आदि के बढ़ने पर खुशी न होनी चाहिये बल्कि दु:ख होना चाहिये । मोह की माया के अधिक होने पर किसको आनन्द होता है ?

(५) सुख दुःख का अनुभव कब होता है :—

यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नानुभूतवान् ॥ (६/१।४४।२)
वाञ्छाकाले यथा वस्तु तुष्टये नान्यदा तथा । (६/१।४४।३)
वाञ्छाकाले तुष्टये यत्तत्र वाञ्छैव कारणम् ॥ (६/१।४४।४)
बद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
यत्सुखाय तदेवाशु वस्तु दुःखाय नाशतः ॥ (६/१।१२०।१८)
अविनाभावनिष्ठत्वं प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ।
तनुवासनमर्थो यः सेव्यते वा विवासनम् ॥ (६/१।१२०।१९)
नासौ सुखायते नासौ नाशकाले न दुःखदः । (६/१।१२०।२०)
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ॥ (६/२।६८।३१)
अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ (६/२।६८।३१)
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ (६/२।३६।२४)
यत्र नाभ्युदितं चित्तं तत्सुखमकृत्रिमम् ।
न स्वर्गादौ सम्भवति मरौ हिमगृहं यथा ॥ (६/१।४४।२६)
चित्तोपशमजं स्फारमवाच्यं वचसा सुखम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ (६/१।४४।२७)
आशापरिकरे राम नूनं परिहृते हृदा ।
पुमानागतसौन्दर्यो ह्लादमायाति चन्द्रवत् ॥ (५।७४।२४)

न तथा सुखसत्यङ्गसंलग्ना वरवर्णिनी।
यथा सुखयति स्वान्तमिन्दुशीता निराशता ॥ (६।७४।४०)
अपि राज्यादपि स्वर्गादपीन्दोरपि माधवात्।
अपि कान्तासमासङ्गान्नैराश्यं परमं सुखम् ॥ (६।७४।४४)
इदमेवास्त्विदं मास्तु ममेति हृदि रञ्जना।
न यस्यास्ति तमात्मेशं तोलयन्ति कथं जनाः ॥ (६।७४।६०)

किसको इस बात का अनुभव नहीं है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति के क्षण में जो खुशी किसी व्यक्ति को होती है वह खुशी उस वस्तु की प्राप्ति के क्षण के पीछे नहीं होती। जब किसी वस्तु की कोई इच्छा करता है तभी वह वस्तु उसको सुख देनेवाली जान पड़ती है—और जैसी सुखदाई वह इच्छा रहते हुए जान पड़ती है वैसी दूसरे समय (जब कि उसकी इच्छा न हो) नहीं जान पड़ती। अतएव हमारी इच्छा ही वस्तु में सुख का आभास उत्पन्न करती है। वासना के रहते हुए जब किसी वस्तु का उपभोग किया जाता है तभी वह सुखदाई जान पड़ती है, और जो वस्तु सुखदाई जान पड़ती है उसके नष्ट होने पर ही हमको दुःख होता है। जिस वस्तु से हमको सुख होता है उसी से हमको दुःख भी होता है। बिना वासना के अथवा अल्प वासना से जिस वस्तु का सेवन किया जाता है वह न तो भोग करने से सुख देती है और न उसका नाश होने से हमको दुःख ही होता है। अनुभूति के क्षणिक होने के कारण सुख दुःख में परिणत होता है। जो सुख किसी खास बाह्य कारण से उत्पन्न नहीं होता; जो अनादि और अनन्त है, वही आत्मा का सुख असली सुख है—(क्योंकि वह सुख क्षणिक न होने के कारण दुःख में परिणत नहीं होता)। इच्छा के उदय होने पर जो दुःख होता है वह दुःख नरक में भी नहीं होता, और इच्छा के शान्त होने पर जो सुख होता है वह सुख ब्रह्मलोक में भी नसीब नहीं होता। जैसे मरुभूमि में कहीं पर भी बर्फ का स्थान नहीं होता वैसे ही जो अकृत्रिम सुख चित्त (इच्छा, वासना) के न उदय होने से होता है वह स्वर्ग जैसे स्थानों में भी नहीं प्राप्त हो सकता। चित्त के शान्त हो जाने पर जिस सुख का अनुभव होता है वह सुख (आनन्द) इतना महान् है कि वचनों से प्रकट नहीं किया जा सकता। उसमें कमी और वृद्धि नहीं होती, और वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। जब हृदय से सब आशाओं (इच्छाओं) का त्याग कर दिया जाता है

तब मनुष्य को बड़ा आनन्द होता है और उसके मुख की शोभा चन्द्रमा की शोभा की नाई हो जाती है। परम सुन्दर और चाही हुई स्त्री आलिङ्गन करने पर उतना आनन्द नहीं दे सकती जितना आनन्द अपने भीतर से आशाओं (इच्छाओं) के निकाल देने पर होता है। इच्छारहित होना राज्य से, स्वर्ग से, चन्द्रमा से, भगवान् से, प्रेमिका की प्राप्ति से भी अधिक सुखदाई है। "यह वस्तु मुझे मिले. यह वस्तु मेरे से दूर हो"—जिस पुरुष के हृदय में इस प्रकार की भावना नहीं रही, भला उस आत्मा के स्वामी की तुलना किससे की जा सकती है? (अर्थात् उसके ऐसा सुखी कोई नहीं है)।

(६) आत्मानन्द :—

क्षणं वर्षसहस्रं वा तत्र लब्ध्वा स्थितिं मनः।
रतिमेति न भोगौघे दृष्टस्वर्ग इवावनौ ॥ (६।९४।६९)
तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयः शाश्वतं शिवम्।
तत्र विश्रान्तिमासाद्य भूयो नो बाधते भ्रमः ॥ (६।९४।७०)
तां महानन्दपदवीं चित्तादासाद्य देहिनः।
दृश्यं न बहु मन्यन्ते राजानो दीनतामिव ॥ (६।९४।७२)

जैसे जिस आदमी ने स्वर्ग का सुख देख लिया है उसका मन पृथ्वी पर नहीं लग सकता वैसे, जिसने कुछ समय के लिये भी आत्मा में स्थिति प्राप्त कर ली है उसका मन भोगों में नहीं लग सकता। आत्मानुभव ही हमारा अन्तिम पद है, वही हमारी अन्तिम शान्त गति है, वही हमारा परम, नित्य और कल्याणमय श्रेय है। उसमें विश्राम पाकर फिर हमको भ्रम में नहीं पड़ना पड़ता। उस महा आनन्द की पदवी को प्राप्त करके प्राणी दृश्य जगत् को कुछ भी नहीं समझता (उसकी क़दर नहीं करता), जैसे राजा लोग दीन अवस्था की चाहना नहीं करते।

२२—बन्धन और मोक्ष

ऊपर बतलाए हुए आत्मानन्द का अनुभव किसी किसी पुरुष को ही होता है। जिसको आत्मा का ज्ञान ही नहीं है, और जो पुरुष आत्मा को न जानकर विषयों के भोगों में ही आनन्द की तलाश करता फिर रहा है, और एक विषय में उसे न पाकर दूसरे विषयों की इच्छा करता हुआ एक जन्म से दूसरे जन्म में भटकता रहता है वह सदा ही दुःखी रहता है। इस प्रकार के भटकने और दुःख की अवस्था का ही नाम बन्धन है और इस अवस्था से छूटकर निजानन्द में स्थिर हो जाने का ही नाम मुक्ति या मोक्ष है। यहाँ पर हम योगवासिष्ठ के अनुसार बन्धन और मुक्ति का वर्णन करेंगे।

(१) बन्धन का स्वरूप—

पदार्थवासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। (२।२।९)
सुखदुःखैर्युतो योऽसौ स्वयं बन्धानुभूतिमान् ॥ (६।१२९।३४)
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविवर्जनम्।
यदेतन्मनसो राम तद्बन्धं विद्धि नेतरत् ॥ (६।१३।२०)
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते। (३।१।२२)
वासनावासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ (६।१२९।६१)
जगत्त्वमहमित्यादिर्मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥ (३।१।२३)

जगत् के पदार्थों की वासना के दृढ़ होने का नाम बन्धन है। जो सुख और दुःखों से युक्त है वही बन्धन का अनुभव करता है। उपादेय (प्राप्त करने योग्य) वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा करना और हेय (त्यागने योग्य) वस्तुओं से द्वेष करना ही बन्धन है और दूसरा कुछ नहीं। द्रष्टा का दृश्य की सत्ता में विश्वास बन्धन है। वासना का होना और न होना ही बन्धन और मोक्ष के कारण हैं। जगत्, तू, और मैं आदि का जो यह झूठा दृश्य है, जबतक इसमें विश्वास है तबतक मोक्ष नहीं होता।

(२) बन्धन के कारण :—

(अ) वासना :—

वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः ।
वश्यतां यान्ति ते लोके रज्जुबद्धाः खगा इव ॥ (४।२७।१८)
ये भिन्नवासना धीराः सर्वत्रासक्तबुद्धयः ।
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति दुर्जयास्ते महाधियः ॥ (४।२७।१९)
कोशकारवदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।
वेष्टयचैव चेतोऽन्तर्बालत्वान्नावबुध्यते ॥ (६।१०।८)

आशा के फाँसों में बँधे हुए और वासना की रस्सियों से जकड़े हुए जीव संसार में इस प्रकार बन्धन को प्राप्त होते हैं जैसे रस्सी से बँधे हुए पक्षी। जो धीर पुरुष अपनी वासना (रूपी रस्सी) को तोड़ चुके हैं, जो सब जगह असक्त हैं और जो न किसी अवस्था में प्रसन्न होते हैं और न किसी से क्रुद्ध, वे कभी बन्धन में नहीं पड़ते। वासनाओं के तागों से मन अपनी मूर्खता के कारण अपने आप को इस प्रकार बन्धन में डाल लेता है जैसे कि रेशम का कीड़ा।

(आ) अपने आप को परिमित समझना :—

इयन्मात्रपरिच्छिन्नो येनात्मा भव्यभावितः ।
स सर्वज्ञोऽपि सर्वत्र परां कृपणतां गतः ॥ (४।२७।२२)
अनन्तस्याप्रमेयस्य येनेयत्ता प्रकल्पिता ।
आत्मनस्तस्य तेनात्मा स्वात्मनैवावशीकृतः ॥ (४।२७।२३)
आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः ।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामाकरं विदुः ॥ (४।२७।२९)
अयं सोऽहं ममेदं तदित्याकल्पितकल्पनः ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ (४।२७।२१)

जिसने अपने भीतर यह भावना दृढ़ कर ली है कि "मैं केवल इतना ही हूँ" वह सर्वज्ञ और विभु होता हुआ भी क्षुद्रता को प्राप्त होता है। जिसने अनन्त और अप्रमेय आत्मा को महदूद (परिच्छिन्न) मान लिया है उसने अपने आपको बन्धन में डाल दिया। आस्था अनन्त दुःखों का उद्गम है और अनास्था अनन्त सुखों का। जैसे समुद्र में जलों का प्रवेश होता है वैसे ही उस प्राणी के ऊपर अनेक आपत्तियाँ

आती हैं जो "यह मैं हूँ, यह मेरा है" इस प्रकार की कल्पना करता रहता है।

(ई) मिथ्या भावना :—

मिथ्याभावनया ब्रह्मन्स्वविकल्पकलङ्किताः।
न ब्रह्म वयमित्यन्तर्निश्चयेन ह्यधोगताः ॥ (४।१२।२)
ब्रह्मणो व्यतिरिक्तत्वं ब्रह्मार्णवगता अपि।
भावयन्त्यो विमुह्यन्ति भीमासु भवभूमिषु ॥ (४।१२।३)

अपनी कल्पनाओं द्वारा उत्पन्न की हुई इस प्रकार की मिथ्या भावना के दृढ़ होने से कि "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" हमलोग अधोगति को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मरूपी समुद्र में वास करते हुए भी हमलोग यह समझ कर कि हम ब्रह्म से कोई अलग वस्तु हैं—और इस प्रकार की भावना को दृढ़ करके—संसार की भयानक अवस्थाओं में मोह को प्राप्त होते हैं।

(ई) आत्मा को भूलना :—

हेतुर्विहरणे तेषामात्मविस्मरणादृते।
न कश्चिल्लक्ष्यते साधो जन्मान्तरफलप्रदः ॥ (३।९९।१४)
नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः। (३।११४।२३)

संसार में घूमने और जन्मजन्मान्तर का फल पाने का हेतु जीवों के लिये आत्मा को भूलने के सिवाय कुछ भी नहीं है। "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" इस संकल्प से मन दृढ़ बन्धन में पड़ जाता है।

(उ) अहंभावना :—

अहमित्येव संकल्पो बन्धायातिविनाशिने।
नाहमित्येव संकल्पो मोक्षाय विमलात्मने ॥ (३।९९।११)

"मैं यह हूँ" इस प्रकार का संकल्प नाशकारी बन्धन में डालनेवाला है और "मैं यह नहीं हूँ" इस संकल्प से मोक्ष प्राप्त होता है।

(ऊ) अज्ञान :—

जडो देहो न दुःखार्हो दुःखो देहविचारतः।
अविचारो घनाज्ञानादज्ञानं दुःखकारणम् ॥ (३।११९।१९)
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम् ॥ (६।१०।४)

जड़ देह को दुःख नहीं होता, विचारहीन देहवाले को ही दुःख होता है। गहरे अज्ञान से विचारहीनता आती है—इसलिये अज्ञान ही दुःख का कारण है। आत्मा के अज्ञान से ही भ्रम उत्पन्न होता और आत्मा के ज्ञान से ही सर्व प्रकार की सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है।

(३) मोक्ष का स्वरूप :—

सकलाशासंसक्त्या यत्स्वयं चेतसः क्षयः।
स मोक्षनाम्ना कथितस्तत्त्वज्ञैरात्मदर्शिभिः ॥ (५।७३।३६)
जगद्भ्रमं परिज्ञाय यत्त्रासनमासितम्।
विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते ॥ (६।४२।५१)
दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तं गतमनोगतिम् ।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ (६।३८।३२)
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनो मृतमुच्यते।
तदेव च तपःशास्त्रसिद्धान्तो मोक्ष उच्यते ॥ (३।११२।८)
परस्य पुंसः संकल्पमयत्वं चित्तमुच्यते।
अचित्तत्वमसंकल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते ॥ (५।१३।८०)
दृश्यं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित्।
तदा नेच्छा प्रसरति तदैव च विमुक्तता ॥ (६।३७।३३)
अत्यन्तविस्मृतं विश्वं मोक्ष इत्यभिधीयते।
ईप्सितानीप्सिते तत्र न स्तः केचन कस्यचित् ॥ (३।२१।११)
अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्यावेषात्मनोऽसतः।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥ (६।२०।१७)

सब इच्छाओं से अलग होने पर जो चित्त का क्षीण हो जाना है उसे आत्मदर्शी तत्त्वज्ञानी मोक्ष कहते हैं। जगत् को भ्रम समझ कर, सब विषयों को नीरस समझ कर, वासना रहित होकर स्थित होने का नाम निर्वाण है। आत्मा में मनकी क्रिया के ऐसे शान्त हो जाने को जैसे कि दीपक बुझ जाता है निर्वाण कहते हैं। जब मन चञ्चलता से मुक्त हो जाता है तब उसको मुर्दा मन कहते हैं। उसका ही नाम योग और शास्त्रों में मोक्ष है। परम आत्मा जब संकल्पयुक्त होता है तब उसे मन कहते हैं। संकल्प रहित होने पर वह मन नहीं रहता। उस स्थिति का नाम ही मोक्ष है। जब दृश्य पदार्थ में रस न प्रतीत हो और उनमें किसी प्रकार का स्वाद न आवे, और उनके प्राप्त करने की

इच्छा मनमें न उदय हो तब मुक्ति का अनुभव होता है। जब जगत् का इतना विस्मरण हो जाए कि उसकी किसी वस्तु के लिये न इच्छा हो और न द्वेष, तब मोक्ष का अनुभव होता है। मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुई अज्ञान की झूठी गाँठ जो अहंभाव के रूप में अनुभूत हो रही है जब खुल जाती है तब मोक्ष का अनुभव होता है।

(४) मोक्ष का अनुभव कब होता है :—

यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान्। (६।१२८।४५)
संशान्तकरणग्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः॥ (६।१२८।४६)
देहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्तस्माच्च यः परः। (६।१२८।४६)
सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते॥ (६।१२८।४७)
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। (६।१२८।४८)
यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते॥ (६।१२८।४९)
कर्तृभोक्त्रादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिविवर्जितः। (६।१८।४७)
सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विमुच्यते॥ (६।१२८।४९)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा। (६।१२८।४९)
विशेत्तुरीयमानन्दं तदा जीवो विमुच्यते॥ (६।१२८।५०)
यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः॥ (३।६६।१९)
यत्राभिलाषस्तन्नूनं संत्यज्य स्थीयते यदि।
प्राप्त एवाङ्ग तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम्॥ (३।६६।२१)

जब सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और जीव मन के गुणों का त्याग करके ब्रह्म के गुणों को ग्रहण कर लेता है, तब वह विभुत्व का अनुभव करता है। जब जीव इस प्रकार का ध्यान करता है कि वह सब इन्द्रियों, मन और बुद्धि से भी जो परे है उससे भी परे रहनेवाला तत्त्व है, तब मुक्त हो जाता है। जब जीव सर्व प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सब प्राणियों को देखता है और किसी प्रकार का भेद नहीं समझता, तब वह मुक्त होता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व से मुक्त, सब उपाधियों से छूटा हुआ, सुख दुःख के अनुभव से बरी होने पर जीव मुक्त होता है। जब जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठ कर चौथी अवस्था के आनन्द का अनुभव करने लगता है, तब वह मुक्त होता है। यदि सब विषयों का मनसे

त्याग करके, वासनाओं से ऊँचे उठ जाए तो जीव उसी क्षण मुक्त हो जाता है—इसमें ज़रा भी संशय नहीं है। मोक्ष प्राप्त करना क्या मुश्किल है ? जिस-जिस विषय की इच्छा हो उस उसका त्याग करता रहे तो मोक्ष ही है।

(५) मोक्ष दो प्रकार का है :—

द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनघाकृते।
सदेहैका विदेहान्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ (५।४२।११)

मोक्ष दो प्रकार का होता है—एक सदेह और दूसरा विदेह। उनका भेद सुनो।

(अ) सदेह मोक्ष :—

असंसक्तमतेर्यस्य त्यागादानेषु कर्मणाम्।
नैषणा तत्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्तामिह ॥ (५।४२।१२)

जिस जीते हुए पुरुष के लेने और देने के कामों में किसी प्रकार की वासना नहीं रहती (केवल कर्म करता है) उसे जीवन्मुक्त (जीते हुए अर्थात् शरीर के रहते हुए ही मुक्त) कहते हैं।

(आ) विदेह मोक्ष :—

सैव देहक्षये राम पुनर्जननवर्जिता।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नायान्ति दृश्यताम् ॥ (५।४२।१३)

शरीर के नष्ट हो जाने पर जब फिर जन्म होने की सम्भावना न हो उस प्रकार की मुक्ति को विदेह-मुक्ति कहते हैं।

(६) सदेह और विदेह मुक्ति में विशेष भेद नहीं है:—

न मनागपि भेदोऽस्ति सदेहादेहमुक्तयोः।
सस्पन्दोऽप्यथवाऽस्पन्दो वायुरेव यथानिलः ॥ (२।४।९)

जैसे चलती हुई और स्थिर वायु में ज़रा भी भेद नहीं है ठीक वैसे ही सदेह और विदेह मुक्ति में कोई विशेष भेद नहीं है।

(७) मुक्ति और जड़स्थिति का भेद :—

चिच्छक्तिर्वासनाबीजरूपिणी स्वापधर्मिणी।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु ॥ (३।१०।२३)

यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा।
तथाऽन्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना ॥ (६।१०।१९)
यत्रास्ति वासनाबीजं तत्सुषुप्तं न सिद्धये।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ (६।१०।२०)
अतः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाङ्कुरः।
वासना तत्सुषुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥ (६।१०।१६)
स्थावरादय एते हि समस्ता जडधर्मिणः।
सुषुप्तपदमारूढा जन्मयोग्याः पुनः पुनः ॥ (६।१०।१८)
वासनायास्तथा वह्ने ऋणव्याधिद्विषामपि।
स्नेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ (६।१०।२१)
अन्तः संलीनमननं परितः सुप्तवासनम्।
सुषुप्तं जडधर्मापि जन्मदुःखशतप्रदम् ॥ (६।१०।१७)
तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेदविदां वर।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चित्स्थिता दुःखदायिनी ॥ (६।१०।११)
निर्दग्धवासनाबीजसत्तासामान्यरूपवान्।
सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग्भवेत् ॥ (६।१०।२२)
बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथावस्त्ववलोकनात्।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥ (६।१०।१३)
परिज्ञाय परित्यागो वासनानां य उत्तमः।
सत्तासामान्यरूपत्वं तत्कैवल्यपदं विदुः ॥ (६।१०।१४)
विचार्यार्यैः सहालोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनात्।
सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ (६।१०।१५)

जड़ वस्तुओं के भीतर भी वासना के बीज के रूप में सोई हुई चित्-शक्ति उनके रस (विशेष तत्त्व) के आकार में वर्त्तमान रहती है। जैसे बीज में फूल आदि, और मिट्टी में घड़ा रहता है, वैसे ही जड़ वस्तुओं के भीतर उनकी वासना रहती है। वह सुषुप्ति (जड़वत् स्थिति) जिसमें वासना का बीज शेष रहता है, सिद्धि देनेवाली नहीं है (अर्थात् इस प्रकार की स्थिति का नाम मोक्ष नहीं है)। सिद्धि देनेवाली वह तुर्या स्थिति है जिसमें वासना निर्बीज हो जाती है। वह अवस्था जिसमें मन्द रूप से वासना सोई रहती है जैसे कि बीज के भीतर अंकुर रहता है, दूसरे जन्मों के देनेवाली है। स्थावर आदि जितनी ऐसी जड़ स्थितियाँ हैं जिनमें वासना सुप्त अवस्था में रहती

है, अवश्य ही दूसरे जन्मों को उत्पन्न करानेवाली हैं। आग, ऋण, व्याधि, बैरी, प्रेम, बैर और विष का जैसे ज़रा सा भी अंश शेष रह जाने पर दुःख देता है वैसे ही वासना का लेशमात्र भी दुःख देनेवाला होता है। जड़ अवस्था की सुषुप्ति की स्थिति जिसमें कि मन का अभी उदय नहीं हुआ है और जिसमें सोई हुई वासनाएँ मौजूद हैं अनेक जन्मों के दुःखों के देनेवाली है। उस हालत से मुक्ति बहुत दूर है जिसमें चित्त के भीतर दुःख देनेवाली सोई हुई वासना मौजूद है। इसके विपरीत वह सत्ता सामान्य रूपवाली स्थिति है जिसमें वासनारूपी बीज दग्ध हो गया है। ऐसी स्थिति, चाहे सदेह हो अथवा विदेह हो, दुःख देनेवाली नहीं है। बुद्धिपूर्वक विचार करके और वस्तुओं का यथार्थ रूप जानकर सत्ता सामान्य स्थिति का जो अनुभव होता है उसे मोक्ष कहते हैं। जानकर वासनाओं का त्याग करना और तब सत्ता-सामान्य रूप में स्थित होना कैवल्यपद (मोक्ष) कहलाता है। सज्जनों के साथ विचार करके, शास्त्रों का अध्ययन करके और आध्यात्मिक भावना द्वारा जो सत्ता सामान्य रूप में स्थिति प्राप्त होती है वही ब्रह्म का अनुभव है।

(८) बन्धन और मोक्ष दोनों ही वास्तव में मिथ्या हैं :—

मिथ्याकाल्पनिकीवेयं मूर्खाणां बन्धकल्पना।
मिथ्यैवाभ्युदिता तेषामितरा मोक्षकल्पना॥ (३।१००।३९)
एवमज्ञानकादेव बन्धमोक्षदृशोऽस्मृतेः।
वस्तुतस्तु न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति महामते॥ (३।१००।४०)
बन्धमोक्षादिसंमोहो न प्राज्ञस्यास्ति कश्चन।
संमोहबन्धमोक्षादि ह्यज्ञस्यैवास्ति राघव॥ (३।१००।४२)
नित्यासंभवबन्धस्य बद्धोऽस्मीति कुकल्पना।
यस्य काल्पनिकस्तस्य मोक्षो मिथ्या न तत्त्वतः॥ (३।१००।३७)

बन्धन और मोक्ष दोनों ही अज्ञानियों की मिथ्या कल्पनायें हैं। बन्धन और मोक्ष दोनों अज्ञान और भूल के कारण से हैं। वस्तुतः न बन्धन है और न मोक्ष। बन्धन और मोक्ष का मोह अज्ञानियों के लिये ही है, ज्ञानियों के लिये नहीं। जो कभी बन्धन में नहीं पड़नेवाला है वह भला कैसे बद्ध हो सकता है? जो कल्पना द्वारा बद्ध हो जाता है उसी के लिये मुक्ति भी है। वास्तव में न बन्धन है और न मुक्ति।

२३—मोक्ष प्राप्ति का उपाय

यद्यपि बन्धन काल्पनिक ही है तथापि अज्ञानियों के लिये वह इतना ही सत्य प्रतीत होता है जितना कि उनका अहंभाव और दृश्य जगत्। इसलिये मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न करना पड़ता है। मोक्ष-प्राप्ति का सच्चा साधन क्या है इस विषय में लोगों में बहुत मतभेद है। योगवासिष्ठ का स्पष्ट सिद्धान्त यह है कि ज्ञान के सिवाय मोक्षप्राप्ति का कोई उपाय नहीं है। ज्ञान द्वारा ही मोक्ष का अनुभव सिद्ध होता है। इस सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन यहाँ पर किया जाता है।

(१) ज्ञान के सिवाय मोक्षप्राप्ति का दूसरा और कोई उपाय नहीं है :—

संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता।
नापि स्वदेशावासित्वं न च कष्टतपःक्रिया:॥ (६।१९९।३०)
न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः।
नाचारेषु समारंभविचित्रफलपालय:॥ (६।१९९।३१)
न तीर्थेन न दानेन न स्नानेन न विद्यया।
न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्नचाध्वरै:॥ (६।१७४।२४)
न दैवं न च कर्माणि न धनानि न बान्धवाः। (५।१३।८)
किञ्चिन्नोपकरोत्यत्र तपोदानव्रतादिकम्॥ (३।६।४)
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात्। (६।१९७।१८)
तपस्तीर्थादिना स्वर्गाः प्राप्यन्ते न तु मुक्तता॥ (६।१७४।२६)
ततो वच्मि महाबाहो यथा ज्ञानेतरा गतिः।
नास्ति संसारतरणे पाशबन्धस्य चेतसः॥ (५।६७।२)

संसार-समुद्र से पार होने का उपाय न वन में वास करना है, न किसी विशेष देश में वास करना, न शरीर को कष्ट देने वाले तप और क्रियायें, न क्रियाओं का त्याग करना, न किन्हीं क्रियाओं का अनुष्ठान करना, न किसी विशेष और विचित्र प्रकार के आचार व्यवहार; न तीर्थाटन, न दान, न कोई विशेष प्रकार की विद्या, न कोई विशेष ध्यान, न योग, न तप, न यज्ञ, न दैव (तक़दीर), न विशेष प्रकार के

कर्म, न धन, न बन्धुजन, न व्रत आदि, न शास्त्र, न गुरु का वाक्य, न ईश्वर की पूजा। तप और तीर्थ आदि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ कि बन्धन में पड़े हुए मन के लिये संसार से पार होने का ज्ञान से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

(२) ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन है :—

ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम्।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥ (२।११।३६)
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते। (३।६।२)
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्न त्वनुष्ठानदुःखतः ॥ (३।६।१)
बहुकालमियं रूढा मिथ्याज्ञानविषूचिका।
जगन्नाम्न्यविचाराख्या विना ज्ञानं न शाम्यति ॥ (३।८।२)
अयं स देव इत्येव संपरिज्ञानमात्रतः।
जन्तोर्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च ॥ (३।६।६)
ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते। (५।९३।१८)
ज्ञानवानुदितानन्दो न क्वचित्परिमज्जति ॥ (५।९३।२४)
ज्ञानवानेव सुखवान्ज्ञानवानेव जीवति।
ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञानमयो भव ॥ (५।९२।४९)
ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नान्यस्माद्राम वस्तुतः ॥ (५।८८।१२)
ज्ञायते परमात्मा चेद्राम दुःखस्य संततिः।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥ (३।७।१७)
दुरुत्तरा या विपदो दुःखकल्लोलसंकुलाः।
तीर्यते प्रज्ञया ताभ्यो नानाऽपद्भ्यो महामते ॥ (५।१२।२०)
कलना सर्वजन्तूनां विज्ञानेन शमेन च।
प्रबुद्धा ब्रह्मतामेति भ्रमतीतरथा जगत् ॥ (५।१३।९९)

बुद्धिमान् लोग दुस्तर संसार-समुद्र से ज्ञानयुक्ति-रूपी नौका द्वारा जरासी देर में पार हो जाते हैं। मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान ही एक अनुष्ठान है; दूसरा कोई नहीं है। ज्ञान से ही परम सिद्धि प्राप्त होती है और किसी अनुष्ठान के कष्ट से नहीं। मिथ्या ज्ञानरूपी विषूचिका बहुत पुराना रोग है; इसी का नाम जगत् और अविचार है। यह बिना ज्ञान के शान्त नहीं होता। आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राणी के दुःख

शान्त हो जाते हैं और उसे जीवन्मुक्तता का अनुभव होता है। ज्ञान से सब दुःखों का नाश हो जाता है। ज्ञानवान् को ही परम आनन्द प्राप्त होता है और वह संसार में नहीं डूबता। ज्ञानी ही सुखी, ज्ञानी ही बलवान् होता है, ज्ञानी ही जीता है। इसलिये ज्ञानी बनो। ज्ञान से सब दुःखों की शान्ति हो जाती है; ज्ञान से अज्ञान दूर हो जाता है। ज्ञान से ही परम सिद्धि प्राप्त होती है; दूसरे किसी उपाय से नहीं। जैसे विष का असर चले जाने पर विषूचिका रोग शान्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान प्राप्त होने पर सब दुःख शान्त हो जाते हैं। नाना प्रकार की आपत्तियों और कठिन से कठिन दुःखदाई विपत्तियों के समुद्र को ज्ञान द्वारा पार किया जा सकता है। ज्ञान और शम (मन को शान्त करने) से ही सब प्राणियों का जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। अन्यथा वह जगत् में भ्रमण करता रहता है।

(३) मोक्ष-प्राप्ति के लिये किसी देवता की आराधना करने की जरूरत नहीं है।

(अ) आत्मा के सिवाय किसी देवता की आराधना नहीं करनी चाहिये :—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः॥ (६।१६२।१८)
अभ्यासवैराग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात्।
नात्मनः प्राप्यते यत्तत्प्राप्यते न जगत्त्रयात्॥ (६।४३।१८)
आराधयात्मनात्मानमात्मनात्मानमर्चयेत्।
आत्मनात्मानमालोक्य संतिष्ठस्वात्मनात्मनि॥ (६।४३।१९)
सर्वेषामुत्तमस्थानां सर्वासां चिरसंपदाम्।
स्वमनोनिग्रहो भूमिर्भूमिः सस्यश्रियामिव॥ (६।४३।३९)
शास्त्रयत्नविचारेभ्यो मूर्खाणां प्रपलायिनाम्।
कल्पिता वैष्णवी भक्तिः प्रवृत्त्यर्थं शुभस्थितौ॥ (६।४३।२०)
क्रियते माधवादीनां प्रणयप्रार्थना स्वयम्।
तथैव क्रियते कस्मान्न स्वकस्यैव चेतसः॥ (६।४३।२९)
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः।
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः॥ (६।४३।२६)

वरमाप्नोति यो वापि विष्णोरमिततेजसः ।
तेन स्वस्यैव तत्प्राप्तं फलमभ्यासशालिनः ॥ (६।४३।३४)

आत्मा ही अपना बन्धु, आत्मा ही अपना शत्रु है। आत्मा द्वारा यदि हमारा त्राण नहीं होता तो दूसरा और कोई उपाय ही नहीं है। जो गति अभ्यास, वैराग्य और इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्मा से प्राप्त होती है वह तीनों लोकों में और किसी से भी नहीं मिलती। इसलिये आत्मा की ही पूजा करो, आत्मा की ही आराधना करो, आत्मा का ही दर्शन करके आत्मा में स्थित रहो। जैसे भूमि से सब अन्न उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अपने मन के निग्रह करने से ही सब उत्तम स्थानों और सब चिरस्थायी सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है। विष्णु आदि देवताओं की भक्ति तो उन लोगों को शुभ मार्ग पर लाने के लिये बनाई गई है जो मूर्ख आध्यात्म-शास्त्र, यत्न और विचार से दूर भागते हैं। यदि विष्णु आदि देवताओं को प्रसन्न करने का यत्न कर सकते हो तो अपने मन ही को शुद्ध करने का यत्न क्यों नहीं करते? सब प्राणियों के हृदय में विष्णु (आत्मा) निवास करते हैं। अपने भीतर रहने वाले विष्णु को छोड़कर विष्णु का तलाश जो लोग बाहर करते हैं वे अधम हैं। अमित तेजवाले विष्णु से जो वर प्राप्त होता दिखाई पड़ता है वह भी वास्तव में अपने ही अभ्यास रूपी वृक्ष का फल है।

(आ) कोई देवता भी विचाररहित पुरुष को आत्मज्ञान नहीं दे सकता :—

रामापर्यवसानेयं माया संसृतिनामिका ।
आत्मचित्तजयेनैव क्षयमायाति नान्यथा ॥ (६।४४।१)
चिरमाराधितोप्येष परमप्रीतिमानपि ।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥ (६।४३।१०)
यद्यदासाद्यते किञ्चित्केनचित्क्वचिदेव हि ।
स्वशक्तिसंप्रवृत्त्या तल्लभ्यते नान्यतः क्वचित् ॥ (६।४३।१३)
न हरेर्न गुरोर्नार्थात्किञ्चिदासाद्यते महत् ।
आक्रान्तमनसः स्वस्माद्यदासादितमात्मनः ॥ (६।४३।१७)
गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुषादृते ।
उष्ट्रं दान्तं बलीवर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ ॥ (६।४३।१६)

हे राम ! यह संसार-नामवाली अनन्त माया अपने आत्मा को जीत लेने पर ही शान्त होती है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। बहुत समय तक आराधना करने से बहुत प्रसन्न होने पर भी विष्णु आदि देवता विचार न करने वाले पुरुष को ज्ञान नहीं दे सकते। जो पुरुष कुछ भी कहीं और कभी प्राप्त करता है वह सब अपने ही शक्ति के प्रयोग से प्राप्त करता है, और किसी के द्वारा नहीं। जो अपने मन को वश में करने से और आत्मा को जानने से सिद्धि होती है वह न धन से, न गुरु से और न हरि से मिल सकती है। यदि गुरु आदि किसी व्यक्ति का उसके अपने पुरुषार्थ के बिना ही उद्धार कर सकते हैं तो वे ऊँट, हाथी और बैल का उद्धार क्यों नहीं कर देते ?

(इ) ईश्वर सब के भीतर रहता है :—

य एष देवः कथितो नैष दूरेऽवतिष्ठते।
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ (३।७।२)
चिन्मात्रमेष शशिभृच्चिन्मात्रं गरुडेश्वरः।
चिन्मात्रमेव तपनश्चिन्मात्रं कमलोद्भवः ॥ (३।७।४)
न ह्येष दूरे नाभ्याशे नालभ्यो विषमे न च।
स्वानन्दाभासरूपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते ॥ (३।६।३)
संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥ (५।८।१४)

वह ईश्वर कहीं दूर नहीं है। चिन्मात्र रूप से शरीर के भीतर ही सदा रहता है। शिव भी चिन्मात्र है, विष्णु भी चिन्मात्र है, ब्रह्मा भी चिन्मात्र है, सूर्य भी चिन्मात्र है। न भगवान् दूर है और न कठिनाई से प्राप्त होने वाले हैं। वह तो अपने ही भीतर से ही निजानन्द के रूप में प्रकट होते हैं। निज हृदय की गुफा में वास करने वाले ईश्वर को छोड़कर जो व्यक्ति दूसरे ईश्वर की तलाश करता है वह अपने हाथ में आई हुई कौस्तुभ मणि को छोड़कर मामूली रत्न की तलाश करता है।

(ई) ज्ञान से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है :—

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नत्वनुष्ठानदुःखतः ॥ (३।६।१)
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो। (६/१।३८।३०)
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते ॥ (३।६।२)

इस देवों के देव परम परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान द्वारा ही होती है और किसी प्रकार के अनुष्ठान के दुःख से नहीं। बिना ज्ञान के और किसी साधन से यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। परमात्मा के प्राप्त करने में ज्ञान ही एक अनुष्ठान है, और दूसरा कोई नहीं है।

(उ) आत्मदेव की पूजा करने की विधि :—

अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपल्लवचेतसः।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ॥ (६।३०।१)
संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम्।
न तस्याह्वानमंत्रादि किञ्चिदेवोपयुज्यते ॥ (६।३९।२४)
न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्पणैः।
नान्नदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ॥ (६।३८।२३)
न च कुंकुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतरैः।
नित्यमक्लेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ॥ (६।३८।२४)
एकेनैवाऽमृतेनैष बोधेन स्वेन पूज्यते।
एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ॥ (६।३८।२५)
नित्यमेव शरीरस्थमिमं ध्यायेत्परं शिवम्। (६।३९।३)
एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ॥ (६।३८।३६)
शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते।
तत्तु देवार्चनं विद्धि नाकारार्चनमर्चनम् ॥ (६।२९।१२८)
पूजनं ध्यानमेवान्तर्नान्यदस्त्यस्य पूजनम्। (६।३८।६)
स्वसंविदात्मा देवोऽयं नोपहारेण पूज्यते ॥ (६।३८।२२)
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्। (६।३८।२६)
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्शुद्धसंविन्मयो भवेत् ॥ (६।३८।२७)
ध्यानामृतेन सम्पूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम्। (६।३८।२७)
ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानं ह्यस्य समीहितम् ॥ (६।३८।२८)
ध्यानमर्घ्यं च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम्।
ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वं ध्यानपरं विदुः ॥ (६।३८।२९)
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो।
ध्यानात्प्रसादमायान्ति सर्वभोगसुखश्रियः ॥ (६।३८।३०)

जिनकी बुद्धि चेतन नहीं हुई और जिनका चित्त चञ्चल है, केवल उन्हीं लोगों के लिये बाहरी और बनावटी देव-पूजा की विधि

है। जो देव सब जगह मौजूद है और ज्ञान रूप से सब प्राणियों के भीतर है, उसके लिये आह्वान और मंत्र आदि की आवश्यकता नहीं है। आत्मदेव की पूजा में न दीपक की, न धूप की, न फूलों की, न अन्न की, न दान की, न चन्दन लगाने की, न केसर, कपूर और भोग की आवश्यकता है। उसकी पूजा केवल एक ही विधि से होती है। वह है उसका ध्यान जिसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं है और जो शीतलता देने वाला अमृत है। यही बड़ा भारी ध्यान है और यही बड़ी भारी पूजा है कि शरीर में स्थित परम शिव आत्मा का ध्यान किया जाए। यही परम योग है और यही बड़ी भारी क्रिया है। शम और बोध आदि फूलों द्वारा आत्मा की पूजा करना ही असली पूजा है; किसी आकार की पूजा करना वास्तविक पूजा नहीं है। अपने भीतर आत्मा का ध्यान करने के सिवाय और कोई आत्मा की पूजा हीं नहीं है। संवित् (ज्ञान) रूप आत्म देव किसी उपहार से प्रसन्न नहीं होता। देखते हुए, सुनते हुए, छूते हुए, सूँघते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, साँस लेते हुए, बोलते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए, अर्थात् सब ही कामों को करते हुए, संवित्मय बनना चाहिये। अपने आत्मा रूपी ईश्वर को ध्यान रूपी अमृत से पूजो। आत्म देव के लिये ध्यान ही सर्वोत्तम उपहार है। ध्यान ही इसको प्रसन्न करने की विधि है। शुद्ध संवेदनात्मक ध्यान ही इसके लिये अर्घ्य और पाद्य है; वही इसके लिये फूल हैं। ध्यान का आश्रय लो, बिना ध्यान के और किसी विधि से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्म-ध्यान से ही सब भोग सुख और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

(ऊ) ज्ञानी लोगों की देवपूजा :—

यथाप्राप्तेन सर्वेण तमर्चयति वस्तुना।
समया सर्वया बुद्ध्या चिन्मात्रं देवचित्परम्॥ (६।३९।३०)
यथाप्राप्तक्रमोत्थेन सर्वार्थेन समर्चयेत्।
मनागपि न कर्तव्यो यत्नोऽत्रापूर्ववस्तुनि॥ (६।३९।३१)
प्राप्तदेहतया नित्यं यथार्थक्रिययाऽनया।
कामसंसेवनेनाथ पूजयेच्छोमनं विभुम्॥ (६।३९।३२)
भक्ष्यभोज्यान्नपानेन नानाविभवशालिना।
शयनासनयानेन यथाप्तेनार्चयेच्छिवम्॥ (६।३९।३३)

कान्तान्नपानसंभोगसंभारादिविलासिना ।
सुखेन सर्वरूपेण सम्बुद्ध्याऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३४)
आधिव्याधिप्रीतेन मोहसंरम्भशालिना ।
सर्वोपद्रवदुःखेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३५)
दारिद्र्येणाथ राज्येन प्रवाहपतितात्मना ।
विचित्रचेष्टापुष्पेण शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ (६।३९।३७)
रागद्वेषविलासेन शुद्धात्मानं समर्चयेत् । (६।३९।३८)
मैत्र्या माधुर्यधर्मिण्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३९)
उपेक्षया करुणया सदा मुदितया हृदि ।
शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।४०)
आकस्मिकोपयातेन स्थितेनानियतेन च ।
भोगाभोगैकभोगेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।४१)
भोगानामनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा ।
त्यागेन वीतरागेण स्वात्मानं शुद्धमर्चयेत् ॥ (६।३९।४२)
ईहितानीहितौघेन युक्तायुक्तमयात्मना । (६।३९।४३)
निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥ (६।३९।४४)
सर्वदैव समप्रासु चेष्टानिष्टासु दृष्टिषु ।
परमं साम्यमाधाय नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ (६।३९।४५)
त्यक्तेनाप्तेन चार्थेन ह्यर्थानामीशमर्चयेत् । (६।३९।४३)
नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपाहरेत् ॥ (६।३९।४४)
आपातरमणीयं यच्चापातसुदुःसहम् ।
तत्सर्वं सुसमं बुद्ध्वा नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ (६।३९।४७)
अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यजेत् ।
सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ (६।३९।४८)
सर्वदा सर्वरूपेण सर्वाकारविकारिणा ।
सर्वं सर्वप्रकारेण प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।[illegible])
अनीहितं परित्यज्य परित्यज्य तथेहितम् ।
उभयाश्रयणेनापि नित्यमात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।५०)
देशकालक्रियायोगाद्यदुपैति शुभाशुभम् ।
अविकारं गृहीतेन तेनैवात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।५३)

चिन्मात्र आत्मदेव की पूजा सम बुद्धि से सभी यथा प्राप्त वस्तुओं द्वारा होती है। उसकी पूजा के लिये किसी अप्राप्त और अपूर्व

वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी पूजा सब ही यथाप्राप्त वस्तुओं से करनी चाहिये। देह द्वारा की जाने वाली सब क्रियाओं से आत्मा की पूजा होती है। काम के भोग से, भक्ष्य भोजन के खाने से, नाना प्रकार के विभव की प्राप्ति से, यथाप्राप्त सवारी पर चढ़ने से और बिस्तर पर सोने से, स्त्री, और अन्नपान आदि के उपभोग से, सब प्रकार के सुखों के भोग से, आधि और व्याधि के सहन से, मोह में डालने वाली प्रीति के अनुभव से, यथाप्राप्त सब मुसीबतों के दुःख बर्दाश्त करने से, यथाप्राप्त दरिद्रता या राज को भोगने से, नाना प्रकार की चेष्टाओं से, राग द्वेष से, मधुर मित्रता से, करुणा उपेक्षा अथवा प्रसन्नता से, शक्ति के शुद्ध उपयोग से, अकस्मात प्राप्त, अनियत अथवा स्थिर भोगों के उपभोग से, वीतराग होकर निषिद्ध अथवा अनिषिद्ध भोगों के त्याग से, युक्त अथवा अयुक्त, इच्छित अथवा अनिच्छित भोगों को निर्विकार रहकर भोगने से, सब प्रकार की दृष्टियों में, चेष्टाओं में सदा ही समभाव रखने से, धन को प्राप्त करने अथवा उसका त्याग करने से, जो गया उसकी उपेक्षा और जो आता है उसकी प्राप्ति करने से, जो दूर से सुखदाई अथवा दुखदाई दिखाई पड़ते हैं उन सब दृश्यों में सम बुद्धि होकर विचरण करने से, मैं यह हूँ यह नहीं हूँ इस विचार को त्याग कर सब कुछ ब्रह्म है यह भाव निश्चित करनेसे, सब रूप से, सब आकारों से, सब प्रकार से, इच्छित और अनिच्छित दोनों प्रकार के पदार्थों के त्याग वा ग्रहण से, देश, काल और क्रिया द्वारा जो कुछ शुभ अथवा अशुभ फल प्राप्त हों उनको बिना किसी मानसिक विकार के ग्रहण करने से (अर्थात् सब प्रकार की क्रियाओं को करते हुए और सब भोगों को भोगते हुए), प्राणी आत्म देव की पूजा कर सकता है। (तात्पर्य यह है कि आत्मा की पूजा के लिये न किसी विशेष क्रिया के करने की आवश्यकता है और न त्यागने की। आवश्यकता है केवल आत्मभाव में स्थित रह कर जीवन बिताने की और आत्म देव के निरन्तर ध्यान करने की)।

(ए) बाहरी देवता की पूजा मुख्य नहीं गौण है :—

हृद्गुहावासिचित्तत्वं मुख्यं सानातनं वपुः ।
शङ्खचक्रगदाहस्तो गौण आकार आत्मनः ॥ (६।४३।२७)

यो हि मुख्यं परित्यज्य गौणं समनुधावति ।
त्यक्त्वा रसायनं सिद्धं साध्यं संसाधयन्यसौ ॥ (५।४३।२८)

मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मदर्शने ।
गौणो वरादिको हेतुर्मुख्यहेतुपरो भव ॥ (५।४३।११)

अभ्यासयत्नो प्रथमं मुख्यो विधिरुदाहृतः ।
तदभावे तु गौणः स्यात्पूज्यपूजामयक्रमः ॥ (५।४३।२१)

अप्राप्तात्मविवेकोऽन्तरङ्गचित्तवशीकृतः ।
शंखचक्रगदापाणिमर्चयेत्परमेश्वरम् ॥ (५।४३।३०)

तत्पूजनेन कष्टेन तपसा तस्य राघव ।
काले निर्मलतामेति चित्तं वैराग्यकारिणा ॥ (५।४३।३१)

नित्याभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति ।
आम्र एव दशामेति साहकारीं शनैः शनैः ॥ (५।४३।३२)

एतदप्यात्मनैवात्मा फलमाप्नोति भावितम् ।
हरिपूजाक्रमाख्येन निमित्तेनारिसूदन ॥ (५।४३।३३)

आत्मा का मुख्य आकार वह नित्य चित् तत्त्व है जो हृदय की गुफा में वास करता है। हाथ में शंख, चक्र, गदा आदि को धारण करने वाला विष्णु आदि रूप गौण है। जो मुख्य आकार को छोड़कर भगवान् के गौण आकार के पीछे दौड़ता है वह सिद्ध रसायन को फेंक कर दूसरी को सिद्ध करने का प्रयास करता है। आत्मा के दर्शन करने में मुख्य यत्न पुरुष का स्वयं किया हुआ आत्म विचार है। वर आदि गौण साधन हैं। गौण को छोड़कर मुख्य का आश्रय लेना चाहिये। जो आदमी अपने चित्तको वस में न कर सकता हो और जिसके अन्दर आत्मा और अनात्मा का विवेक उत्पन्न न हुआ हो उसी को चाहिये कि शंख, चक्र, गदा आदि को हाथ में लिये हुए साकार ईश्वर की पूजा करे। संसार से वैराग्य उत्पन्न करने वाली उस भगवान् की पूजा करने के कष्ट और तप से समय पाकर उसका मन शुद्ध हो जायेगा। जैसे कच्चा आम धीरे-धीरे पक जाता है ऐसे ही उसका मन नित्य के अभ्यास और विवेक से कुछ काल में शुद्ध हो जाता है। इस प्रक्रिया में भी वास्तव में आत्मा ही फल देता है। हरि-पूजा आदि साधन तो निमित्त मात्र हैं।

(४) जन्म भर कर्मों का त्याग नहीं हो सकता, इसलिये मोक्ष-प्राप्ति के लिये कर्मत्याग की आवश्यकता नहीं है :—

कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ (६।२८।८)
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशादृते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ (६।२८।६)
अस्य राघव सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः ।
कस्त्यागः किमनुष्ठानं यावद्देहमिति स्थितम् ॥ (६।२।३१)
एतच्चेतनमेवान्तर्त्रिकसत्युद्भवभ्रमैः ।
वासनेच्छामनःकर्मसङ्कल्पाद्यभिधात्मभिः ॥ (६।२।३४)
प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य देहिनो देहगेहके ।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ (६।२।३५)
जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते । (६।२।३६)
त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते ॥ (६।२।४२)
मूलं स्वकर्मणः संविन्मनसो वासनात्मनः । (६।२।४३)
सा चादेहं समुच्छेत्तुमृते बोधान्न शक्यते ॥ (६।२।४४)
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स्वर्गेऽपि नरकेऽपि वा ।
यादृग्वासनमेतत्स्यान्मनस्तदनुभूयते ॥ (४।३८।४)
तस्मादज्ञाततत्त्वानां पुंसां कुर्वतामकुर्वतां च ।
कर्तृता न तु ज्ञाततत्त्वानामवासनत्वात् ॥ (४।३८।५)
राजन्यावद्यं देहस्तावन्मुक्तधियामपि ।
यथाप्राप्तक्रियात्यागो रोचते न स्वभावतः ॥ (५।६।१६)
यावदायुरिदं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥ (६।१९९।५)

कर्म पुरुष है और पुरुष कर्म है। जैसे बरफ़ और शीतलता अभिन्न हैं वैसे ही पुरुष और कर्म अभिन्न हैं। पुरुष और कर्म में संवित् और स्पन्दमय आत्मा में, कल्पना के अतिरिक्त ज़रा भी भेद नहीं है। अतएव वेदनात्मक सूक्ष्म कर्म का, जब तक शरीर है तब तक त्याग और ग्रहण निरर्थक है (अर्थात् जब तक शरीर है कर्म करना ही है)। जब तक आत्मा में चेत्य की ओर प्रवृत्ति है तब

तक तो वह वासना, इच्छा, मन, कर्म, सङ्कल्प आदि रूपों में प्रकट होती ही रहती है। चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, जब तक शरीर में चित्त है तब तक कर्म का त्याग नामुमकिन है। शरीर जब तक रहता है तब तक कर्म का त्याग नहीं हो सकता। कर्म की जड़ वासनात्मक मन की संवित् है; वह बिना ज्ञान प्राप्त किये नष्ट नहीं की जा सकती। नरक में हो अथवा स्वर्ग में, कर्म करते हुए अथवा न करते हुए, जैसी जिसकी वासना होती है वैसा ही उसका मन अनुभव करता है। इसलिये जिसने तत्त्व को नहीं जाना वह तो, कर्म करे या न करे, कर्म का कर्ता है ही। ज्ञानी कर्म करने और न करने दोनों पर ही अकर्ता है क्योंकि उसमें वासना नहीं है। जब तक शरीर है तब तक मुक्त पुरुषों को भी स्वाभाविक कर्म का त्याग करना उचित नहीं है। जब तक आयु है तब तक शरीर तो अवश्य ही क्रिया करता ही रहेगा। इसलिए यथा प्राप्त अवसर के अनुसार बिना व्यग्र हुए काम करना चाहिए। (अतएव कर्मत्याग की मुक्ति के लिए आवश्यकता नहीं है)।

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी देवता विशेष की भक्ति और पूजा करने की आवश्यकता नहीं; और न कर्मत्याग करने की, और न किसी अन्य साधन की। केवल आत्मज्ञान ही एक पर्याप्त साधन है। अब यह देखना है कि मोक्षदायक ज्ञान का क्या स्वरूप है।

(५) सम्यक् ज्ञान का स्वरूप :—

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः॥ (५।७९।२)
इमा घटपटाकाराः पदार्थशतपंक्तयः।
आत्मैव नान्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम्॥ (५।७९।३)
ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम्।
अवाच्यमितिबोधोऽन्तः सम्यग्ज्ञानमिति स्मृतम्॥ (६।१९०।५)

यहाँ पर अनादि और अनन्त प्रकाश वाला परमात्मा ही है इस प्रकार का शङ्कारहित निश्चय सम्यक् ज्ञान कहलाता है। घट-पट के आकार वाले जितने संसार के पदार्थ हैं वे सब आत्मा ही हैं, आत्मा के अतिरिक्त यहाँ पर अन्य कोई तत्त्व नहीं है—इस प्रकार का निश्चय सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं हो सकता, यहाँ पर केवल

अक्षय ज्ञान ही है और वह वर्णन नहीं किया जा सकता इस प्रकार का बोध सम्यक् ज्ञान है ।

(६) आत्मज्ञान की उत्पत्ति अपने ही यत्न और विचार से होती है :—

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना ।
स देवो ज्ञायते राम न तपःस्नानकर्मभिः ॥ (३।६।९)
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया । (६।११८।४)
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥ (५।७३।१९)
सुन्दर्या निजया बुद्ध्या प्रज्ञयेव वयस्यया ।
पदमासाद्यते राम न नाम क्रिययान्यया ॥ (५।१२।१८)
स्वयमेव विचारेण विचार्यात्मानमात्मना ।
यावन्नाधिगतं ज्ञेयं न तावदधिगम्यते ॥ (५।५।६)
स्वयमालोक्य प्राज्ञ संसारारम्भदृष्टिषु ।
किं सत्यं किमसत्यं वा भव सत्यपरायणः ॥ (५।५।८)
विचारेणावदातेन पश्यत्यात्मानमात्मना ।
संसारमननं चित्रं विचारेण विलीयते ॥ (५।१३।१३)

आत्मदेव का ज्ञान अपने ही पुरुषार्थ और विवेक से होता है; तप, स्नान आदि किसी अनुष्ठान से नहीं होता। आत्मा अपने आप ही अपनी सात्त्विक बुद्धि द्वारा जाना जाता है। वह सब जगह और हमेशा अपने अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। अपनी प्रज्ञामयी हितकारिणी बुद्धि द्वारा ही वह पद प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रिया से नहीं। जब तक कि अपने आप ही अपने विचार द्वारा आत्मा का दर्शन नहीं किया जाता तब तक उसका ज्ञान नहीं होता। बुद्धिमान आदमी को चाहिये कि संसार की सभी वस्तुओं के ऊपर इस दृष्टि से विचार करे कि इनमें से कौन सी सत्य है और कौन सी असत्य। निश्चय हो जाने पर असत्य का त्याग करे और सत्य का ग्रहण। शुद्ध विचार से ही आत्मा आत्मा को जानता है। संसार की भावना विचार ही से लीन होती है।

(७) विचार के लिये चित्त को शुद्ध करना चाहिये :—

पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च ।
तथा सज्जनसंगेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥ (५।५।१४)

वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ।
यत्नेनापद्विघातार्थं स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥ (६।२१।११)
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम् ।
सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपकोपमा ॥ (६।६।६)

हे राम ! शास्त्र के अध्ययम से, गहरे वैराग्य से और सज्जनों के सङ्ग से मन को पवित्र करना चाहिये । आपत्तियों के नाश करने के लिये वैराग्य, शास्त्र और उत्तम गुणों द्वारा यत्नपूर्वक मन को ऊँचे उठाना चाहिये । शास्त्र के अध्ययन, सज्जनों की संगत और शुभ कर्मों के करने से पाप क्षीण होकर सार को समझाने वाली दीपक के समान प्रकाश वाली बुद्धि का उदय हो जाता है ।

(८) विचार के कुछ विषय :—

कोऽहं कथमिदं किंवा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयान्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥ (६।६८।३२)
येषु येषु पदार्थेषु धृतिं बध्नाति मानवः ।
तेषु तेष्वेव तस्यायं दृष्टो नाशोदयो भृशम् ॥ (६।९।३४)
आगमापायि विरसं दशावैषम्यदूषितम् ।
असारसारं संसारं किं तत्पश्यति दुर्मतिः ॥ (६।९।३७)
सुखदुःखानुभावित्वमात्मनीत्यवबुध्यते ।
असत्यमेव गगने बिन्दुताम्लानते यथा ॥ (६।९।३३)
सुखदुःखेन देहस्य सर्वातीतस्य नात्मनः ।
एते ह्यज्ञानकस्यैव तस्मिन्नष्टे न कस्यचित् ॥ (६।९।३४)
मिश्रीभूतमिवानेन देहेनोपहतात्मना ।
व्यक्तीकृत्य स्वमात्मानं स्वस्थो भवत मा चिरम् ॥ (६।६।२४)

मैं कौन हूँ ? यह संसार क्यों है, क्या है और कैसे है ? जन्म और मरण क्यों होते हैं ? इन सब बातों पर विचार करने से मन शुद्ध और महान होता है । जिस-जिस पदार्थ का मनुष्य आश्रय लेता है, वही नाशवान् है—यह देखने में आता है । संसार असार है, उत्पन्न और नाश होने वाला है, दुःखदाई अवस्थाओं से परिपूर्ण है—क्या यह नीच बुद्धिवाले को मालूम है ? आत्मा में सुख और दुःख का अनुभव होना इतना असत्य है जितना कि आकाश में गोलाई और नीलेपन का होना । दुःख और सुख न देह को होते हैं, न आत्मा को होते हैं । अज्ञान से ही

इनका अनुभव होता है। उसके नष्ट होने पर इनका अनुभव किसी को नहीं होता। आत्मा और शरीर एक दूसरे से मिले हुए स्थित हैं। देह से आत्मा को अलग करके सुखी हो।

(९) अविद्या से ही अविद्या का नाश होता है :—

यो मुमुक्षोरविद्यांशः केवलो नाम सात्त्विकः।
सात्त्विकैरेव सोऽविद्याभागैः शास्त्रादिनामभिः॥ (६।४१।९)
अविद्यां श्रेष्ठयाऽश्रेष्ठां क्षालयन्निह तिष्ठति।
मलं मलेनापहरन्युक्तिज्ञो रजको यथा॥ (६।४१।६)
काकतालीयवत्पश्चादविद्याक्षय आगते।
प्रपश्यात्यात्मनैवात्मा स्वभावस्यैव निश्चयः॥ (६।४१।७)
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चात्मना।
आत्मैवेहास्ति नाविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः॥ (६।४१।१०)

मोक्ष चाहने वाले अधिकारी की सात्त्विक अविद्या शास्त्र आदि सात्त्वि अविद्या द्वारा नष्ट हो जाती है। जैसे बुद्धिमान् धोबी मैल को मैल से ही साफ़ करता है वैसे ही मुमुक्षु अश्रेष्ठ अविद्या को श्रेष्ठ अविद्या से दूर कर देता है। जब अविद्या क्षीण हो जाती है तो काक-तालीय योग से (अकस्मात् ही) आत्मा में आत्मा का विचार उदय हो जाता है, और अपने स्वरूप का निश्चय हो जाता है। अविद्या के क्षीण होने का यह अर्थ है कि आत्मा आत्मा का विचार करता है और आत्मा आत्मा को जानता है; और यह अनुभव होता है कि आत्मा ही है अविद्या नहीं है।

(१०) ज्ञानप्राप्ति में शास्त्र का उपयोग :—

वर्णत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि॥ (६।१९७।१९)
केवलं सर्ववाक्यार्थैऽर्वम्यमानावगम्यते।
कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा॥ (६।१९७।१६)
सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम्।
सर्वगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति॥ (६।१९७।१७)
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात्।
एष सर्वपदातीतो बोधः सम्प्राप्यते परः॥ (६।१९७।१८)
एतान्यकरणान्येव कारणत्वं गतान्यलम्।
परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव तच्छृणु॥ (६।१९७।१९)

शास्त्रादभ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् ।
अनिच्छदेवमेवाशु पदं पश्यति पावनम् ॥ (६।१९७।२०)
एतच्छास्त्रादविद्यायाः सात्त्विको भाग उच्यते ।
तामसः सात्त्विकेनास्या भागेनायाति संक्षयम् ॥ (६।१९७।२१)
नूनं मलं प्रधानेन क्षालयच्छास्त्ररूपिणा ।
पुरुषः शुद्धतामेति परमां वस्तुशक्तितः ॥ (६।१९७।२२)
मुमुक्षुशास्त्रयोरेवं मिथः सम्बन्धमात्रतः ।
सर्वसंवित्पदातीतमात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ (६।१९७।२६)
लोष्टेन लोष्टं सलिले क्षालयन्बालको यथा ।
क्षयेण लोष्टयोर्हस्तनैर्मल्यं लभते परम् ॥ (६।१९७।२७)
तथा शास्त्रविकल्पौघैर्विकल्पांश्चेतनाद्बुधः ।
क्षालयन्स्वविचारेण परमां याति शुद्धताम् ॥ (६।१९७।२८)
महावाक्यार्थनिष्पन्नं स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
शास्त्रादेरिक्षुरसतः स्वादुत्विव स्वानुभूतितः ॥ ६।१९७।२९)
शास्त्रार्थैर्बुध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः ॥ (६।४१।१९)
गुरूपदेशशास्त्रार्थैर्विना चात्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ॥ (६।४१।१६)

शास्त्र में (धर्म, अर्थ और काम इन) तीन वर्गों का ही उपदेश है। ब्रह्म प्राप्ति का विषय तो अवाच्य होने के कारण शास्त्र में नहीं मिलता। शास्त्र के सब वाक्यों के अर्थों पर विचार करने से समय पाकर ब्रह्म प्राप्ति का अनुभव होता है। ब्रह्मज्ञान शास्त्र के सब अर्थों से परे का विषय है, जैसे स्त्री का सौन्दर्य उसके शरीर के सब अंगों से परे की वस्तु है (अर्थात् जैसे स्त्री का सौन्दर्य किसी एक या सब अङ्गों में नहीं है बल्कि सब अङ्गों से ऊपर है वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी शास्त्र के सब वाक्यों से परे और ऊपर का विषय है)। सब शब्दों से अतीत ब्रह्मज्ञान न शास्त्र से प्राप्त होता है, न गुरु के वाक्यों से और न दान और ईश्वरपूजा आदि से। ये सब परमात्मा में विश्राम प्राप्ति के कारण न होते हुए भी जिस कारण होते हैं, हे राम, वह सुनो। शास्त्र के अनुसार अभ्यास और योग करने से चित्त शुद्ध होता है, और शुद्ध होने पर चित्त आप से आप ही परम पद का अनुभव करने लगता है। शास्त्र (भी अविद्या के अन्तर्गत होने से) अविद्या का अंश है; किन्तु है सात्त्विक अंश।

सात्त्विक भाग से अविद्या का तामसिक भाग क्षय को प्राप्त हो जाता है। शास्त्र रूपी मैल से अविद्या रूपी मैल को धोकर पुरुष परम शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। मुमुक्षु और शास्त्र के मेल से सब ज्ञानों से परे का आत्मज्ञान उदय हो जाता है। जैसे बालक हाथों में लगी हुई मिट्टीको मिट्टी से धोकर साफ कर लेता है, वैसे ही शास्त्रगत कल्पनाओं के द्वारा अपने मन की सांसारिक कल्पनाओं को दूर करके ज्ञानी परम पवित्रता को प्राप्त कर लेता है। जैसे गन्ने में मौजूद रस को चूस कर मनुष्य उसका स्वाद लेता है ऐसे ही शास्त्रों के महावाक्यों में जो ब्रह्मानन्द भरा हुआ है उसका भोग ज्ञानी अपने निज के अनुभव द्वारा ही करता है। वास्तव में आत्मा शास्त्र द्वारा नहीं जाना जाता, न गुरु के वचन द्वारा। वह तो अपने अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन बिना भी आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी, शास्त्र और गुरु तीनों का संयोग होने पर ही आत्मानुभव का प्रकाश होता है।



२४—ज्ञानप्राप्ति के साधन।

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार ज्ञान ही मुक्ति का एक साधन है। वह ज्ञान केवल वाचिक ज्ञान नहीं है, न वह तर्क मात्र ही है। मुक्ति का अनुभव करने वाला ज्ञान आत्मा का अनुभव है, और वह अनुभव वास्तविक होना चाहिये, केवल कथन मात्र नहीं। जीव को ब्रह्म दृष्टि प्राप्त करके, उसमें आरूढ़ होकर उस दृष्टि के अनुसार व्यवहार भी करना है। यदि हमारा जीवन हमारी उच्चतम दृष्टि के अनुसार नहीं है तो हमारा ज्ञान परिपक्व ज्ञान नहीं है। केवल वाद-विवाद और जीविका के लिये जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान ऐसा नहीं है जो मोक्ष-पद को दिला सके। ज्ञानी वह है जिसका जीवन आध्यात्मिक जीवन हो। यदि जीवन को ऊँचा बनाने के लिये ज्ञान प्राप्त नहीं किया और केवल नाम, यश और जीविका आदि के लिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है, तो ऐसे ज्ञानी को योगवासिष्ठ में ज्ञानी न कहकर "ज्ञानबन्धु" कहा है। "ज्ञानी" और "ज्ञान-बन्धु" का भेद योगवासिष्ठ में इस प्रकार बतलाया है :—

(१) ज्ञानबन्धु :—

अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम्। (६/२।२१।१)
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्॥ (६/२।२१।२)
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते। (६/२।२१।३)
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते॥ (६/२।२१।४)
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः॥ (६/२।२१।५)
प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते।
अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥ (६/२।२१।६)
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधनात्॥ (६/२।२१।७)
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः॥ (६/२।२१।८)

मैं ज्ञानबन्धु से अज्ञानी को ज्यादा अच्छा समझता हूं। ज्ञानबन्धु वह है जो शास्त्रों का पठन और चर्चा शिल्पकार की नाईं भोगों को प्राप्त करने के लिये करता है, उनके अनुसार चलने के लिये नहीं; जिसके ज्ञान का उसके जीवन पर कोई प्रभाव नहीं होता; जो अन्न और वस्त्र मात्र की प्राप्ति को शास्त्र के अध्ययन का उचित फल समझता है जैसे कि शिल्प-शास्त्र का जानने वाला; और जो श्रुति में कहे हुए प्रवृत्ति मार्ग पर चलना ही अपना धर्म समझता है और ज्ञान से दूर रहता है। आत्मा का ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान है और वस्तुओं के ज्ञान तो ज्ञानाभास हैं क्योंकि उनके द्वारा सार वस्तु का ज्ञान नहीं होता। जो लोग आत्मज्ञान को न पाकर और प्रकार के ज्ञानों से सन्तुष्ट हो जाते हैं वे ज्ञानबन्धु कहलाते हैं।

(२) ज्ञानी :—

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च।
न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते॥ (६।२२।१)
ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥ (६।२२।२)
अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्यावलोक्यते।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥ (६।२२।३)
अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदाशेषा व्यवस्था शिल्पजीविका॥ (६।२२।४)
प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते॥ (६।२२।५)

जो पुरुष ज्ञान से जाने हुए ज्ञेय पदार्थ के ध्यान में इतना लग जाए कि उसको अपने मन का भी ध्यान न रहे—जिसका चित्त अचित्त हो जावे—और कर्मफल की भी चिन्ता न रहे, वह ज्ञानी है। जो जानने योग्य वस्तु को जान कर कर्म करने में वासनारहित हो जाता है, वही ज्ञानी है। जिसके मन की इच्छाएँ शान्त हो गई हैं और जिसकी शीतलता बनावटी नहीं, वास्तविक है, उसे ज्ञानी कहते हैं। जिसका ज्ञान ऐसा है जिससे पुनर्जन्म होने की सम्भावना नहीं है, वही ज्ञानी है। खाना पहनना और देना आदि क्रियाएँ तो शिल्पी की जीविका मात्र हैं। जैसा अवसर आ पड़े उसके अनुसार कामना और

संकल्प के बिना शान्त हृदय होकर जो काम करता रहता है वही ज्ञानी है।

(३) बिना अभ्यास के ज्ञान सिद्ध नहीं होता :—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥ (५।९२।२३)
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते।(६।६७।४३)
अभ्यासेन विना साधो नाभ्युदेत्यात्मभावना ॥ (६।११।१)
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ (३।२२।२४)
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसरञ्जिता ।
आनन्दस्यन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥ ३।२२।२६)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ (३।२२।२७)
नाभ्यासेन विना ज्ञाने शिवे विश्रान्तिवानसि।
अभ्यासेन तु कालेन भृशं विश्रान्तिमेष्यसि ॥ (६।१९९।१३)

सैकड़ों जन्मों में अनुभूत होने के कारण बहुत दृढ़ हुई संसार-भावना का क्षय बिना बहुत समय तक (ज्ञान का) अभ्यास और योग किये नहीं होता। किसी काम को पुनः-पुनः करने का नाम अभ्यास है। बिना अभ्यास के आत्म-भावना का उदय नहीं होता। उसी का चिन्तन करना, उसी का वर्णन करना, एक दूसरे को उसी का ज्ञान कराना, उसी एक के विचार में तत्पर रहना, (ब्रह्मज्ञान का) अभ्यास कहलाता है। जिनके भीतर वैराग्य-रस से रञ्जित, उदारता और सौन्दर्य से परिपूर्ण आनन्द का प्रसार करने वाली बुद्धि का उदय हो गया है, वे आत्मज्ञान के अभ्यासी हैं। जो युक्ति और शास्त्र की सहायता से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के अभाव का अनुभव करने का यत्न करते रहते हैं वे अभ्यासी कहलाते हैं। बिना अभ्यास कल्याणकारी ज्ञान में विश्राम नहीं प्राप्त होता। अभ्यास करते रहने से समय पाकर अवश्य शान्ति का अनुभव होगा।

(४) संसार से पार उतरने के मार्ग का नाम 'योग' है-

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ॥ (६।१३।३)

आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि ।
द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते ॥ (६।१३।४)
प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि ।
तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥ (६।१३।६)
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ॥ (६।१३।८)
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ (५।७८।८)
चित्तचित्तपरिस्पन्दपक्षयोरेकसंक्षये ।
स्वयं गुणो गुणी स्थित्वा नश्यतो द्वौ न संशयः (५।७८।७)

संसार से पार उतरने की युक्ति का नाम योग है। वह चित्त को शान्त करने वाली युक्ति दो प्रकार की है। इसका एक प्रकार है आत्मज्ञान और दूसरा है प्राण-निरोध। यद्यपि दोनों मार्गों का नाम योग है, तथापि "प्राण निरोध" के लिये ही "योग" शब्द अधिक प्रचलित है। किसी के लिये योग-मार्ग कठिन है, किसी के लिये ज्ञान-मार्ग कठिन है। मेरी राय में तो ज्ञान-निश्चय का अभ्यास ज्यादा सुगम है। चित्त को शान्त करने के दो उपाय हैं एक योग और दूसरा ज्ञान। योग का अर्थ है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना और ज्ञान का अर्थ है यथावस्थित वस्तु को जानना। चित्त और चित्त की वृत्ति (स्पन्दन) दोनों में से किसी एक का क्षय होने से दूसरे का भी क्षय हो जाता है। एक गुणी है, दूसरा उसका गुण है; एक के नष्ट होने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं है।

(५) योग की निष्ठा (प्राप्य अवस्था) :—

जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका (६।१२८।९१)
योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ॥ (६।१२८।९१)
मनस्यस्तंगते पुंसां तदन्यत्रोपलभ्यते ।
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ॥ (६।१२८।९२)

जीव की परमात्मा में उस प्रकार की स्थिति जिसका नाम तुर्या है, जो जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के बीज से रहित है, जो आनन्द और चितिका अनुभव है, और परम ज्ञान और आनन्द

है, वही योग का प्राप्य अनुभव है। उस स्थिति का अनुभव बिना उस अमृत के समुद्र में, जिसमें की सब लहरें शान्त हो गई हैं, मन के अस्त हुए, असम्भव है।

(६) तीन प्रकार का योगाभ्यास :—

> एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
> मनोविनिग्रहश्चेति योगशब्दार्थसंग्रहः ॥ (६/१।६९।२७)
> एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
> एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिध्यन्ति परस्परम् ॥ (६/१।६९।३०)
> त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनःप्रशमनं वरम् ।
> साध्यं विद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिवम् ॥ (६/१।६९।२९)

योग (संसार से पार उतरने की युक्ति) शब्द के तीन अर्थ हैं :— (१) तत्त्व का गहरा अभ्यास, (२) प्राणों का निरोध और (३) मन का निग्रह। इन तीनों—एक तत्त्व का अभ्यास, प्राण निरोध और चित्त-नाश—में से किसी एक का अभ्यास हो जाने पर तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। इन तीनों प्रयोगों में से मन को शान्त करना सबसे उत्तम है। इसके सिद्ध हो जाने पर शीघ्र ही कल्याण हो जाता है।

१—एक तत्त्व का गहरा अभ्यास :—

> एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः ।
> तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ (६/१।६९।४८)

एक तत्त्व के गहरे अभ्यास से मन सहज में शान्त हो जाता है। मन के स्वभाव में लीन हो जाने पर प्राण भी शान्त हो जाता है।

एक तत्त्व के गहरे अभ्यास करने की भी योगवासिष्ठ में तीन रीतियाँ वर्णन की गई हैं :—ब्रह्म-भावना, पदार्थों के अभाव की भावना और केवलभावना। उनका विवरण नीचे दिया जाता है।

(अ) ब्रह्म-भावना :—

> विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय ।
> मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ॥ (६/१।६९।४९)
> प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव ।
> विलीयते सह प्राणैः परमेवावशिष्यते ॥ (६/१।६९।५२)

यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम् ।
तथैवापूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ॥ (४।११।९९)
भाविता शक्तिरात्मानमात्मतां नयति क्षणात् ।
अनन्तमखिलं प्रावृड् मिहिका महती यथा ॥ (४।११।६०)

अनन्त आत्मतत्त्व का विचार करके मन को तन्मय बनाने का यत्न करना चाहिये । मन के तल्लीन होने पर वह स्थिर हो जाता है । आत्मतत्त्व (ब्रह्म) में मन को स्थिर करने से प्राणों सहित मन ऐसे लीन हो जाता है जैसे कि वह भोग्य पदार्थों का क्षीण होने पर हो जाता है । आत्मा जैसी-जैसी भावना करता है वह शीघ्र ही वैसा ही हो जाता है और वैसी ही शक्ति से पूर्ण हो जाता है । जैसे बरसाती नाले बारिश होने से बड़ी-बड़ी नदियाँ बन जाते हैं वैसे ही भावना द्वारा मन आत्मा होकर अनन्त और सब कुछ हो जाता है (अर्थात अपने आप को ब्रह्म समझते-समझते वह एक दिन ब्रह्म ही बन जाता है) ।

(आ) पदार्थों के अभाव की भावना :—

सत्यदृष्टौ प्रपञ्चायामसत्ये क्षयमागते ।
निर्विकल्पचिदच्छात्मा स आत्मा समवाप्यते ॥ (४।२१।४३)
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अत्यन्ताभावसम्बोधे यदि रूढिरलं भवेत् ॥ (३।७।२७)
तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं भवेन्नान्येन कर्मणा ।
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु ऋते नान्या शुभा गतिः ॥ (३।७।२८)
जगन्नाम्नोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्तासम्भवं विना ।
बुध्यते परमं तत्त्वं न कदाचन केनचित् ॥ (३।७।३०)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ द्रष्टृदृश्यदृशां मनः ।
एकध्याने परे रूढे निर्विकल्पसमाधिनि ॥ (३।२१।७६)
वासनाक्षयबीजेऽस्मिन्किञ्चिदङ्कुरिते हृदि ।
क्रमान्नोदयमेष्यन्ति रागद्वेषादिका दृशः ॥ (३।२१।७७)
संसारसम्भवश्चायं निर्मूलत्वमुपेष्यति ।
निर्विकल्पसमाधानं प्रतिष्ठामलमेष्यति ॥ (३।२१।७८)
अत्यन्ताभावसम्पत्ति विनाहन्ताजगत्स्थितेः ।
अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ॥ (३।२१।१२)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या व्यवस्थापयन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ (३।२२।२७)

सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यास उदाहृतः ॥ (३।२२।२८)
दृश्यासम्भवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः (३।२२।३१)

असत्य दृष्टि के क्षीण हो जाने पर और सत्य दृष्टि के दृढ़ हो जाने पर आत्मा निर्विकल्प और शुद्ध चितिका आकार धारण कर लेता है, जगत् रूपी भ्रम के, जो कि आकाश के रङ्ग की नाईं देखने मात्र को है वास्तविक नहीं है, अत्यन्त अभाव के ज्ञान के दृढ़ हो जाने पर ब्रह्म के रूप का ज्ञान होता है; अन्य प्रकार से नहीं। दृश्य जगत् के अत्यन्त अभाव की भावना के बिना दूसरी और कोई शुभ गति नहीं है। इस जगत् नाम वाले दृश्य की सत्ता को असम्भव समझे बिना कभी भी कोई परम तत्त्व को नहीं जान सकता। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सब को अत्यन्त असत् समझकर निर्विकल्प समाधि में एकतत्त्व के ध्यान में निमग्न होने पर, हृदय में वासना के क्षय के अंकुर का बीज आरोपित होने पर, क्रम से राग द्वेष आदि की उत्पत्ति नहीं होती, संसार की भावना निर्मूल हो जाती है और निर्विकल्प समाधि भी दृढ़ होने लगती है। अहंभाव और जगत् के अत्यन्त असत् होने का अभ्यास किये बिना नित्यरूप मुक्ति का अनुभव उदय ही नहीं होता। जो लोग युक्ति और शास्त्र के अध्ययन द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को अत्यन्त असत् समझने का प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्माभ्यासी कहलाते हैं। यह जगत्, मैं और सब दृश्य वस्तुयें कभी न उत्पन्न हुई हैं, और न हैं—इस प्रकार का निश्चित ज्ञान और ज्ञान का वास्तविक अभ्यास है। दृश्य के असम्भव होने के ज्ञान का ही नाम ज्ञान है। यही जानने योग्य भी है। इसके अभ्यास से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसलिये अभ्यास बड़ी चीज है।

(इ) केवलीभाव :—

यद्द्रष्टुरस्याद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद्बलात्।
तद्विद्धि केवलीभावं तत एवासतः सतः (३।४।६३)
तत्तामुपगते भावे रागद्वेषादिवासनाः।
शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा ॥ (३।४।६४)
त्रिजगत्त्वमहं चेति दृश्येऽसत्तामुपागते।
द्रष्टुः स्यात्केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः ॥ (३।४।६६)

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ॥ (३।४।१८)

दृश्य के अत्यन्त अभाव होने पर जब द्रष्टा का द्रष्टृत्व (द्रष्टापन) आप ही लय हो जाता है तब जो सत्ता शेष रहती है उसे केवलीभाव कहते हैं। जैसे हवा के रुक जाने पर उसकी क्रियायें शान्त हो जाती हैं वैसे ही उस भाव (केवलीभाव) के प्राप्त हो जाने पर राग द्वेष आदि की सभी वासनायें शान्त हो जाती हैं। तीनों जगत्, तुम, मैं और सब दृश्य शान्त हो जाने पर द्रष्टा को अपने शुद्ध आत्म स्वरूप होने का केवलीभाव अनुभव में आने लगता है। मैं, तुम, और जगत् आदि दृश्य के भ्रम के शान्त हो जाने पर और द्रष्टा के अनुभव में न आने पर केवलता का अनुभव उदय होता है।

२—प्राणों की गति का निरोध:—

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥ (६।६९।४१)
तस्मिन्संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः । (५।७८।१९)
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥ (५।७८।१६)
प्राणशक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते ।
द्रव्यच्छायानु तद्द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम् ॥ (५।१३।८३)

जैसे पंखे की गति रुक जाने पर हवा की गति रुक जाती है वैसे ही प्राणों की गति के रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है। प्राण के निरोध करने से अवश्य ही मन शान्त हो जाता है। मन के शान्त होने पर अवश्य ही यह संसार विलीन हो जाता है। प्राण की शक्ति के निरुद्ध हो जाने पर अवश्य ही हे राम! मन विलीन हो जाता है। जैसे द्रव्य की छाया की गति द्रव्य की गति के समान होती है वैसे प्राण का रूप भी मानसिक है।

(अ) प्राण और मन का सम्बन्ध चित्त का ही बनाया हुआ है :—

तेन सङ्कल्पितः प्राणः प्राणो मे गतिरित्यपि ।
न भवामि विनानेन तेन तत्परायणम् ॥ (६।१३९।२)
एवं यन्मनसाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत् ।
तेन मे जीवितं प्राणा इति प्राणे मनः स्थितम् ॥ (६।१३९।१०)

मनने ही प्राणों की कल्पना की है और इस बात की भी कल्पना की है कि प्राण उसकी गति है और प्राण के बिना उसकी स्थिति नहीं है। इस कारण से ही वह प्राण के ऊपर निर्भर रहता है। मन जिसका अभ्यास कर लेता है उसी का अनुभव करता है। मन समझता है कि प्राण उसका जीवन है, इसलिये ही प्राण में मन की स्थिति है।

(आ) प्राणविद्या :—

सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी। (६।२४।८)
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता॥ (६।२४।९)
इडा च पिङ्गला चास्य देहस्य मुनिनायक।
सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते॥ (६।२४।२०)
पद्मयुग्मत्रयं यन्त्रमस्थिमांसमयं मृदु।
ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसद्दलम्॥ (६।२४।२१)
सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना॥ (६।२४।२२)
चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत्परिवर्धते।
वाताहते लतापत्रजाले बर्हिरिवाभितः॥ (६।२४।२३)
वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन्प्रसरत्यथ॥ (६।२४।२४)
प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः।
संकेतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राकारचेष्टितैः॥ (६।२४।२५)
हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ताः प्राणशक्तयः।
ऊर्ध्वाधः प्रसृता देहे चन्द्रबिम्बादिवांशवः॥ (६।२४।२६)
यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च।
उत्पतन्ति पतन्त्याशु ता एताः प्राणशक्तयः॥ (६।२४।२७)
स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः।
अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने॥ (६।२४।२८)
काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च॥ (६।२४।२९)
बहुनात्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके।
करोति भगवान्वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिकः॥ (६।२४।३०)
तत्रोर्ध्वाधो द्विसंकेतौ प्रसृतावनिलौ मुने।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ॥ (६।२४।३१)

सहस्रविनिकृत्ताङ्गाद्बिसतन्तुलवादपि
दुर्लक्ष्या विद्यमानापि गतिः सूक्ष्मतराऽनयोः ॥ (६।२४।३७)
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः ॥ (६।२५।३)
अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥ (६।२५।४)
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते ।
प्राणस्याभ्युदयो ब्रह्मन्पद्मपत्रादृहृदि स्थितात् ॥ (६।२५।२९)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्ययं बहिः ।
अपानस्योदयो बाह्याद्द्वादशान्तान्महामुने ॥ (६।२५।३०)
अस्तङ्गतिरथाम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते ।
प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ॥ (६।२५।३१)
पदात्तस्मादपानोऽयं समेति समनन्तरम् ।
बाह्याकाशोन्मुखो प्राणो वहत्यग्निशिखा यथा ॥ (६।२५।३२)
हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् ॥ (६।२५।३३)
अपानशशिनोऽन्तस्था कला प्राणविवस्वता ॥ (६।२५।३६)
यत्र ग्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ।
प्राणार्कस्य तथाऽन्तस्था यत्रापानसितांशुना ॥ (६।२५।३७)
ग्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्नरः ।
प्राण एवार्कतां याति सबाह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ॥ (६।२५।३८)
आप्यायनकरीं पश्चाच्छक्तितामभितिष्ठति ।
प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारणीम् ॥ (६।२५।३९)
क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम् ।
अर्कतां सम्परित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः ॥ (६।२५।४०)
प्राणस्तावद्विचार्यान्तेऽदेशकाले न शोच्यते ।
हृदि चन्द्रार्कयोर्ज्ञात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ॥ (६।२५।४१)
आत्मनो निजमाधारं न भूयो जायते मनः ।
सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मि सगमागमम् ॥ (६।२५।४२)
अपानेऽस्तङ्गते प्राणः समुदेति हृदम्बुजात् ॥ (६।२५।४७)
प्राणे त्वस्तङ्गते बाह्यादपानः प्रोदितः क्षणात् ॥ (६।२५।४८)

प्राणविद्या से जीवके सब दुःखोंका नाश होता है और सब प्रकार के सौभाग्य की वृद्धि होती है। शरीर के मेरुदण्ड (पार्श्वकोष्ठ)

के मध्य में दो मिली हुई कोमल इडा और पिङ्गला नामक नाड़ियाँ स्थित हैं। अस्थि और मांस से बने हुए, ऊपर और नीचे को जाने वाली नालियों समेत, कोमल पंखड़ियों वाले कमल के फूल के जोड़ों के समान, तीन यन्त्र (शरीर के ऊपरी भाग में) स्थित हैं। इन यन्त्रों के पत्र वायु के प्रवेश से विकसित होते हैं। वायु से व्याप्त होने पर उनके पत्र धीरे-धीरे हिलते हैं। उन पत्तों के हिलने से वायु की वृद्धि होती है, जैसे वायु द्वारा लता और पत्रों के स्पन्दित होने पर बाहर चारों ओर हवा फैलती है। भीतर जब वायु का आकार बढ़ता है तो वह वायु ऊपर नीचे चारों ओर शरीर में नाड़ियों द्वारा फैलती है। हृदय में प्रविष्ट वायु शरीर में फैल कर नाना प्रकार की चेष्टायें करती हुई और विशेष स्थानों में रहती हुई प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नामों से प्रसिद्ध होती है। शरीर के भीतर हृदय में स्थित तीनों यन्त्रों में फैलती हैं जैसे चन्द्रमा से किरणें फैलती हैं। वे प्राणशक्तियाँ जाती हैं, आती हैं, आकर्षण करती हैं, हरण करती हैं, विहार करती हैं, ऊपर चढ़ती हैं, नीचे गिरती हैं। हृदयकमल में रहने वाली वायु प्राण कहलाती है; इसकी एक शक्ति तो आँखों में जाकर उनका सञ्चालन करती है; एक त्वचा में जाती है; एक नाक में; एक भोजन को पचाती है, एक जिह्वा में जाकर वाणी का सञ्चालन करती है। बहुत कहने से क्या, सारे शरीर को भगवान् प्राण इस प्रकार चलाता है जैसे कि कोई यांत्रिक (इञ्जीनियर) किसी यन्त्र को चलाता हो। शरीर के भीतर रहने वाली वायु के दो विशेष भाग हैं, एक ऊपर की ओर जाता है और दूसरा नीचे की ओर—उनके नाम हैं प्राण और अपान। कमल की नाल एक तन्तु के हजारवें हिस्से से भी सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य गति प्राण और अपान की है। देह के बाहर और भीतर ऊपरी भाग में सदागति और स्पन्दशक्ति वाला प्राण सदा रहता है। देह के बाहर और भीतर नीचे के भाग में सदागति और स्पन्दशक्ति वाला अपान सदा रहता है। प्राण और अपान की गति को जान कर और वश में करके योगी स्वस्थ रहकर सुख भोगता है। हृदय में स्थित कमलपत्र से प्राण का उदय होता है और द्वादश (१२) अङ्गुल तक बाहर आकर वह अस्त हो जाता है। अपान का १२ अङ्गुल दूरी पर उदय होकर भीतर हृदय में स्थित कमल के मध्य में अस्त होता है। जहाँ बारह

अंगुलपर बाहर प्राणका अस्त होता है वहींसे प्राणके अस्तके पीछे अपानका उदय होता है। प्राणकी गति अग्निशिखाकी नांई हृदयसे ऊपरकी ओर बाहरको है, और अपानकी गति जलकी नांई हृदय आकाशकी ओर बाहर से भीतरको नीचेकी ओर है। अपान रूपी चन्द्रमाकी कला जब और जहाँ प्राण रूपी सूर्य द्वारा ग्रस्त हो जाती है (अर्थात् जब और जहाँ अपान और प्राण एक होते हैं) उस स्थानको प्राप्त करके फिर शोक नहीं होता (अर्थात् उस समयही निस्पन्द अवस्थाका अनुभव होता है जो कि आत्माकी अवस्था है)। इसी प्रकार जब प्राणकी कलाको अपान ग्रस्त कर लेता है (अर्थात् जहाँ और जब प्राण और अपान एक हो जाते हैं और स्पन्दन नहीं होता) उस स्थानको प्राप्त करके फिर जन्म नहीं होता। भीतर और बाहर रहनेवाली वायु ही प्राण और अपान का, जो कि शरीर को पुष्ट करते हैं, रूप धारण करती है। जब बाहर (१२ अंगुल पर) प्राण तो शान्त हो जाए और अपान का उदय न हो, तब ध्यान लगाने पर शोक नहीं होता। इसी प्रकार हृदयके भीतर जब अपान शान्त हो जाए और प्राणका उदय अभी न हुआ हो, उस समय ध्यान लगाने से पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वही आत्मा का आधार है। वह ऐसा स्थान है जिसमें प्राण और अपान, उदय और अस्त, सूर्य और चन्द्रमा, दोनों का समागम होता है। हृदय में अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है और बाहर प्राण का अस्त होने पर अपान का उदय होता है। इन दोनों उदय और अस्त के बीच की अवस्था, जिसमें प्राण और अपान दोनों ही की गति का अनुभव नहीं होता, आत्मा की निजी अवस्था है। उसमें स्थित होना ही योगी का ध्येय है। उसमें तब नित्य स्थिति होती है जब कि प्राण की गति का बिलकुल निरोध हो जाए।

(इ) स्वाभाविक प्राणायामः–

> जाग्रतःस्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः ।
> प्रवर्तते यतस्तज्ज्ञ तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥ (६/१।२५।५)
> बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्बुजकोटरात् ।
> स्वरसेनास्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥ (६/१।२५।६)
> द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामधः ।
> प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥ (६/१।२५।७)

बाह्यात्परापतत्यन्तरपाने यत्नवर्जितः ।
योऽयं प्रपूरणः स्पर्शो विदुस्तमपि पूरकम् ॥ (६।२५।८)
अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥ (६।२५।९)
रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।
अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥ (६।२५।१०)
स्वभावाः सर्वकालस्थाः सम्यग्यत्नविवर्जिताः ।
ये प्रोक्ताः स्फारमतिभिस्ताञ्छृणु त्वं महामते ॥ (६।२५।११)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ताद्बाह्यादभ्युदितः प्रभो ।
यो वातस्तस्य तत्रैव स्वभावात्पूरकाद्वयः ॥ (६।२५।१२)
सदन्तरस्था निष्पन्नघटवद्या स्थितिर्बहिः ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसंमुखे ॥ (६।२५।१३)
व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ।
बाह्योन्मुखस्य वायोर्या नासिकाग्रावधिर्गतिः ॥ (६।२५।१४)
तं बाह्यपूरकं त्वाद्यं विदुर्योगविदो जनाः ।
नासाग्रादपि निर्गत्य द्वादशान्तावधिर्गतिः ॥ (६।२५।१५)
या वायोस्तं विदुर्धीरा अपरं बाह्यपूरकम् ।
बहिरस्तङ्गते प्राणे यावन्नापान उद्गतः ॥ (६।२५।१६)
तावत्पूर्णं समावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ।
यत्तत्कुम्भकत्वं स्यादपानस्योदयं विना ॥ (६।२५।१७)
तं बाह्यरेचकं चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ।
द्वादशान्ताद्यदुत्थाय रूपपीवरता परा ॥ (६।२५।१८)
अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः ।
बाह्यानान्तरांश्चैतान्कुम्भकादीननारतम् ॥ (६।२५।१९)
प्राणापानस्वभावांस्तान्बुद्ध्वा भूयो न जायते (६।२५।२०)
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ॥ (६।२५।२१)
एते निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ।
यत्करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवालमनुस्मरन् ॥ (६।२५।२२)
कुम्भकादीन्नरः स्वान्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ।
अभ्यग्रमस्मिन्व्यापारे बाह्यं परित्यजन्मनः ॥ (६।२५।२३)
दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ।
प्रकटभ्यसतः पुंसो बाह्ये विषयवृत्तिषु ॥ (६।२५।२४)

बध्नाति रतिं चेतः षण्ढो ब्राह्मणो यथा। (६।६६।२६)
अस्तङ्गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ॥ (६।२५।६०)
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते।
अपानेऽस्तङ्गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ॥ (६।२५।६१)
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते।
प्राणरेचकमालम्ब्य अपानाद्दूरकोटिगम् ॥ (६।२५।६२)
स्वच्छं कुम्भकमभ्यस्य न भूयः परितप्यते।
अपाने रेचकाधारं प्राणपूरान्तरस्थितम् ॥ (६।२५।६३)
स्वसंस्थं पूरकं दृष्ट्वा न भूयो जायते नरः।
प्राणापानावुभावन्तर्यत्रै तौ विलयं गतौ ॥ (६।२५।६४)
तदालम्ब्य पदं शान्तमात्मानं नानुतप्यते।
प्राणभक्षोन्मुखेऽपाने देशं कालं च निष्कलम् ॥ (६।२५।६५)
विचार्य बहिरन्तर्वा न भूयः परिशोच्यते।
अपानभक्षणपरे प्राणे हृदि तथा बहिः ॥ (६।२५।६६)
देशं कालं च सम्प्रेक्ष्य न भूयो जायते मनः।
यत्र प्राणो ह्यपानेन प्राणेनापान एव च ॥ (६।२५।६७)
निगीर्णौ बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्यतौ।
क्षणमस्तं गतप्राणमपानोदयवर्जितम् ॥ (६।२५।६८)
अयत्नसिद्ध बाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः।
अयत्नसिद्धो ह्यन्तस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥ (६।२५।६९)
एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धैषा परमैव चित्।
एतत्तत्तत्सदाभासमेतत्प्राप्य न शोच्यते ॥ (६।२५।७०)

जो सबसे उत्तम प्राणायाम है और जिसको ज्ञानी लोग सोते जागते करते रहते हैं उसको अपने कल्याण के लिए सुनो। हृदय कमल के कोश से (फेफड़ों से) प्राण के बाहर निकलने का नाम रेचक है। बाहर बारह अंगुल से प्राणों के भीतर के अङ्गों में लाने का नाम पूरक है। बाहर से अपान के अन्दर आजाने पर उसके द्वारा भीतर के अङ्गों को यत्न से भरने का नाम भी पूरक है। हृदय में आकर जब अपान अस्त हो जाए और वहाँ से प्राणका उदय न हो, तो वह अवस्था कुम्भक कहलाती है। योगी लोगों को उसका अनुभव होता है। रेचक कुम्भक और पूरक भी तीन प्रकार के हैं। वे स्वाभाविक हैं और सदा होते रहते हैं; उनको करने के लिये विशेष यत्न की आवश्यकता नहीं

है। बुद्धिमानों ने जिस प्रकार उनका वर्णन किया है वह सुनो। जो वायु बारह अंगुल बाहर से उदय होती है उसके वहीं पर (बाह्य) पूरक आदि प्राणायाम होते हैं। नाक से बाहर बारह अंगुलकी दूरी पर, मिट्टी में अप्रकटित घड़े की नांई, जब वायु आकाश में स्थित रहती है तो उसे बाह्य कुभंक कहते हैं। बाहर की ओर जानेवाली वायु के नाककी फुङ्गल तक जानेको योग जागनेवाले लोग प्रथम बाह्य पूरक कहते हैं;और नाक की फुङ्गल से बाहर बारह अंगुल तक प्राण के जाने को धीर लोग दूसरा बाह्य पूरक कहते हैं। प्राण के बाहर जाकर अस्त हो जाने पर जब तक कि वहाँ से अपान का उदय नहीं होता उस पूर्ण और सम अवस्था को बाह्य कुंभक कहते हैं। अपान के उदय होने से पूर्व जो उसकी अन्दरकी ओर जाने की प्रवृत्ति होने लगती है उस मुक्तिदायक प्राणायाम को बाह्य रेचक कहते हैं। बारह अङ्गुल बाहर से उठकर अपान का आकार-मय होना दूसरा पूरक कहलाता है। इन बाहरी और भीतरी प्राणों के स्वभावों, कुंभक आदि को जानकर योगी दूसरा जन्म नहीं लेता। चलते, ठहरते, सोते, जागते, इन प्राणायामों को करते रहने से स्वाभाविक चञ्चल वृत्तिवाले प्राण भी वश में आ जाते हैं। इन प्राणायामों को करता रहता हुआ पुरुष बुद्धिको इनमें लगाकर जो चाहे करे और खाये पिये, उसको कर्तृत्वका स्पर्श नहीं होता। इस अभ्यास में खूब लग कर, बाहर से मनको रोक कर, कुछ दिन में मनुष्य केवल पदको प्राप्त कर लेता है। इनका अभ्यास करने पर मनको बाहर के विषयों में आनन्द नहीं आता, जैसे ब्राह्मण को कुत्ते के मांस में (खाल में) मजा नहीं आता। जब प्राण बाहर आकर अस्त हो जाए और अपानका उदय होने को हो (हुआ न हो), उस बाह्य कुंभकका अवलम्बन करके योगी शोक से रहित हो जाता है। जब हृदय में अपान का अस्त हो जाए और प्राण का उदय न हुआ हो, उस भीतरी कुंभक का अवलंबन करके भी योगी शोक से पार हो जाता है। प्राण को निकाल कर अपान को ग्रहण न करके जो शुद्ध (बाह्य) कुम्भक होता है उसका अभ्यास करके योगी को परिताप नहीं होता। अपान को भीतर लेकर प्राण को बाहर न निकाल कर जो भीतरी कुंभक होता है उसका अभ्यास करने से मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। प्राण और अपान दोनों ही जब भीतर लीन हो जाएँ, उस अवस्था का अभ्यास करके आत्मा के शान्त हो जाने पर शोक नहीं होता। प्राण को भक्षण करने को जब

अपान उद्यत होता है उस कल्पना रहित काल का ध्यान करने से फिर शोक नहीं होता। इसी प्रकार अपान को भक्षण करने को जब प्राण उद्यत होता है उस देश और काल का ध्यान करके शोक नहीं होता। जब और जहाँ बाहर और भीतर प्राण और अपान एक दूसरे को निगल जाते हैं और क्षण भर के लिये प्राण वायु की गति रुक जाती है, प्राण और अपान दोनों का अभाव हो जाता है, उस बिना किसी यत्न किये सिद्ध अवस्था को बाहर और भीतर का कुम्भक कहते हैं; उस अवस्था में ही आत्मा के शुद्ध रूप का भान होता है। उसमें स्थिर होकर शोक नहीं होता।

(ई) प्राणों की गति को रोकने की युक्तियाँ :—

वैराग्यात्कारणाभ्यासाद्युक्तितो व्यसनक्षयात् ।
परमार्थावबोधाच्च रोध्यन्ते प्राणवायवः ॥ (५।१३।८९)

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वसंसारवृत्तिषु ॥ (५।७८।१८)

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् ।
एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।१९)

पूरकादिनिलायामाद्दृढाभ्यासादखेदजात् ।
एकान्तध्यानसंयोगात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२०)

ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२१)

रेचके नूनमभ्यस्ते प्राणे स्फारे खमागते ।
न स्पृशत्यङ्गरंध्राणि प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२२)

पूरके नूनमभ्यस्ते पूरात्गिरिघनस्थिते ।
प्राणे प्रशान्तसञ्चारे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२३)

कुम्भके कुम्भवत्कालमनन्तं परितिष्ठति ।
अभ्यासात्स्तंभिते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२४)

तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घंटिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२५)

समस्तकलनोन्मुक्ते न किञ्चिन्नाम सूक्ष्मले ।
ध्यानात्संविदि लीनायां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२६)

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे ।

संविदूदृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ (५।७८।२७)
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतने केतने बुद्धे प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ (५।७८।२१)
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण तालूर्ध्वे द्वादशान्तगे ।
प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ (५।७८।२८)
झटित्येवं यदुद्भूतं ज्ञानं तस्मिन्दृढाश्रिते ।
असंश्लिष्टविकल्पांशे प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ (५।७८।३१)
तस्मात्संविन्मये शुद्धे हृदये हृतवासने ।
बलान्नियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥ (५।७८।१८)
एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (५।७८।३९)
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ (५।७८।४६)

वैराग्य, कारणका अभ्यास, व्यसनक्षय, परमार्थका ज्ञान; शास्त्र और सज्जनोंका संपर्क; अभ्यास, संसार की वस्तुओं में आस्था का त्याग, ध्यान द्वारा प्राप्त एकता का अनुभव; एक तत्त्वका गूढ़ अभ्यास; पूरक आदि प्राणायामों का अभ्यास, एकान्त में बैठकर ध्यान लगाना; ओंकार के उच्चारण द्वारा शब्द तत्त्व की भावना, सुषुप्त अवस्था में संवित् को ले जाना, रेचक का अभ्यास, प्राण को शान्त करने का अभ्यास, पूरक के अभ्यास द्वारा प्राण को शान्त करने का अभ्यास, तालू के मूल में स्थित घंटी को जिह्वा से दबाकर प्राण को ऊर्ध्वरन्ध्र में लेजाना, सब कल्पनाओं को शून्याकार आत्मा में लीन करके ध्यान लगाना, नाक की फुङ्गल से बारह अङ्गुल बाहर ध्यान लगाकर संवित् को लीन करना, भ्रुओं के मध्य में स्थित तारे का ध्यान लगाकर चेतन आत्मा में स्थिति प्राप्तकरना, अभ्यास द्वारा प्राण को ऊर्ध्वरन्ध्र द्वारा तालू से बारह अङ्गुल पर लेजाकर शान्त करना; अकस्मात् ही जो आत्मज्ञान उदय हो जाए उसमें दृढ़ता से स्थित होकर कल्पनाओं को लीन करना; चित्तको बलपूर्वक शुद्ध वासना रहित संवित्-मय आत्मा में लगाना आदि अनेक विधिओं द्वारा, जिनका अनेक गुरुओं ने उपदेश दिया है, प्राण की गति का निरोध हो जाता है। अभ्यास द्वारा प्राणों की गति के रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और निर्वाण ही शेष रह जाता है।

१—मनका लय :—

(अ) मन संसार-चक्रकी नाभि है :—

चित्तं नाभिः किलास्येह मायाचक्रस्य सर्वतः।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित्प्रबाधते॥ (५।४९।४०)

तस्मिन्द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः।
गृहीतनाभिवद्यानान्मायाचक्रं निरुद्ध्यते॥ (५।५०।७)

इदं संसारचक्रं हि नाभौ सङ्कल्पमात्रके। (६।१।२९।५)
संरोधितायां यत्नाद्रघुनन्दन रुद्ध्यते॥ (६।१।२९।६)

परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः। (६।१।२९।७)
नाभिं संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत्॥ (६।१।२९।८)

मनोनिष्ठतया विश्वमिदं परिणतिं गतम्। (५।२४।१४)
तस्मिञ्जिते जितं सर्वं सर्वमासादितं भवेत्॥ (५।२४।१५)

चित्तसत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चित्तकम्।
एकाभावाद्द्वयोर्नाशः स च सत्यविचारणात्॥ (४।१७।१९)

चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा।
चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम्॥ (५।५०।१४)

शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति।
तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः॥ (६।१।६९।४४)

चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः।
शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम्॥ (६।१।९३।४४)

अस्याश्रितं विदुः क्षेत्रं संसृतेः सस्यसन्ततेः।
क्षेत्रे त्वक्षेत्रतां याते शालेः क इव सम्भवः॥ (६।१।९३।४५)

चित्तमेव विचित्रेहं भावाभावविलासिना।
विवर्ततेऽर्थभावेन जलमूर्मितया यथा॥ (६।१।९३।४६)

चित्तोत्सादनरूपेण सर्वत्यागेन भूपते।
सर्वमासाद्यते सम्यक्साम्राज्येनेव सर्वदा॥ (६।१।९३।४७)

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः॥ (४।३५।२)

मनोविलयमात्रेण दुःखशान्तिरवाप्यते। (३।११२।१९)
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (३।१११।१५)

स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः॥ (३।१११।१२)

इस मायाचक्रकी नाभि मन है। यदि इसको ज़ोर से पकड़ कर स्थिर कर दिया जाये तो फिर संसार दुःख नहीं देता। मनको बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा बस में कर लेने पर यह माया-चक्र संसार ऐसे बस में आ जाता है जैसे कि नाभि के पकड़ने से पहिया। संकल्प नामक मनको रोकने से संसार की गति ऐसे रुक जाती है जैसे कि नाभि के रोक लेने पर पहिये की गति। परम पुरुषार्थ का आश्रय ले कर बल, प्रज्ञा और युक्ति द्वारा संसार-चक्र की नाभि, मनको रोकना चाहिये। यह संसार मन के सहारे पर ही चल रहा है, मन के जीत लेने पर सब कुछ जीता जाता है। चित्त की सत्ता से जगत् की सत्ता है, जगत् की सत्ता चित्त की सत्ता है; एक के अभाव होने पर दोनों ही का अभाव हो जाता है; और वह होता है सत्य के विचार से। चित्त के भीतर संसार इस प्रकार है जैसे कि घड़े के भीतर घटाकाश; चित्त के नाश होने पर संसार इस प्रकार नहीं रहता जैसे कि घड़े के नाश होने पर घटाकाश नहीं रहता। वायु का चलना बन्द हो जाने पर जैसे गन्ध का आना बन्द हो जाता है वैसे ही मन के स्पन्दन (गति) के शान्त हो जाने पर प्राणों की गति भी रुक जाती है। चित्त के त्यागे जाने और लीन होने पर, द्वैत और ऐक्य सब प्रकार से लीन हो जाते हैं; केवल एक शान्त और अविकार परम तत्त्व ही शेष रहता है। इस संसार रूपी खेती के खेत को चित्त कहते हैं। जब खेत ही न रहेगा तो खेती के पैदा होने की सम्भावना कहाँ है? जैसे जल ही तरङ्ग के रूप में प्रकट होता है वैसे ही चित्त भाव और अभाव वाली वस्तुओं के रूपमें परिणत होता है। जैसे साम्राज्य के प्राप्त होने पर सब सम्पत्तियों की प्राप्ति हो जाती है वैसे ही चित्त नाश रूपी सर्वत्याग से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इस सब उपद्रवों के पैदा करनेवाले संसाररूपी दुःखसे छूटने का एक ही उपाय है। वह है अपने मन का निग्रह। मन के विलीन होने मात्र से दुःखों की शान्ति हो जाती है और सर्वगत, शान्त ब्रह्म का अनुभव होने लगता है। अपने ही पुरुषार्थ से सिद्ध होनेवाले, इच्छित वस्तुओं के त्याग स्वरूप मनके प्रशम बिना शुभ गति की प्राप्ति नहीं होती।

(आ) मन कैसे स्थूल होता है :—

अन्यात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयानया।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।१७)

अहङ्कारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।५८)
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।
दोषाशीविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।५९)
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः ।
हेयादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।५०।६०)
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।६१)
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥ (६।६०।६२)
आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।
भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।६३)

अनात्म में आत्मभाव से, देह में विश्वास से, स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब से, अहङ्कार के विकार से, ममता के मलसे, "यह मेरा है" इस भाव से, व्यर्थ वृद्धिको प्राप्त होने वाले दोषों के कोश, जरा और मरण आदि देने वाले दुःखों से, उपादेय (प्राप्त करने योग्य) और हेय (त्यागने योग्य) को प्राप्त करने और त्यागने में प्रयत्न करने से, आधि और व्याधियों को प्राप्त कराने वाली संसार की आशाओं से, स्नेह से, धन के लोभ से, दूर से सुन्दर दिखाई देनेवाली मणि और स्त्रियों की प्राप्ति से चित्त स्थूल होता है। दुराशा रूपी दूध के पीने से, भोग रूपी वायु के बल से, आस्था रूपी चारे से चित्त रूपी सर्प मोटा होता है। उत्पत्ति और नाश वाले शरीर से विष के समान दुःखदायी भोगों के अधिक भोगने से चित्त स्थूल होता है।

(इ) मन किस प्रकार नष्ट हो जाता है :—

संयोजितं परे चित्तं शुद्धं निर्वासनं भवेत् ।
ततस्तु कल्पनाशून्यमात्मतां याति राघव ॥ (३।९८।२)
मन एव विचारेण मन्ये विलयमेष्यति ।
मनोविलयमात्रेण ततः श्रेयो भविष्यति ॥ (३।९७।१०)
मनोनाम्नि परिक्षीणे कर्मण्याहितसंभ्रमे ।
मुक्त इत्युच्यते जन्तुः पुनर्नाम न जायते ॥ (३।९७।११)
प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेह हि नेतरत् ।
जलसामान्यकुहीनामब्धेर्नान्यस्तरङ्गकः ॥ (३।१००।२)

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात्।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥ (५।९५।२)

परम ब्रह्म में चित्त को लगाने से चित्त वासनारहित और शुद्ध हो जाता है। शुद्ध और वासनारहित होने पर वह कल्पनाशून्य होकर आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है। विचार द्वारा मन विलीन हो जाता है; और मन के लय हो जाने पर ही कल्याण होता है। मन नाम वाले उस कर्म के क्षीण होने पर जिसने कि इस भ्रम को रच रक्खा है, प्राणी जीवन्मुक्त हो जाता है; फिर उसका दूसरा जन्म नहीं होता। ज्ञानियों का मन ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं; जैसे जलमात्र पर दृष्टि रखने वालों के लिये समुद्र ही समुद्र है, तरङ्ग कोई वस्तु नहीं है। अभाव की अत्यन्त भावना द्वारा जब चित्त क्षीण हो जाता है तो सामान्य रूप वाली चितिका जो कि सत्ता सामान्य है, अनुभव होता है।

(ई) मनके निरोध करने की युक्तियां :—

अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम्। (५।९२।३५)
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥ (५।९२।३४)
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान्हठान्विदुः।
भयाद्भयमुपायान्ति क्लेशात्क्लेशं व्रजन्ति ते ॥ (५।९२।४०)
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्। (५।९२।३८)
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ (५।९२।३९)
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥ (५।९२।३६)
स्वसंविद्यत्नसंरोधाद्यथा चेतः प्रशाम्यति।
न तथाङ्ग तपस्तीर्थविद्यायज्ञक्रियागणैः ॥ (६।१६३।८)
स्वेनैव पौरुषेणाशु स्वसंवेदनरूपिणा।
यत्नेन चित्तवेतालस्त्यक्त्वेष्टं वस्तु जायते ॥ (३।१११।२)
विवेकैकानुसंधानाच्चिदंशात्मतया मनः।
चिदेकतामुपायाति दृढाभ्यासवशादिह ॥ (३।११२।१९)
त्यजन्नभिमतं वस्तु यस्तिष्ठति निरामयः।
जितमेव मनस्तेन कुदन्त इव दन्तिना ॥ (३।१११।३)

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या राम सोच्यते।
वासनापद्मनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥ (३।११२।११)
या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा।
तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥ (३।११२।२२)
विषयान्प्रति भोः पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा।
अनास्था परमा ह्येषा सा युक्तिर्मनसो जये ॥ (५।२४।६७)
ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः।
प्राणस्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥ (६।६९।३१)
ज्ञानात्सर्वपदार्थानामसत्त्वं समुदेत्यलम् ।
ततोऽङ्ग वासनानाशाद्वियोगः प्राणचेतसोः ॥ (६।६९।३६)
राघवस्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामिति रूपधृक्।
चित्तदुद्रुमबीजस्य दहने दहनः स्मृतः ॥ (६।९४।२९)
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात्।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ॥ (६।८७।२९)

जैसे मतवाला दुष्ट हाथी बिना अंकुश के नहीं जीता जा सकता वैसे ही मन भी बिना ठीक युक्ति के नहीं जीता जा सकता। जो उचित युक्ति को छोड़ कर मन को जीतने का उपाय करते हैं वे हठी हैं; उनको एक भयके पीछे दूसरा भय और एक दुःख के बाद दूसरा दुःख होता रहता है। जो (बिना युक्ति के) बलपूर्वक चित्तको जीतने का प्रयत्न करते हैं वे मूर्ख उस व्यक्ति के समान हैं जो कि उन्मत्त हाथी को कमल के तन्तुओं से बाँधना चाहता है। चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की निश्चित युक्तियाँ हैं—अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का सत्सङ्ग, वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध। अपने ही ज्ञान और पुरुषार्थ द्वारा चित्त जितनी अच्छी तरह शान्त हो जाता है वैसा न तप से, न तीर्थ से, न विद्या से, न यज्ञ से, और न किसी विशेष अनुष्ठान से हो सकता है। अपने ही ज्ञानरूपी पुरुषार्थ से इच्छित वस्तुओं के त्याग से चित्तरूपी वेतालपर विजय प्राप्त होती है। विवेक द्वारा इस बात का निश्चय कर लेने पर कि मन आत्मा (चिति) का ही अंश है और दृढ़ अभ्यास के द्वारा मन आत्मा (चिति) के साथ एकता का अनुभव करता है। इच्छित वस्तु का त्याग कर के जो विकार रहित स्थित हो जाता है वह मनको इस प्रकार जीत लेता है जैसे हाथी को अंकुश। मनकी वासना नामवाली चञ्चलता जो अविद्या है उसको

विचार द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। जो जो दूसरी वस्तुओं के प्रति वासना मनमें उठे, उस उसको त्यागने से अविद्या क्षीण हो जाती है। मन के जीतने की एक युक्ति यह है कि सब विषयों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए। ज्ञान द्वारा वासना रहित हो जाने पर मन का नाश हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी रुक जाता है; केवल शान्ति ही शेष रहती है। ज्ञानसे सब पदार्थों की असत्यता का निश्चय हो जाता है; उससे वासनाओं का क्षय होता है और प्राण और मनका वियोग हो जाता है। "मैं कौन हूँ और क्या हो सकता हूँ" इस प्रकार का आत्मविचार वह आग है जिससे चित्तरूपी बुरे वृक्ष का बीज जलाया जा सकता है। "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस प्रकार की भावनासे जिसका अज्ञान क्षीण हो गया है उस ज्ञानी के मन में वासना का इस प्रकार उदय नहीं होता जैसे कि मरुस्थल में बादल नहीं उठता।

यहाँ पर योगवासिष्ठ में जहाँ तहाँ वर्णन की हुई मन के निरोध करने की अनेक युक्तियों का संग्रह और विस्तार के साथ वर्णन किया जाता है :—

१—ज्ञानयुक्ति :-

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।
सुकरोऽहंकृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ॥ (६।१११।३१)
यथैतदेवं तनय तथा शृणु वदामि ते ।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति ॥ (६।१११।३२)
यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याप्यहंकृतिः ॥ (६।१११।३४)
मननं कृत्रिमं रूपं ममैतन्न यतोऽस्म्यहम् ।
इति तत्त्यागतः शान्तं चेतो ब्रह्म सनातनम् ॥ (४।११।२७)

अहंकार (मन) का त्याग करने में जरा भी क्लेश नहीं होता; वह तो फूल को कुचल देने और आँखों के मीचने से भी सहल है। यह कैसे होता है? सुनो मैं बताता हूँ—जो वस्तु अज्ञान के कारण सत्य प्रतीत होती हो वह अवश्य ही ज्ञान से नष्ट हो जाती है। अहंकार वैसे ही मिथ्या है जैसे और मिथ्या ज्ञान। मन मेरा असली स्वरूप नहीं है, बनावटी (झूठा) रूप है। इसलिये मैं मन नहीं हूँ—इस प्रकार मनको त्याग देने पर मन शान्त और सनातन ब्रह्म हो जाता है।

२—संकल्पोंका उच्छेदन :—

सङ्कल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता । (६।१।२७)
अचित्तत्वमसङ्कल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते ॥ (५।१३।८०)
सङ्कल्पमात्रमेवेदं जगन्मिथ्यात्वमुत्थितम् ।
असंकल्पनमात्रेण ब्रह्मन्क्वापि विलीयते ॥ (६।३३।४२)
उपशान्ते हि सङ्कल्पे उपशान्तमिदं भवेत् ।
संसारदुःखमखिलं मूलादपि महामते ॥ (४।५४।१९)
संकल्पेनैव संकल्पं मनसा स्वमनो मुने ।
छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥ (४।५४।१८)
भावनाभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम् ।
संकल्पनाशयत्नेन न भयान्यनुगच्छति ॥ (४।५४।१३)
संकल्पो येन हन्तव्यस्तेन भावविपर्ययात् ।
अप्यर्धेन निमेषेण लीलयैव निहन्यते ॥ (४।५४।१६)
अहंभावनमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोऽर्थभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥ (६।१।३)

संकल्प ही मनका बन्धन है, उसका अभाव ही मुक्तता है। संकल्प रहित होने से मनुष्य चित्त रहित हो जाता है, और चित्त रहित होने से मोक्ष का अनुभव होने लगता है। संकल्प द्वारा ही जगत्का मिथ्या अनुभव उत्पन्न हुआ है और संकल्प के क्षीण होने पर यह कहीं लीन हो जाता है। संकल्प के शान्त हो जाने पर संसार का सारा दुःख जड़ से नष्ट हो जाता है। संकल्प को निर्मूल करना कठिन नहीं है; अपने संकल्प द्वारा संकल्प को, अपने मन द्वारा मन को काट कर आत्मा में स्थित हो जाओ। भावना के अभाव मात्र से संकल्प अपने आप ही क्षीण हो जाता है। संकल्प-नाश के यत्न से मनुष्य किसी प्रकार के भय को प्राप्त नहीं होता। भावविपर्यय (भाव अभाव समझने) से आधे निमेषमें ही लीला मात्र से संकल्प को नष्ट करने की इच्छा करने वाला संकल्प का नाश कर सकता है। अपने अहंभावका आरोपण करना ही संकल्प है और अहंभाव को शून्य करनेका यत्न ही संकल्प-त्याग कहलाता है।

३—भोगों से विरक्ति :—

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते । (४।३५।३)
यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ॥ (३।६१।३९)

किमन्यैः शास्त्रसन्दर्भैः क्रियतामिदमेव तु ।
यद्यत्स्वादिह तत्सर्वं दृश्यतां विषवह्निवत् ॥ (४।३५।४)
जाता चेदरतिर्जन्तोः भोगान्प्रति मनागपि ।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ॥ (३।६१।३४)
न भोगेष्वरतिर्यावज्जायते भवनाशनी । (५।२४।३७)
न परा निवृ तिस्तावत्प्राप्यते जयदायिनी ॥ (५।२४।३८)
तावद्भ्रमन्ति दुःखेषु संसारावटवासिनः ।
विरतिं विषयेष्वेते यावन्नायान्ति देहिनः ॥ (५।२४।२२)
आत्मावलोकनेनैषा विषयारतिरुत्तमा ।
हृदये स्थितिमायाति श्रीरिवाम्भोजकोटरे ॥ (५।२४।४३)
परदृष्टौ वितृष्णत्वं तृष्णाभावे च दृक्परा ।
एते मिथः स्थिते दृष्टी तेजोदीपदृशे यथा ॥ (५।२४।५३)
विचारो भोगगर्हासो विचाराद्भोगगर्हणम् । (५।२४।६२)
परं पौरुषमाश्रित्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥ (५।२४।३७)
क्रमादभ्यस्यमानैषा विषयारतिरात्मजा ।
सर्वतः स्फुटतामेति सेकसिक्ता लता यथा ॥ (५।२४।२०)
पुरुषार्थादृते पुत्र नेह सम्प्राप्यते शुभम् । (५।२४।२५)
प्राप्यते [illegible] काङ्क्षतापि [illegible]आत्मना ॥ (५।२४।२१)

भोगों की इच्छा होना ही बन्धन है, और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। जिस जिस वस्तु से विरक्ति हो जाती है उसी उसी वस्तु से मुक्ति मिल जाती है। और शास्त्रोक्त साधनों से क्या प्रयोजन है, केवल इतना करना ही काफ़ी है कि जो जो वस्तुएँ स्वाद देने वाली हैं उन सबको विष और अग्नि के समान भयंकर समझे। यदि प्राणी के हृदय में भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न जाए तो तुरन्त ही उच्च पद की प्राप्ति हो जाती है—ऐसा श्रुति कहती है। जब तक संसार को नाश करने वाली भोगों के प्रति विरक्ति मनमें उदय नहीं होती तब तक विजय प्राप्त कराने वाली परम निवृत्ति की प्राप्ति नहीं होती। संसार रूपी गड्ढे में पड़े हुये प्राणी तभी तक भ्रमते रहते हैं जब तक कि विषयों के प्रति विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। विषयों से विरक्ति की उत्पत्ति आत्म-चिन्तन से हृदय में उत्पन्न हो कर कमल के फूल की शोभा की नाईं प्रकाश पाती है। जैसे दीपक और उसका प्रकाश एक दूसरे से सम्बद्ध है वैसे ही परा दृष्टि

प्राप्त हो जाने पर तृष्णा का क्षय होता है और तृष्णा के क्षय हो जाने पर परा दृष्टि की प्राप्ति होती है। भोगों की घृणा से विचार उत्पन्न होता है और विचार से भोगों के प्रति घृणा होती है। परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर भोगों के प्रति विरक्ति को उत्पन्न करो। जैसे पानी से सींचने से शनैः शनैः लता की वृद्धि होती है वैसे ही विषयों की विरक्ति धीरे-धीरे अभ्यास करने से सिद्ध होती है। हे पुत्र! बिना पुरुषार्थ के यहाँ पर कुछ भी प्राप्त नहीं होता, बिना अभ्यास किये मूर्ख किसी सिद्धिको भी प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे वह उसे कितना ही क्यों न चाहे।

४—इन्द्रियों का निग्रह :—

विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते।
वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते॥ (६।१६३।१९)
मनो यदनुसंधत्ते तत्सर्वेन्द्रियवृत्तयः।
क्षणात्संपादयन्त्येता राजाज्ञामिव मन्त्रिणः॥ (३।११४।४७)
तस्मान्मनोनुसंधानं भावेषु न करोति यः।
अन्तश्चेतनयत्नेन स शान्तिमधिगच्छति॥ (३।११४।४८)
परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया।
भोगाशाभावनां चित्तात्समूलामलमुद्धरेत्॥ (३।११४।५१)
चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः॥ (६।१६३।६)

जो विवेकवाला और उदार-आत्मा है उसे जितेन्द्रिय कहते हैं—वह संसार समुद्र में वासना रूपी लहरों के बीच में पड़कर नहीं घबराता। जैसे राजा की आज्ञा का मंत्री लोग पालन करते हैं वैसे ही जो मन का निश्चय होता है उसीको इन्द्रियों की वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं। इसलिये जो संसार के विषयों में मन को नहीं लगाते और अपने भीतर विवेक प्राप्ति का यत्न करते रहते हैं वे शान्ति का अनुभव करते हैं। परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर बुद्धिपूर्वक यत्न करके भोगों की आशा को चित्त से समूल नष्ट कर देना चाहिये। चित्त इन्द्रियों की सेना का नायक है। उसके जीतने से सब ओर जीत होती है, जैसे कि जूता पहनने वाले के लिये सारी पृथ्वी चमड़े से ढक जाती है।

५—वासनाओं का त्याग :—

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥ (?।९४।९)
यथा स्वप्नपरिज्ञानात्स्वप्नदेहो न वास्तवः ।
अनुभूयोऽप्ययं तद्वद्वासनातानवादसत् ॥ (३।२२।१)
प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥ (३।२२।८)
सर्वेषणानां संशान्तौ शुद्धचित्तस्य या स्थितिः ।
तत्सत्यमुच्यते सैषा विमला चिदुदाहृता ॥ (४।१७।३)
इदमस्तु ममेत्यन्तर्येषा राघव भावना ।
तां तृष्णां शृङ्खलां विद्धि कलानां च महामते ॥ (६।१७।७)
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ।
संत्यज्य परमोदारः परमेति महामनाः ॥ (६।१७।८)
बन्धाशामथ मोक्षाशां सुखदुःखदशामपि ।
त्यक्त्वा सदसदाशां च तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥ (६।१७।९)

महाराज ! वासना को ही चित्त का स्वरूप जानो। वासना और चित्त दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे "यह स्वप्न" है इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर स्वप्न का शरीर असत्य मालूम पड़ने लगता है वैसे ही वासनाओं के क्षीण हो जाने पर अनुभव में आने वाला संसार भी असत् ही दिखाई पड़ने लगता है। वासना के क्षीण हो जाने पर जो जीवन की स्थिति होती है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं; उसका ज्ञान उनको नहीं हो सकता जो मुक्त नहीं हैं। सब इच्छाओं को त्याग देने पर शुद्ध चित्त की जो स्थिति है वह मलरहित चिति है। उसीको सत्य कहते हैं। हे राम ! "यह वस्तु मेरी हो जाए" इस प्रकार की अपने भीतर की भावना को तृष्णा कहते हैं यही सबसे बड़ी जंजीर है। सब सत् और असत् पदार्थों के प्रति इस प्रकार की वासना का पूर्णतया और सदा के लिये त्याग करके महामना और उदारात्मा पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेता है। बन्ध और मोक्ष, सुख और दुःख, सत् और असत्—सब की आशा का त्याग करके क्षोभ रहित समुद्र की नांई स्थिर हो जाओ।

(अ) तृष्णा की बुराई :—

जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका ।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥ (१।१७।३९)
हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया ।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपंक्तयः ॥ (१।१७।१)
हृष्टदैन्यो हतस्वान्तो हतौजा याति नीचताम् ।
मुह्यते रौति पतति तृष्णयाभिहतो जनः ॥ (५।१९।१०)
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥ (६।९३।७६)

तृष्णा जरा (बुढ़ापा) और मरण के दुःखों की पिटारी है और आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग) को देने वाली है। अपार तृष्णा द्वारा हृदय में अज्ञान की अन्धेरी रात्रि के छा जाने पर ही चेतन (आत्मा) आकाश में दोषरूपी उल्लुओं की पंक्तियाँ उड़ने लगती हैं। तृष्णा से मारा हुआ व्यक्ति दीन हो जाता है, अपने भीतर का बल खो देता है, अपना तेज खो देता है, दुर्गति को प्राप्त होता है, मोह में पड़ता है, चिल्लाता है और पतन को प्राप्त होता है। बुढ़ापा आने पर दाँत गिरने लगते हैं, बाल सुफ़ेद हो जाते हैं, सब कुछ जीर्ण और क्षीण हो जाता है; तो भी तृष्णा क्षीण नहीं होती।

(आ) इस संसार में न कुछ प्राप्त करने योग्य है और न कुछ त्यागने योग्य है।

मनःप्रकल्पिते भग्ने हृदि विस्तीर्णवत्मने ।
वृद्धिं चोपगते ब्रूहि किं ग्राह्यं कस्य किं कथम् ॥ (४।४९।३९)
सर्वत्रासत्यभूतेऽस्मिन्प्रपञ्चैकान्तकारिणि ।
संसारे किमुपादेयं प्राज्ञो यदभिवाञ्छतु ॥ (४।४९।४२)
सर्वत्र सत्यभूतेऽस्मिन्नथवा तत्त्वमयेऽपि च ।
किं स्यात्त्रिभुवने हेयं प्राज्ञाः परिहरन्तु यत् ॥ (४।४९।४३)
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनीचञ्चलाः ॥
लोलं यौवनलालनं जलरयः कायः क्षणाध्वंसवान् ।
पुत्र ब्रह्मसुखेन संसृतिभवाभावोऽयमन्विष्यताम् ॥ (६।१३६।३३)

मन द्वारा कल्पित, हृदय में विस्तृत इस टूटे फूटे संसार नगर में किसी प्रकार की वृद्धि होने पर क्या किसका बढ़ता और क्या किसका घटता है ? इस सब प्रकार से झूठे ऐन्द्रजालिक संसार में ऐसी कौन सी प्राप्य वस्तु है जिसकी ज्ञानी आदमी इच्छा करे ? इस ब्रह्मतत्त्वमय सर्वत्र सत्यमय संसार में ऐसी कौनसी त्याज्य वस्तु है जिसको विद्वान् त्यागे ? आयु इतनी क्षणभङ्गुर (क्षणिक) है जितना कि वायु द्वारा उड़ाकर लाया हुआ शरत् ऋतु का बादल का टुकड़ा, भोग ऐसे चञ्चल हैं जैसी कि मेघों में चमकती हुई बिजली । यौवन और सौन्दर्य जल के बहाव की नांई तेजी से जाने वाले हैं; शरीर क्षण में नष्ट होनेवाला है; इसलिये हे पुत्र इन सबसे विरक्त होकर निर्वाण को प्राप्त करने का प्रयत्न करो ।

(इ) वासना त्याग के दो प्रकार :-

सर्वत्र वासनात्यागो राम राजीवलोचन ।
द्विविधः कथ्यते तज्ज्ञैर्ज्ञेयो ध्येयश्च मानद ॥ (५।१६।६)
द्वावेव राघव त्यागौ समौ मुक्तपदे स्थितौ ।
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेव विगतज्वरौ ॥ (५।१६।१५)

हे सबको मान देने वाले राम, ज्ञानियों ने वासना-त्याग दो प्रकार का बतलाया है— एक ध्येय और दूसरा ज्ञेय । दोनों प्रकार के त्याग समान हैं और मुक्ति अवस्था में स्थिति रखने वाले, ब्रह्म रूप को प्राप्त और क्लेशों से बरी (मुक्त) हैं ।

(१) ध्येय त्याग का स्वरूप :—

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाहमेभिर्विना किञ्चिन्न मयैते विना किल ॥ (५।१६।७)
इत्यन्तर्निश्चयं कृत्वा विचार्य मनसा सह ।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥ (५।१६।८)
अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वत्या लीलया क्रियाम् ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो राम स कीर्तितः ॥ (५।१६।९)
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ (५।१६।११)

मैं इन सब वस्तुओं का और ये सब मेरा जीवन हैं—मैं इनके बिना और ये मेरे बिना नहीं रह सकते—इस निश्चय को अपने भीतर दृढ़

करके और मनसे अच्छी तरह विचार कर और यह धारणा करके कि न ये वस्तुएँ मेरी हैं और न मैं इनका, शान्त बुद्धिसे जो वासना का त्याग किया जाता है उसे वासना का ध्येय त्याग कहते हैं। जो लीला से अपनी अहंकारमयी वासना का त्याग करके जीता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

(२) ज्ञेय त्याग :—

सर्वं समतया बुद्ध्वा यं कृत्वा वासनाक्षयम्।
जहाति निर्ममो देहं ज्ञेयोऽसौ वासनाक्षयः॥ (५।१६।१०)
निर्मूलकलनां त्यक्त्वा वासनां यः समं गतः।
ज्ञेयस्त्यागमयं विद्धि मुक्तं तं रघुनन्दन॥ (५।१६।१२)

सम बुद्धिसे जो सब वासनाओं का क्षय करके और ममता रहित होकर शरीर का त्याग कर देता है उसका वासना त्याग ज्ञेय त्याग कहलाता है। जो कल्पारहित वासना का त्याग करके शान्ति को प्राप्त कर चुका है उस मुक्त पुरुष के त्याग को ज्ञेय त्याग कहते हैं।

(३) वासना को त्याग करने की तरकीब :—

बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज॥ (४।५७।१९)
तामसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणामलवासनाम्॥ (४।५७।२०)
तामप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि।
अन्तःशान्तसमस्तेहो भव चिन्मात्रवासनः॥ (४।५७।२१)
तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम्।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज॥ (४।५७,२२)
चिन्मयः कलनाकालप्रकाशतिमिरादिकम्।
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम्॥ (४।५७।२३)
समूलमपि संत्यक्त्वा व्योमसौम्यप्रशान्तधीः।
यस्त्वं भवसि सद्बुद्धे स भवानस्तु सत्कृतः॥ (४।५७।२४)
हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः॥ (४।५७।२५)
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः॥ (४।५७।२६)

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थो न तस्यार्थोऽस्ति कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥ (४।९७।२७)
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात् ।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ॥ (१।८७।२९)
परमार्थावबोधेन समूलं राम वासना ।
दीपेनेवान्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च ॥ (९।७४।२१)

वासना से बँधा हुआ मनुष्य बद्ध (बन्धन में) है। वासना क्षीण होने से मोक्ष होता है। (सांसारिक) वासनाओं को त्याग करके मोक्ष की वासना भी त्याग दो। विषयों के सम्बन्ध की तामसी वासनाओं का त्याग करके मैत्री आदि शुभ वासनाओं को धारण करना चाहिये। इनके अनुसार व्यवहार करते हुए, इनको भी त्याग कर, अपने अन्दर सब वासनाओं से रहित होकर चिन्मात्र आत्मा की वासना का आश्रय लो। मन और बुद्धि से संयुक्त उस चिन्मात्र की वासना को भी त्याग करके जो कुछ शेष रहे उसमें स्थिर हो जाओ। जिस वासना के द्वारा दूसरी वासनाओं का त्याग करो उसको त्याग दो। वासना को, वासना करने वाले को, कलना, काल, तिमिर (अन्धेरा) आदि और प्राण-स्पन्दन—इन सबको जड़ सहित उखाड़ कर सौम्य आकाश की नांई शान्त होकर जो रहता है वही हो जाओ। जो व्यक्ति अपने चित्त से सब वस्तुओं का त्याग करके व्यथा से रहित हो जाता है, वही मुक्त और परम ईश्वर है। समाधि लगाए या न लगाए, कर्म करे या न करे, जो अपने हृदय से सब आस्थाओं को त्याग देता है वही महाशय मुक्त है। जिसका मन वासना रहित हो गया है उसे न कर्म त्यागने की आवश्यकता है और न कर्म करने की, न समाधि की जरूरत है और न जप की। जैसे मरुभूमि से बादल नहीं उठ सकता वैसे ही उस पुरुष के हृदय में वासना नहीं उदय होती जिसका अज्ञान "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस भावना से दूर हो गया है। परमार्थ के भली भाँति जान लेने पर वासना इस प्रकार समूल नष्ट हो जाती है जैसे कि दीपक के आने पर अंधेरा; और ज्ञान का प्रकाश उदय हो जाता है।

६—अहंकार का त्याग :—

अहंकाराम्बुदे क्षीणे चिद्व्योम्नि विमले तते ।
नूनं सम्प्रौढतामेति स्वालोको भास्करः परः ॥ (९।१३।१७)

चिज्ज्योत्स्ना यावदेवान्तरहंकारघनावृता ।
विकासयति नो तावत्परमार्थकुमुद्वतीम् ॥ (४।३३।२८)

अहंबीजश्चित्तद्रुमः सशालाफलपल्लवः ।
उन्मूलय समूलं तमाकाशहृदयो भव ॥ (६।९४।१३)

अहंत्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ (६।२६।२९)

भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अहंभावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ (६।१९।२)

ईदृशोऽयं जगद्वृक्षो जायतेऽहंत्वबीजतः ।
बीजे ज्ञानाग्निनिर्दग्धे नैव किञ्चन जायते ॥ (६।८।२)

अहङ्काररूपी बादल के विलीन हो जाने पर चितिरूपी आकाश के निर्मल हो जाने से आत्मज्ञानरूपी सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश होता है। चितिरूपी चाँदनी जब तक अहङ्काररूपी बादल में छिपी रहती है, तब तक परमार्थरूपी कुमुद नहीं खिलने पाता। चित्तरूपी शाखा, पत्ते और फलवाले वृक्ष के अहंभावरूपी बीज को जड़ से उखाड़ कर शून्य-हृदय हो जाओ। भ्रम और भाव विकारोंवाली स्थिति अहंभाव से आरम्भ होती है। अहंभाव के अभाव से शान्तिपूर्ण स्वभाव में स्थिति हो जाती है। आकाश की नीलिमा के समान भ्रमात्मक संसार का आदि मूल अहंभावयुक्त आत्मा है। यह जगत्-रूपी वृक्ष अहंभाव रूपी बीज से उदय होता है। उसको ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म कर देने पर फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता।

(अ) अहंभाव को मिटाने की विधि :—

प्रेक्ष्यमाणं च नास्त्येव किलाहं त्वं कदाचन ।
एतावदेव तज्ज्ञानमनेनैव प्रदह्यते ॥ (६।८।३)

चिन्मात्रदर्पणाकारे निर्मले स्वात्मनि स्थिते ।
इति भवानुसंधानादहंकारो न जायते ॥ (४।३३। ३)

मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः ।
इत्यन्तरानुसंधानादहंकारो न जायते ॥ (४।३३।४४)

अहं हि जगदित्यन्तर्हेयादेयदृशोः क्षये ।
समतायां प्रसन्नायां नाहंभावः प्रवर्धते ॥ (४।३३।४६)

अहंभाव को जब जान लिया जाता है तब वह नहीं रहता—इस सम्बन्ध में इतना ही जानना काफी है—इससे दुःख नहीं होता।

चिन्मात्ररूपी दर्पण में जब अपना आत्मा ही दृष्टि आवे और आत्म-भाव का ही चिन्तन हो तब अहंभाव की उत्पत्ति नहीं होती। यह सब इन्द्रजाल का तमाशा मिथ्या है, इसलिये मुझे इससे न स्नेह है और न वैराग्य — इस प्रकार की आन्तरिक धारणा से अहंभाव की उत्पत्ति नहीं होती। मैं ही सारा जगत् हूँ इस विचार द्वारा जब हेय (त्याज्य) और उपादेय (प्राप्य) भाव क्षीण हो जाए और समता का अनुभव हो जाए तब अहंभाव की वृद्धि नहीं होती।

(आ) ब्रह्मभाव का अभ्यास :—

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धाकाम्यकर्मणः।
विषयेन्द्रियसंश्लेषमुत्साह श्रद्धयान्वितः॥ (६।१२८।१)
मृद्वासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः।
ओमित्युच्चारयेत्तावन्मनो यावत्प्रसीदति॥ (६।१२८।२)
प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये।
इन्द्रियाण्याहरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैः शनैः॥ (६।१२८।३)
देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः।
यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत्॥ (६।१२८।४)
विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्रात्मनि ततः परम्।
अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे॥ (६।१२८।५)
मांसादिपार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत्।
आप्यं रक्तादिकं चाप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत्॥ (६।१२८।६)
वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत्।
पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु॥ (६।१२८।७
श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुं भोगप्रसिद्धये।
दिक्षु न्यस्यात्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत्॥ (६।१२८।८)
चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत्।
प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत्॥ (६।१२८।९)
विष्णौ तथाऽऽत्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च।
उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत्॥ (६।१२८।१०)
बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेद्देवताः करणदेवताः। (६।१२८।११)
एवं न्यस्यात्मनो देहं विराडस्मीति चिन्तयेत्॥ (६।१२८।१२)
क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चानले क्षिपेत्। (६।१२८।१६)

अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ (६।१२८।१७)
स्थित्वा तस्मिन्क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरधृक् ।
वासना मूर्तसूक्ष्माश्च कर्मविद्ये तथैव च ॥ (६।१२८।१८)
दृश्येन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
ततोऽर्धोण्डाद्बहिर्यातस्तत्रात्मास्मीति चिन्तयेत् ॥ (६।१२८।१९)
लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥ (६।१२८।२०)
नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्सन्तिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ॥ (६।१२८।२१)
अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ (६।१२८।२२)
निःसम्बन्धा निरास्वादाः सम्भवन्ति ततः पुनः ।
तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ (६।१२८।२३)
अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् । (६।१२८।२४)
ध्यायेत्तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ॥ (६।१२८।२५)

मनको शान्त करके, इन्द्रियों को वश में करके, उपरति युक्त होकर, निषिद्ध, और काम्य (कामना युक्त) कर्मों का त्याग करके, इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर, श्रद्धावान् होकर, इन्द्रियों और चित्त की वृत्तियों को वश में करके, कोमल आसन पर बैठे और जब तक मन शान्त न हो तब तक ओ३म् का उच्चारण करता रहे तब अन्तः करण की शुद्धि के लिये प्राणायाम करे, फिर धीरे-धीरे इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटावे। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चेत्रज्ञ (जीव) का जिस-जिस तत्त्व से उदय हुआ है उनको उस-उस तत्त्व में विलीन करे। पहिले विराट् में स्थित हो, फिर आत्मा में, फिर अव्याकृत में, फिर परम कारण में। शरीर के माँस आदि पार्थिव भाग को पृथ्वी में विलीन करे, रक्त आदि जल भाग को जल में, अग्नि से बने हुए भागों को अग्नि में, वायु से बने हुए भाग को वायु में, आकाश से बने हुए भाग को आकाश में। (अर्थात् जो भाग जिस तत्त्व से बना है उसमें उस तत्त्व की दृष्टि उत्पन्न करे, उस भागकी दृष्टि न रक्खे)। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय में जिस तत्त्व से वह बनी है उसके होने की भावना करे। आत्मा के भोग के लिये जो कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं उनको भी इसी प्रकार उनके तत्त्वों में लीन करे। कानों को दिशाओं में, त्वचाको विद्युत्

में, चक्षुको सूर्य के बिम्ब में, जिह्वा को जल में, प्राण को वायुमें, वाक्‌को अग्नि में, हाथ को इन्द्र में, पैरों को विष्णु में, पायुको मित्र में, उपस्थको कश्यप में, मनको चन्द्रमा में, बुद्धिको ब्रह्मा में, विलीन करे। (अर्थात् जो-जो ज्ञान और कर्म इन्द्रिय जिस-जिस तत्त्व से बनी है उसको वह वह इन्द्रिय न समझ कर वह वह तत्त्व समझना चाहिये—क्योंकि प्रत्येक कार्य में उसका उपादान कारण वर्तमान रहता है, जैसे कि घट में मिट्टी और कड़े में सोना। जैसे घड़े में मिट्टी की दृष्टि और कड़े में सोने की दृष्टि उत्पन्न करनी चाहिये वैसे ही प्रत्येक अङ्ग में उसके कारण तत्त्व की दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये)। ऊपर कहे हुए देवता करणदेवता हैं। इस प्रकार अपने शरीर को ब्रह्माण्ड के समष्टि शरीर में विलीन करके मैं विराट् हूँ इस भावना का अभ्यास करे। तब पृथ्वी को (उसके कारण तत्त्व) जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को महा आकाश में, जो कि समस्त पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है। लिङ्ग शरीर धारण किये हुए योगी उस तत्त्व में कुछ देर स्थित रहे। सूक्ष्म भूत, वासना, कर्म, विद्या, दश इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) मन और बुद्धि ये सब मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। तब ब्रह्माण्ड से बाहर होकर यह अनुभव करे कि मै सब कुछ हूं। लिङ्ग शरीर को सूक्ष्म और अव्याकृत और अव्यक्त तत्त्व में विलीन करे। जिस तत्त्व में यह जगत् नाम रूप से मुक्त होकर स्थिर रहता है उसे कोई प्रकृति कहता है कोई माया, कोई प्रमाणु, कोई अविद्या। उस तत्त्व में लीन होकर सब पदार्थ अव्यक्त रूप से स्थित रहते हैं। निःसम्बन्ध और निःस्वाद होकर सारा जगत् सृष्टि उदय होने के पूर्व उसमें उसके ही रूप में रहता है। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म, और कारण इन तीनों अवस्थाओं से परे की चौथी अव्यक्त अवस्था का ध्यान करके, और लिङ्ग शरीर (और सूक्ष्म भाव) को विलीन करके, अपने आत्मा को परम आत्मा में विलीन करके उसका अनुभव स्थिर करे।

अद्वैत वेदान्त के शास्त्रों में इस युक्ति का नाम, जिसका ऊपर उल्लेख किया है, लय योग है। इसकी विधि यही है कि प्रत्येक वस्तु को अपने विचार द्वारा उसके कारण में लय करके मन में वस्तुभाव न रख कर कारणभाव रक्खे; व्यष्टि की दृष्टि को हटाकर समष्टि की दृष्टि की, और कार्य दृष्टि को हटाकर कारण दृष्टि की स्थापना करे।

ऐसा करते करते किसी समय परम कारण और परम व्यापक सत्ता-सामान्य शुद्ध चेतन ब्रह्म की दृष्टि का अनुभव हो जायेगा। इस योगके क्रम की समझ तब ही आती है जब कि सृष्टि के विकास के क्रम का ज्ञान हो। सृष्टि का विलय उसके विकास के क्रम के विरुद्ध क्रम सेहोता है।

(इ) अहंभाव के क्षीण हो जाने पर सब दोषों से निवृत्ति हो जाती है :—

यत्किञ्चिदिदमायाति सुखदुःखमलं भवे।
तदहंकारचक्रस्य प्रविकारो विजृम्भते॥ (४।३३।३९)
गलिते वा गलद्रूपे चित्तेऽहंकारनामनि। (६।११६।१)
बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम्॥ (६।११६।२)
लोभमोहादयो दोषाः पयांसीव सरोरुहम्। (६।११६।२)
मुदितायाः श्रियो वक्त्रं न मुञ्चन्ति कदाचन॥ (६।११६।३)
वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव त्रुट्यन्त्यलं शनैः।
कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति॥ (६।११६।४)
कामः क्लमं गच्छति च लोभः क्वापि पलायते।
नोल्लसन्तीन्द्रियाण्युच्चैः खेदः स्फुरति नोच्चकैः॥ (६।११६।५)
न दुःखान्युपहं हन्ति न वल्गन्ति सुखानि च।
सर्वत्र समतोदेति हृदि शैत्यप्रदायिनी॥ (६।११६।६)

संसार में जो कुछ सुख-दुःख मिलता है वह सब अहंकार का विकार है। अहंकार नामक मन की वृत्ति के क्षीण हो जाने पर या क्षीण होने लगने पर, लोभ और मोह आदि दोष शुद्ध हृदय को इस प्रकार स्पर्श नहीं करते जैसे कि पानी कमल को, और प्रसन्नता आदि जनित सौन्दर्य मुख पर सदा विराजमान रहता है; वासनाओं की गांठें खुल जाती हैं और वे धीरे धीरे क्षीण हो कर गिर जाती हैं; गुस्सा बहुत कम हो जाता है और मोह मन्द पड़ जाता है; काम शान्त हो जाता है और लोभ कहीं भाग जाता है; इन्द्रियां वससे बाहर नहीं जातीं और किसी प्रकार का खेद नहीं होता; दुःख और सुख दोनों शान्त हो जाते हैं और शीतलता देने वाली समता का चारों ओर उदय हो जाता है।

७—असङ्ग का अभ्यास :—

सम्वित्तेर्जन्मबीजस्य बीजं तस्यो वासनारसः।
स करोत्यङ्कुरोल्लासं तमसङ्गाग्निना दह॥ (६।१२८।२३)

अन्तःसङ्गत्वाज्जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ॥ (६।६७।३०)
असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।
सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबन्धवत् ॥ (६।६७।३३)
संसक्तिवशतः सर्वे विततः दुःखराशयः । (६।६८।१०)
संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ॥ (६।६८।४७)
असत्प्रायो हि सम्बन्धो यथा सलिलकाष्ठयोः ।
तथैव मिथ्यासम्बन्धः शरीरपरमात्मनोः ॥ (६।६७।२४)
देहभावनयैवात्मा देहदुःखवशे स्थितः ।
तत्त्यागेन ततो मुक्तो भवतीति विदुर्बुधाः ॥ (६।६७।२६)
चिदात्मा निर्मलो नित्यः स्वावभासो निरामयः ।
देहस्त्वनित्यो मलवांस्तेन सम्बध्यते कथम् ॥ (६।७१।२४)
केवलं चिति विश्रम्य किञ्चिच्चेत्यावलम्बिनि ।
सर्वत्र नीरसमिव तिष्ठत्वात्मरसं मनः ॥ (६।६९।८)
तत्रस्थो विगतासङ्गो जीवोऽजीवत्वमागतः ।
व्यवहारमिमं सर्वं मा करोतु करोतु वा ॥ (६।६९।९)
नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्जते ।
सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ (६।६८।६)
सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ॥ (६।६८।४)
सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणं यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ (६।६८।८)
भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारता ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥ (६।९३।८४)
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना । (६।९३।८५)
तामसङ्गाभिधां विद्धि यावद्देहं च भाविनी ॥ (६।९३।८६)
कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यन्मज्जनम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ॥ (३।२८।२४)
अथवा वासनोत्साद एवासङ्ग इति स्मृतः ।
यथा कयाचिद्युक्त्यान्तः सम्पादय तमेव हि ॥ (३।२८।२५)

जन्मजन्मान्तर को देने वाला बीज व्यष्टि) संवित् है । उसका भीतर का रस जो कि (संसार रूपी अंकुर को उत्पन्न करता है) वासना

है। उस वासना रस को असङ्ग रूपी अग्नि से जला दो। जिसके मन में सङ्ग नहीं है वह संसार-सागर से पार हो गया है। संसारी मन भी यदि असक्त है तो उसे मुक्त जानो और दीर्घ तप से शुद्ध किया हुआ मन यदि सक्त (सङ्गयुक्त) है तो उसे बन्धन में समझो! समस्त दु:ख संसक्ति से उदय होते हैं। संसक्त चित्त में ही सारे दु:खों की परम्परा आती है। (शरीर से भी सङ्ग होना वृथा है क्योंकि) जैसे जल और लकड़ी का (जो कि जल के ऊपर तैर रही हो) सम्बन्ध कुछ नहीं है वैसे ही आत्मा और शरीर का भी सम्बन्ध झूठा है। देह-भावना (शरीर को अपना आप समझने) से ही आत्मा को शरीर के दु:ख-सुख के वश में होना पड़ता है; ज्ञानी लोग कहते हैं कि उसके त्यागने से ही आत्मा मुक्त होता है। आत्मा नित्य, निर्मल, निरामय और स्वयं प्रकाश चिति होता है और शरीर अनित्य और मलयुक्त है—भला फिर दोनों में सम्बन्ध कैसा? मन को चाहिये कि वह संसार की सब वस्तुओं के प्रति नीरस होकर आत्मा के रस में ही मग्न होकर चिति में विश्राम ले। वहाँ स्थित होकर और सब प्रकार के सङ्ग से मुक्त होकर जीव जब अजीव हो जाता है, तब वह संसार के किसी व्यवहार को करे या न करे। असंसक्त उसे कहते हैं जो इतने समान भाव में स्थित रहे कि न उसके लिये कर्म करना श्रेष्ठ हो और न कर्मों में लगना; और जिसने सब कर्मों के फल का त्याग कर दिया हो। "यह सब कुछ आत्मदेव ही है, किस वस्तु की इच्छा करूँ और किस वस्तु का त्याग करूँ?" इस प्रकार की असंसक्ति जीवन्मुक्त पुरुष में होती है। सब कर्मों के फलों को मन से ही पूर्णतया त्यागने वाले को, न कि कर्म से, असंसक्त कहते हैं। पदार्थों के भाव और अभाव में हर्ष और शोकरूपी मलीन वासना होने का नाम सङ्ग है। जब हर्ष और शोक से रहित होकर वासना शुद्ध हो जाती है तो उसे शरीर के जीवित रहने तक असङ्ग कहते हैं। शुभ या अशुभ कामों को करते हुए मन का उनमें लिप्त न होना असङ्ग कहलाता है। वासना के दूर करने का नाम भी असङ्ग है। किसी न किसी युक्ति द्वारा उसको प्राप्त करना चाहिये।

८—सम-भाव का अभ्यास :—

मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव।
हेयोपादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः स्वच्छतां व्रज॥ (५।१३।२१)

हेयोपादेयकलने क्षीणे यावन्न चेतसः ।
न तावत्समता भाति साभ्रे व्योम्नीव चन्द्रिका ॥ (५।१३।२३)
अवस्त्विदमिदं वस्तु यस्येति क्षुभितं मनः ।
तस्मिन्नोदेति समता शाखोट इव मञ्जरी ॥ (५।१३।२४)
युक्तायुक्तैषणा यत्र लाभालाभविलासिनी ।
समता स्वच्छता तत्र कुतो वैराग्यभासिनी ॥ (५।१३।२९)

हेय (त्याज्य) वस्तु से खेद न करो और उपादेय (प्राप्य) वस्तु से सङ्ग न करो । 'हेय' और 'उपादेय' दोनों दृष्टियों का त्याग करके दोनों से रहित भाव में निर्मल रहो । जैसे जबतक बादल नहीं उड़ता तबतक आकाश में चान्दनी नहीं दिखाई पड़ती, ऐसे ही जबतक चित्त से हेय और उपादेय भाव नहीं जाता तबतक समता का उदय नहीं होता । जिसके मन में इस प्रकार की कल्पनाओं का उदय होता रहता है कि "यह वस्तु (प्राप्य) है और यह वस्तु (प्राप्य) नहीं है" उसके अन्दर समता का उदय ऐसे नहीं होता जैसे कि शाखोट में मञ्जरी का । वैराग्य का प्रदर्शन करने वाली स्वच्छ समता का उदय उसके चित्त में कैसे हो सकता है जिसके चित्त में युक्त को प्राप्त और अयुक्त को त्याग करने की वासना बनी रहती है ?

(अ) समता का आनन्द :—

न तदासाद्यते राज्यान्न कान्ताजनसङ्गमात् ।
अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यदवाप्यते ॥ (६।११८।१०)
द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम् ।
सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ॥ (६।११८।११)
सुखदुःखेषु भीमेषु सन्ततेषु महत्स्वपि ।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥ (६।११८।२७)

जो अनन्त और सार आनन्द समता से प्राप्त होता है वह न राज्यप्राप्ति से मिलता है और न सुन्दर युवतियों के साथ रमण करने से । समता द्वन्द्व का अन्त करनेवाली और व्यग्रता के ज्वर का नाश करनेवाली है; उसे सब प्रकार के दुःखों की गर्मी को शान्त करनेवाला बादल समझो । समदृष्टिवाले व्यक्ति महान्, बराबर रहनेवाले और भयानक सुखों और दुःखों में भी सदा एकरस रहते हैं ।

(आ) सबको अपना बन्धु समझना चाहिए :—

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु विगतावरणैव धीः ॥ (६।१८।६१)
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मम ।
इति निर्णीय धीराणां विगतावरणैव धीः ॥ (६।१८।६२)
सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम बन्धवः ।
अत्यन्तासंयुता एतास्तव राम न काश्चन ॥ (६।१८।६४)
एकत्वे विद्यमानस्य सर्वगस्य किलात्मनः ।
अयं बन्धुः परश्चायमित्यसौ कल्पना कुतः ॥ (६।२०।४)

यह मेरा बन्धु है और यह मेरा बन्धु नहीं है इस प्रकार का भेद-भाव क्षुद्र मनवालों में होता है; उदार भाववालों की बुद्धि में इस प्रकार भेद नहीं रहता। "ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ मैं नहीं हूँ और ऐसी कौनसी वस्तु है जो मेरी नहीं है" इस निश्चय को दृढ़कर लेनेपर बुद्धि में भेदभाव नहीं रहता। हे राम ! संसार के सभी प्राणीगण तेरे बन्धु हैं क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो तुमसे बिल्कुल सम्बन्ध न रखता हो। जब कि एक ही आत्मा सब में मौजूद है, 'यह मेरा भाई है और यह दूसरा है' इस प्रकार का विचार कैसे आया ?

९—कर्तृत्व का त्याग :—

कृष्णतासंक्षये यद्वत्क्षीयते कज्जलं स्वयम् ।
स्पन्दात्मकर्मविगमे तद्वत्प्रक्षीयते मनः ॥ (३।९१।२९)
वह्न्यौष्ण्ययोरिव सदा श्लिष्टयोश्चित्तकर्मणोः ।
द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव विलीयते ॥ (३।९१।३७)
आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम् । (६।१२४।९)
सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ॥ (६।१२४।६)
अवेदनमसंवेद्यं यद्वासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ (६।३।२४)

जैसे स्याही के ख़तम हो जानेपर काजल स्वयं ही ख़तम हो जाती है ऐसे ही स्पन्दनरूप कर्म (कर्तृत्वभाव) के क्षीण होनेपर मन स्वयं ही क्षीण हो जाता है। चित्त और (कर्तृत्व) दोनों आग और गरमी की नाईं सम्बद्ध हैं; दोनों में से किसी एक का अभाव हो जाने पर दोनों का अभाव हो जाता है। आत्मा के अज्ञान से कर्म करने का

संकल्प उदय होता है और संकल्प युक्त होना ही बन्धन का कारण है; उसको अवश्य त्यागो। कर्मत्याग तब होता है जब कि आत्मा में से वेदन और संवेद्य (ज्ञान और विषय) की भावना निकल जाने पर वासना न रहे, और कल्पना रहित शान्त भाव में उसकी स्थिति हो जाए।

१०—सब वस्तुओं का त्याग :—

यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते॥ (६।९८।४४)
यत्र सर्वात्मनैवात्मा लाभाय यतति स्वयम्।
त्यक्त्वान्यकार्यं प्राप्नोति तन्नाम नृप नेतरत्॥ (६।९८।४६)
न किञ्चिद्येन सम्प्राप्तं तेनेदं परमामृतम्।
सम्प्राप्यन्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम्॥ (६।३४।७६)
विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम्।
तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः॥ (६।९०।९)
सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ।
सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत्॥ (६।९०।६)

सब वस्तुओं का जब तक त्याग नहीं किया जाता तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। सब अवस्थाओं का त्याग करने पर जो बाकी रहता है वही आत्मा है। जो और सब कामों को छोड़ अपनी पूरी ताक़त से आत्मा को प्राप्त करने का यत्न करता है वही आत्मा को पाता है; दूसरा कोई नहीं। जो और किसी वस्तु को प्राप्त नहीं करता वही इस परम अमृत आत्मा को पूर्णतया प्राप्त करके सब कुछ पा लेता है। सच्चा सर्वत्याग ऐसी चिन्तामणि है जिससे सब प्रकार के दुःखों का अन्त हो जाता है? शुद्ध बुद्धियुक्त होकर तुम उसका ही साधन करो। सर्व त्याग से ही सब कुछ प्राप्त होता है; चिन्तामणि ही नहीं, सर्वत्याग तो साम्राज्य है।

(अ) सर्वत्याग का स्वरूप :—

साधो न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च।
न चोटजादिशोषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप॥ (६।९३।२९)
सर्वस्यैव मनो बीजं तरुबीजं तरोरिव। (६।९३।३४)
सर्वस्य बीजे संत्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम्॥ (६।९३।३५)

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तत्त्यक्त्वा पुत्र राजसे।
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः॥ (६।९३।२१)
यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे।
सर्वस्मिन्संपरित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत्॥ (६।९३।३०)
सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम्।
सर्वमन्तः कृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम्॥ (६।९३।४१)

सर्वत्याग न शरीर के त्यागने से सिद्ध होता है, न राज्य आदि के त्यागने से; और न झोपड़ियों में रहकर तप करने से। वृक्ष के बीज की नाईं सब वस्तुओं का बीज मन है। सब के बीज के त्याग देनेपर सब ही का त्याग हो जाता है। हे पुत्र! चित्त को ही सब कुछ कहते हैं; चित्त का त्याग ही सर्वत्याग है। उसको त्यागकर शोभा को प्राप्त करो। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है उस सबके एक कारण (परमात्मा) में सबको त्याग (अर्पण) करके सर्वत्याग होता है। जो तीनों काल में स्थित जगज्जाल को इस प्रकार अपने भीतर समझता है जैसे मोती तागे को, उसने ही वास्तविक सर्वत्याग किया है।

(आ) महात्यागी का स्वरूप:—

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी।
धिया येनेति सन्त्यक्तं महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२३)
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२४)
न मे देहो न जन्मापि युक्तायुक्ते न कर्मणी।
इति निश्चयवानन्तर्महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२६)
देहस्य मनसो दुःखैरिन्द्रियाणां मनःस्थितेः।
नूनं येनोज्झिता सत्ता महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२९)
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम्।
सर्वमन्तः परित्यक्तं महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२७)
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२८)

जिसने मन से धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, मरण-जन्म की भावनाओं का त्याग कर दिया है, वह महात्यागी है। जिसने अपनी बुद्धि द्वारा

सब इच्छाओं का, सब शङ्काओं का, सब तृष्णाओं का और सब निश्चयों का त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है। देह मेरी नहीं है, जन्म मरण मेरे नहीं हैं, युक्त और अयुक्त कर्म भी मेरे नहीं हैं—जिसके मन के भीतर इस प्रकार का निश्चय हो गया है वह महात्यागी है। जिसके मन से शरीर की, मन की और इन्द्रियों की सत्ता का विश्वास निकल गया है वह महात्यागी है। जिसके अन्दर धर्म और अधर्म की भावना, मन की कल्पनात्मक क्रिया और इच्छा नहीं रही वह महात्यागी कहलाता है। जो कुछ भी दृश्य जगत् दिखाई पड़ता है वह सब जिसने भली भाँति त्याग दिया है वह महात्यागी कहलाता है।

(ई) त्याग का फल :—

न गृह्णाति हि यत्किञ्चित्सर्वं तस्मै प्रदीयते। (६।९३।६२)
सर्वं त्यजति यस्तस्य सर्वमेवोपतिष्ठते॥ (६।९३।९१)

जो कुछ भी नहीं लेता उसीको सब कुछ दिया जाता है। जो सब वस्तुओं का त्याग कर देता है उसी की सेवा में सब वस्तुएं उपस्थित हुआ करती हैं।

११—समाधि :—

यदि वापि समाधाने निर्विकल्पे स्थितिं व्रजेत्।
तदक्षयसुषुप्ताभं तन्मन्येतामलं पदम्॥ (३।१।३६)

यदि निर्विकल्प समाधि में स्थिति हो जावे तो अक्षय सुषुप्ति के समान शुद्ध पदकी प्राप्ति हो जाती है।

(अ) समाधि का सच्चा स्वरूप :—

बद्धपद्मासनस्यापि कृतब्रह्माञ्जलेरपि।
अविश्रान्तस्वभावस्य कः समाधिः कथं च वा॥ (५।६२।७)
तत्त्वावबोधो भगवन्सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥ (५।६२।८)
समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी।
साधो समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः॥ (५।६२।९)
अक्षुब्धा निरहङ्कारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतराकृतिः॥ (५।६२।१०)
निश्चिन्ताधिगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता।
प्रोक्ता समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः॥ (५।६२।११)

यतः प्रभृति बोधेन युक्तमात्यन्तिकं मनः ।
तदारभ्य समाधानमव्युच्छिन्नं महात्मनः ॥ (५।६२।१२)
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् । (६।४५।४६)
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ॥ (६।४६।१६)
सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद्ध्याने यदाऽऽगतम् ।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ (६।४६।१७)
सम्यग्ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम् ।
ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥ (६।४६।१८)

पद्म आसन लगाकर बैठ जाने और ब्रह्मको हाथ जोड़ कर बैठ जाने पर भी, जब तक कि मनमें शान्ति नहीं है, समाधि नहीं लगती। चुपचाप बैठे रहने का नाम समाधि नहीं है; सब आशा (इच्छा) रूप तिनकों को जलाने के लिये अग्निरूप तत्त्वज्ञानको समाधि कहते हैं। समाधि नाम है उस परम प्रज्ञा का जो स्थिर है, नित्य तृप्त है और यथार्थ तत्त्व का ज्ञान देने वाली है। सुमेरु के समान उस स्थिर स्थिति का नाम समाधि है जिसमें चञ्चलता नहीं, अहंकार नहीं, और जिसमें द्वन्द्वों की भावनाएँ नहीं हैं। मनकी उस पूर्ण अवस्था का नाम समाधि है जिसमें कोई चिन्ता नहीं, जिसमें सब इच्छाओं की पूर्ति हो चुकी है, और जिसमें हेय और उपादेय की दृष्टि नहीं है। महात्माओं की समाधि उसी समय से आरम्भ हो जाती है जब से कि ज्ञान द्वारा मन पूर्ण रूप से स्थिर हो जाए। विषयों में बिल्कुल भी तृष्णा न होने का नाम समाधि है। विषयों के प्रति दृढ़ विरक्ति होने का नाम ध्यान है। समाधि और कुछ नहीं है, केवल ज्ञानद्वारा मन में विषयों के प्रति विरक्ति और चारों ओर शीतलता का अनुभव है। ऐसा ध्यान ही जिसमें सत्य ज्ञान हो, शान्ति हो और वासनाओं का लेश भी न हो, आनन्दपदवाला निर्वाण होता है।

(उ) मन के लीन होने का आनन्द :—

संशान्ते चित्तवेताले यामानन्दकलां तनुः ।
याति तामपि राज्येन जागतेन न गच्छति ॥ (४।१९।२०)
सर्वाशाज्वरसंमोहमिहिकाशरदागमम् ।
अचित्तत्वं विना नान्यच्छ्रेयः पश्यामि जन्तुषु ॥ (४।१९।२४)

त एव सुखसंभोगसीमान्तं समुपागताः।
महाधिया शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ॥ (४।१६।२६)
चित्तताम्रे शोधिते हि परमार्थसुवर्णताम्।
गतेऽकृत्रिम आनन्दः किं देहोपलखण्डकैः ॥ (३।११।४१)

चित्त रूपी वेताल के शान्त हो जाने पर जो आनन्द अनुभव में आता है वह सारे जगत् का राज्य प्राप्त होने पर भी नहीं प्राप्त होता। सब आशाओं के ज्वर और सम्मोह रूपी बरसात को दूर करने के लिये शरद् ऋतु के आगमन रूप चित्तनाश के सिवाय और कोई कल्याण-कारी वस्तु नहीं है। वे ही महामना, शान्त बुद्धि वाले लोग सुख भोग की सीमा पर पहुंच जाते हैं जो मन को मार लेते हैं। चित्तरूपी ताम्बे को शोधकर परमार्थ रूपी सोना बनाकर सच्चा आनन्द मिलता है। शरीर रूपी पत्थरों से नहीं।

२५—ज्ञान की सात भूमिकायें

आत्मज्ञान के अभ्यास के अनेक मार्गों का योगवासिष्ठ के अनुसार विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उसको पढ़ने से पाठक के मन में यह तो साफ़ जाहिर हो गया होगा कि ज्ञान को पूर्णतया प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। केवल वाचिक ज्ञान से कुछ लाभ नहीं होता। ज्ञान का अभ्यास क्रमशः होता है, और उस क्रम का एक ही जीवन में आरम्भ और समाप्त होना भी साधारणतया सम्भव नहीं है। ज्ञान को प्राप्तकरने और उसको अभ्यास द्वारा सिद्ध करने में अनेक जन्म लग जाते हैं। कितने समय और कितने जन्मों में ज्ञान की सिद्धि और उससे जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होगी यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर है। जिनमें अधिक लगन होती है और जो अधिक यत्न करते हैं, वे जल्द ही परम पद को प्राप्त कर लेते हैं; जो ढीले-ढाले चलने वाले होते हैं वे देर में। जब अत्यन्त तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होती है तो क्षण भर में मोक्ष का अनुभव हो जाता है। इसलिये मोक्ष की वासना होने और मोक्ष का अनुभव होने में कितने समय का अन्तर है यह नहीं बतलाया जा सकता। ज्ञानी और विद्वान् लोग केवल इसी बात का निर्णय कर सकते हैं कि ज्ञान-मार्ग का क्रम क्या है, किन किन सीढ़ियों पर चढ़कर ज्ञान की सिद्धि का इच्छुक अपने ध्येय पर पहुँच जाता है। ज्ञान के मार्ग पर जो जो विशेष क्रमिक अवस्थाएँ आती हैं उनका नाम योगवासिष्ठ में भूमियाँ अथवा भूमिकायें हैं। जैनियों ने उनका नाम गुणस्थान रक्खा है, पातञ्जल योग में उनको योग के अङ्ग कहा है। जैनियों के मतानुसार १४ गुणस्थान हैं; बौद्धों के अनुसार दस भूमियाँ हैं; पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अङ्ग हैं। योगवासिष्ठकार ने ज्ञान की सात भूमिकाएँ मानी हैं। हम यहाँ पर योगवासिष्ठ के अनुसार ज्ञानमार्ग की सात भूमिकाओं का वर्णन करेंगे। योगवासिष्ठ में भी तीन स्थानों पर इन भूमिकाओं का कुछ कुछ भिन्न विवरण दिया है। पाठकों के विशेष परिचय के लिये हम तीनों स्थानों पर दिये हुए विवरण को यहाँ पर संक्षेपतः रखने का यत्न करेंगे।

ज्ञान की सात भूमिकायें :—

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जसि ॥ (३।११८।१)
वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः ।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥ (३।११८।२)

हे राघव ! ज्ञान की सात भूमिकाओं को अलग अलग जानकर तुम मोह के कीचड़ में नहीं फँसोगे। बहुत से लोग योगभूमिकाओं को भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं; मेरी राय में तो वे शुभ गति को देनेवाली इस प्रकार हैं।

(१) योगभूमिकाओं का प्रथम विवरण :—

अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं सप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्तं भूमिकासप्तकात्परम् ॥ (३।११८।३)
सत्यावबोधो मोक्षश्चैवेति पर्यायनामनी ।
सत्यावबोधो जीवोऽयं नेह भूयः प्ररोहति ॥ (३।११८।४)
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥ (३।११८।५)
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ (३।११८।६)
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥ (३।११८।७)
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ (३।११८।८)
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ (३।११८।९)
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥ (३।११८।१०)
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ (३।११८।११)
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात्प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥ (३।११८।१२)

भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥ (३।११८।१३)
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ॥ (३।११८।१४)
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ (३।११८।१५)
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ॥ (३।११८।१६)

आत्मा का बोध देनेवाले ज्ञान की सात भूमिकायें हैं; मुक्ति इन सातों भूमिकाओं से परे है। मोक्ष और सत्य का ज्ञान ये पर्यावाची शब्द हैं। जिसको सत्य का ज्ञान हो गया है वह जीव फिर जन्म नहीं लेता। सात भूमिकायें ये हैं :-शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी, तुर्यगा। इनके अन्त में मुक्ति है जिसको प्राप्त करके शोक नहीं रहता। अब इन भूमिकाओं का वर्णन सुनो :—

१—शुभेच्छा—वैराग्य उत्पन्न होने पर इस प्रकार की इच्छा कि मैं अज्ञानी क्यों रहूँ, क्यों न शास्त्र और सज्जनों की सहायता से सत्य को जानूँ शुभेच्छा कहलाती है।

२—विचारणा—शास्त्र के अध्ययन से और सज्जनों के सङ्ग से, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार की ओर प्रवृत्ति का नाम विचारणा है।

३—तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों के प्रति असक्तता होने से जो मन की स्थूलता का कम होना है उसे तनुमानसा कहते हैं।

४—सत्त्वापत्ति—पूर्वोक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से, विषयों की ओर विरक्ति हो जाने पर, जब शुद्ध आत्मा में चित्त की स्थिरता होने लगे तब सत्त्वापत्ति कहलाती है।

५—असंसक्ति—जब पूर्वोक्त चार अवस्थाओं का अभ्यास हो जाने के कारण संसार के विषयों में असंसक्ति होने पर, सत्ता के प्रकाश में मन स्थिर हो जाये तब उसे असंसक्ति कहते हैं।

६—जब पूर्वोक्त पाँचो भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मा में दृढ़ स्थिति हो जाने पर भीतर और बाहर के सब पदार्थों के अभाव की बड़े प्रयत्न से भावना करके उनको असत् समझ लिया जाये, तब पदार्थभावनी नामवाली भूमिका का उदय होता है।

७—तुर्यगा-पूर्वोक्त छः भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर और भेद के न दिखाई देने पर जो आत्मभाव में अविचलितभाव से स्थिति हो जाती है उसे तुर्यगा कहते हैं। इसको ही तुर्या अवस्था कहते हैं और इसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। विदेह मुक्ति तो तुर्या अवस्था से परेका विषय है।

(२) ज्ञान की भूमिकाओं का दूसरा विवरण :—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत्।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः॥ (६।१२०।१)
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका॥ (६।१२०।२)
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति॥ (६।१२०।३)
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः॥ (६।१२०।४)
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम्।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत्॥ (६।१२०।५)
तुर्यातीता तु यावस्था परा निर्वाणरूपिणी।
सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम्॥ (६।१२०।६)
पूर्वावस्थात्रयं त्वत्र जाग्रदित्येव संस्थितम्।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत्॥ (६।१२०।७)
आनन्दैकघनीभावात्सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी।
असंवेदनरूपाथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा॥ (६।१२०।८)
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशपदात्मिका॥ (६।१२०।९)

सबसे पहिले शास्त्रों का अध्ययन और सज्जनों की सङ्गत करके बुद्धि को बढ़ावे—योगियों ने इसे योग की प्रथम भूमिका कहा है। दूसरी विचारणा है, तीसरी असङ्गभावना है, चौथी है विलापिनी जिसमें वासनायें लीन हो जाती हैं; पाँचवी है शुद्ध संवित् में स्थिति जिसको आनन्दरूपा कहते हैं। जागता सा दिखाई देनेवाला आधा सोया हुआ जीवन्मुक्त इसी अवस्था में रहता है। छठी भूमिका है स्वसंवेदनरूपा (जिसमें आत्मा का अनुभव हो)। यह स्थिति

आनन्द से भरपूर है और सुषुप्ति के सदृश है। यह वह शान्त तुर्या अवस्था है जो कि शुद्ध, सम, और सौम्य है, और जिसमें पहुँचने पर ही मुक्ति का अनुभव होता है। सातवीं भूमिका वह है जिसका अनुभव जीव को नहीं होता। वह निर्वाण स्वरूप वाली तुर्यातीत परम अवस्था है। पहिली तीन भूमिकाओं में जाग्रत् अवस्था रहती है। चौथी भूमिका में स्वप्न अवस्था—जैसा अनुभव होता है—इसमें स्थित जीव को जगत् स्वप्न के समान दिखाई पड़ता है। आनन्दमात्र से पूर्ण होने के कारण पाँचवीं भूमिका सुषुप्ति कहलाती है। और छठी असंवेदन रूप होने से (किसी दूसरे विषय का उसमें ज्ञान न होने से) तुर्या कहलाती है। सप्तमी भूमिका तुर्यातीत अवस्था है—उसमें आत्मा अपने ही प्रकाश में स्थित रहता है। वह मन और वचन से परे है।

(३) ज्ञानकी सात भूमिकाओं का तीसरा वर्णन :—

१—प्रथम भूमिका :—

अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान्। (६/१।१२६।४)
असारा वत संसारव्यवस्थालं ममैतया ॥ (६/१।१२६।५)
कथं विरागवान्भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम्।
एवं विचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ॥ (६/१।१२६।७)
विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासुदाररूपासु रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ (६/१।१२६।८)
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ (६/१।१२६।९)
मनोऽनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते।
पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ (६/१।१२६।१०)
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ (६/१।१२६।११)
मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते। (६/१।१२६।१२)
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ॥ (६/१।१२६।१३)

अनेक जन्मों के भुगत लेने पर मनुष्य में विवेक की उत्पत्ति होती है, और वह यह सोचने लगता है कि यह सब संसार असार है, मुझे इसकी जरा भी इच्छा नहीं है। इस प्रकार जब उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है और यह इच्छा होती है कि वह संसार-समुद्र से पार

हो जाए तब वह उत्तम बुद्धिवाला विचार में तत्पर होता है। विचार से दिन पर दिन अपनी वासनाओं से उसे वैराग्य होने लगता है, और वह दूसरों के उपकार रूप वाली, उदार क्रियायें करने लगता है, और उनके करने में आनन्द लेता है; ग्राम्य और कठोर चेष्टाओं से बचने का प्रयत्न करता है; किसी के चित्त को दुखी नहीं करता और शुभ कर्म करता है; जो दूसरों के मनको उद्विग्न न करें ऐसे मृदुल कर्म करता है; पापसे डरता है और भोगों की उपेक्षा करता है; मीठे और प्रेम से भरे हुए, उचित और चातुर्यपूर्ण, देश और काल के अनुरूप वचन बोलता है, मन, वचन और कर्म से सज्जनों की सेवा करता है। इधर उधर से लाकर ज्ञान शास्त्रों का अध्ययन करता है। (प्रथम विवरण में पहिली भूमिका का नाम शुभेच्छा दिया गया है। दूसरे और तीसरे में कोई नाम नहीं दिया गया)।

१—दूसरी भूमिकाः—

श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्श्रयते श्रेष्ठपण्डितान् ॥ (६/१।१२६।१५)
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ (६/१।१२६।१६)
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरप्याश्रितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ (६/१।१२६।१७)
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ (६/१।१२६।१८)

तब, वह ऐसे श्रेष्ठ पण्डितों की शरण में जाता है जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान आदि की अच्छी व्याख्या कर सकते हों। जैसे गृहस्थ अपने घर के कामों को अच्छी तरह जानता है वैसे ही वह भी शास्त्रों को सुनकर और पढ़कर पदार्थों का विभाग और कार्य और अकार्य का निर्णय जान जाता है। जैसे साँप अपनी बाहर वाली खालको धारण किये हुए भी उसको धीरे-धीरे अलग करता रहता है वैसे ही वह भी मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह, लोभ और आतिशयिता (ज्यादती) को बाहर से धारण किए हुए भी धीरे-धीरे त्याग करता रहता है। इस प्रकार की बुद्धिवाला पुरुष शास्त्र, गुरु और सज्जनों को सेवन करके सारे ज्ञान के रहस्य को प्राप्त कर लेता है। (प्रथम और द्वितीय वर्णन में दूसरी भूमिका का नाम विचारणा दिया गया है)।

(३) तीसरी भूमिका :—

यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलम् ।
तापसाश्रमविश्रामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ (६।१२६।२०)
संसारनिन्दकैस्तद्वद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो नयत्यायुरातताम् ॥ (६।१२६।२१)
वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ (६।१२६।२२)
द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च । (६।१२६।२५)

तब वह शास्त्रों के वाक्यों में अपनी बुद्धि को स्थापित करके, तपस्वियों के आश्रमों पर आध्यात्मिक उपदेश सुनकर, पत्थर के आसनों पर बैठकर, संसार का दोष दर्शन करानेवाले और वैराग्य उत्पन्न कराने वाले विचारों में अपनी आयु को बिताता है। वह, नीति के अनुसार चलने वाला, असंसक्ति का शान्त सुख भोगता है। असङ्ग दो प्रकार का होता है—एक सामान्य असङ्ग, दूसरा श्रेष्ठ असङ्ग।

(अ) सामान्य असङ्ग :—

प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ॥ (६।१२६।२६)
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता ।
भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ॥ (६।१२६।२७)
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
कालः कवलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ॥ (६।१२६।२८)
अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलब्धमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥ (६।१२६।२९)

मैं सुख और दुःख का कर्ता कैसे हो सकता हूँ ? सुख दुःख तो पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ईश्वर के आधीन हैं; सब भोगों के भोग महारोग हैं और सब सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ हैं; सब संयोग वियोग हैं और बुद्धि की सब व्याधियाँ मानसिक रोग हैं; सब भावों को खाने के लिये काल सदा ही तत्पर रहता है—इस प्रकार सोचकर जब मन में वस्तुओं के प्रति अनास्था का भाव उदय हो जाता है तो उसे सामान्य असङ्ग कहते हैं।

(आ) श्रेष्ठ असङ्ग :—

अनेककर्मयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
वियोगेनासतामन्तः प्रयोगेणात्मसंविदाम् ॥ (६।१२६।३०)
पौरुषेण प्रयत्नेन संतताभ्यासयोगतः ।
करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां दृढम् ॥ (६।१२६।३१)
संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम ॥ (६।१२६।३२)
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ (६।१२६।३३)

योग के नाना कर्मों से, महात्माओं के सत्सङ्ग से, दुर्जनों से दूर रहने से, आत्मज्ञान के आन्तर प्रयोग से, पुरुषार्थ से, नित्यप्रति अभ्यास योग से, जब तत्त्व का हस्तामलकवत् (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो जाए और संसारसमुद्र का पार परम कारण और सार वस्तु मिल जाए, तब इस प्रकार का दृढ़ निश्चय हो जाना कि मैं कर्ता नहीं हूँ कर्ता या तो ईश्वर है या मेरे प्रकृतिजन्य कर्म, और शब्द और अर्थों की भावना को त्याग कर मौन और शान्त रहना श्रेष्ठ असङ्ग कहलाता है।

(तीसरी भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में तनुमानसा (असक्तता) और दूसरे में असङ्गभावना है)।

४—चौथी भूमिका :—

भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ (६।१२६।५८)
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थी भूमिकामिताः ॥ (६।१२६।५९)
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकांश्चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ (६।१२६।६०)

पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं के अभ्यास से अज्ञान के क्षीण हो जाने पर और पूर्ण चन्द्रमा के समान सम्यग्ज्ञान के उदय हो जाने पर, योगी लोग चतुर्थ भूमिका में प्रवेश करके युक्तचित्त होकर सब वस्तुओं को एक अनादि, अनन्त, अखण्ड और समरूप से देखते हैं। द्वैत के शान्त और अद्वैत के दृढ़ हो जाने से चौथी भूमिका में स्थित ज्ञानी संसार को

स्वप्न के समान देखने लगता है। (चौथी भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में सत्वापत्ति और दूसरे में विलापिनी और स्वप्न है)।

५—पांचवीं भूमिका :—

सत्तावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः।
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ॥ (६।१२६।६२)
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ।
गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ॥ (६।१२६।६३)
सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकामितः।
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ॥ (६।१२६।६४)
परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते।
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ॥ (६।१२६।६५)

सुषुप्त पद नामक पाँचवीं भूमिका में पहुँचने पर योगी का अनुभव सत्तामात्र का ही रह जाता है। उसके लिये विशेषतायें सब क्षीण हो जाती हैं और उसकी स्थिति अद्वैतमात्र में रहती है। द्वैत का भान मिट जाता है; भीतर चान्दना हो जाता है। बाहर के काम करता हुआ भी पाँचवीं भूमिका में आया हुआ पुरुष अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति के कारण सुषुप्ति में लीन रहता है। इस भूमिका का अभ्यासी वासना रहित होकर अपनी परम शान्तता के कारण सोता हुआ सा दिखाई पड़ता है। (पाँचवीं भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में असंसक्ति और दूसरे वर्णन में आनन्दरूपा और सुषुप्ता है)।

६—छठी भूमिका :—

षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम्।
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ॥ (६।१२६।६६)
केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः।
निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ॥ (६।१२६।६७)
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ (६।१२६।६८)
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्त्वथ वैष न किञ्चन ॥ (६।१२६।६९)

क्रम से अभ्यास करता हुआ योगी तुर्या नामक षष्ठी भूमिका में

प्रवेश करता है। उस अवस्था में उसे न सत् का अनुभव होता है न असत्-का, न अपनेपन का और न अनहंकार का। उस अवस्था में गया हुआ जीवन्मुक्त, भावना रहित, द्वैत से मुक्त और क्षीण मनवाला होता है; उसके सब सन्देह शान्त हो जाते हैं और मन की गाँठ खुल जाती है। चित्र के दीपक की नांई वह स्थिर रहता है। निर्वाण में प्रवेश न किये बिना भी उसके लिये निर्वाणसा ही है। जैसे आकाश के बीच में रक्खे घड़े के भीतर और बाहर शून्य ही शून्य है वैसे ही इस अवस्था को प्राप्त योगी को भी शून्यता का अनुभव होता है। जैसे समुद्र में रक्खे हुए पूर्ण घड़े के भीतर और बाहर पूर्णता का अनुभव होता है ऐसे ही इस भूमिका में गये हुये योगी को पूर्णता का अनुभव होता है। वह न कुछ हुआ है और न कुछ नहीं हुआ है। (षष्ठी भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में पदार्थाभावनी और दूसरे वर्णन में स्वसंवेदनरूपा और तुर्या है)।

७—सातवीं भूमिका :—

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ॥ (६।१२६।७१)
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु । (६।१२६।७२)
नित्यमव्यपदेश्यापि कथंचिदुपदिश्यते ॥ (६।१२६।७३)
मुक्तिरेषोच्यते राम ब्रह्मैतत्समुदाहृतम् ।
निर्वाणमेतत्कथितं पूर्णात्पूर्णतराकृति ॥ (३।९।२५-४९)
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो नचाहं न च नेतरः ॥ (३।९।१९)

षष्ठी भूमिका को पार करके योगी सप्तमी भूमिका में आता है। सप्तमी योगभूमि विदेह मुक्ति कहलाती है। वह शान्त अवस्था सब भूमिकाओं की अन्तिम सीमा है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। नित्य ही अवर्णनीय होते हुए भी किसी न किसी रीति से उसका उपदेश किया ही जाता है। उसको मुक्ति कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं; उस पूर्ण से भी पूर्ण अवस्था को निर्वाण भी कहते हैं। विदेह मुक्त न उदय होता है और न अस्त, न उसका अन्त होता है। न वह सत् है और न असत्; न वह दूर है; न वह मैं हूँ, न वह कोई दूसरा है। सातवीं भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में तुर्यगा और दूसरे वर्णन में तुर्यातीता है)।

विचार करके देखने से पाठकों को मालूम पड़ जायेगा कि दूसरे और तीसरे वर्णनों में विशेष भेद नहीं है। प्रथम और पिछले दो में थोड़ा सा भेद है और वह यह है कि प्रथम वर्णन के अनुसार मुक्ति सब भूमिकाओं से परे है; दूसरे और तीसरे वर्णन के अनुसार मुक्ति भी एक भूमिका है। वास्तव में योगवासिष्ठ के अनुसार बन्धन और मुक्ति दोनों ही मिथ्या कल्पनायें हैं। इसलिये मुक्ति का सातवीं भूमिका होना ठीक ही जान पड़ता है।

२६—कर्म बन्धन से छुटकारा

प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मों का बुरा या भला फल अवश्य ही पाता है—यह सृष्टि का एक अटल नियम है। किये हुए कर्मों का फल पाने के लिये ही जीव को एक जन्म से दूसरे जन्म में और एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में जाना पड़ता है। यद्यपि प्रत्येक जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, तो भी किये हुये कर्मों के फल भोगने में वह परतन्त्र सा ही है। उसे अवश्य ही अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। यदि ऐसा है तो फिर मुक्ति की सम्भावना कैसी? वर्त्तमान काल में हम अपने पूर्व काल में किये हुए कर्मों का फल भोग रहे हैं और जो कर्म अब कर रहे हैं उनका फल भविष्य में भोगना पड़ेगा। ऐसा कोई समय नहीं है जब कि हम कर्म न करते हों—इसलिये ऐसा समय कैसे हो सकता है जब कि हम अपने कर्मों का फल भोगने के लिये जीवन धारण न करेंगे? योगवासिष्ठ के अनुसार हम इस नियम के रहते हुए भी कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। कैसे? यह यहाँ पर पाठकों के सामने वर्णन किया जाएगा।

(१) कर्मफल का अटल नियम :—

न स शैलो न तद्व्योम न सोऽब्धिश्च न विष्टपम्।
अस्ति यत्र फलं नास्ति कृतानामात्मकर्मणाम्॥ (३।९५।३३)
ऐहिकं प्राक्तनं वापि कर्म यद्रचितं स्फुरत्।
पौरुषोऽसौ परो यत्नो न कदाचन निष्फलः॥ (३।९५।३४)

संसार में ऐसा कोई स्थान—पहाड़, आकाश, समुद्र, स्वर्ग आदि—नहीं है जहाँ पर अपने किये हुए कर्मों का फल न मिलता हो। पूर्व जन्म में अथवा इस जन्म में जो भी कर्म किया गया है वह अवश्य ही (फल रूप में) प्रकट होता है। वह पुरुष का किया हुआ यत्न है; वह फल लाये बिना कभी नहीं रहता।

(२) कर्म का वास्तविक स्वरूप :—

क्रियास्पन्दो जगत्यस्मिन्कर्मेति कथितो बुधैः।
पूर्वं तस्य मनो देहं कर्मातश्चित्तमेव हि॥ (३।९५।३२)

मानसोऽयं समुन्मेषः कलाकलनरूपतः ।
एतत्तत्कर्मणां बीजं फलमस्यैव विद्यते ॥ (३।९५।२९)
कर्मबीजं मनःस्पन्दः कथ्यतेऽथानुभूयते ।
क्रियास्तु विविधास्तस्य शाखाश्चित्रफलास्तरोः ॥ (३।९६।११)

(कर्म केवल बाहर से दिखाई देनेवाली कर्मेन्द्रियों की क्रिया को ही नहीं कहते । कर्म का असली रूप भीतरी है—वह है मन की इच्छा) । जगत् में जिस क्रिया को कर्म कहा जाता है उसका सबसे प्रथम रूप मानसिक है । अतएव मन का स्पन्दन और कर्म एक ही हैं । कर्मों का बीज मन का कलनात्मक समुन्मेष (वासनात्मक स्पन्दन) है । इसी का फल प्राप्त होता है । सब कर्मों का बीज मन का स्पन्दन है । यह कहा भी जाता है और अनुभव में भी यही आता है । विविध प्रकार की क्रियायें जो नाना प्रकार के फल लाती हैं उसकी अनेक शाखायें हैं ।

(३) पुरुष (जीव) और कर्म में भेद नहीं है :—

कुसुमाशययोर्भेदो न यथा भिन्नयोरिह ।
तथैव कर्ममनसोर्भेदो नास्त्यविभिन्नयोः ॥ (३।९५।३१)
कल्पनात्मिकया कर्मशक्त्या विरहितं मनः ।
न सम्भवति लोकेऽस्मिन्गुणहीनो गुणी यथा ॥ (३।९६।६)
यथा वह्न्यौष्ण्ययोः सत्ता न सम्भवति भिन्नयोः ।
तथैव कर्ममनसोस्तथात्ममनसोरपि ॥ (३।९६।७)
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशाहते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ (३।२८।६)
कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ (३।२८।८)
संवित्स्पन्दरसस्यैव दैवकर्मनरादयः ।
पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥ (३।२८।१०)
बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ।
ऊर्मिवीचितरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ (३।२८।२१)

जैसे फूल और उसके आशय में कोई भेद नहीं है वैसे ही कर्म और मन में कोई भेद नहीं है । दोनों अभिन्न हैं । जैसे कोई गुणी (गुणयुक्त) बिना गुण के नहीं रह सकता, वैसे ही कोई मन अपनी कल्पनात्मक कर्मशक्ति से रहित नहीं हो सकता । जैसे अग्नि और उसकी उष्णता

अलग नहीं रह सकतीं वैसे ही मन, कर्म और आत्मा अलग नहीं हैं। कल्पना के सिवाय पुरुष और कर्म में, आत्मा और संवित्स्पन्द में, कोई भेद नहीं है। कर्म ही पुरुष है और पुरुष ही कर्म है। ये दोनों इस प्रकार अभिन्न हैं जैसे बरफ़ और उसकी शीतलता। दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित् के स्पन्दन के ही पर्यायवाची शब्द हैं। कर्म आदि पृथक् स्थित नहीं हैं। जैसे बीज और अंकुर में, जल और तरङ्ग में भेद नहीं है वैसे ही पुरुष, कर्म और क्रिया में वास्तविक भेद नहीं है।

(४) उत्पत्ति (सृष्टि) से पहिले जीव के पूर्व कर्म नहीं होते :—

सर्गादिषु स्वयं भान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयम्भुवः।
विज्ञप्तिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी॥ (६।१४२।२४)
सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित्।
सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते॥ (६।१४२।२६)
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात्। (६।१२४।४)
पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः॥ (६।१२४।५)
यथा ब्रह्मादयो भान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः।
भान्ति जीवास्तथान्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः॥ (६।१४२।२७)
किन्तु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते सात्त्विकोद्भवाः।
अबोधा ये त्वचिद्धाख्यं बुद्ध्वा द्वैतमिदं स्वयम्॥ (६।१४२।२८)
तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभिर्जन्म दृश्यते।
स्वयमेव तथाभूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम्॥ (६।१४२।२९)
यैस्तु न ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुद्धं बोधमहात्मनि।
निरवद्यास्त एतेऽत्र ब्रह्मविष्णुहरादयः॥ (६।१४२।३०)
न सम्भवति जीवस्य सर्गादौ कर्म कस्यचित्।
पश्चात्स्वकर्म निर्माय भुङ्क्ते कल्पनया स चित्॥ (६।१४२।३८)
सर्गे सर्गतया रूढे भवेत्प्राक्कर्मकल्पना।
पश्चाज्जीवा भ्रमन्तीमे कर्मपाशवशीकृताः॥ (६।१४२।४१)
स्वप्नद्रष्टुर्दृश्यनृणामस्ति काल्पनिकं यथा।
न वास्तवं पूर्वकार्मं जाग्रत्स्वप्ने तथा नृणाम्॥ (६।१४३।१०)
यथा प्राक्कर्म पुंस्त्वे च स्वप्ने पुंसां न विद्यते।
इह जाग्रत्स्वप्ननृणां भातानामपि नो तथा॥ (६।१४३।११)

ब्रह्मणो हृदि सर्गोऽयं हृदि ते स्वप्नपूर्यथा ।
कार्यकारणता तत्र तयास्तेऽभिहिता यथा ॥ (६।१४३।२३)

सृष्टि के आदि में जो ब्रह्मा आदि अपने आप ही उदय होते हैं उनके शरीर ज्ञानमय हैं। उनका न कोई (पूर्व) जन्म है और न उनके कर्म। सृष्टि से पूर्व का किसी का कोई कर्म नहीं होता। सर्ग के आदि में ब्रह्म स्वयं सर्ग रूप से प्रकट होता है। परम ब्रह्म से सारे जीव बिना किसी कारण (पूर्व कर्म के) आप से आप ही उदय हो जाते हैं। उत्पन्न होने के पीछे उनके अपने कर्म उनके दु:ख सुख का कारण हो जाते हैं। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में ब्रह्मरूपी ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं उसी प्रकार सैकड़ों और हजारों और जीव भी प्रकट होते हैं। उनमें से जो जीव अपने को ब्रह्म से अन्य समझते हैं और अज्ञान के कारण प्रकृति नामक द्वैत (दूसरे तत्त्व) को मानने लगते हैं, भविष्य में कर्मों के अनुसार उनका जन्म होता है, क्योंकि वे अपने और भूतों (तत्त्वों) के सम्बन्ध में असत्य धारणा कर लेते हैं। जो जीव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि—अपने को ब्रह्म से अन्य नहीं समझते वे आत्मज्ञान से अविचलित नहीं होते। सृष्टि के आदि में जीव का कोई कर्म नहीं होता, लेकिन पीछे कर्म की कल्पना करके जीव उसका फल भोगता है। सृष्टि के चालू हो जाने पर ही पूर्व कर्म की कल्पना की जाती है—उसके पीछे जीव अपने अपने कर्मों की जंजीरों में जकड़े हुए संसार में भ्रमण करते रहते हैं। स्वप्न देखने वाले के स्वप्न के मनुष्यों के पूर्व कर्म जैसे काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं हैं, वैसे ही जाग्रत्‌रूपी स्वप्न के जीवों के (सृष्टि से) पूर्व कर्म भी काल्पनिक हो हैं—वास्तविक नहीं हैं। जैसे स्वप्न में उत्पन्न हुए पुरुष के पूर्व कर्म नहीं होते वैसे ही जाग्रत्‌रूपी स्वप्न में प्रकट हुए जीवों के पूर्व कर्म नहीं होते। ब्रह्मा के हृदय के भीतर यह सृष्टि ऐसे ही है जैसे कि तेरे हृदय में स्वप्न का नगर। वहाँ पर भी कार्य और कारण का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि तेरे स्वप्न के भीतर।

(५) वासना ही जीव को कर्म के फल से बाँधती है :—

वासनामात्रसारत्वादज्ञस्य सफलाः क्रियाः ।
सर्वा एवाफला ज्ञस्य वासनामात्रसंक्षयात् ॥ (६।८७।१८)

सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः ।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव ॥ (६।८७।१९)

ऋत्वन्तरे यथा याति विरूपं पूर्वमार्तवम्।
तथैव वासनानाशे नाशमेति क्रियाफलम्॥ (६।८७।२०)
न स्वभावेन फलति यथा शरलता फलम्।
क्रिया निर्वासना पुत्र फलं फलति नो तथा॥ (६।८७।२१)

अज्ञानी को अपने सब कर्मों का फल इसलिये भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मों का सार वासना है। वासना के क्षीण हो जाने से ज्ञानी को अपनी किसी क्रिया का फल नहीं भोगना पड़ता। वासना के अभाव से सब क्रियाएँ फल-रहित हो जाती हैं, चाहे वे अशुभ फल देनेवाली ही क्यों न हो - जैसे कि सींचे बिना लता सूख जाती है। जैसे ऋतु के पलट जाने पर क्रियाओं का फल क्षीण हो जाता है। जैसे बेंत का स्वभाव यह है कि उस पर फल नहीं आता वैसे ही वासना-रहित क्रिया भी फल नहीं लाती।

(६) कर्म के बन्धन से मुक्त होने की विधि :—

आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः संकल्पः कर्मकारणम्।
संकल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज॥ (६।१२४।६)
कर्मकल्पनया संवित्स्वकर्मफलभागिनी।
कर्मकल्पनयोन्मुक्ता न कर्मफलभागिनी॥ (६।१४९।२३)
सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव॥ (६।८७।१९)
समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया।
यथा यत्क्रियते राम तद्दोषाय सर्वदा॥ (६।१९७।७)
शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि।
पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः॥ (६।१९९।३३)
शुभाशुभाः क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः।
निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः॥ (६।१९९।३४)

यो ह्यन्तस्थायाः मनोवृत्तेर्निश्चय उपादेयताप्रत्ययो वासनाभिधानस्तत्कर्तृत्व-शब्देनोच्यते॥ (४।३८।२)

चेष्टावशात्तादवफलभोक्तृत्वं वासनानुरूपं स्पन्दते पुरुषः स्पन्दानुरूपं फल-मनुभवति। फलभोक्तृत्वं नाम कर्तृत्वादिति सिद्धान्तः॥ (४।३८।३)

कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स्वर्गेऽपि नरकेऽपि वा ।
याहग्वासनमेवास्यान्मनस्तदनुभूयते ॥ (४।३८।४)

तस्मादज्ञाततत्त्वानां पुंसां कुर्वतामकुर्वतां च कर्तृता ननु ज्ञाततत्त्वानामवासनत्वात् ॥ (४।३८।५)

ज्ञाततत्त्वो हि शिथिलीभूतवासनः कुर्वन्नपि फलं नानुसंदधाति । अथच स्पन्दमात्रं केवलं करोत्यसक्तबुद्धिः सम्प्राप्तमपि फलमात्मैवेदं सर्वमेव कर्मफलमनुभवति ॥ (४।३८।६)

मनो यत्करोति तत्कृतं भवति यन्न करोति तन्न कृतं भवति अतो मन एव कर्तृ न देहः ॥ (४।३८।७)

अकुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं शय्यासनगतोऽपि श्वभ्रपातवासनावासिते चेतसि श्वभ्रपतनदुःखमनुभवति । अपरस्तु कुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं परमुपशममुपगतवति मनसि शय्यासनसुखमनुभवति । एवमनयोः शय्यासनश्वभ्रपातयोरेकः श्वभ्रपतनस्याकर्तापि कर्ता संपन्नो द्वितीयश्च श्वभ्रपतनस्य कर्ताप्यकर्ता सम्पन्नश्चित्तवशात्तस्माद्यच्चित्तं तन्मयो भवति पुरुष इति सिद्धान्तः । तेन तत्र कर्तुरकर्तुर्वा नित्यमसंसक्तं भवतु चेतः ॥ (४।३८।१२-१३)

एवं मनः सर्वकर्मणां सर्वहितानां सर्वभावानां सर्वलोकानां सर्वगतीनां बीजं तस्मिन्परिहृते सर्वकर्माणि परिहृतानि भवन्ति सर्वदुःखानि क्षीयन्ते सर्वकर्माणि क्षयमुपयान्ति । मानसेनापि कर्मणा यत्कृतेनापि ज्ञो नाक्रम्यते न विवशीक्रियते न रञ्जनामुपैत्यव्यतिरिक्तात् ॥ (४।३८।१६)

यथा बालो मनसा नगरस्य निर्माणं निर्मृष्टं च कुर्वन्नगरनिर्माणं मनःकृतमकृतमिव लीलयानुभवति नोपादेयतया सुखदुःखमकृत्रिममिति पश्यति नगरनिर्मथनं च मनःकृतं कृतमिति पश्यतीति दुःखमपि लीलयानुभवन्नपि न दुःखमिति पश्यति । एवमसौ परमार्थतः कुर्वन्नपि न लिप्यत एवेति ॥ (४।३८।१७)

शुभाशुभात्म कर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना ।
तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ (६।३।७)

अवेदनमसंवेद्यं यद्वासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ (६।३।२४)

समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
नैव तेषां कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ (६।३।२७)

इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्मविचारशङ्काम् ।

निर्वासनः सकलसंकलनाविमुक्तः
संविद्वपुर्ननु यथाभिमतेऽक्षमास्स्व ॥ (६।२८।३२)

ये त्वेव कर्मसंत्यागमकृत्वान्यत्प्रकुर्वते।
अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं मारयन्ति ते ॥ (६।३।३४)

कर्मत्यागे स्थिते बोधाज्जीवन्मुक्तो विवासनः।
गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वभ्येतु वोदयम् ॥ (६।३।३७)

गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम्।
अशान्तस्याप्यरण्यानि विजना सजना पुरी ॥ (६।३।३८)

आत्मा के अज्ञान से ही कर्म के कारण सङ्कल्प का उदय होता है। सङ्कल्पयुक्त होने से ही बन्धन होता है; इसलिये सङ्कल्प का त्याग करो। कम की कल्पना से ही संवित् कर्मफल पाती है; कर्म की कल्पना से रहित संवित् कर्म का फल नहीं पाती। जैसे बिना पानी के दिये लता सूख जाती है वैसे ही अशुभ फल वाली क्रियाएँ भी वासना के अभाव से फल नहीं लातीं। सम, शुद्ध और विकार-रहित बुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है वह कभी दोष नहीं लाता। असक्त मन वाला मुनि शुभ या अशुभ क्रियाओं को नित्य प्रति करता हुआ या त्यागता हुआ भी कभी संसार में नहीं पड़ता; और जिस मूर्ख ने मन से त्याग नहीं किया वह शुभ या अशुभ क्रियाओं को न करता हुआ भी सदा संसार-समुद्र में डूबता ही रहता है। मनका इस प्रकार का निश्चय कि यह वस्तु प्राप्त करने योग्य है, और उसको प्राप्त करने की वासना कर्तृत्व (कर्तापन) कहलाते हैं। किसी विशेष फल की प्राप्ति की इच्छा से जब मनुष्य किसी क्रिया को करता है तो जैसा उसका प्रयत्न होता है उसके अनु· सार वह फल पाता है। कार्य के कर्ता होने के कारण ही जीव उसका फल भोगने वाला होता है, यह सिद्धान्त है। चाहे कोई क्रिया करे या न करे तो भी जैसी-जैसी वासनाएँ होती हैं, स्वर्ग और नरक में वैसा-वैसा ही फल उसका मन अनुभव करता है। इसलिये अज्ञानी जीव चाहे कर्म करें या न करें तो भी वे कर्ता (कर्म करने वाले) हैं; और वासना-रहित होने से ज्ञानी जीव अकर्ता हैं चाहे वे कर्म करें या न करें। ज्ञानी वासनाओं के क्षीण हो जाने से कर्म को करके भी उसका फल नहीं भोगता। वह तो असक्त बुद्धि होकर क्रिया मात्र कर्म करता है (फल· की वासना से नहीं); इसलिये फल की प्राप्ति होने पर भी इस भावना से कि आत्मा ही सब कुछ है कर्म के फल का अनुभव करता है। मन से

जो कर्म किया जाता है वही कर्म है और मन से जो कर्म नहीं किया जाता वह कर्म नहीं है। इसलिये कर्म का कर्ता मन ही है, शरीर नहीं। गड्ढेमें गिरने का भय (वासना) मन में होने पर चारपाई पर सोता हुआ और वास्तव में गड्ढे में न गिरता हुआ मनुष्य भी अपने मन के भीतर गड्ढे में गिरने का दुःख पाता है। दूसरा आदमी गड्ढे में गिरा हुआ भी अपने मन के शान्त होने के कारण अपने मन में चारपाई पर सोने के सुख का अनुभव करता है। एक चारपाई पर सोता हुआ गड्ढे में गिरने का दुःख भोगता है और दूसरा गड्ढे में गिरने पर भी चारपाई पर सोने का सुख भोगता है—एक अकर्ता भी कर्ता है और दूसरा कर्ता भी अकर्ता है; केवल चित्तके कारण। इसलिये जैसा जिसका मन वैसा ही वह पुरुष है—यह सिद्धान्त है। इसलिये कर्म करते हुए और न करते हुए सदा मन को असक्त रखना चाहिये। इसलिये मन ही सब कर्मों का, सब इच्छाओं का, सब भावों का, सब लोकों का, सब गतियों का बीज है। उसके त्याग देने पर सब कर्मों का त्याग हो जाता है, सब दुःख क्षीण हो जाते हैं, और सब कर्म लय हो जाते हैं। ज्ञानी लोग तो मानसिक कर्म से भी आक्रान्त नहीं होते; न उसके वश में होते हैं और न उसके रङ्ग में ही रँगे जाते हैं, क्योंकि वे उससे असक्त रहते हैं। जैसे जब कोई बालक कल्पना द्वारा नगर को बनाता और बिगाड़ता है तब नगर को कल्पना से रचते हुए वह वास्तविक रचना न करते हुए भी लीला से मानसिक रचना का अनुभव करता है। यदि वह बुरा भला बन गया तो उसे वास्तव में दुःख सुख होता है। यदि उसका नगर गिर जाता है, तो मानसिक रचना को वास्तविक रचना समझने से, उसको वास्तविक दुःख न होते हुए भी, दुःख होता है। इसलिये वास्तव में कर्म करनेवाला भी कर्म में लिप्त नहीं होता और न करनेवाला लिप्त हो जाता है। विवेक द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का नाश करना चाहिये—यह तब हो सकता है जब कि ज्ञान द्वारा यह निश्चय दृढ़ हो जाए कि कर्म कुछ है ही नहीं। बिना किसी दृश्य की ओर प्रवृत्ति के, बिना वासना के, और बिना किसी कल्पना के शान्त होकर स्थित रहने का नाम कर्मत्याग है। जो कर्म को जड़ सहित त्याग कर शान्ति प्राप्त कर चुके हैं उनके लिये (बाह्य) क्रिया का करना और न करना एकसा ही है; करने से उन्हें कुछ नहीं

मिलता, न करने से उनका कुछ नहीं जाता। इसलिये इस निश्चय को दृढ़ करके, कर्म-विचार की शङ्का को छोड़कर, सब कल्पनाओं और इच्छाओं का त्याग करके, शुद्ध ज्ञानस्वरूप होकर रहो। जो लोग इस प्रकार के सच्चे कर्मत्याग को न करके अत्यागरूपी कर्मत्याग करते हैं (अर्थात् बाह्य क्रियाओं का तो त्याग कर देते हैं किन्तु भीतर की वासनाओं का त्याग नहीं करते) वे आकाश को मारने का प्रयत्न करते हैं। जो ज्ञान द्वारा कर्मत्याग में स्थित हो गया है और वासनारहित जीवन्मुक्त है, वह चाहे घर में रहे चाहे वन में, चाहे शान्त हो जाए चाहे उन्नति कर ले; उसके लिये सब एकसा है। उपशान्त व्यक्ति के लिये तो घर ही दूरवर्त्ती निर्जन वन के समान है और अशान्त पुरुष के लिये निर्जन वन भी मनुष्यों से भरी हुई नगरी के समान है।

(७) कर्मयोगः—

अलब्धज्ञानदृष्टीनां क्रिया पुत्र परायणम्।
यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ॥ (६/१।८७।१७)

बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते।
संकल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता॥ (६/२।१।२७)

नेह कार्यं न वाकार्यमस्ति किञ्चिन्न कुत्रचित्।
सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्॥ (६/२।१।२८)

सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत्।
प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम्॥ (६/२।१।१६)

यथाप्राप्तं हि कर्तव्यमसक्तेन सदा सता।
मुकुरेणकलङ्केन प्रतिबिम्बक्रिया यथा॥ (३।८८।११)

एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम्।
यदवासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता॥ (६/२।१।२४)

प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः क्वचित्।
शान्तसर्वैषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किङ्कुरुते॥ (६/२।३७।३१)

अज्ञस्तु दितचित्तत्वात्क्रियानियमनं विना।
गच्छन्न्यायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि॥ (६/१।६९।९)

सुज्ञास्त्विष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु।
यतेन्द्रियत्वाद्बुद्धत्वान्निर्वासनतया तथा॥ (६/१।६९।१०)

न निन्द्यमस्ति नानिन्द्यं नोपादेयं न हेयता ।
न चात्मीयं न च परं कर्मज्ञविषयं क्वचित् ॥ (६पू।६९।१३)
महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ ।
सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ (६पू।११५।१)
रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ (६पू।११५।१२)
न किञ्चन द्वेष्टि न किञ्चिदभिकाङ्क्षति ।
भुंक्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६उ।११५।२१)
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ (६उ।११५।३४)
अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥ (५।१८।१८)
उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तः सर्वपरित्यागी लोके विहर राघव ॥ (५।१८।१९)
अन्तर्नैराश्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
बहिस्तप्तोऽन्तरा शीतो लोके विहर राघव ॥ (५।१८।२१)
बहिः कृत्रिमसंरम्भी हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव ॥ (५।१८।२२)
बहिर्लोकोचिताचारस्त्वन्तराचारवर्जितः ।
समो ह्यतीव तिष्ठ त्वं संशान्तसकलैषणः ॥ (४।१५।४४)
सर्वैषणाविमुक्तेन स्वात्मनात्मनि तिष्ठता ।
कुरु कर्माणि कार्याणि नूनं देहस्य संस्थितिः ॥ (४।१५।४५)
शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वाऽवलम्ब्य च ।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ (४।४६।१४)
अत्यन्तविरतः स्वस्थः सर्ववासनवर्जितः ।
व्योमवत्तिष्ठ नीरागो राम कार्यपरोऽपि सन् ॥ (४।४६।१५)
यथैव कर्मकरणे कामना नास्ति धीमताम् ।
तथैव कर्मसंत्यागे कामना नास्ति धीमताम् ॥ (३।८८।१२)
अतः सुषुप्तोपमया धिया निष्कामया तथा ।
सुषुप्तबुद्धसमया कुरु कार्यं यथागतम् ॥ (३।८८।१३)
गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ (६उ।१।१५)

स्पन्दस्त्वाकृतसंकल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशष्पवत् ॥ (६।१।१७)
रसभावनमन्तस्ते मास्तं भवतु कर्मसु ।
दारुयन्त्रमयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ (६।१।१८)
नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः । (६।१।१९)
चिदानन्दरसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ॥ (६।१।२१)
अवासनमसंकल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ (६।१।२५)

जिसको अभीतक ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उसे कर्म पर ही निर्भर रहना चाहिये-जैसे जिसे रेशम की बढ़िया चादर की प्राप्ति नहीं हुई उसे अपना कम्बल नहीं फेंक देना चाहिये । बहुत कहने की जरूरत नहीं है—संक्षेप से यह बताता हूँ कि सङ्कल्प ही मन को बांधनेवाला है और संकल्प के अभाव से मुक्ति होती है । न मनुष्य को कुछ करना है और न कुछ नहीं करना है; सब कुछ अज, अनन्त और शान्त शिव ही है; वही हो जाओ । सब कामों के फलरूपी मल को सुप्त पुरुष की नाई भूलकर, वेदनारहित होकर, जैसा अवसर पड़े वैसी क्रिया करते रहो । जिस प्रकार शुद्ध शीशे के भीतर प्रतिबिम्ब पड़ने की क्रिया आप से आप होती रहती है वैसे ही असक्त रहकर यथाप्राप्त कामों को सदा करते रहना चाहिये । जन्म के दुःखों को सदा दूर करनेवाला यह बहुत अच्छा धैर्य है कि अपने कामों को वासनारहित होकर करने का अभ्यास रक्खे । आत्मज्ञानी के लिये कोई विधि (यह करना चाहिये) और निषेध (यह नहीं करना चाहिये) नहीं है । जिसकी सब इच्छाएँ शान्त हो गई हैं उसे कौन और क्यों कुछ करने की आज्ञा देगा ? अज्ञानी व्यक्ति, जिसने विषयों की ओर चित्त प्रवृत्त कर रक्खा है, क्रिया के भले बुरे जाने बिना उसको करता हुआ, मछली की नाई बहुत दुःख पाता है । ज्ञानी लोग जितेन्द्रिय होने के कारण, तत्त्वज्ञानी होने के कारण और वासनारहित होने के कारण इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं के चक्कर में नहीं पड़ते । उनके लिये तो न कोई कर्म बुरा है और न कोई भला; न त्याज्य है और न कार्य; न अपना है और न दूसरे का । हे पापरहित राम ! तुमको महा कर्ता, महा भोक्ता और महा त्यागी बनना चाहिये; सब शङ्काओं को त्यागकर अनन्त धैर्य को धारण करो । महा कर्ता वह है जो रागद्वेष, सुख

दुःख, धर्म और अधर्म, सफलता और विफलता आदि सबका भोग अनपेक्ष भाव से करता है। महा भोक्ता वह है जो न किसी वस्तु को चाहता है और न किसी वस्तु से द्वेष करता है, बल्कि सबका स्वाभाविक रीति से उपभोग करता है। महा त्यागी उसे कहते हैं जिसने अपने मन के भीतर से बुद्धिपूर्वक सब इच्छाओं, तृष्णाओं, निश्चयों और शङ्काओं को दूर कर दिया है। हे राम! बाहर से सब काम करते हुए, मन के भीतर आशा, राग और वासना से रहित होकर संसार में विचरण करो! बाहर से तो उदार और मनोहर आचरणवाले और सब प्रकार के सदाचारों के अनुसार क्रिया करनेवाले, लेकिन भीतर से सबको त्याग किये हुए रहकर, संसार में विचरण करो। बाहर से सब प्रकार की आशाओं से पूर्ण, लेकिन भीतर कोई आशा न रख कर, बाहर तप्त और अन्दर शीतल रह कर संसार में विचरण करो। बाहर से सब प्रकार की क्रियाओं का सम्पादन करते हुए, अन्दर से कोई क्रिया न करते हुए, बाहरी तौर पर कर्ता और भीतर से अकर्ता बने रह कर संसार में विचरण करो। बाहर से लोकोचित आचार के अनुसार क्रिया करते हुए अन्दर किसी आचार विचार के बन्धन में न पड़ते हुए, अत्यन्त सम हो कर और सब वासनाओं को शान्त कर के रहना चाहिये। जबतक शरीर कायम है तब तक करने योग्य कर्मों को सब इच्छाओं का त्याग कर के और आत्मभाव में स्थित हो कर करते ही रहना चाहिये। सत् और असत् के मध्य में अपनी स्थिति कर के, और उस स्थिति का आश्रय ले कर, बाहर और भीतर के दृश्य को न प्राप्त करने की इच्छा करो न त्याग करने की। हे राम कामों को करते हुए भी रागरहित, अत्यन्त विरत, आत्मा में स्थित और वासनाओं से रहित हो कर अपने मन को आकाश के समान शून्य रक्खो। बुद्धिमान् लोगों में जैसे कर्म करने की कामना नहीं होती, वैसे ही कर्म त्यागने की भी कामना नहीं होती। इसलिये निष्काम बुद्धि से सोते हुए पुरुष की नाईं यथा प्राप्त कामों को जरूर करो। जैसे किसी विशेष स्थान को जाने वाले पथिक के पैर बिना किसी सङ्कल्प के ही उस स्थान की ओर पड़ते रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सङ्कल्प रहित हो कर यथोचित क्रिया करते रहो। बिना किसी सङ्कल्प के, सुख दुःख की भावना न करते हुए, यथा प्राप्त कामों को ऐसे करते रहो जैसे तृण अपनी इच्छा न रहते हुए भी इधर से उधर उड़ता रहता है। जैसे लकड़ी की मशीन, अपने आप कुछ रस न लेते हुए भी,

दूसरों के लिये क्रिया करती है, वैसे ही (लोकोपकार के लिये) काम करते हुए तुम्हारे मन के भीतर उसका स्वाद नहीं आना चाहिये। तुम्हारी इन्द्रियों की सभी वृत्तियाँ नीरस हो जानी चाहियें—बाहर की ओर प्रवृत्त होते हुए भी उनमें चिदानन्द का ही रस होना चाहिये। जैसे चक्र शनैः शनैः घूमता रहता है वैसे ही तुम भी यथा प्राप्त क्रियाओं को सङ्कल्प और वासनाओं से रहित होकर करते ही रहो।

(८) आर्य का लक्षण :—

कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ (६।१२६।५४)

यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ (६।१२६।५५)

कर्त्तव्य को करता हुआ और अकर्त्तव्य को न करता हुआ जो स्वाभाविक रीति से काम करता रहता है उसे आर्य कहते हैं। जो व्यक्ति शास्त्र, सदाचार, परिस्थिति और अपने चित्त के अनुसार व्यवहार करता रहता है उसे आर्य कहते हैं।

———

RRana

२७—आत्मा का अनुभव

आत्मज्ञान की और उसके अभ्यास की पराकाष्ठा आत्मानुभव में होती है। विचार और अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर आत्मा का अनुभव उदय हो जाता है। वह अनुभव एक विचित्र अनुभव है—जिसकी उपमा किसी दूसरे अनुभव से नहीं दी जा सकती। उसका वर्णन भी करना कठिन है। उसको वही जानता है जिसको वह अनुभव होता है। यहाँ पर हम योगवासिष्ठ के अनुसार आत्मानुभव से पाठकों को परिचित कराना चाहते हैं।

(१) आत्मानुभव के उदय होने के लक्षण :—

जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ।
मननं त्यजतो ज्ञात्वा किंचित्परिणतात्मनः ॥ (४।२२।१)
दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ।
द्रष्टारं पश्यतो दृश्यमद्रष्टारमपश्यतः ॥ (४।२२।२)
जागर्तव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ।
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि ॥ (४।२२।३)
पर्यन्तात्यन्तवैराग्यात्सरसेष्वरसेष्वपि ।
भोगेष्वाभोगरम्येषु विरक्तस्य निराशिषः ॥ (४।२२।४)
संसारवासनाजाले खगजाल इवाखुना ।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥ (४।२२।७)
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति ॥ (४।२२।८)
नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव ॥ (४।२२।९)
शान्ते संदेहदौरात्म्ये गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥ (४।२२।१०)
जनितोत्तमसौन्दर्या दूरादस्तमयोन्नता ।
समतोदेति सर्वत्र शान्ते वात इवार्णवे ॥ (४।२२।११)

अन्धकारमयी मूका जाड्यजर्जरितान्तरा ।
तनुत्वमेति संसारवासनेत्रोदये क्षपा ॥ (४।२२।१२)
हृष्टचित्तास्करा प्रज्ञा पद्मिनी पुण्यपल्लवा ।
विकसत्यमलोद्योता प्रातर्द्यौरिव रूपिणी ॥ (४।२२।१३)
प्रज्ञा हृदयहारिण्यो भुवनाह्लादनक्षमाः ।
सत्त्वलब्धाः प्रवर्धन्ते सकलेन्दोरिवांशवः ॥ (४।२२।१४)
तरङ्गवदिमे लोकाः प्रयान्त्यायान्ति चेतसः ।
क्रोडीकुर्वन्ति चाशं ते न शं मरणजन्मनी ॥ (४।२२।१८)
विवेक उदिते शीते मिथ्या भ्रममरूदिता ।
क्षीयते वासना साग्रे मृगतृष्णा मराविव ॥ (४।२२।२१)

जैसे कतक (एक फल का नाम है) को पानी में डालते ही पानी निर्मल हो जाता है वैसे ही पक्षियों के जाल के चूहे द्वारा कट जाने की नांई, वैराग्य से संसार की वासनाओं के जाल के कट जाने पर, और हृदय की ग्रन्थियों के ढीला होकर खुल जाने पर, ज्ञान के कारण उस व्यक्ति के भीतर आत्मा का प्रकाश हो जाता है जो विचार कर चुका है; जिसके चित्त की वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं; जिसने मन की कल्पना शक्ति का त्याग कर दिया है और उसे आत्मा में परिणत कर लिया है; जिसने दृश्य को त्याग दिया है और हेयत्व और उपादेयत्व बुद्धि को छोड़ दिया है; जिसकी दृष्टि अद्रष्टा दृश्य की ओर न जाकर द्रष्टा आत्मा की ओर ही जाती है; जो परम तत्त्व में, जिसमें कि जागना चाहिये, जागने का यत्न कर रहा है, और गहन अन्धकार वाले संसार मार्ग में सो गया है; जो सरस भोग्य पदार्थों के प्रति भी वैराग्य द्वारा नीरसता प्राप्त करके विरक्त हो चुका है; और जो आशा-रहित हो गया है। जैसे पिञ्जरे से पक्षी बाहर निकल भागता है वैसे ही राग-रहित, द्वन्द्व-रहित और (बाहर के) आश्रय-रहित मन मोह से बाहर निकल जाता है। सन्देह, कौतुक और भ्रम के शान्त हो जाने पर परिपूर्ण होकर मन पूर्ण चन्द्रमा के समान विराजता है। जैसे हवा के बन्द हो जाने पर समुद्र शान्त हो जाता है वैसे ही (आत्मानुभव प्राप्त हो जाने पर) उस समता का अनुभव होता है जिसमें उदय और अस्त नहीं है और जो उत्तम सौन्दर्य को उत्पादन करने वाली है। जैसे सूर्य के उदय होने पर सुनसान और अन्धेरी रात्री क्षीण हो जाती है वैसे ही जड़ता से जर्जरित वासना क्षीण हो जाती है। जैसे प्रातःकाल में सुन्दर पंखड़ियोंवाली

कमल सूर्य को देख कर खिल उठता है वैसे ही आत्मा की ओर दृष्टि-वाली शुद्ध प्रज्ञा का उदय होता है। जैसे पूर्ण चन्द्रमा से किरणें फैलती हैं वैसे ही हृदय को मोहनेवाले, संसार को प्रसन्न करनेवाले, सत्त्व से प्राप्त ज्ञानों का उदय होता है। तरङ्ग के समान आने और जाने वाले ये लोक और जन्म-मरण अज्ञानी को ही अपनी गोद में लेते हैं (वश में करते हैं), ज्ञानी इनसे बच जाता है। जैसे शीतकाल के आने पर मरुस्थल में मिथ्या भ्रम से उत्पन्न हुई मृगतृष्णा की नदी देखते ही देखते ग़ायब हो जाती है, वैसे ही विवेक के उदय हो जाने पर मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुई वासना भी क्षीण हो जाती है।

(२) आत्मा का अनुभव :—

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये हि या स्थितिः।
निरस्तमनना यासौ स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥ (३।११७।८)
संशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलान्तरिव स्थितिः।
जाड्यनिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः स्मृता ॥ (३।११७।९)
अहंतांशे क्षते शान्ते भेदे निस्पन्दतां गते।
अजडा या प्रकचति तत्स्वरूपमिति स्थितम् ॥ (३।११७।१०)

चित्त के एक विषय से दूसरे विषय की ओर प्रवृत्त होने के मध्य की जो मानसिक क्रिया रहित स्थिति है वह आत्मस्वरूप की स्थिति है। शिला के भीतर के समान, सब सङ्कल्पों के क्षीण हो जाने पर जड़ता और निद्रा से रहित जो अपने भीतर का अनुभव है वह स्वरूप में स्थित होना है। अहंभाव के शान्त हो जाने पर, भेद का अनुभव न रहने पर, और स्पन्दहीन हो जाने पर, जो अजड़ अनुभव होता है वह अपने स्वरूप का अनुभव है।

(३) आत्मा के अनुभव का वर्णन नहीं हो सकता :—

अहंकारे परिक्षीणे यावस्था सुखमोदया।
सावस्था भरिताकारा सा सेव्या संप्रयत्नतः ॥ (६।६४।४७)
परिपूर्णार्णवप्रख्या न वाग्गोचरमेति या।
नोपमानमुपादत्ते नानुधावति रञ्जनम् ॥ (६।६४।४८)
केवलं चित्प्रकाशांशकलिका स्थिरतां गता।
तुर्या चेत्प्राप्यते दृष्टिस्तत्त्वा सोपमीयते ॥ (६।६४।४९)

अदूरगतसादृश्यात्सुषुप्तस्योपलक्ष्यते ।
सावस्था भरिताकारा गगनश्रीरिवातता ॥ (५।६४।५०)
मनोहंकारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ।
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी ॥ (५।६४।५१)
सा स्वयं योगसंसिद्धा सुषुप्ताद्दूरभाविनी ।
न गम्या वचसां राम हृद्ये वेहानुभूयते ॥ (५।६४।५२)
अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नानुभूयते ।
अनुभूतिं विना रूपं आत्मनश्चानुभूयते ॥ (५।६४।५३)
आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः ।
पण्डितास्तत्र शक्रश्रीर्जरत्तृणलवायते ॥ (६।१४३।२)
पाताले भूतले स्वर्गे सुखमैश्वर्यमेव वा ।
न तत्पश्यामि यन्नाम पाण्डित्यादतिरिच्यते ॥ (६।१४३।३)

अहंकार के क्षीण हो जाने पर जो सुख और प्रसन्नता देने वाली परिपूर्ण रूपवाली अवस्था उदय होती है उसमें स्थित रहने का प्रयत्न करना चाहिये। ऊपर तक भरे हुए समुद्र के समान वह परिपूर्ण अवस्था शब्दों द्वारा वर्णन नहीं की जा सकती। न उसका कोई वर्णन हो सकता है, और न उसकी कोई उपमा ही दी जा सकती है। चित्त के प्रकाश का एक अंशमात्र जो तुर्या अवस्था है यदि वह स्थिर हो जाए तो आत्मानुभव से उसकी कुछ उपमा दी जा सकती है। उस आकाश के समान विस्तृत और परिपूर्ण अवस्था की कुछ कुछ (बहुत कम) उपमा सुषुप्ति से भी दी जा सकती है। मन और अहंकार के लीन हो जाने पर जो परम आनन्दवाली और परमेश्वर के रूपवाली अवस्था, जो कि सब पदार्थों के भीतर स्थित है, और जो अपने आप किये हुए योग से ही सिद्ध होती है, अनुभव में आती है वह सुषुप्ति से बहुत भिन्न है। उसका अनुभव केवल अपने भीतर ही हो सकता है- शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। जैसे बिना अनुभव किये मिठाई का स्वाद नहीं मालूम होता उसी प्रकार बिना अपने अनुभव के आत्मा का स्वरूप नहीं मालूम पड़ता। आत्मा का अनुभव जिनको हो गया है वे ज्ञानी जिस गति को प्राप्त होते हैं उसके सामने इन्द्र की लक्ष्मी भी तृण के समान तुच्छ है। पाताल, भूतल और स्वर्ग में कहीं भी वह सुख और ऐश्वर्य दिखाई नहीं पड़ता जो आत्मज्ञान से बढ़ कर हो।

(४) आत्मानुभव में मन का अस्तित्व नहीं रहता :—

अविद्यत्वादचित्तत्वान्मायात्वाच्चासदेव हि ।
ध्रुवं नास्त्येव वा चित्तं भ्रमादन्यत्खवृक्षवत् ॥ (५।८१।३)

चक्रारोहभ्रमस्यान्ते पर्वतस्पन्दनं यथा ।
मौर्ख्यमोहभ्रमे शान्ते चित्तं नोपलभामहे ॥ (५।८१।५)

मृतं चित्तं गता तृष्णा प्रक्षीणो मोहपञ्जरः ।
निरहंकारता जाता जाग्रत्यस्मिन्प्रबुद्धवान् ॥ (५।८१।९)

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते ।
बोधोऽप्यसत्त्वमायाति परमार्थो मनोमृगः ॥ (६।४६।१)

क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत् ।
परमार्थदृशैवास्ते सत्त्रानन्तावभासिनी ॥ (६।४६।२)

मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता ।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽसर्वात्मिका सती ॥ (६।४६।४)

सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता ।
अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ (६।४६।५)

स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलैषणम् ।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ (६।४६।६)

परमार्थकलामेत्य न जाने क्व मनो गतम् ।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ (६।४६।८)

विद्यमान न होने के कारण, असत्य होने के कारण, मायामय होने के कारण, मन आकाश-वृक्ष की नाईं भ्रम के सिवाय कुछ भी सत् पदार्थ नहीं है। जैसे चक्रारोह भ्रम (घूमते हुए यन्त्र पर चढ़ने से जो चारों ओर की वस्तुएँ घूमती हुई दिखाई पड़ने लगती हैं उस भ्रम) के अन्त हो जाने पर जैसे पर्वतों का घूमना बन्द हो जाता है, वैसे ही अज्ञान और मोह के भ्रम के शान्त हो जाने पर चित्त (मन) का अनुभव नहीं रहता। ज्ञानी के आत्मभाव में जाग्रत हो जाने पर मन मर जाता है, तृष्णा भाग जाती है, मोह क्षीण हो जाता है और अहङ्कार विलीन हो जाता है। परमार्थ का ज्ञान हो जाने पर, और मुक्ति में परिणति हो जाने पर, मन रूपी सचा मृग भी असत् हो जाता है; जैसे जिस दीप का तेल खतम हो गया है वह बुझ जाता है, वैसे ही आत्मानुभव हो जाने पर मन की चञ्चलता कहीं चली जाती है और अनन्त प्रकाशवाली

परमार्थ दशा ही बाक़ी रह जाती है; मन की मनस्ता (चित्तपना, चञ्चलता और सङ्कल्प-विकल्पात्मकता) कहीं चली जाती है, और वह शुद्ध बोध ही शेष रह जाता है जो बोधरहित, विभागरहित, सब कुछ, सूक्ष्म और परमार्थ वस्तु है। विवेक के उदय हो जाने पर चित्तसत्ता ही शुद्ध बोध में परिणत हो जाती है, और अनादि और अनन्त शुद्ध प्रकाश का अनुभव देने लगती है। तब आप से आप ही उसके स्थान पर अनादि, अनन्त और अनायास ध्यान ही, जिसमें सब वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं, शेष रह जाता है। परमार्थ की एकता का अनुभव हो जाने पर न जाने कहाँ मन चला जाता है, कहाँ वासना, कहाँ कर्म, और कहाँ हर्ष और शोक का अनुभव?

(५) एक बार जाकर अविद्या फिर नहीं लौटती :—

क्षीणे स्वहृदयग्रन्थौ न बन्धोऽस्ति पुनर्गुणैः।
यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्ते च्युतं फलम्॥ (५।७४।७९)
परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्॥ (५।७४।८३)
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः॥ (४।७४।८४)
अविद्या संपरिज्ञाता न चैनं परिकर्षति।
मृगतृष्णा परिज्ञाता तर्षुलं नावकर्षति॥ (६।७४।२०)
अविद्या संपरिज्ञाता यदैव हि तदैव हि।
सा परिक्षीयते भूयः स्वप्नेनेव हि भोगभूः॥ (५।६४।१३)

जैसे एक बार वृक्ष से गिरा हुआ फल यत्न से भी उस पर नहीं लगाया जा सकता, वैसे ही एक बार हृदय की गांठ खुल जाने पर फिर गुणों के बन्धन में मन नहीं पड़ सकता। जैसे किसी के प्रेम में फँसी हुई स्त्री अपने घर के कामों में लगी हुई भी अपने प्रेमी के सङ्ग के स्वाद में मस्त रहती है, वैसे ही धीर पुरुष जब परम शुद्ध एक तत्त्व में विश्राम पा लेता है तब उसे इन्द्र सहित सब देवता भी उस पद से नहीं डिगा सकते। जैसे मृगतृष्णा का ज्ञान हो जाने पर वह प्यासे को भी नहीं आकर्षण करती, वैसे ही जानी गई अविद्या ज्ञानी को आकर्षित नहीं करती। जब अविद्या का पूरा ज्ञान हो जाता है तभी वह स्वप्न के भोगों की नाईं क्षीण हो जाती है।

(६) परम तृप्ति का अनुभव :—

मोक्षमिच्छाम्यहं कस्माद्बद्धः केनास्मि वै पुरा ।
अबद्धो मोक्षमिच्छामि केयं बालविडम्बना ॥ (६।२६।१०)
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति मौर्ख्यं मे क्षयमागतम् ।
किं मे ध्यानविलासेन किं वाध्यानेन मे भवेत् ॥ (६।२६।११)
ध्यानाध्यानभ्रमौ त्यक्त्वा पुंस्त्वं स्वमवलोकयत् ।
यदायाति तदायातु न मे वृद्धिर्न वा क्षयः ॥ (६।२६।१२)
न ध्यानं नापि वाऽध्यानं न भोगान्नाप्यभोगिताम् ।
अभिवाञ्छामि तिष्ठामि सममेव गतज्वरः ॥ (६।२६।१३)
न मे वाञ्छा परे तत्त्वे न मे वाञ्छा जगत्स्थितौ ।
न मे ध्यानदशाकार्यं न कार्यं विभवेन मे ॥ (६।२६।१४)
नाहं मृतो न जीवामि न सन्नासन्न सन्मयः ।
नेदं मे नैव चान्यन्मे नमो मह्यमहं बृहत् ॥ (६।२६।१५)
इदमस्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यत्र तु संस्थितः ।
नेह वास्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यात्मनि शीतलः ॥ (६।२६।१६)
किं मे ध्यानदशा कार्यं किं राज्यविभवश्रिया ।
यदायाति तदायातु नाहं किञ्चन मे क्वचित् ॥ (६।२६।१७)
न किञ्चिदपि कर्तव्यं यदि नाम मयाधुना ।
तत्कस्मान्न करोमीदं किञ्चित्प्रकृतकम वै ॥ (६।२६।१८)
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न च भोगविवर्जने । (६।३६।३८)
अस्ति सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥ (३।१०७।२६)
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ।
सुखेषु मम नापेक्षा नोपेक्षा दुःखवृत्तिषु ॥ (६।३६।३९)
सुखदुःखान्युपायान्तु यान्तु वाप्यहमेषु कः ।
वासना विविधा देहे त्वस्तं चोदयमेव वा ॥ (६।३६।४०)
देहस्याहमहं देहीति क्षोणे चित्तविभ्रमे ।
त्यजामि न त्यजामीति किं मुधा कलनोदिता ॥ (६।४०।१२)
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्लब्धात्मस्वपदास्पदः ।
अनिर्वृत्तिपदं प्राप्तो मनसा कर्मणा गिरा ॥ (६।७४।३६)
सर्वत्रैव हि तुष्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो ।
अवाञ्छनत्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम् ॥ (३।१०७।२७)

इदं सुखं इदं नेति मिथुने क्षयमागते ।
सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथासुखम् ॥ (६।१०९।७०)

मोक्ष की मैं क्यों इच्छा करूँ, मुझे बन्धन ही किस बात का था ? जब मैं बद्ध ही नहीं हूँ तो मेरी मोक्ष की इच्छा भी बाल विडम्बना है। मेरा अज्ञान दूर हो गया है; अब न बन्धन है और न मोक्ष। ध्यान से मुझे अब क्या ? और ध्यान न लगाने से मुझे क्या ? ध्यान और अध्यान दोनों को छोड़कर अपने आत्मा को अनुभव करने वाले के लिये जो आवे सो आवे; न मेरी वृद्धि होती है और न मेरा क्षय ! न मुझे ध्यान की अब इच्छा है और न अध्यान की; न भोगों की और न भोग त्याग की; मैं तो बिना किसी दुःख के समभाव से स्थित हूँ। न मेरी परम तत्त्व में वाञ्छा है और न मेरी जगत् की स्थिति में वाञ्छा है ! न मुझे ध्यान से कुछ मतलब और न संसार के वैभव से ! न मैं मरा हूँ, न मैं जीता हूँ; न मैं सत् हूँ, न मैं असत् हूँ। न यह मेरा है न वह मेरा है ! मैं बहुत ही महान् हूँ, मुझे नमस्कार है ! यदि जगत् का राज्य मिले तो भी मैं स्वस्थ हूँ ! राज्य चला जाए तो भी मैं शीतल भाव से स्थित हूँ। मुझे ध्यान से कुछ नहीं करना, मुझे राज्य के विभव से कुछ नहीं करना ! जो आता है वह आवे ! न मैं कुछ हूँ और न मेरा कुछ है। जब कि अब मेरे लिये कुछ कर्त्तव्य (करने योग्य काम) नहीं है, तो मैं क्यों न प्राकृत कामों को करता रहूँ ? मुझे न भोगों की प्राप्ति के लिये वाञ्छा है न भोगों के त्याग के लिये। मेरा स्वर्ग कहीं एक स्थान पर नहीं है; मेरे लिये सब जगह ही स्वर्ग है। जो आता हो वह आए, जो जाता हो वह जाए। न मेरी सुखों में वाञ्छा है और न दुःखों से द्वेष। दुःख-सुख आवें या जावें ! मैं इनमें पड़ने वाला कौन हूँ ? इस शरीर में अनेक वासनाएँ उदय और अस्त होती रहें, मुझे क्या ? जब मनमें से यह भ्रम मिट गया कि यह शरीर मेरा है मैं इस शरीर का हूँ तो फिर यह बात फिजूल ही है कि मैं इस शरीर को रक्खू या त्यागूँ। मैंने सबसे उत्तम विश्राम और दुर्लभ पद की प्राप्ति कर ली है, और मन, वचन और कर्म के द्वारा उस परम अवस्था की प्राप्ति कर ली है जहाँ से फिर लौटना नहीं है। यह सुखदायक है यह सुखदायक नहीं है—इस प्रकार के मेरे विचार क्षीण हो गये हैं। अब मैं शान्त और सम पद में आनन्द पूर्वक स्थित हूँ।

२८—जीवन्मुक्ति

ऊपर वर्णन की हुई अवस्था जिसको प्राप्त हो गई है वह मुक्त कहलाता है। इस प्रकार की मुक्ति शरीर के मौजूद रहते हुए ही प्राप्त हो जाती है। प्रारब्ध कर्मों से बना हुआ और प्राकृत क्रियाएँ करता हुआ शरीर इस प्रकार की मुक्ति का अनुभव करने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालता। जब प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जानेपर वह शरीर मौत के द्वारा क्षीण हो जाता है तो ज्ञानी विदेहमुक्त हो जाता है। उसके लिये किसी शरीर का कर्मकृत बन्धन नहीं रहता। मुक्त ज्ञानी शरीरकी मृत्यु पर्यन्त जीवन्मुक्त (अर्थात् जीवित अवस्था में ही मुक्त) कहलाता है। यहाँपर हम योगवासिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्ति की दशा का और जीवन्मुक्त पुरुषों का वर्णन करेंगे।

(१) जीवन्मुक्तोंके लक्षण :—

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो।
अन्तर्मुखमतेर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते॥ (६।१६९।१)

सुखदुःखेषु भीमेषु संकटेषु महत्स्वपि।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः॥ (६।१९८।२७)

यस्य कस्मिंश्चिदप्यर्थे क्वचिद्रसिकतास्ति नो।
व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विश्रान्त उदाहृतः॥ (६।१६९।८)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
यथाप्राप्तं विहरतः स विश्रान्त इति स्मृतः॥ (६।१६९।९)

नाभ्यस्यते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित्।
नार्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत्॥ (६।१०२।१२)

उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकानोद्वेजयन्ति च॥ (६।१९८।२)

तेषां तनुत्वमायान्ति कोपमोहादयोऽरयः॥ (६।१९८।१)

मनोज्ञमधुराचाराः प्रियपेशलवादिनः॥ (६।१९८।३)

विवेक्तारः कार्याणां नियोक्तारः क्षणादपि॥ (६।१९८।४)

अक्षुब्धमकराधारा गम्भीरा सागरा इव।
बहिः सर्वसमाचारा अन्तः सर्वार्थशीतलाः॥ (६।१९८।९)

उपेक्षते न सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोमसौम्यो भवत्यन्तः शीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ (६।४९।१०)

प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ (६।१२२।९)

वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयन्त्रणयोज्झितः ।
निर्गच्छति जगज्जालात्पञ्जरादिव केसरी ॥ (६।१२२।२)

सर्वकर्मफलत्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
न पुण्येन न पापेन लिप्यते नेतरेण च ॥ (६।१२२।९)

वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव त्रुट्यन्त्यलं शनैः ।
कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ॥ (६।११६।४)

मुदिताया: श्रियो वक्त्रं न मुञ्चन्ति कदाचन ।
न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ (६।१२।२)

केषुचिन्नानुबध्नाति तृप्तमूर्खिरसक्तधीः ॥ (५।९३।३९)

जीवन्मुक्तो गतासङ्गः सम्राडात्मेव तिष्ठति ॥ (५।९३।२४)

परिपूर्णमना मानी मौनी शत्रुषु चाचलः ॥ (५।९३।३९)

सम्पत्स्वापत्सु चोग्रासु रमणेपूत्सवेषु च ॥ (५।९३।५२)

विहरन्नपि नोद्वेगी नानन्दमुपगच्छति ।
अन्तर्मुक्तमना नित्यं कर्मकर्तेव तिष्ठति ॥ (५।९३।५३)

न बिभेति न चादत्ते वैवश्यं न च दीनताम् ।
सम: स्वस्थमना मौनी धीरस्तिष्ठति शैलवत् ॥ (५।९३।५५)

आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव हि संतुष्टो न करोति न चेहते ॥ (५।८९।१६)

न तस्यार्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण नो मानैर्नाशामरणजीवितैः ॥ (५।८९।१८)

समग्रसुखभोगात्मा सर्वाशास्विव संस्थितः ।
करोत्यखिलकर्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः ॥ (५।७७।११)

उदासीनवदासीनः प्रकृतः क्रमकर्मसु ।
नाभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति ॥ (५।७७।१२)

अनुबन्धपरे जन्तावसंसक्तेन चेतसा ।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥ (५।७७।१३)

बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनुदुःखितः ॥ (५।७७।१४)

न तस्य सुकृतेनार्थो न भोगैर्न च कर्मभिः ।
न दुष्कृतेन भोगानां संत्यागेन न बन्धुभिः ॥ (५।७७।१८)
सर्वं सर्वप्रकारेण गृह्णाति च जहाति च ।
अनुपादेयसर्वार्थो बालवच्च विचेष्टते ॥ (५।७७।२५)
स तिष्ठन्नपि कार्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ।
न कार्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते ॥ (५।७७।२६)
न कदाचन दीनात्मा नोद्धतात्मा कदाचन ।
न प्रमत्तो न खिन्नात्मा नोद्विग्नो न च हर्षवान् ॥ (५।७७।३२)
अयत्नोपनतं सर्वं लीलयासक्तमानसः ।
भुङ्क्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ (५।७४।६३)
सर्वशत्रुषु मध्यस्थो दयादाक्षिण्यसंयुतः । (५।१८।६)
रागद्वेषैः स्वरूपज्ञो नावशः परिकृष्यते ॥ (५।७४।६१)
इमं विश्वपरिस्पन्दं करोमीत्यस्तवासनम् ।
प्रवर्तते यः कार्येषु स मुक्त इति मे मतिः ॥ (५।६।१)
यः कुर्वन्सर्वकार्याणि पुष्टे नष्टेऽथ सत्फले ।
समः सन्सर्वकार्येषु न तुष्यति न शोचति ॥ (५।६।१०)
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ (४।४६।८)
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् ।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥ (४।४६।२६)
विगतेच्छा यथाप्राप्तव्यवहारानुवर्तिनः ।
विचरन्ति समुन्नद्धाः स्वस्था देहरथे स्थिताः ॥ (४।४६।२९)
बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्त स उच्यते ॥ (३।९।५)
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।१२)
यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।९)
पुत्रदारसमग्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ (६।४५।१४)
न स चेतयते काश्चिल्लोकव्यवहारजैषणाः ।
अपूर्वपदविश्रान्तो जीवन्नेव यथा ह्यजः ॥ (६।४९।१७)

आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स मुक्त इति कथ्यते ॥ (६।१६।१८)
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्येष्टानिष्टवस्तुषु ।
सुषुप्तवच्चरति यः स मुक्त इति कथ्यते ॥ (६।१६।१९)
हेयोपादेयकलने ममेत्यहमिहेति च ।
यस्यान्तः संपरिक्षीणे स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (६।१६।२०)
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (६।१६।२१)
सर्वप्रकृतकार्यस्थो मध्यस्थः सर्वदृष्टिषु ।
ध्येयं तं वासनात्यागमवलम्ब्य व्यवस्थितः ॥ (६।१८।३)
सर्वत्र विगतोद्वेगः सर्वार्थपरिपोषकः ।
विवेकोद्यतदृष्टात्मा प्रबोधोपवनस्थितिः ॥ (६।१८।४)
सर्वातीतपदालम्बी पूर्णेन्दुशिशिराशयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥ (६।१८।५)
सङ्गरङ्गविनिष्क्रान्तः शान्तमानमनोज्वरः ।
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ॥ (६।७४।३३)
निर्मृष्टकामपङ्काङ्कश्छिन्नबन्धनिजभ्रमः ।
द्वन्द्वदोषभयोन्मुक्तस्तीर्णसंसारसागरः ॥ (६।७४।३४)
सर्वाभिवाञ्छितारम्भो न किञ्चिदपि वाञ्छति ।
सर्वानुमोदितानन्दो न किञ्चिदनुमोदते ॥ (६।७४।३६)
सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सर्वाशासम्परित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥ (६।७४।३८)
जीवन्मुक्ता न सज्जन्ति सुखदुःखरसस्थितौ ।
प्रकृतेनाथकार्याणि किञ्चित्कुर्वन्ति वा न वा ॥ (३।११८।१८)
आत्मारामतया तांस्तु सुखयन्ति न काञ्चन ।
जगत्क्रियाः सुसंसुप्तान्रूपालोकाः श्रियो यथा ॥ (३।११८।२०)
नाभिनन्दन्ति सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिशोचति ।
केवलं विगताशङ्कं सम्प्राप्तमनुवर्तते ॥ (३।१२२।१४)
नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ (३।९।६)
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।८)

यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः।
पदार्थेष्वपि पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥ (३।९।१३)

जिस अन्तर्मुखी वृत्तिवाले को सुखों से सुख और दुःखों से दुःख का अनुभव नहीं होता वह मुक्त कहलाता है। ऐसे समदृष्टिवाले लोग बड़े बड़े भयानक और बार बार आनेवाले सुख-दुःखों से भी मन में विकार नहीं आने देते। जगत् का सब व्यवहार करते हुए भी जिसके मन में किसी वस्तु के प्रति रसिकता नहीं आती वह शान्त कहलाता है। जिसके सब काम इच्छा और सङ्कल्प से रहित होते हैं और जो यथा-प्राप्त क्रियाएँ करता रहता है वही शान्त कहलाता है। मुक्त पुरुष को न किसी वस्तु के प्रति रसिकता होती है और न नीरसता। वह विषयों का इच्छुक होकर विषयों में नहीं रमता। रागवाला दिखाई देता हुआ भी वह रागरहित रहता है। मुक्त पुरुष न किसी को उद्विग्न करते हैं और न वे किसी से उद्विग्न होते हैं। उनके लोभ मोह आदि दुश्मन नष्ट हो जाते हैं। वे दूसरों के मन के भावों को जानकर लोकप्रिय आचरण करते हैं और प्रिय और मधुर वाणी बोलते हैं। वे क्षण भर में कार्य्यों का विवेचन और निर्णय कर लेते हैं। वे नागरिक जनों के समान आचारवाले और सब के बन्धु होते हैं; बाहर से तो वे सब काम करते हुए दिखाई पड़ते हैं लेकिन भीतर सब प्रकार से शान्त रहते हैं। मुक्त पुरुष प्राप्त वस्तु की उपेक्षा नहीं करता, और अप्राप्त वस्तु की वाञ्छा नहीं करता; सब वृत्तियों में अपने अन्दर शान्त और शीतल रहता है। जो कार्य जीवन-प्रवाह में करने को मिले उसे जो कामना और सङ्कल्प-रहित होकर और हृदय में शून्यता का भाव रखकर करते हैं वे ही ज्ञानी हैं। मुक्त पुरुष वर्ण, धर्म, आश्रम, आचार और शास्त्रों की यन्त्रणा से बरी होकर जगत् के जञ्जाल से इस प्रकार निकल भागता है जैसे पिञ्जरे से शेर। सब कर्मों का फल त्यागनेवाला, सदा तृप्त, किसी के आश्रित न रहनेवाला वह पुण्य, पाप या और किसी भाव में लिप्त नहीं होता, उसकी वासनाओं की गाँठें खुलकर धीरे धीरे गिर जाती हैं; गुस्सा कम हो जाता है और मोह मन्द पड़ जाता है। उसके चेहरेपर सदा ही प्रसन्नता की शोभा छाई रहती है। वह जीवन की चाह और मौत की निन्दा नहीं करता। वह किसी वस्तु के बन्धन में नहीं पड़ता; सदा ही तृप्त और असक्त रहता हुआ सम्राट् की नाई प्रसन्न रहता है। वह परिपूर्ण मनवाला, अपने मान में रहनेवाला,

मौनी और शत्रुओं के मध्य में भी अचल रहनेवाला है। भयानक आपत्तियों में, सम्पत्ति की अवस्थाओं में और आनन्द दायक उत्सवों में विचरण करते हुए, उसे न उद्वेग होता है और न आनन्द। मन के भीतर सदा मुक्त रहता हुआ भी वह सब कामों को करता रहता है। न वह डरता है, न वह विवश और दीन होता है; वह मौनी, सम और स्वस्थ मन होकर पर्वत के समान धीरता से रहता है। सब वस्तुओं से विरक्त, इच्छाओं से रहित, वह आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है; न किसी वस्तु की चाहना करता है और न इस ही लिये कोई काम करता है। न उसको आकाशगमन आदि सिद्धियों की इच्छा होती है और न भोगों की प्राप्ति की, न प्रभाव की, न सम्मान की, न मरने की और न जीने की। वह सब सुखों का भोगता हुआ और सब प्रकार की आशाओं-वाला दिखाई पड़ता है, और कर्त्ता होने के भ्रम को त्यागकर वह सब कामों को करता रहता है। प्राकृत कामों में लगा हुआ भी वह उदासीन के समान रहता है; वह न वाञ्छा करता है, न सोच फ़िक्र; न द्वेष करता है और न हर्ष। जैसा अवसर हो उसके अनुसार असक्त मन से वह भक्त के प्रति भक्त का, शठ के प्रति शठ का, बालक के प्रति बालक का सा, वृद्धों के प्रति वृद्धों का सा, धीरों के प्रति धीरता का व्यवहार करता है। यौवन-वृत्तिवालों में वह युवा की नाईं रहता है और दुःखियों को देखकर दुःखी होता है। उसको न भले काम करने से कुछ मतलब, न बुरे; न भोगों से और न कर्म करने से, न भोगों के त्यागने से, और न बन्धुओं से। सब वस्तुओं को सब प्रकार से वह ग्रहण और त्याग करता रहता है। उसे कुछ प्राप्त ता करना ही नहीं तो भी बालकों की नाईं वह सदा काम में लगा रहता है। वह देश, काल, क्रिया और क्रम के अनुसार सब कर्मों को करता हुआ भी कामों से उत्पन्न सुख दुःखों से परे रहता है। वह न कभी दीन होता है, न कभी उद्धत, न प्रमत्त, न खिन्न, न उद्विग्न, न हर्षित। जैसे आँख देखने का आनन्द लेती है वैसे ही वह भी बिना विशेष यत्न किये यथाप्राप्त भोगों को लीला से असक्त मन होकर भोगता रहता है। शत्रुओं के बीच में भी वह दया और चतुराई से रहता है। अपने स्वरूप को जाननेवाला वह राग द्वेषों के वश में नहीं होता। वासना रहित होकर जो इस भाव से कामों को करता है कि वह विश्व की क्रियाएँ हैं, वह मुक्त है। वह कामों के करते हुए उनके बनने और बिगड़नेसे प्रसन्न नहीं होता और सोच फ़िक्र नहीं करता और सदा

ही समभाव से रहता है। अप्राप्त की वाञ्छा न करना और प्राप्त भोगों को भोग लेना ज्ञानियों का लक्षण है। ज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार को न त्यागते हैं और न उसकी कामना ही करते हैं जैसा-जैसा अवसर होता है वे वैसा ही व्यवहार करते हैं। अपने शरीररूपी रथ में स्वस्थ और उन्नत मस्तक होकर बैठे हुए मुक्त लोग इच्छा-रहित रहते हुए यथाप्राप्त व्यवहार को करते हुए विचरते हैं। बोधमात्र में स्थित वे जीवन्मुक्त जागते हुए भी सोते से दिखाई पड़ते हुए जगत् के सब व्यवहार करते रहते हैं। जीवन्मुक्त की सब सांसारिक कल्पनाएँ शांत हो गई हैं। वह कल्पना युक्त होता हुआ भी कल्पना-रहित है; चित्तयुक्त होता हुआ भी चित्त रहित है। काम करते हुए या न करते हुए उसमें अहंभाव नहीं रहता; उसकी बुद्धि किसी काम में लिप्त नहीं होती। स्त्री पुत्र, मित्र धन सम्पत्ति को वह पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों का फल और स्वप्न के समान समझता है। उसके अन्दर लोकेषणा, दारेषणा और धनेषणा नहीं उत्पन्न होतीं; वह अपूर्व विश्रान्ति का अनुभव करता है और जीता हुआ ही मुर्दे के समान दिखाई पड़ता है। सामयिक आपत्तियों में, सदा रहने वाले सुखों और दुःखों में; न वह प्रसन्न होता है और न ग्लानि का अनुभव करता है। इष्ट वस्तु की चाहना और अनिष्ट वस्तु से नफरत उसके मन में नहीं होती; वह सदा सोते हुए पुरुषों की नाईं प्रकृत आचरण करता रहता है। जिसके भीतर हेय और उपादेय की कल्पना और "मैं और मेरा" भाव क्षीण हो गया है वह जीवन्मुक्त है। जिसके मन पर हर्ष और शोक, भय, क्रोध, काम और कृपणता आदि का असर नहीं होता वह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त सब स्वाभाविक कामों को करता है और सब दृष्टियों में मध्यस्त रहता है (अर्थात् किसी एक दृष्टि का पक्षपात नहीं करता)। वह सदा ध्येय वासना-त्याग का अवलम्बन करके स्थित रहता है। सदा और सब जगह उद्वेग से रहित और सब कामों में सहायता देने वाला है। वह विवेक में स्थिर, आत्मा को जानने वाला और प्रबोधरूपी उपवन में सदा वास करने वाला है। वह सब से परे वाले पद का ही अवलम्बन करता है; न कभी उद्विग्न होता है और न हर्षित; वह संसार में कभी दुःख नहीं पाता। वह संगरूपी रङ्ग से रहित है; उसका अभिमान रूपी ज्वर उतर चुका है; वह आत्मानुभव के आनन्द में स्थित रहता है; पूर्ण और पवित्र मन वाला होता है। वह काम रूपी

कीचड़ से स्पृष्ट नहीं होता; उसका भ्रमरूपी बन्धन कट चुका है; वह द्वन्द्व, दोष और भय से मुक्त है और संसारसागर से पार हो चुका है। यद्यपि उसके कामों से ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कुछ चाहता है, किन्तु वास्तव में वह कुछ भी नहीं चाहता; सब कामों में प्रसन्न होता और आनन्द लेता दिखाई देता हुआ भी वह वास्तव में किसी विषय से प्रसन्न नहीं होता। वह किसी भी काम के करने की वासना नहीं रखता, सब उपाधियों से बरी रहता है, और सब आशाओं को त्याग चुका है। जीवन्मुक्त किसी दुःख-सुख देने वाली स्थिति में नहीं फँसते; केवल स्वाभाविक काम करते हैं; या कुछ भी नहीं करते। वे सदा ही आत्मा में रत रहते हैं, संसार के व्यवहार उनको इस प्रकार कुछ आनन्द नहीं दे सकते जैसे कि सोये हुए पुरुष को मनोहर रूपवाली स्त्रियां। जो उनको प्राप्त नहीं है उसकी वे चिन्ता नहीं करते, और जो उनको प्राप्त हो गया है उसकी वे प्रशंसा नहीं करते, शंकारहित होकर वे यथाप्राप्त स्थितियों के अनुसार व्यवहार करते हैं। उस यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार व्यवहार करने वाले जीवन्मुक्त के मुख की शोभा सुख-दुःख में उदय और अस्त नहीं होती; बाहर राग द्वेष और भय आदि भावों के अनुसार आचरण करता हुआ भी वह भीतर आकाश के समान शुद्ध रहता है। वह सब विषयों के बीच में व्यवहार करता हुआ भी शीतल और परिपूर्ण रहता है।

(२) जीवन्मुक्त के लिये न कुछ प्राप्य है और न त्याज्य :—

हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै।
क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा॥ (६।११९।२)

न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत्।
न वास्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रेयतां गतम्॥ (६।११९।३)

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥ (६।११९।४)

नित्यं प्रबुद्धचित्तास्तु कुर्वन्तोऽपि जगत्क्रियाः।
आत्मैकतत्त्वसन्निष्ठाः सदैव सुसमाधयः॥ (५।६२।६)

काकतालीयवद्धृतां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा।
नकुर्वन्त्यपि वै किञ्चिदेषां क्वचिदपि ग्रहः॥ (६।६९।११)

रूपालोकनमस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन।
ज्ञः करोत्यनुपादेयान्न ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥ (१।३।१२)

यस्मादात्मनो व्यतिरिक्ते वस्तुनि सिद्धे सति तत्रेच्छा प्रवर्तते। यत्र स्वात्मनो व्यतिरिक्तं न किञ्चिदपि सम्भवति तत्रात्मा किमिव वाञ्छन्किमनुस्मरन्धावतु किमुपैतु ॥ (४।३७।१०)

अत इदमीहितमिदमनीहितमित्यात्मानं न स्पृशन्ति विकल्पाः। अतो निरिच्छतायामात्मा न किञ्चिदपि करोति कर्तृकरणकर्मणामेकत्वात् नच निरिच्छस्यात्मनो नैष्कर्म्यमभिमतं, द्वितीयायाः कल्पनाया अभावात् ॥ (४।३७।११)

जिसके मनमें यह विचार ही नहीं रहा कि अमुक वस्तु प्राप्य है और अमुक वस्तु त्याज्य है उसको कर्मों का त्याग करने से क्या और उनको करने से क्या ? कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ज्ञानी को उद्वेग देनेवाली, अतएव त्याज्य हो; न कोई ऐसी वस्तु है जो कि ज्ञानी के लिये प्राप्य हो और जिसके लिये वह यत्न करे। ज्ञानी को कर्मों के त्यागने से कुछ लाभ नहीं, और न कर्मों के करने से कोई हानि है; इसलिये वह जैसी स्थिति होती है उसके अनुसार व्यवहार करता है। वे सदा प्रबुद्ध मन वाले संसार के सब काम करते हुए भी आत्मा में ही स्थित रहने के कारण सदा ही समाधि में रहते हैं। संयोगवश जो काम उनके पल्ले पड़ जाता है उसे वे सदा करते हैं। यदि वे न भी करें तो उनके ऊपर कोई मजबूरी नहीं है। इन्द्रियों और मनकी सभी क्रियाएँ करते हुए भी ज्ञानी उनको इस भावना से नहीं करता कि उसको किसी वस्तु की प्राप्ति करनी है। अतएव ज्ञानी कभी कर्ता नहीं होता। यदि आत्मा से अतिरिक्त और कोई दूसरा पदार्थ सत्य हो तभी तो उसके प्राप्त करने की इच्छा की जावे; जब कि आत्मा से अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं तब फिर आत्मा किसकी इच्छा करे, किसका ध्यान करे, किसके पीछे दौड़े और किसको प्राप्त करे ? इसलिये यह वाञ्छनीय है और यह अवाञ्छनीय है इस प्रकार का विचार मुक्त के आत्मा में नहीं उठता ! इस प्रकार की इच्छा न होने पर आत्मा कुछ भी नहीं करता क्योंकि कर्ता, कर्म और कारण सब आत्मा ही है। इच्छा रहित आत्मा कर्म रहित भी नहीं होना चाहता, क्योंकि आत्मा के सिवाय और कोई वस्तु है ही नहीं जिससे वह डरे।

(३) जीवन्मुक्त महाकर्ता है :—

धर्माधर्मौ महाभाग शङ्काविरहिताक्षयः ।
यः करोति यथाप्राप्तौ महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।११)

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१२)

मौनवन्निरहंभावो निर्मलो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगं महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१३)

शुभाशुभेषु कार्येषु धर्माधर्मौ कुशङ्कया ।
मतिर्न लिप्यते यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१४)

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते यो नोदेति महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१६)

उदासीनः कर्तृतां च कर्माकर्माचरंश्च यः ।
समं यात्यन्तरत्यन्तं महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१८)

स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै ।
शुभाशुभं ह्याचरन्यो महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१९)

जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
सममेव मनो यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२०)

वह महाकर्ता है जो यथा प्राप्त धर्म और अधर्म को शङ्का रहित होकर करता है; जो रागद्वेष, सुख-दुःख, धर्म अधर्म, सफलता और विफलता में निरपेक्ष रहकर काम करता है; जो अहंभाव, मल और मत्सर से रहित होकर मौनी की नाईं उद्वेग रहित रहकर काम करता है; जिसके मन में शुभ और अशुभ धार्मिक और अधार्मिक कामों के करते हुए शङ्का नहीं होती; जो उद्वेग और आनन्द से रहित है, जो सम और शुद्ध बुद्धि से काम करते हुए न उल्लसित होता है और न चिन्ता करता है; जो कर्म और अकर्म दोनों में उदासीन रहकर काम करता हुआ भीतर समभाव से रहता है; जो स्वभाव से ही शान्त है, जो शुभ या अशुभ कामों को करता हुआ कभी समता का त्याग नहीं करता; और जिसका मन उत्पत्ति, स्थिति, नाश, उदय और अस्त, सब अवस्थाओं में समान रहता है।

(४) संसार का व्यवहार करता हुआ भी जीवन्मुक्त समाधि में ही रहता है :—

व्यवहारी प्रबुद्धो यः प्रबुद्धो यो वने स्थितः ।
द्वावेतौ सुसमौ नूनमसंदेहं पदं गतौ ॥ (५।५६।१२)
अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतः प्रतनुवासनम् ।
दूरंगतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा ॥ (५।५६।१३)
अकुर्वदपि कर्त्रेव चेतः प्रघनवासनम् ।
निस्पन्दाङ्गमपि स्वप्ने श्वभ्रपातस्थिताविव ॥ (५।५६।१४)
चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥ (५।५६।१५)
गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहंकृतिदोषाणां विजना वनभूमयः ॥ (५।५६।२१)
अरण्यसदने तुल्ये समाहितमनोदृशाम् ॥ (५।५६।२३)
अन्तः शीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् ॥ (५।५६।३३)
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा ।
यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥ (५।५६।२७)
यः सर्वगतमात्मानं पश्यन्समुपशान्तधीः ।
न शोचति ध्यायति वा स समाहित उच्यते ॥ (५।५६।४४)
ईदृशाशयसम्पन्नो महासत्त्वपदं गतः ।
तिष्ठत्वेतु वा यातु मृतिमेतु न तत्स्थितिः ॥ (५।५६।५१)
वसतूत्तमभोगाढ्ये स्वगृहे वा अनाकुले ।
सर्वभोगोज्झिताभोगे सुमहत्यथवा वने ॥ (५।५६।५२)
उद्दाममन्मथं पानतत्परो वापि नृत्यतु ।
सर्वसङ्गपरित्यागी सममायातु वा गिरौ ॥ (५।५६।५३)
चन्दनागरुकर्पूरैर्वपुर्वा परिलिम्पतु ।
ज्वालाजटिलविस्तारे निपतत्वथवाऽनले ॥ (५।५६।५४)
पापं करोति सुमहद्बहुलं पुण्यमेव च ।
अद्य वा मृतिमायातु कल्पान्तनिचयेन वा ॥ (५।५६।५५)
नासौ किञ्चिन्न तत्किञ्चित्कृतं तेन महात्मना ।
नासौ कलङ्कमाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा ॥ (५।५६।५६)

व्यवहार में लगा हुआ ज्ञानी और वन में रहने वाला ज्ञानी दोनों

हो एक से हैं—दोनों ही सन्देह रहित (मुक्ति) पद को प्राप्त हो चुके हैं। जीवन्मुक्त का मन वासना के क्षीण हो जाने के कारण कर्म करते हुए भी अकर्ता है, जैसे कथा सुनने में उस आदमी का मन जिसका ध्यान दूर चला गया हो। जिसके चित्त में गहरी वासनायें भरी हैं उनका मन कर्म न करते हुए भी कर्ता है—जैसे कि कुछ भी क्रिया न करता हुआ व्यक्ति स्वप्न में गड्डे में गिरने का अनुभव कर लेता है। चित्त का अकर्तृत्व भाव ही उत्तम समाधि है। उसी को केवली भाव और उसी को परम निवृत्ति कहते हैं। जिनका चित्त भली भांति स्थिर है और जिनका अहंभाव रूपी दोष क्षीण हो चुका है, उन गृहस्थियों के लिये उनका घर ही निर्जन वन के तुल्य है। समाहित चित्तवालों के लिये तो घर वन एक से हैं। जब अपने भीतर शीतलता आ जाती है तो सारा संसार शीतल हो जाता है। जो अपने आत्मा को सब भावों और पदों से परे और सब भावों को युक्त रूप से देखता है वही समाधिस्थ है। जो आत्मा को सब वस्तुओं के भीतर देखता हुआ शान्तबुद्धि होकर न किसी वस्तु का ध्यान करता है और न किसी की सोच करता है वही समाहित है। जीवन्मुक्त महासत्त्व पद को प्राप्त करके इतनी ऊँची पदवी पर पहुँच जाता है कि उसको इस बात की जरा भी परवाह नहीं रहती कि वह रहे या न रहे मरे या जिये; सब प्रकार की उत्तम भोगने योग्य वस्तुओं से परिपूर्ण और अनेक व्यक्तियों से भरे हुए घर में रहे, अथवा सब प्रकार के भोगों से रहित विशाल वन में; उद्दीप्त काम युक्त सुरापान किये हुए नाचे, अथवा सब प्रकार के सङ्ग को त्याग करके पहाड़ों पर जाए; चन्दन, अगरु, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों को शरीर पर लगाये, अथवा महाप्रचण्ड लटाओंवाली अग्नि में कूदे; बहुत बड़े पाप करे अथवा पुण्य; उसे आज ही मौत आ जाये अथवा कल्प के अन्त में। ऐसा कोई काम नहीं है जो मुक्त पुरुष करे या न करे। जैसे कीचड़ में पड़कर भी सोना मैला नहीं होता वैसे ही जीवन्मुक्त को किसी काम करने में कलंक नहीं लगता।

(५) जीवन्मुक्त महाभोक्ता है :—

न वाञ्छता न त्यजता दैवप्राप्ताः स्वभावतः।
सरितः सागरेणैव भोक्तव्या भोगभूमयः॥ (६।२९।१९)

अयत्नोपनतं सर्वं लीलयासक्तमानसः ।
भुंक्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ (५।७४।६३)
काकतालीयवत्प्राप्ता भोगाली ललनादिका ।
स्वादितापयङ्ग धीरस्य न दुःखाय न तुष्टये ॥ (५।७४।६४)
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ (४।४६।८)
न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदभिकांक्षति ।
भुंक्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२१)
नादत्तेऽप्याददानश्च नाचरत्याचरन्नपि ।
भुञ्जानोऽपि न यो भुंक्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२२)
साक्षिवत्सकलं लोकव्यवहारमखिन्नधीः ।
पश्यत्यपगतेच्छं यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२३)
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२५)
महान्ति सुखदुःखानि यः पयांसीव सागरः ।
समं समुपगृह्णाति महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२६)
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमुत्तमम् ।
अधमं योऽत्ति साम्येन महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२८)
सरसं नीरसं चैव सुरतं विरतं तथा ।
यः पश्यति समं सौम्यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२९)
क्षारे खण्डप्रकारे च शुभे चाप्यशुभे तथा ।
समता सुस्थिरा यस्य महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।३०)
इदं भोज्यमभोज्यं चेत्येवं त्यक्त्वा विकल्पितम् ।
गताभिलाषं यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।३१)
आपदं सम्पदं मोहमानन्दमपरं परम् ।
यो भुङ्क्ते समया बुद्ध्या महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।३२)

दैवयोग से प्राप्त जो स्वाभाविक भोग हैं उनको बिना वाञ्छा और बिना घृणा के ऐसे भोगना चाहिये जैसे कि समुद्र अपने में पड़ी हुई नदियों का भोग करता है। जैसे आँख देखने का आनन्द लेती है वैसे ही ज्ञानी भी बिना किसी विशेष यत्न के प्राप्त भोगों को असक्त मन होकर लीला से भोगते हैं। दैवयोग से प्राप्त स्त्री आदि भोग भोगने पर

धीर पुरुष को न आनन्द होता है और न दुःख । अप्राप्त भोगों की वासना न करना और प्राप्त भोगों का भोग करना ही ज्ञानियों का लक्षण है । जीवन्मुक्त महाभोक्ता है । महाभोक्ता उसे कहते हैं जो न किसी विषय को इच्छा करता है और न किसी से घृणा करता है; सब स्वाभाविक भोगों को भोगता है; जो देते हुए भी कुछ नहीं देता; जो करते हुए भी कुछ नहीं करता; जो भोगते हुए भी कुछ नहीं भोगता; जो समस्त लोक व्यवहार को बिना खिन्न मन के साक्षी के समान इच्छा-रहित होकर देखता है; जो बुढ़ापे और मौत को, आपत्ति, राज्य और दारिद्र्य को एक सा ही रम्य समझता है; जो महान् दुःख और सुखों को समान भाव से ऐसे ग्रहण करता है जैसे समुद्र सब नदियों को; जो कडुये, खट्टे, नमकीन, चर्चरे और मीठे, उत्तम और अधम खाद्य पदार्थों को समान भाव से खाता है; जो सरस और नीरस, सुरत और विरत को समान भाव से और शान्त रहकर देखता है; जिसके लिये नमक और मिठाई, शुभ और अशुभ ठीक समान जान पड़ते हों; जो अभिलाषा-रहित होकर और इस विचार को छोड़कर खाता है कि यह खाने लायक़ (स्वादिष्ट) पदार्थ है और यह खाने लायक़ नहीं, और जो आपत्ति और सम्पत्ति, आनन्द और मोह अपने और पराये सब का समबुद्धि से भोग करता है ।

(६) जीवन्मुक्त को शरीर से घृणा नहीं होती; वह शरीर नगरी पर राज्य करता है :—

स उत्तमपदालम्बी चक्रभ्रमवदास्थितः ।
शरीरनगरीराज्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (४।२३।१)

तस्येयं भोगमोक्षार्थं तज्ज्ञस्योपवनोपमा ।
सुखायैव न दुःखाय स्वशरीरमहापुरी ॥ (४।२३।२)

रम्येयं देहनगरी राम सर्वगुणान्विता ।
ज्ञस्यानन्तविलासाढ्या स्वालोकार्कप्रकाशिता ॥ (४।२३।४)

स्वशरीरमनोज्ञस्य सर्वसौभाग्यसुंदरी ।
सुखायैव न दुःखाय परमाय हिताय च ॥ (४।२३।१७)

अज्ञस्येयमनन्तानां दुःखानां कोशमालिका ।
ज्ञस्य त्वियमनन्तानां सुखानां कोशमालिका ॥ (४।२३।१८)

सुखावहैषा नगरी नित्यं वै विदितात्मनः।
भोगमोक्षप्रदा चैषा शक्रस्येवामरावती॥ (४।२३।२९)
अत्रस्थः पुरुषो भोगानात्मा सर्वगतोऽपि सन्।
विषयकल्पक्लृप्तान्भुक्त्वा पुंसामधिगतार्थभाक्॥ (४।२३।३३)
इन्द्रियाणां न हरति प्राप्तमर्थं कदाचन।
नाददाति तथा प्राप्तं संपूर्णो ज्ञोऽवतिष्ठते॥ (४।२३।४९)

जीवन्मुक्त उत्तम पद पर स्थित रहता हुआ चक्रभ्रम (हिण्डोले) पर बैठे हुए व्यक्ति की नाईं शरीर-नगरी पर राज्य करता हुआ भी नहीं लिप्त होता। ज्ञानी के लिये यह शरीर-नगरी उपवन के समान भोग और मोक्ष के देनेवाली है; सुख देनेवाली है, दुःख देनेवाली नहीं है। हे राम! यह देहनगरी बड़ी सुरम्य और सर्व गुण सम्पन्न है; ज्ञानी को अनन्त आनन्द देनेवाली आत्मसूर्य का प्रकाश करनेवाली है। जो अपने शरीर और मन का ज्ञान रखता है उसके लिये यह सर्व सौभाग्य और सौन्दर्य वाली शरीर-नगरी दुःख देनेवाली नहीं है; बल्कि परम हित सुख को देनेवाली है। यह शरीर ज्ञानियों को तो अनन्त प्रकार के सुख और आनन्द का और अज्ञानियों को अनन्त प्रकार के दुःखों को देनेवाला है। जैसे इन्द्र को अमरावती सुख देती है वैसे ही यह देह भी ज्ञानियों को सुख देती है और उनके भोग और मोक्ष का साधन होती है। शरीर में बैठा हुआ सर्वगत आत्मा नाना प्रकार के भोगों को भोगता हुआ अपने पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है। ज्ञानी लोग इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों का तिरस्कार नहीं करते और अप्राप्त विषयों को पाने का यत्न नहीं करते; परिपूर्ण भाव में स्थित रहते हैं।

(७) जीवन्मुक्त यथाप्राप्त अवस्था के अनुसार व्यवहार करता है :—

यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव ये।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति न ते तत्त्वविदः शठाः॥ (६।१०४।४०)
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजन्बालतयैव ते।
अवस्थाभ्यः पलायन्ते गृहीताभ्यः स्वभावतः॥ (६।१०४।४१)
यावच्चित्तं यथा तैलं यावद्देहं तथा दशा।
यो न देहदशामेति स च्छिन्नत्यसिनाम्बरम्॥ (६।१०४।४२)

एष देहदशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः ।
यत्साम्यं चेतसो योगान्न तु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥ (६/२।१०४।४३)
यावद्देहं यथाचारं दशास्वङ्गं विजानता ।
कर्मेन्द्रियैर्हि स्थातव्यं नतु बुद्धीन्द्रियैः क्वचित् ॥ (६/२।१०४।४४)
क्रमप्रवृत्तमासृष्टेः सुखं साध्यं मनोरमम् ।
प्रकृतं कुर्वतः कार्यं दोषः क इव जायते ॥ (६/२।१०६।६)

वे ज्ञानी नहीं हैं, मूर्ख हैं, जो जब तक देह है तब तक समचित्त होकर देह की अवस्थाओं के अनुसार कर्मेन्द्रियों का व्यवहार नहीं करते। जो मूर्ख तत्त्व को नहीं जानते वे ही अपने बालकपन के कारण स्वाभाविक अवस्थाओं से दूर भागते हैं। जब तक तिल है तब तक तेल है, वैसे ही जब तक यह शरीर है तब तक इसकी स्वाभाविक दशायें हैं। जो शरीर की अवस्था के अनुसार व्यवहार नहीं करता वह तलवार से आकाश को काटता है। देह की दशा के अनुसार होनेवाले दुःख-सुखों का त्याग करना ठीक नहीं। चित्त की शान्ति और समता तो योग से प्राप्त होती है न कि कर्मेन्द्रियों को स्थगित कर देने से। जब तक शरीर है तब तक ज्ञानपूर्वक सदाचार के अनुसार कर्मेन्द्रियों द्वारा देह की आवश्यकतायें पूरी करनी चाहिये—मन द्वारा नहीं। जब तक सृष्टि है तब तक काम करने ही से मनको प्रसन्न करने वाले को सुख मिलता है। स्वाभाविक कामों को करने से किसी को कोई दोष नहीं लगता।

(८) बाह्य व्यवहार में ज्ञानी और अज्ञानी की समानता :—

व्यवहारे यथैवाज्ञस्तथैवाखिलपण्डितः ।
वासनामात्रभेदोऽत्र कारणं बन्धमोक्षयम् ॥ (४।१९।३७)
यावच्छरीरं तावद्धि दुःखे दुःखं सुखे सुखम् ।
असंसक्तधियो धीरा दर्शयन्त्यप्रबुद्धवत् ॥ (४।१९।३८)
मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि ।
बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि ॥ (४।१९।४२)
सुखदुःखदृशो लोके बन्धमोक्षदृशस्तथा ।
हेतुर्बुद्धीन्द्रियाण्येव तेजांसीव प्रकाशने ॥ (४।१९।४३)

(वाह्य) व्यवहार में जैसा अज्ञानी वैसा ही सर्वज्ञ। भेद केवल वासना का है जो कि बन्धन और मोक्ष का कारण है। जब तक शरीर है तब तक दुःख में दुःख और सुख में सुख अज्ञानियों की नाईं असंसक्त ज्ञानियों के शरीर में भी होते दिखाई पड़ते हैं। जो मन से मुक्त है वही मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में बँधा हुआ ही हो, और जो मन से बद्ध है वही बद्ध है, चाहे कर्मेन्द्रियों से कुछ भी न करता हो। संसार में सुख-दुःख का अनुभव दिलानेवाली और बन्ध मोक्ष की ओर ले जानेवाली केवल बुद्धीन्द्रियां (मन, बुद्धि आदि) ही हैं, कर्मेन्द्रियाँ नहीं, जैसे सूर्य की किरण प्रकाश का हेतु हैं।

(९) जीवन्मुक्त का चित्त :—

मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते। (६।१।१०।३१)
भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते ॥ (६।१।१०।३२)

आत्मविदां हि तन्मनः परमुपशममागतं मृगतृष्णाजलमिव वर्षति जलदे हिमकण इव चण्डातपे विलीनं तुर्यदशामुपागतं स्थितम् ॥ (४।३८।९)

भृष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ (५।४२।१४)

जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः।
तेषां या चित्तपदवी सा सत्त्वमिति कथ्यते ॥ (६।१।२।४२)

जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी।
न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता ॥ (६।१।२।४३)

निश्चेतसो हि तत्त्वज्ञा नित्यं समपदे स्थिताः।
लीलया प्रभ्रमन्तीह सत्त्वसंस्थितिहेलया ॥ (६।१।२।४४)

विवेकविशदं चेतः सत्त्वमित्यभिधीयते।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाङ्कुरम् ॥ (६।१।२।४७)

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम्।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः ॥ (६।१।२।४६)

मूढ़ चित्त ही चित्त कहलाता है, प्रबुद्ध चित्त सत्त्व कहलाता है। चित्त का दूसरा जन्म होता है सत्त्व का नहीं। आत्मज्ञानियों का मन अत्यन्त उपशमको ऐसे प्राप्त होकर जैसे कि बादल के बरसने पर मृगतृष्णा की नदी का जल और तेज धूप के पड़ने पर बरफ का कण विलीन हो जाते हैं, तुर्य दशा में स्थित हो जाता है। जीवन्मुक्तों का हृदय शुद्ध

होकर इस प्रकार दूसरे जन्म को उत्पन्न नहीं करता जैसे कि भुना हुआ बीज नये अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता। उन जीवन्मुक्त महात्माओं का चित्त, जिन्होंने उस तत्त्व का दर्शन कर लिया है जो यहाँ और वहाँ सब जगह है, सत्त्व कहलाता है। जीवन्मुक्त के शरीर में व्यवहार करनेवाली वासना का नाम चित्त नहीं है; वह सत्त्व कहलाती है। तत्वज्ञानी लोग जो नित्य समभाव में स्थित हैं चित्तरहित हो जाते हैं। वे सत्त्व के स्पन्दन द्वारा लीला से संसार में भ्रमण करते हैं। विवेक द्वारा शुद्ध किया हुआ चित्त 'सत्त्व' कहलाता है; जैसे भुने हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही सत्त्व से मोह उत्पन्न नहीं होता। जो मुनि अन्तर्मुख होकर चित्तरूपी अग्नि में तीनों जगत्रूपी तृणों की आहुति देता रहता है उसके लिये चित्त आदि का भ्रम मिट जाता है।

(१०) जीवन्मुक्त और सिद्धियाँ :—

तत्वज्ञो वाप्यतत्त्वज्ञो यः कालद्रव्यकर्मभिः ।
यथाक्रमं प्रयतते तस्योर्ध्वंत्वादि सिद्ध्यति ॥ (५।८९।१६)
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव हि संतुष्टो न करोति न चेहते ॥ (५।८९।१७)
न तस्यार्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण नो मानैर्नाशामरणजीवितैः ॥ (५।८९।१८)
यस्तु वा भावितात्मापि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥ (५।८९।२३)
द्रव्यकालक्रियामन्त्रप्रयोगाणां स्वभावजाः ।
एतास्ताः शक्तयो राम यद्व्योमगमनादिकम् ॥ (५।८९।२७)
सदा स्वभाववशतो द्रव्यकालक्रियाक्रमाः ।
नियतं साधयन्त्याशु प्रयोगं युक्तियोजिताः ॥ (५।८९।२९)
यथोदेति च यस्येच्छा स तथा यतते तथा ।
यथाकालं तदाप्नोति ज्ञो वाप्यज्ञतरोऽपि वा ॥ (५।८९।३४)
याः फलावल्यो येन संप्राप्ताः सिद्धिनामिकाः ।
तास्तेनाधिगता राम निजात्प्रयत्नक्रमात् ॥ (५।८९।३[illegible])

तत्त्वज्ञानी हो या अज्ञानी हो, जो कोई काल, द्रव्य और क्रिया द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वही आकाशगमन आदि

सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्त आत्मभाव में स्थित है उसकी सब वासनायें क्षीण हो गई हैं, वह सबसे परेके पद पर स्थित है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है। वह किसी प्रकार का यत्न नहीं करता। न उसे आकाश गमन आदि सिद्धियों से कुछ मतलब है, और न भोगों से; न उसे प्रभाव की इच्छा है और न सन्मान की; उसे न जीने की आशा है और न मरने का भय। यदि कोई आत्मज्ञानी भी सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहे तो वह भी सिद्धि के देने वाले द्रव्यों द्वारा उनको क्रम से प्राप्त कर सकता है। द्रव्य, काल, क्रिया, मन्त्र और प्रयोग की जो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उनको वश में करने से आकाश गमन आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं। द्रव्य, काल, क्रिया और क्रम युक्ति से उपयोग में लाने पर अपने स्वाभाविक फलों को देते हैं। जिसके चित्त में जैसी इच्छा उत्पन्न होती है, वह, चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, यत्न करके उसको यथा समय पूरी कर लेता है। जो जो सिद्धि-नामक फल जिस-जिसने प्राप्त किये हैं वे सब उन्होंने अपने-अपने ही पुरुषार्थ रूपी वृक्ष से पाये हैं।

(११) जीवन्मुक्त सब आपत्तियों से छूट जाता है :—

वेत्ति नित्यमुदारात्मा त्रैलोक्यमपि यस्तृणम्। (४।३२।३७)
तं त्यजन्त्यापदः सर्वाः सर्पा इव जरत्त्वचम्॥ (४।३२।३८)
परिस्फुरति यस्यान्तर्नित्यं सत्त्वचमत्कृतिः। (४।३२।३८)
ब्रह्माण्डमिवाखण्डं लोकेशाः पालयन्ति तम्॥ (४।३२।३९)
न किञ्चिद्येन संप्राप्तं तेनेदं परमामृतम्।
सम्प्राप्यान्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम्॥ (५।३४।७६)

जो उदार चित्तवाला महात्मा त्रिलोकी को तृण के समान समझता है उसको छोड़कर सारी आपदायें ऐसे चली जाती हैं जैसे कि सांप अपनी पुरानी खाल (केंचुली) को। जिसके भीतर सदा सत्व का प्रकाश रहता है उसकी लोकपाल इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे सारे ब्रह्माण्ड की। जो कुछ भी नहीं लेता उसी को परम अमृत मिलता है जिसको पाकर वह सब कुछ अखण्ड और पूर्ण रूप से पा लेता है।

(१२) जीवन्मुक्त का जीवन ही शोभायुक्त जीवन है :—

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वात्मतत्त्वावलोकनात्।
यथार्थदर्शिनो यस्य जीवितं तस्य शोभते॥ (५।३९।४६)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभावेषु जीवितं तस्य राजते ॥ (६।३९।४७)

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।४८)

येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।४९)

अवस्तुसदृशे वस्तुन्यसक्तं कलनामके ।
येन क्षीनं कृतं चेतो जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५०)

सत्यां दृष्टिमवष्टभ्य लीलयेयं जगत्क्रिया ।
क्रियतेऽनासनं येन जीवितं तस्य राजते ॥ (६।३९।५१)

नान्तस्तुष्यति नोद्वेगमेति यो विहरन्नपि ।
हेयोपादेयसंप्राप्तौ जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५२)

शुद्धपक्षस्य शुद्धस्य हंसौघः सरसो यथा ।
यस्माद्गुणौघो निर्याति जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५३)

यस्मिन्श्रुतिपथं प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते ।
आनन्दं यान्ति भूतानि जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५४)

यत्संसारजालेऽस्मिन्क्रियते कर्म भूमिप ।
तत्समाहितचित्तस्य सुखायान्यस्य नानघ ॥ (६।६२।२)

पूर्वं धिया विचार्यन्ते भोगा भोगिभयप्रदाः ।
भोक्तव्यास्त्वरमं राम गरुडेनेव पन्नगाः ॥ (६।७६।१८)

विचार्य तत्त्वमालोक्य सेव्यन्ते या विभूतयः ।
ता उदर्कोदया जन्तोः शेषा दुःखाय केवलम् ॥ (६।७६।१९)

असंसङ्गेन भोगानां सर्वा राम विभूतयः ।
परं विस्तारमायान्ति प्रावृषीव महापगाः ॥ (६।६८।४९)

बलं बुद्धिश्च तेजश्च दृष्टतत्त्वस्य वर्धते ।
सवसन्तस्य वृक्षस्य सौन्दर्याद्या गुणा इव ॥ (५।७६।२०)

जिस यथार्थदर्शी ज्ञानी की बुद्धि आत्मावलोकन से विचलित नहीं होती उसका ही जीवन शोभायुक्त है। जिसके अन्दर अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि विषयों में लिप्त नहीं होती; जो सब भावों में सम रहता है, उसका ही जीवन शोभा पाता है। जो रागद्वेष से रहित है और शीतल बुद्धि से इस जीवन को साक्षी के समान देखता है, जीवन

उसका ही शोभित होता है। जिसने यथार्थ ज्ञान पाकर और हेय और उपादेय भावना को त्याग कर अपने मन के भीतर ही मन को स्थापित कर लिया है, जीवन उसी का शोभा पाता है। सभी दृष्टिको प्राप्त करके जो लीला से ही जगत् की क्रियाओं को वासनारहित होकर करता है जीवन उसका ही शोभायुक्त होता है। जो हेय और उपादेय विषयों में विचरण करता हुआ अपने मन में न उद्विग्न होता है और न हर्षित, जीवन उसका ही शोभित होता है। जैसे शुद्ध सरोवर से श्वेत हंसों की पंक्ति निकलती है वैसे ही जिसमें से सद्‌गुणों की पंक्तियाँ निकलती हैं, जीवन उसका ही शोभित होता है। जिसके गुणों को सुनकर, जिसको देखकर, जिसका स्मरण करके सब प्राणियों को आनन्द होता है जीवन उसका ही शोभायुक्त है। संसार में जो-जो काम किये जाते हैं उनसे समाहित चित्तवालों को ही आनन्द मिलता है, दूसरों को नहीं। बुद्धि द्वारा विवेक प्राप्त कर लेने पर ही सांप की नाईं भयदायक भोगों को इस प्रकार भोग करना चाहिये जैसे कि गरुड़ सांपों को खा जाता है। तत्त्व का विचार और दर्शन कर लेने पर विभूतियों का सेवन करने से आनन्द की प्राप्ति होती है, अन्यथा दुःख मिलता है। जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ बड़ा आकर धारण कर लेती हैं वैसे ही सङ्ग-रहित होकर भोगों को भोगने पर उनकी विभूतियाँ और अधिक हो जाती हैं। जैसे वसन्त ऋतु में वृक्षों की सुन्दरता और शोभा आदि गुण बढ़ जाते हैं वैसे ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य में बल, बुद्धि और तेज की वृद्धि हो जाती है।

(१३) शरीर के अन्त हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेह मुक्ति में प्रवेश करता है :—

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ (३।९।१४)

विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः॥ (३।९।१५)

सूर्यो भूत्वा प्रतपति विष्णुः पाति जगत्त्रयम्।
रुद्रः सर्वान्संहरति सर्गान्सृजति पद्मजः॥ (३।९।१६)

खं भूत्वा पवनस्कन्धं धत्ते सर्षिसुरासुरम्।
कुलाचलगतो भूत्वा लोकपालपुरास्पदः॥ (३।९।१७)

भूमिर्भूत्वा बिभर्तीमां लोकस्थितिमखण्डिताम् ।
तृणगुल्मलता भूत्वा ददाति फलसंततिम् ॥ (३।९।१८)
बिभ्रज्जलानलाकारं ज्वलति द्रवति द्रुतम् ।
चन्द्रोऽमृतं प्रसवति मृतं हालाहलं विषम् ॥ (३।९।१९)
तेजःप्रकटयत्याशास्तनोत्यान्ध्यं तमो भवत् ।
शून्यं सद्व्योमतामेति गिरिः सन् रोधयत्यलम् ॥ (३।९।२०)
करोति जङ्गमं चित्तः स्थावरं स्थावराकृतिः ।
भूत्वार्णवो वलयति भूमिियं वलयो यथा ॥ (३।९।२१)
परमार्कवपुर्भूत्वा प्रकाशान्तं विसारयन् ।
त्रिजगत्त्रसरेण्वोघं शान्तमेवावतिष्ठते ॥ (३।९।२२)
यत्किञ्चिदिदमाभाति भातं भानमुपैष्यति ।
कालत्रयगतं दृश्यं तदसौ सर्वमेव च ॥ (३।९।२३)
मुक्तिरेषोच्यते राम ब्रह्मैतत्समुदाहृतम् ।
निर्वाणमेतत्कथितं पूर्णात्पूर्णतराकृति ॥ (३।९।२९)

जैसे चलती हुई हवा स्थिर हवा में प्रवेश कर जाती है वैसे ही देह के काल द्वारा नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेह मुक्त हो जाता है। विदेह मुक्त न उदय होता है और न अस्त होता है; न उसका अन्त होता है। न वह सत् रहता है न असत्, न कहीं दूर जाता है। न वह मैं हूँ न कोई दूसरा। (वह किसी कर्म के फल पाने के वशीभूत होकर शरीर धारण नहीं करता। उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है वह जब चाहे जो रूप धारण कर ले)। वह सूर्य होकर जगत् को गर्मी देता है; विष्णु होकर त्रिलोकी का पालन करता है; रुद्र होकर सबका संहार करता है; ब्रह्मा होकर सृष्टि की रचना करता है; आकाश के रूप में वह सुर असुर और ऋषियों सहित वायु-मण्डल को धारण करता है; कुलाचल होकर लोकपालों के नगर को धारण करता है; भूमि होकर सारे लोकों को धारण करता है; तृण गुल्म और लता होकर फल फूलों को धारण करता है; जल का आकार धारण करके वह दौड़ता है; आग का आकार धारण करके वह जलाता है; तेज होकर आकाश देता है; तम होकर अन्धेरा फैलाता है; शून्य होकर आकाश बनता है; पर्वत होकर रुकावट पैदा करता है; चेतन होकर चेतन जीवोंको उत्पन्न करता है और जड़होकर जड़ वस्तुओं को; समुद्र होकर वह त्रिवली कीनाई पृथ्वी को

घेरता है; परम सूर्य होकर प्रकाश को फैलाता है; तीनों जगत् के परमाणु रूप से वह शान्ति से स्थित रहता है; जो कुछ भी यह जगत् दिखाई पड़ा है, पड़ता है, या दिखाई देगा—अर्थात् तीनों कालों में दिखाई देनेवाला दृश्य जगत्—सब कुछ वही है। हे राम! इस अवस्था का नाम ही मुक्ति है; इसी को ब्रह्म कहते हैं; यही पूर्ण से भी परिपूर्ण स्वरूपवाला निर्वाण कहलाता है।

२९—स्त्रियाँ और योग

जिस योग-मार्ग का ऊपर वर्णन किया गया है और जो जीवन्मुक्ति के पद पर ले जानेवाला है, उसके ऊपर चलने का, वसिष्ठजी के अनुसार, सब मनुष्यों को अधिकार है; चाहे वे ब्राह्मण हों अथवा शूद्र; देव हों अथवा दैत्य; पुरुष हों अथवा स्त्री। यही नहीं, योगवासिष्ठ के पढ़ने से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि योगसाधन में स्त्रियों को शीघ्रतया और अधिकतर सफलता हो सकती है, क्योंकि वे पुरुषों से अधिक तीव्र बुद्धिवाली और लगनवाली होती हैं। वे जिस बात के पीछे पड़ती हैं उसको सिद्ध किये बिना चैन नहीं लेतीं। लीला और चुडाला के उपाख्यान इस विषय में प्रमाण हैं। लीला ने सरस्वती की (जो स्वयं स्त्री थी) उपासना द्वारा जीवन और मरण का सारा रहस्य जान लिया था और अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। वह त्रिकालदर्शिनी होकर सभी ब्रह्माण्डों और लोकों में जा सकती थी, और उसने अपने मृत पति को दूसरे लोकों से बुलाकर जीवित कर लिया था। शिखिध्वज राजा की बुद्धिमती और चतुर रानी चुडाला ने अपने पति के योगसाधन के लिये सब कुछ त्यागकर वन चले जाने पर, उसके राज्य पर बड़ी निपुणता से राज्य करते हुए ही, अपने पति से पहिले आत्मज्ञान प्राप्त करके, प्रच्छन्न वेष से वन में जाकर उसे ब्रह्मज्ञान और जीवन्मुक्ति का परम सुन्दर उपदेश किया, और उसको जीवन्मुक्त बना दिया। वास्तव में, लीला और चुडाला के उपाख्यानों में योगवासिष्ठ के सारे सिद्धान्त आ जाते हैं। ये दोनों उपाख्यान योगवासिष्ठ का हृदय हैं। इनको पढ़कर पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि योगवासिष्ठ के अनुसार स्त्री का स्थान कितना ऊँचा है। वैराग्य प्रकरण में की हुई स्त्री निन्दा वसिष्ठ का मत नहीं है; वह मत है बाल और सद्यविरक्त रामचन्द्र का। वहाँ पर भी उनहीं स्त्रियों की निन्दा की गई है जो विषय-भोगों और कामवासनाओं की तृप्ति को ही अपने जीवन का ध्येय समझकर पुरुषों को अपने मोहजाल में फँसाने का

प्रयत्न करती रहती हैं। इसके विपरीत अच्छे कुल की और सुशील स्त्रियाँ अपने पतियों को संसार-सागर से पार उतारने में सहायक होती हैं। उनके सम्बन्ध में योगवासिष्ठ में कहा गया है :—

> मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि
> पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥ (६/२।१०९।२६)
> शास्त्रार्थगुरुमंत्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ।
> यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तृणां कुलयोषितः ॥ (६/२।१०९।२७)
> सखा भ्राता सुहृद् भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम् ।
> शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥ (६/२।१०९।२८)

अर्थात्—अच्छे कुलों की प्रयत्नशील स्त्रियाँ मनुष्य को अनन्त और अनादि गहरे मोह से पार कर देती हैं, शास्त्र, गुरु और मंत्र आदि में से कोई भी संसार से पार उतारने में इतना सहायक नहीं है जितनी कि स्नेह से भरी हुई अच्छे कुलों की स्त्रियाँ अपने पति की सखा, बन्धु, सुहृद्, सेवक, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, मन्दिर, दास आदि सभी कुछ होती हैं।

यदि किसी मुमुक्षु को ऐसी समान विचारों वाली सहगामिनी मिल जाए तो, योगवसिष्ठ के अनुसार, इस संसार में इससे अधिक आनन्द-दायक कुछ नहीं है :—

> समस्तानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ।
> यत्समानमनोवृत्तिसङ्गमास्वादने सुखम् ॥ (६/२।८५।४३)

संसार के सब आनन्दों से बढ़कर वह सुख है जो कि समान मनोवृत्ति वाले दम्पती को एक दूसरे की संगत में प्राप्त होता है।

३९—उपसंहार

श्री योगवासिष्ठ महारामायण के दार्शनिक सिद्धान्तों का विशेष विवरण समाप्त हो चुका। यहाँ पर यदि उनको संक्षिप्त और सूक्ष्म रूप में पाठकों के सामने दुहरा दिया जाए तो अनुचित न होगा। वसिष्ठजी के सिद्धान्तों का सार यह है :—

मनुष्य के जीवन के अधिकतर अथवा सभी दुःखों का कारण उसका अज्ञान है। जितना-जितना मनुष्य को अपने और जगत् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता जाएगा उतना ही मनुष्य का दुःख कम होता चला जाएगा। पूर्ण आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर और तदनुसार आचरण करने पर, मनुष्य के सब दुःख क्षीण हो जाते हैं, और उसे परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। इस परम आनन्द और परम शान्ति को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक जीव को अपने आप ही पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये। बिना पुरुषार्थ किये, किसी दूसरे की कृपा-मात्र से, मनुष्य को उस परम पद की प्राप्ति नहीं होती। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये उसका अधिकारी बनना चाहिये। आत्मज्ञान का अधिकारी बनने के लिये विचार, साधुसङ्ग, समता और सन्तोष की आवश्यकता है। इनके अभ्यास से मन शुद्ध और शान्त हो जाता है और नित्य आध्यात्मिक साधनों को करते-करते एक दिन आत्मा अथवा ब्रह्म के वास्तविक रूप का साक्षात्कार कर लेता है। बिना अपने आप साक्षात्कार किये तत्त्वज्ञान नहीं होता। जगत् और ईश्वर के वास्तविक रूप का ज्ञान केवल आत्मानुभव द्वारा ही हो सकता है; उसका और कोई दूसरा साधन नहीं है।

जिन लोगों ने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है उनके अनुसार सारे जगत् में एक ही तत्त्व का प्रकाश है—द्रष्टा और दृश्य दोनों एक ही चिन्मात्र तत्त्व के रूपान्तर हैं—सारे द्रष्टा और सारे दृश्य पदार्थ वास्तव में चिन्मय हैं। संसार के सारे पदार्थ चिति की कल्पनाएँ हैं। देश और काल भी कल्पित और मन के ऊपर निर्भर हैं। कल्पना के अतिरिक्त पदार्थों में कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। संसार की स्थिरता और नियतता भी मनकी ही कल्पनायें हैं। कल्पना ही जड़ता का आकार

धारण कर लेती है। सारे दृश्य पदार्थों का उदय द्रष्टा के मन से ही होता है और वे सब मन के ही अङ्ग हैं। वास्तव में स्वप्न-जगत् और बाह्य जाग्रत) जगत् में कोई भेद ही नहीं है। यह सारा जगत् एक स्वप्न ही है। प्रत्येक जीव के भीतर यह जगत्स्वप्न पृथक्-पृथक् उदय हो रहा है अतएव प्रत्येक जीवका विश्व दूसरे जीव के विश्व से भिन्न है। समानता के कारण ही सबका एक ही विश्व जान पड़ता है। प्रत्येक जीव अपने-अपने विश्व की सृष्टि और प्रलय (अंशतः अथवा पूर्णतया) करता रहता है। तो भी सब जीवों का मूलरूप एक समष्टि जीव अथवा समष्टि मन है जिसका नाम ब्रह्मा है। ब्रह्मा से ही सब व्यष्टि जीवों और उनके संसारों की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक जीव उसी रीति और उसी प्रकार से अपने-अपने विश्व की रचना करता रहता है जैसे कि ब्रह्मा सारे ब्रह्माण्ड की करता है। संसार में जीवों की संख्या अनन्त है। अतएव सृष्टियों की भी। प्रत्येक सृष्टि के भीतर अनन्त जीव हैं और प्रत्येक जीव के भीतर उसकी सृष्टि है—यह परम्परा भी अनन्त है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु के भीतर ब्रह्माण्ड की समस्त अनन्त शक्ति का भण्डार है। अतएव सब कुछ सदा और सब जगह है, और ऐसा होना सम्भव है। सब सृष्टियाँ एक सी नहीं हैं। नाना प्रकार की सृष्टियाँ हैं। सब सृष्टियों की उत्पत्ति और प्रलय होता है। कोई सृष्टि नित्य नहीं है। कल्प के अन्त में सब सृष्टियाँ नष्ट होकर विलीन हो जाती हैं। केवल परम ब्रह्म अपनी प्रकृति-शक्ति को अपने भीतर समाये हुए स्थित रहता है। सब सृष्टियों की उत्पत्ति उसी क्रम से होती है जिससे कि स्वप्न सृष्टि की होती है। वासना ही सृष्टिका मूल कारण है। सृष्टि तीन प्रकार के आकाशों में स्थित है—भूताकाश (स्थूल), चित्ताकाश (सूक्ष्म) और चिदाकाश (कारण)। जो कुछ संसार में होता है वह सब नियम से होता है। नियति का सब ओर साम्राज्य है। परन्तु नियति कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। नियति मन की ही बनाई हुई है। मन चाहे तो अपनी अपार शक्ति और अपने कठिन पुरुषार्थ से नियति को बदल सकता है और उस पर विजय प्राप्त कर सकता है।

मन क्या है? मन का स्वरूप अनन्त और अपार है। मन और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं है। ब्रह्म ही अपनी सङ्कल्प-शक्ति द्वारा सृष्टि करने के लिये मन के आकार में प्रकट होता है। मन के अनेक रूप हैं।

वह जैसी-जैसी क्रिया करता है वैसा ही उसका रूप और नाम हो जाता है। मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, मल, माया, प्रकृति, ब्रह्मा आदि देवता, जीव, आतिवाहिक देह, इन्द्रिय, पुर्यष्टक, भौतिक शरीर और बाह्य पदार्थ--ये सब मन के ही अनेक नाम और रूप हैं। मन ही जीव है, वही अहङ्कार हो जाता है, वही शरीर का रूप धारण कर लेता है। संसार के जितने बन्धन हैं, और जितनी इयत्ता (महदूदियत) है, वे सब मन ने अपनी वासना के लिये बनाये हैं। मन ही एक से अनन्त और नाना प्रकार के जीव हो जाता है। जीवों की सात अवस्थाएँ—बीज-जाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् और सुषुप्ति—हैं। जीव सात प्रकार के होते हैं:—स्वप्न-जागर, सङ्कल्प-जागर, केवल-जागर, चिर-जागर, घन-जागर, जाग्रत्स्वप्न और क्षीण-जागर। सारे जीव इन १५ जातियों में विभक्त किये जा सकते हैं:—इदंप्रथमता, गुणपीवरी, ससत्त्वा, अधमसत्त्वा, अत्यन्ततामसी, राजसी, राजससात्त्विकी, राजसराजसी, राजसतामसी, राजसात्यन्ततामसी, तामसी, तामससत्त्वा, तमोराजसी, तामसतामसी, और अत्यन्ततामसी। ये सब प्रकार के जीव ब्रह्मा (समष्टि मन) से उत्पन्न होते हैं, और इन सबकी उत्पत्ति और लय एक ही प्रकार के नियमों से होती है। संसार का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसके भीतर मन (जीव) न हो।

मन का जैसे स्वरूप अनन्त है वैसे ही उसकी शक्तियाँ भी अनन्त और अपार हैं। मन में सब प्रकार की शक्तियाँ हैं। मन जगत् की सृष्टि करता है, और सृष्टि के करने में वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। प्रत्येक मन में इस प्रकार की स्वतन्त्र शक्ति है। प्रत्येक मन जो चाहे वह सम्पादन कर सकता है। हमारी सब परिस्थिति हमारे मन के विचारों के अनुरूप मन की शक्ति द्वारा ही रची हुई है। जैसी दृढ़ जिसकी भावना होती है वैसा ही उसकी शक्ति का प्रकाश होता है। दृढ़ निश्चय और अभ्यास द्वारा मन जो चाहे सो प्राप्त कर लेता है। जैसा जिसका मन है वैसी ही उसकी गति होती है। भौतिक शरीर भी मन का ही रचा हुआ है; इसका आकार और रूप मन के ही आधीन है। मन शरीर को अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिये इस प्रकार बनाता है जैसे कुम्हार अपनी इच्छा के अनुसार बर्तन को बनाता है। शरीर के सब रोग मानसिक अशान्ति, व्यथा और असामञ्जस्य से उत्पन्न होते हैं।

और इनके दूर हो जाने पर दूर हो जाते हैं। शरीर के रोगों का नाम व्याधि है और मन के रोगों का नाम आधि है। आधि से व्याधि की उत्पत्ति होती है और आधि के दूर हो जाने पर व्याधि दूर हो जाती है। आधि और व्याधि दोनों की जड़ मूल आधि अर्थात् आत्मा का अज्ञान है। उसके ज्ञान द्वारा दूर हो जाने पर आधि व्याधि सब ही समूल नष्ट हो जाती हैं। जीवन को शान्त और सुखी बनाने का उपाय भी मन को शुद्ध, उच्च और महान् बनाना ही है। जीवन को सब प्रकार सुखी और निरोग रखने का एकमात्र उपाय है मन की शुद्धि। मन जब शान्त और सुखी है तो सारा संसार शान्त और सुखी दिखाई पड़ता है। व्यथित मनवाले को संसार में आग सी लगी हुई दिखाई पड़ा करती है। शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जब तक मन में अज्ञान है तभी तक जीव संसाररूपी अन्धकार में पड़ा हुआ हाथ पैर पीटता रहता है। वास्तव में मन जगत्-रूपी पहिये की नाभि है जिसको ज़ोर से पकड़ लेने पर सारा संसार वश में हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य के चित्त में अलौकिक और असाधारण शक्ति या सिद्धि प्राप्त करने की वासना रहती है, और वह वासना तब तक रहती है जब तक कि मनुष्य पूर्णता का अनुभव नहीं कर लेता। परम पूर्णता तो ब्रह्मानुभव द्वारा ही प्राप्त होती है। जब तक ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति नहीं होती तब तक मनुष्य सिद्धियों के लिये इधर-उधर टक्कर मारता है और अनेक साधन करता रहता है। इन साधनों द्वारा प्रयत्न करने से मनुष्यों को अनेक सिद्धियों अर्थात् असाधारण शक्तियों की प्राप्ति हो जाती है। योगवाशिष्ठ में सिद्धियों के प्राप्त करने के तीन विशेष साधन बताये हैं:—(१) मन की शुद्धि (२) कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन तथा नियमित संचालन और (३) प्राणायाम। जो इन साधनों का यथोचित रीति से अभ्यास कर लेता है उसको अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मनुष्य कोई भी सिद्धि प्राप्त कर ले, उसको परम आनन्द और परम तृप्ति की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान लेता। आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझने के लिये जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या अवस्थाओं का भली भाँति अध्ययन कर लेना चाहिए। तब वह समझ में आ जाएगा कि उस आत्मा का जो कि इन चारों अवस्थाओं में वर्तमान रहता है क्या स्वरूप है।

हम लोग प्रायः जाग्रत् अवस्था को ही प्रधान अवस्था समझते हैं, और इस अवस्था में व्यवहार करनेवाले शरीर को ही अपना आप (अहंभाव) समझते हैं। यह विचार युक्ति और अनुभव दोनों के विरुद्ध है, और सन्तोषजनक नहीं है। इससे ऊँचा और अधिक सन्तोषजनक विचार उन लोगों का है जो कि मन को आत्मा मानते हैं। मन को आत्मा माननेवालों से उच्च विचार उनका है जो मन से सूक्ष्म रूपवाले मन की गति को देखने और चलाने वाले, सब दृश्य भावों से परे रहने वाले सूक्ष्म जीवात्मा को आत्मा समझते हैं। ऐसा माननेवालों के मत में वह जीवात्मा शरीर से बिल्कुल अलग रहने वाला एक सूक्ष्म तत्त्व है जो कि शरीर से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। आत्मसम्बन्धी इन सब विचारों अथवा निश्चयों से श्रेयस्कर, युक्ति और अनुभव के अनुकूल और सबसे अधिक सन्तोषजनक, योगवासिष्ठकार का वह मत है जो आत्मा और समस्त विश्व के बीच में कोई दीवार नहीं मानता। आत्मा की कहीं पर इयत्ता नहीं है। हमारा आत्मा शरीर, मन और जीवतक ही परिमित नहीं है। वह तो समस्त विश्व में ओत-प्रोत है। जगत् में कोई काल और स्थान ऐसा नहीं है जहाँ मेरा आत्मा नहीं है। जगत् की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें मेरा आत्मा नहीं है। जगत् मुझमें है और मैं जगत् में हूँ। जो इस प्रकार अनुभव करता है वही आत्मा का वास्तविक रूप जानता है; और ऐसा अनुभव कर लेने पर ही जीवन में पूर्णता आती है।

जब तक मनुष्य की इस दृष्टि में स्थिति नहीं हो जाती और जबतक वह अपने आप को देश, काल और वस्तुओं में परिमित समझता है, तब-तक उसको जन्म और मरणरूपी संसार में गोते खाने पड़ते हैं। उसको यह भी पता नहीं चलता कि जन्म और मरण का रहस्य क्या है और क्यों उसको मौत आती है। प्रायः जिनका अहंभाव स्थूल शरीर तक ही परिमित रहता है वे ही मौत से डरा करते हैं—वे ही समझते हैं कि मौत से उनकी हस्ति (अस्तित्व) का खात्मा (अन्त) हो जायगा। सारी जिन्दगी उनको मौत का भय सताया करता है और उससे बचने का वे अनेक प्रकार से यत्न करते हैं। यदि हमको मौत का रहस्य भी मालूम न हो तो भी मौत से डरने का कोई कारण नहीं है। यदि मौत द्वारा किसी व्यक्ति का सर्वनाश ही हो जाता है तो क्या बुराई है? चलो जीवन के सब झंझटों और सुख-दुखों से सदा के लिये छुट्टी मिली।

और यदि मौत के पीछे हमको दूसरा जीवन मिलता है तो भी बहुत प्रसन्नता का अवसर है, क्योंकि जरा और व्याधियों से जर्जरित हुए इस शरीर को, और जिस स्थान पर रहते-रहते हम ऊब गये हैं उस स्थान को, छोड़कर हमको नया शरीर और नई परिस्थिति मिलेगी। इससे अच्छी भला और क्या बात हो सकती है ? दुःख हमको केवल आसक्ति और मोह के कारण होता है। हमारी इस भौतिक शरीर से, मित्रों, सम्बन्धियों और परिस्थितियों से जो आसक्ति हो जाती है वही हमको मौत से डराती है, और उसी के कारण हमको मरते समय अनेक मानसिक और उनसे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक कष्ट होते हैं। जो ज्ञानी हैं और जिनकी दृष्टि विस्तृत है, उनको मौत से किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वे शान्ति और आनन्दपूर्वक इस जीर्ण शरीर को त्यागकर अपने पुण्य कर्म्मों के कारण उत्तम से उत्तम लोकों का अनुभव करते हैं। उनको इस संसार से भी कहीं अच्छे संसारों का अनुभव होता है, और वे उन संसारों में अपने मन की पवित्र वासनाओं की पूर्ति का अनुभव करते रहते हैं। अज्ञानी, पापी और मूर्ख लोगों को मरते समय तो कष्ट होता ही है, वे मरने के पश्चात् भी अपने पूर्व पाप-कर्मानुसार अधम लोकों का अनुभव करते हैं, और उनमें पड़कर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं। मौत क्या है ? केवल जीव के अनुभव की तब्दीली का नाम मौत है। मरकर जीव एक दृश्य जगत् और शरीर का अनुभव छोड़कर दूसरे दृश्य जगत् और शरीर का अनुभव करने लगता है और यह अनुभव जीव की वासना और कर्म्मों के अनुसार होता है। जैसे-जैसे संस्कार और भावनायें परलोक के सम्बन्ध में जीव के भीतर रहती हैं वैसे-वैसे ही लोकों का वह अनुभव करता है। परलोकों का अनुभव करके, इस भौतिक संसार की अनेक अपूर्ण वासनाओं के कारण, जीव को फिर यहीं आना पड़ता है। जिनके मन में यहाँ की वासनायें नहीं रहतीं वे यहाँ पर नहीं आते। जो योग का अभ्यास करते-करते मर जाते हैं वे जीव परलोक का अनुभव करके, यथायोग्य कुल में जन्म लेकर, फिर अपने पूर्व अभ्यास की ऊँची भूमिकाओं पर चढ़ने लगते हैं। यह जन्म-मरण का अनुभव तभी तक होता है जब तक कि जीव आत्म-ज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त नहीं हो जाता। जीवन्मुक्त जीव जन्म-मरण के नियम से मुक्त हो जाता है, क्योंकि जन्म-मरण तो शरीर और मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं—वह तो अमर है। यद्यपि मौत का आना

अनिवार्य है तो भी आयु को यथेच्छ दीर्घ किया जा सकता है—ऐसा करने का विशेष उपाय पवित्र, शान्त और निर्मोह जीवन है।

व्यष्टि-मन की ओर से अब हम दृष्टि को हटाकर समष्टि मन की ओर ले जाते हैं। सारे विश्व का—जिसमें कि अनन्त जीव और उनके संसार हैं—सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। ब्रह्मा का वास्तविक स्वरूप मन है। ब्रह्मा की उत्पत्ति परम ब्रह्म से होती है। यह ब्रह्मारूपी मन ब्रह्म का स्वाभाविक लीला-जनित स्पन्दन है। इस स्पन्दन द्वारा ब्रह्म ब्रह्मा का आकार धारण कर लेता है। यह आकार ब्रह्म की सङ्कल्प-शक्ति का, हेतु-रहित, सङ्कल्पमय रूप में प्रकट होना है। ब्रह्मा की उत्पत्ति किसी पूर्व कर्म के अनुसार नहीं होती। उसका आकार सूक्ष्म है, स्थूल नहीं है। ब्रह्मा इस प्रकार उदय होकर सृष्टि की रचना करता है, और उसकी रची हुई सृष्टि मनोमय है। प्रत्येक कल्प की सृष्टि अपूर्व और नई है।

ब्रह्म की जिस स्पन्दन-शक्ति का प्रकाश ब्रह्मा के आकार में होता है उसको ही प्रकृति और माया कहते हैं। ब्रह्म में और भी अनन्त और अनेक शक्तियाँ हैं। ब्रह्म और उसकी शक्ति दो पदार्थ नहीं हैं। ब्रह्म की स्पन्दन-शक्ति सदा ही ब्रह्म के आश्रित रहती है, और उससे अनन्य है। सृष्टि के समय वह आकार धारण करती है और प्रलय के समय वह ब्रह्म में लीन हो जाती है।

उस परम ब्रह्म का, जिसकी एक मात्र शक्ति से जगत् की सृष्टि, रक्षा और प्रलय होते हैं, क्या स्वरूप है यह कहना मनुष्य के लिये प्रायः असम्भव सा ही है—क्योंकि मनुष्य के पास जितने शब्द, भाव और विचार हैं वे सब द्वन्द्वात्मक जगत् की वस्तुओं के द्योतक हैं। जो तत्त्व दोनों प्रतियोगी पदार्थों का आत्मा है और जगत् के भीतर और बाहर है; और जिससे जगत् के सब दृश्य पदार्थ और उनको जानने वाले द्रष्टाओं की उत्पत्ति हुई है, वह भला उन शब्दों द्वारा कैसे वर्णन किया जा सकता है जो कि इन सबके ही वर्णन करने के लिये बने हैं? इसलिये ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकता। वह न यह है और न वह है; इसमें भी है, उसमें भी है, और इस और उस दोनों से परे भी है। ब्रह्म को न एक कह सकते हैं और न अनेक, क्योंकि दोनों सापेक्षक हैं। ऐसे ही न ब्रह्म को भावात्मक कह सकते हैं न शून्यात्मक; ब्रह्म न ज्ञान है और न अज्ञान; न तम है न प्रकाश; न जड़ है और न चेतन; न आत्मा है न अनात्मा। ब्रह्म का क्या स्वभाव है यह कहना भी असम्भव है। ब्रह्म

का कोई विशेष नाम भी नहीं हो सकता। ब्रह्म के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह वह परम तत्त्व है जिससे जगत् के सब ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं; जिसमें स्थित रहते हैं; और जिसमें विलीन हो जाते हैं; जिससे दृश्य, द्रष्टा और दृष्टि उदय होकर उसमें स्थित रहकर उसी में विलीन हो जाते हैं; जो अनुभव में आने वाले सभी प्रकार के आनन्दों का उद्गम है। ब्रह्म अपने उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ से कहीं सुन्दर और परिपूर्ण होना चाहिये, क्योंकि कारण हमेशा कार्य से अधिक पूर्ण होता है। उसका स्वरूप सभी आधिभौतिक पदार्थों, मन, जीव और आत्मा आदि सभी पदार्थों के स्वरूप से उत्कृष्ट होना चाहिये। उसकी शक्ति सभी व्यक्त पदार्थों और प्राणियों की शक्ति से अधिकतर होनी चाहिए। उसका ज्ञान सर्वज्ञ होना चाहिए। वह सदा, सब जगह, सब वस्तुओं में परिपूर्ण रूप से वर्त्तमान है। वही सब कुछ, सदा और सब जगह है। वह महान् से भी महान्, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, और दूर से भी दूर और समीप से भी समीप है; वही सबका आत्मा है और वही सबका अन्तिम आदर्श है। उसीके भीतर प्रत्येक जीव अणुतम रूपसे उदय होकर शनैः शनैः महत्ताको प्राप्त होकर तदाकार होकर शान्त हो जाता है। उसमें सारी सृष्टि बीज रूपसे सदा ही स्थित रहती है। उसके सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि जो कुछ भी जहाँ कहीं है वह वही है। यह सारा जगत् ब्रह्म का बृंहण मात्र है। तीनों जगत् (भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् अथवा पृथ्वी, आकाश और पाताल) ब्रह्मके भीतर ही स्थित हैं; जगत् में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है; ब्रह्म ही प्रत्येक पदार्थ के रूप में प्रकट हो रहा है। इस प्रकार प्रकट होना उसका स्वभाव ही है। किसी बाह्य कारण द्वारा ऐसा नहीं होता है। सारा सृष्टि-क्रम ब्रह्म के भीतर निमेष मात्र की क्रिया या स्पन्दन है। ब्रह्म स्वयं एक रूप है परन्तु उसमें अनेक रूपों में प्रकट होने का शक्ति और अनेक रूपों में प्रकट होते हुए भी ब्रह्म की एक रूपता में क्षति नहीं आती। नानाता एकता के भीतर है। ब्रह्म अपनी सत्ता मात्र से ही सृष्टि करता रहता है। वास्तव में उसकी सत्ता में किसी प्रकार का विकार नहीं आने पाता।

अनन्त प्रकार की सृष्टियाँ होते हुए भी ब्रह्म से अन्य संसार में कोई पदार्थ नहीं है। ब्रह्म से अभिन्न यहाँ कुछ नहीं है। प्रकृति और ब्रह्मका, मन और ब्रह्म का; जगत् और ब्रह्म का सदा ही तादात्म्य सम्बन्ध है।

ब्रह्म जगत् के बिना कभी नहीं रहता, सृष्टि न होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से जगत् ब्रह्म में रहता ही है। जगत् की सत्ता तो ब्रह्म ही की सत्ता है। सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है।

यदि सत् उसको कहते हैं जो सदा अपने रूप में स्थित रहे और असत् उसे कहते हैं जो कभी अनुभव में ही न आवे, अथवा यदि सत् वह है जिसका कभी नाश न हो और असत् वह है जिसकी कभी सत्ता ही न हो, तो जगत् को न सत् कह सकते हैं और न असत्, क्योंकि जगत् का नाश भी होता है और जगत् की सत्ता का भी अनुभव होता है। दूसरी रीति से, जगत् सत् भी है और असत् भी, क्योंकि वह देखने में भी आता है और नाशवान् भी है। जो वस्तु सत् भी हो और असत् भी; न सत् हो और न असत् हो, उसका नाम मिथ्या है। प्रायः जितने भ्रम होते हैं वे सब मिथ्या होते हैं। जगत् और उसके सभी पदार्थ इसी प्रकार मिथ्या और भ्रमात्मक हैं। भ्रम का ही नाम अविद्या है। उसी को माया भी कहते हैं। वास्तव में जगत् माया है (मा-या= जो है नहीं), अविद्या है (अ=न-विद्यते=जो है ही नहीं)। जगत् तभी तक अनुभव में आता है जब तक अज्ञान वश हमको इसके सत्य होने का भ्रम हो रहा है। जगत् की सत्ता मूर्खों के मन में ही है; ज्ञानियों के लिये यह सत्य नहीं है। सत्य पदार्थ के ज्ञान से उसमें उत्पन्न हुए भ्रम का नाश हो जाता है। अविद्या के लीन हो जाने पर जगत् का भ्रम आत्मा में ही लीन हो जाता है।

सब से ऊँची आध्यात्मिक दृष्टि वह है जिसमें यह समझ में आ जाये कि यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जगत् का न ब्रह्म में उदय होता है और न अस्त। जगत् न कभी उत्पन्न होता है और न लीन होता है। क्योंकि जो वस्तु सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकती और जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकती। ब्रह्म सदा ही ब्रह्म है; वह ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरी वस्तु कभी नहीं हो सकता। यदि यह कहो कि जगत् को ब्रह्म ने उत्पन्न किया है तो वह ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि पूर्ण और नित्य ब्रह्म क्यों अपूर्ण और अनित्य पदार्थों की उत्पत्ति करेगा। जगत् ब्रह्म का विकार है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म की जगत् में ऐसे परिणति नहीं होती जैसे कि दूध की दही में—ब्रह्म तो सदा ही अपने नित्य रूप में स्थित

रहता है। यदि उसमें परिणति होने लगे तो वह नित्य कैसे रहेगा? ब्रह्म को जगत् का बीज भी नहीं कह सकते, क्योंकि बीज से वृक्ष की उत्पत्ति बीज के नाम रूप नष्ट हो जाने पर होती है। ब्रह्म जगत् को उत्पादन करने में अपने स्वरूप का नाश नहीं करता। ब्रह्म और जगत् का कारण और कार्य का भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कार्यरूप में परिणत होने पर कारण को अपना पूर्व नाम और रूप खो देना पड़ता है। ब्रह्म का स्वरूप तो नित्य है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं माना जा सकता। इन सब विचारों से यह सिद्ध होता है कि जगत् कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ब्रह्म ने उत्पन्न की हो, या ब्रह्म का विकार हो, या ब्रह्म-का कार्य हो। ब्रह्म से अतिरिक्त या भिन्न जगत् नामक वस्तु नाममात्र को भी यहाँ मौजूद नहीं है; न उत्पन्न हुई है, और न उसके उत्पन्न होने की सम्भावना ही है। केवल एक ही बात जगत् के सम्बन्ध में कह सकते हैं। जगत् केवल एक भ्रम है जो कि ब्रह्म के आधार पर उत्पन्न होता और नष्ट होता रहता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। ब्रह्म ही जगत् के रूप में दिखाई पड़ रहा है। जबतक अज्ञान है तभी तक यह भ्रम है; ज्ञान के उदय होने पर यह भ्रम लुप्त हो जाता है। क्यों ब्रह्म में अज्ञान और तज्जन्य विवर्त हैं इसका उत्तर इसके सिवाय और कुछ नहीं है-कि यह ब्रह्म का स्वभाव ही है। ब्रह्म जगत् रूप से प्रकट होता ही रहता है। स्वयं ब्रह्म पूर्ण अविकारी है। जगत् की दृष्टि से ही वह विकारी दिखाई पड़ता है। ज्ञान होने पर न विवर्त रहता है और न यह भ्रम।

मनुष्य की ज्ञान-पिपासा तब तक पूर्णतया शान्त नहीं होती जब तक वह इस पूर्ण और उच्चतम दृष्टि को प्राप्त नहीं कर लेता। इसी प्रकार उसकी आनन्द प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक कि वह अपने वास्तविक स्वरूप में, जो कि पूर्ण ब्रह्म ही है, स्थित नहीं हो जाता। प्रायः सभी प्राणी आनन्द की खोज में रहते हैं; किन्तु अधिकतम प्राणी आनन्द से वञ्चित ही रहते हैं क्योंकि वे आनन्द की ऐसी जगह तलाश करते हैं जहाँ पर वह नहीं मिल सकता। विषयों के भोग में जहाँ पर कि सब लोग आनन्द को खोजते हैं— आनन्द का निवास नहीं है। विषयों के भोग तो दूर से देखने मात्र से ही आनन्ददायक प्रतीत होते हैं। वास्तव में वे आनन्ददायक नहीं हैं। जितने विषय सुख हैं वे सब दुःख में परिणत होनेवाले हैं। सारे विषय-

भोग इस रीति से असार हैं। उनमें आनन्द की खोज करना व्यर्थ है। संसार के सब विषयों के भोगों की प्राप्ति होने पर भी मनुष्य को सच्चे और दुःख-रहित आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। संसार के जितने सुख हैं वे विषयों की प्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न होनेवाली अशान्ति और दुःख का नाश होने पर आत्मा की निज रूप में शान्त स्थिति के नाम हैं। विषयों की प्राप्ति से उनकी प्राप्ति की इच्छा शान्त हो जाती है और उस इच्छा की पूर्ति न होने से जो बेचैनी रहती थी वह भी शान्त होकर आत्मा के स्वाभाविक आनन्द का क्षणिक अनुभव होता है। इसको मनुष्य अपने अज्ञान से विषय से उत्पन्न होनेवाला सुख समझने लगता है। यदि सुख विषय से मिलता तो फिर विषय की प्राप्ति और भोग पर तुरन्त ही वह दुःख में क्यों परिणत हो जाता? विषय तभी तक सुखदाई मालूम पड़ते हैं जब तक उनकी प्राप्ति नहीं होती। एक विषय के प्राप्त हो जाने पर दूसरे विषय की प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक इच्छा दुःख देनेवाली है। अपने नाश से ही वह सुख देती है। विषय की प्राप्ति इच्छा का नाश करती है। यदि हमारे मन में किसी भी विषय की इच्छा न हो और हम आत्मा में स्थित रहकर यथा प्राप्त कार्मो को और स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें तो हमको सदा ही अविच्छिन्न आनन्द का अनुभव होता रहेगा। संसार के सारे सुख आत्मानन्द के लेशमात्र भी नहीं हैं, क्योंकि वे सब अभावात्मक हैं और निजानन्द भावात्मक।

इस निजानन्द का पूर्णतया अनुभव तब तक नहीं होता जब तक कि जीव मुक्त नहीं हो जाता। बन्धन की अवस्था सुख-दुःख की अवस्था है। मोक्ष की अवस्था परम आनन्द की अवस्था है। अपने को ब्रह्म अनुभव करना मोक्ष है और शरीर, मन या जीव अनुभव करना बन्धन है। बन्धन को उत्पन्न करने और स्थिर रखने के ये कारण हैं:—(१) वासना, (२) अपने को परिमित समझना, (३) मिथ्या भावना, (४) आत्मा को भूल जाना, (५) अनात्म पदार्थों में अहंभावना और (६) अज्ञान। मोक्ष का अनुभव करने के लिए शरीर का त्याग करना आवश्यक नहीं है। शरीर सहित और शरीर बिना भी मोक्ष का अनुभव होता है; प्रथम सदेह मोक्ष (जीवन्मुक्ति) और दूसरा विदेह मोक्ष (विदेह-मुक्ति) कहलाता है। दोनों के अनुभव में कोई विशेष भेद नहीं है। मुक्ति जड़वत् स्थिति का नाम नहीं है। मुक्ति में चेतना की पराकाष्ठा

होती है। अचेतन स्थिति में आगे (भविष्य में) चेतन होनेवाली वास-नायें सोई रहती हैं। मुक्ति में आत्मा वासना-रहित हो जाता है।

मोक्ष की दशा को प्राप्त करने का कौनसा निश्चित और सच्चा उपाय है? योगवासिष्ठ के अनुसार ज्ञान के सिवाय मोक्षप्राप्ति का और दूसरा कोई उपाय नहीं है। आत्मज्ञान से मोक्ष का अनुभव उदय होता है। मोक्षप्राप्ति के निमित्त किसी देवी, देवता अथवा गुरु की उपासना करने की आवश्यकता नहीं है। समझदार मनुष्य को तो आत्मदेव के सिवाय किसी और दूसरे देवता की आराधना नहीं करनी चाहिये। कोई देवता या गुरु विचार-रहित पुरुष को आत्मज्ञान नहीं प्रदान कर सकता। आत्मज्ञान का उदय तो केवल आत्म-विचार से होता है। ईश्वर सब के हृदय में निवास करता है। भीतर के ईश्वर को छोड़कर जो लोग बाहर ईश्वर की खोज करते हैं वे मूर्ख हैं। ईश्वर की प्राप्ति ज्ञान से और आत्मपूजा से होती है। ज्ञानी लोग संसार में सब कर्मों को आत्मदेव को निवेदन करके आत्मदेव की पूजा करते हैं। आत्मा की प्राप्ति की इच्छा, आत्मा का वर्णन, आत्मा ही का ध्यान, आत्मा को ही सब कर्मों और भोगों का समर्पण—ये सब देवों के देव आत्मदेव के प्रसन्न करने की विधि हैं। मोक्षप्राप्ति के लिये संसार और कर्मों को त्यागने की भी आवश्यकता नहीं है।—क्योंकि जबतक संसार-भावना मन में है तबतक संसार से छुटकारा नहीं होता, और जबतक जीवपन, मनस्ता और शरीरभाव है तबतक धर्म करना ही पड़ता है। कर्म और पुरुष में भेद नहीं है। हमारा व्यक्तित्व कर्म ही से निर्मित है। जबतक व्यक्तित्व है कर्म होता ही रहेगा। मोक्ष दशा में कर्म के त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वासना और सङ्ग-रहित कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। अत-एव मोक्ष के लिये न किसी देवता की उपासना करनी है और न कर्मों का त्याग ही करना है। करना क्या है? आत्मज्ञान-प्राप्ति। वह होती है अपने ही पुरुषार्थ और विचार से। विचार तब होता है जब कि चित्त शुद्ध हो जाए। चित्त की शुद्धि शुभ कर्मों के करने से, साधुओं की सङ्गत से और शास्त्रों के अध्ययन से होती है। शास्त्रों के सिद्धान्तों के ऊपर विचार और मनन करने से वे समझ में आते हैं, और समझ में आनेपर उनका अपने अनुभव में साक्षात्कार किया जाता है। जबतक आत्मानुभव नहीं होता तबतक ज्ञान नहीं होता। शास्त्रादि तो सङ्केत मात्र हैं। ज्ञान तो अपने ही विचार और अनुभव से होता है।

केवल वाचिक और मानसिक निश्चय को ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान उसको कहते हैं जो जीवन के व्यहवार में आता हो। जिसका जीवन ज्ञानमय नहीं है, जो कहता कुछ है और करता कुछ है; जो ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानचर्चा रुपया पैसा और आदर-सम्मान ही प्राप्त करने के लिये करता है वह ज्ञानी नहीं है, ज्ञान-बन्धु है। ज्ञानी वही है जो अपने ज्ञान के अनुसार आचरण करता है; जो ज्ञान में स्थित रहता है और जो अपने ज्ञान को अनुभव करता है। ऐसी दशा नित्य के अभ्यास से प्राप्त होती है। सहसा नहीं आ जाती। इस प्रकार के अभ्यास का नाम योग है। योग द्वारा ही मनुष्य संसार से पार होता है। योगाभ्यास की तीन विशेष रीतियाँ हैं:—(१) एकतत्त्व का गहरा अभ्यास, (२) प्राणों की गति का निरोध और (३) मन का लय। एकतत्त्व का अभ्यास तीन प्रकार से होता है—(१) ब्रह्म की भावना से, (२) पदार्थों के अभाव की भावना से और (३) केवलीभाव से। प्राणों की गति का मन की गति से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि प्राण की गति रोक ली जाए तो मन की गति भी रुक जाती है। मन की गति के रुक जानेपर संसार का अनुभव क्षीण होकर आत्मा का अनुभव ही शेष रह जाता है। प्राणों की गति के रोकने के अनेक उपाय हैं जिनको किसी योग्य गुरु से सीखकर प्रयोग में लाना चाहिये। मन को विलीन करने की युक्ति आत्मा के अनुभव के प्राप्त कराने में सबसे सहल है। इसका अभ्यास आसानी से हो सकता है। मन संसारचक्र की नाभि है। जब मन वश में हो जाता है तब सारा संसार वश में हो जाता है; जब मन विलीन हो जाता है तब संसार भी ग़ायब हो जाता है। योगवासिष्ठ में मन के निरोध करने की अनेक युक्तियाँ बताई गई हैं; उनमें से कुछ ये हैं:—(१) ज्ञान द्वारा मन को असत्य और मिथ्या (भ्रम समझकर उसका परित्याग करना, (२) सङ्कल्पों का उच्छेदन करना, (३) विषयों के भोगों से विरक्त होना, (४ इन्द्रियों का निग्रह, (५) वासनाओं का परित्याग, (६) अहङ्कार का त्याग, (७) असङ्ग का अभ्यास, (८) समता का अभ्यास, (९) कर्तृत्वभाव का त्याग, (१०) मन से सब वस्तुओं का त्याग और (११) नित्य समाधि का अभ्यास। मन के विलीन होनेपर परम आनन्द का अनुभव होता है।

योगाभ्यास धीरे-धीरे और क्रमशः ही सिद्ध होता है। जानने वालों ने आत्मा का पूर्ण अनुभव होने तक इसकी सात भूमिकायें निश्चित की हैं। उनका वर्णन योगवासिष्ठ में कई स्थानों पर आया है।

वे सात भूमिकायें ये हैं :—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावना और (७) तुर्यगा। इन सातों भूमिकाओं को पार कर लेनेपर मुक्ति का अनुभव होता है जिसमें जीव के सब बन्धन कट जाते हैं।

जीव के बन्धन में से कर्म का बन्धन एक बड़ा भारी बन्धन है। जीव जैसा जैसा कर्म करता है उसका उसे अवश्य ही फल प्राप्त करना होता है। कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता, और प्रत्येक जीव को अपने किये हुए कर्म का फल भुगतने के लिये अपना व्यक्तित्व बनाये ही रखना पड़ता है। जबतक जीव जीव है और उसके मन में संसार के विषयों की वासना है, तबतक वह उनके प्राप्त करने का यत्न करता है। वह यत्न ही कर्म है। उस कर्म का फल अवश्य ही जीव को मिलता है। इस प्रकार जीव एक स्थिति से दूसरी स्थिति में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, और एक लोक से दूसरे लोक में भ्रमता रहता है। एक कर्म का जब फल पा लेता है तो दूसरा कर्म करने लगता है। बहुधा कर्म का फल तब मिलता है जब कि उसकी प्राप्ति की इच्छा भी नहीं रहती। उस समय हम यह अनुभव करते हैं कि वास्तव में कर्म-फल का नियम एक बहुत बड़ा बन्धन है। क्योंकि इच्छा न रहते हुए भी हमें बहुत से पदार्थों से बन्धना पड़ता है—यद्यपि ये वही पदार्थ हैं जिनके लिये कभी हमारे मन में प्रबल इच्छा थी और जिनकी प्राप्ति के लिये हमने कभी पूरा यत्न किया था। कर्म का बन्धन तभी आरम्भ हो जाता है जब कि जीव के हृदय में वासना का उदय होता है। वासना ही जीव को कर्म के फल से बान्धती है। यदि हम वासना रहित होकर कर्म करते रहें तो हमको उस कर्म के फल से नहीं बन्धना पड़ता। वासना रहित रह कर कर्म करते रहने से जीव के सब बन्धन कट जाते हैं, और उसका जीवत्व ब्रह्मत्व में परिणत हो जाता है। मुक्त पुरुष कर्म के बन्धन से पूर्णतया छूट जाता है।

आत्मा का अनुभव जब उदय हो जाता है तब अविद्या और मन आदि का अभाव हो जाता है। परम तृप्ति और परम आनन्द का ही भान रहता है। यह वह अनुभव है जिसका न तो वर्णन ही हो सकता है और न जिसकी किसी और अनुभव से उपमा ही दी जा सकती है। उसको वही समझ सकता है जिसको वह अनुभव हो चुका हो। जिसको क्षणभर के लिये भी अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति प्राप्त हो

गई है वह स्वर्ग के सुखों को भी उस अनुभव के आनन्द के सामने हेय समझने लगता है। क्योंकि आत्मा का जो स्वाभाविक आनन्द है, संसार के सब आनन्द उसकी कला मात्र हैं।

इस अनुभव और आनन्द में जो मनुष्य जीते जी ही स्थित हो जाते हैं और जिनके सब प्रकार के बन्धन कट जाते हैं उनको योग-वासिष्ठ में जीवन्मुक्त कहा गया है। जीवन्मुक्त के लक्षण विस्तारपूर्वक वर्णन किये जा चुके हैं। उनके यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि जीवन्मुक्त वह पुरुष है जिसने अपने ब्रह्मभाव को पूर्णतया जान लिया है और जिसका सारा ज्ञान, सारा व्यवहार, और सारे भाव उस उच्चतम दृष्टि से होते हैं। उसके लिये समस्त ब्रह्माण्ड उसका स्थान है; सारे प्राणी उसके बन्धु और आत्मा हैं। वह सब कामों को निरपेक्ष भाव से करता है; सब भोगों को वासना रहित होकर भोगता है; सब अवस्थाओं में आनन्द से परिपूर्ण रहता है। कभी मोह और अज्ञान के वश में नहीं होता। उसका जीवन परिपूर्ण, शान्त और दिव्य जीवन है। तीनों लोकों में उसके लिये न कुछ प्राप्य है और न कुछ त्याज्य है। वह महाकर्ता और महाभोक्ता है। संसार के सारे व्यवहार करते हुए भी वह नित्य समाधि में रहता है। वह भौतिक शरीर से न प्यार करता है और न घृणा। वह अपने शरीर को अपने वश में रखकर उससे लोकोपकार के काम करता है। जैसा-जैसा अवसर प्राप्त होता है उसके अनुसार वह व्यवहार करता है। प्राकृत व्यवहार से वह घृणा नहीं करता। बाहर से देखनेपर उसके और अज्ञानी के कामों में विशेष भेद नहीं जान पड़ता, पर आन्तरिक भेद बहुत रहता है। अज्ञानी की सभी क्रियायें वासना से प्रेरित होती हैं—जीवन्मुक्त की क्रियाएँ यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार, वासना से रहित होती हैं। जीवन्मुक्त के मन की दशा भी एक अद्भुत दशा होती है। उसमें किसी प्रकार की वासना और संकल्प विकल्प नहीं उठते।-वह सदा ही शान्त और सत्त्व रूप में रहता है। ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियाँ जीवन्मुक्त की सेवा और रक्षा किया करती हैं; और उसका जीवन एक दिव्य और ज्योतिर्मय जीवन हो जाता है—जिसके स्पर्श में आते ही दूसरे लोगों का कल्याण हो जाता है। प्रारब्ध कर्म द्वारा प्राप्त भौतिक शरीर को समय आनेपर छोड़कर जीवन्मुक्त का किसी शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता; वह सब प्रकार से

ब्रह्ममय हो जाता है। पूर्ण से पूर्ण स्थिति का अनुभव करता है। वह समस्त ब्रह्माण्ड के साथ एकता का अनुभव करने लगता है, और उसका व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। इस अवस्था का नाम विदेह मुक्ति अथवा निर्वाण है। जीव का यही अन्तिम ध्येय है।

श्री योगवासिष्ठ महारामायण के दार्शनिक सिद्धान्तों को लेखक ने अपनी बुद्धि के अनुसार पाठकों के सामने विस्तारपूर्वक तथा संक्षेपतः रखने का प्रयत्न कर दिया। इस सिद्धान्त को पढ़ते समय विद्वान् पाठकों के मन में बहुधा यह बात आई होगी कि इस प्रकार के सिद्धान्त भारतवर्ष के अनेक प्राचीन ग्रन्थों—उपनिषत्, भगवद्गीता, पुराण और दर्शनों में भी पाये जाते हैं। यही नहीं, इस प्रकार के विचार माध्यमिक और विज्ञानवादी बौद्धदर्शन, मध्यकालीन सन्तों की वाणी और मुसलमानों के तसव्वुफ़ (सूफ़ीमत) और ईसाइयों के सन्तों के उपदेशों में भी मिलते हैं। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भी इस प्रकार के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। आजकल के दर्शन और विज्ञान तो स्पष्टतया हमको वसिष्ठजी के सिद्धान्तों की ओर ही ले जाते हुए जान पड़ते हैं (इस विचार की पुष्टि लेखक ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ "योगवासिष्ठ ऐण्ड मोडर्न थॉट" में की है)। लेखक ने इस प्रकार का तुलनात्मक विवरण यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं किया। दूसरे भाग में इस प्रकार का अध्ययन पाठकों के सामने रखकर योगवासिष्ठ के इस कथन की पुष्टि की जायेगी कि—

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।
इदं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः॥" (३।८।१२)

जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे और और ग्रन्थों में भी मिलेंगी। जो इसमें नहीं हैं वे कहीं नहीं मिलेंगी। विद्वान लोग इसको सब विज्ञान-शास्त्रों का कोश समझते हैं।

तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् यह भी आवश्यक है कि हम योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों को निष्पक्ष भाव से समालोचक की दृष्टि से देखकर यह निश्चित करें कि ये सिद्धान्त कहाँ तक युक्तियुक्त हैं, क्योंकि वसिष्ठजी ने स्वयं हमको यह शिक्षा दी है कि—

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥

योऽस्मात्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः ।
त्यक्त्वा गाङ्गं पुरस्थं तं को नाशास्त्यतिरागिणम् ॥
अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥ (२।१८।३,४,२)

युक्तियुक्त बात तो बालक की भी मान लेनी चाहिये; लेकिन युक्ति से च्युत बात को तृण के समान त्याग देनी चाहिये, चाहे वह ब्रह्मा ने ही क्यों न कही हो। जो अतिरागवाला पुरुष अपने पास मौजूद रहते हुये गङ्गाजल को छोड़कर कूँवें का जल इसलिये पीता है कि यह कूँवाँ मेरे पिता का है, वह सबका गुलाम है। जो न्याय के भक्त हैं उनको चाहिये कि जो शास्त्र युक्तियुक्त और ज्ञान की वृद्धि करनेवाला है उसको ही ग्रहण करें, चाहे वह किसी साधारण मनुष्य ही का बनाया हुआ क्यों न हो; और जो शास्त्र ऐसा नहीं है उसको तृण के समान फेंक दें, चाहे वह किसी ऋषि का बनाया हुआ ही हो।

इस प्रकार के समालोचनात्मक अध्ययन के लिये भी यहाँ पर स्थान नहीं है, यह भी दूसरे भाग का विषय होगा (जो पाठक अंग्रेजी भाषा से भलीभाँति परिचित हों वे इस सम्बन्ध में हमारी अंग्रेजी पुस्तक "दी फिलासोफी ऑफ़ दी योगवासिष्ठ" का अन्तिम अध्याय पढ़ लें)। अब तो हम इस भाग को यहीं समाप्त करके ईश्वर से प्रार्थना करते हैं :—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वस्सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वस्सर्वत्र नन्दतु ॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥

सब लोग कष्टों को पार करें, सब लोग भलाई ही देखें, सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, सब सर्वत्र प्रसन्न रहें। दुर्जन सज्जन बन जावें, सज्जन शान्ति प्राप्त करें, शान्त लोग बन्धनों से मुक्त हों, तथा मुक्त लोग औरों को मुक्त करें।

इति ।

अनुक्रमणिका



लेखक की योगवासिष्ठ सम्बन्धी पुस्तकों पर विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं की कुछ सम्मतियाँ:—

Prof. Dr. Th. Stcherbatsky (Leningrad) :—

"A very thorough investigation imbibed with a real scientific spirit and conducted in accordance with the methods of modern criticism...a work that tends to the advancement of our knowledge...Prof. Atreya has brought the problem (of the date of the *Yogavasistha*) very near to its final solution...Prof. Atreya deserves the highest praise for introducing into his exposition numerous and various references to European philosophy."

Prof. A Berriedale Keith (Edinburgh) :—

"It seems clear that you have proved it to be before Śankara's date, and there seems to be a good case for placing it before Bhartṛhari...Despite the appearance of Prof. Das Gupta's Second volume I have no doubt that your contribution to the study of Yogavasistha has much value."

Prof. Dr. Schrader (Kiel) :—

"I became acquainted with Yogavasistha when I was in Adyar, and I have always since been wondering that Indologists did not seem to care for it..... ..I am inclined to congratulate you on your having proved that Yogavasistha is earlier than Śankara and possibly even Gaudapada. When this will have been generally admitted the interest in that much neglected work (neglected, at least, by orientalists) is bound to grow immensely."

Prof. Winternitz (Prague) :—

"The arguments for your date of the *Yogavasistha* are certainly deserving of most earnest consideration......Your discovery of the source of some of the Minor Upanishads seems to me very important."

Dr. Gualtherus H. Mees (Leyden) :—

"I am most happy that this one of the most profound and exalted books of the world has been taken to hand so thoroughly and in such a scientific maner."

Prof. Jules Bloch (Paris) :—

"Your exposition is as lucid as it is thorough".

Prof. W. Stede (London) :—

"I sincerely appreciate these lofty truths and see in them an invaluable help for the improvement of the affairs of our so called civilised world."

Prof. H. von Glassenapp (Koenigsberg) :—

"Your valuable work I have read with the greatest interest."

Prof. L. D. Barnett (London) :

"It is very interesting."

Prof. Turner (London) :

"It is indeed most encouraging to find that Indian philosophy (in which India has made perhaps a greater contribution to mankind than in anything else) receives so much cultivation and that too in the most fitting home, the University of Benares. With best wishes for the prosecution of your researches."

Sadhu Kripanand (America) :—

"I congratulate you for the splendid and monumental work entitled *Yogavasistha and its Philosophy.* You have won the sublime approbation of the civilised world, and I do most forcibly review your book in the columns of *"The Atlantic Monthly"* of Boston and *"The Pan-Pacific Progress"* of Mass. Only people of your stamp could interpret the sublime works of the Rishis."

Dr. Keval Motwani (U. S. A.) :—

"Your effort to elucidate the hidden and the subtle philosophy of *Yogavasistha,* to give it a modern garb, and to place it alongside the philosophical thought of today, is highly commendable and deserves gratitude. I am one of those who believe that our ancient philosophers, seers and sages did probe very

deeply the mysteries of God, nature and man and their contributions, when relieved of the technical and the philological debris that has accumulated around them as a result of time and arid erudition, will stand shoulder to shoulder with the contributions of the great seers and sages of other countries and secure for them a place in the valhalla of immortality. Every one of our young luminaries who can participate in this work of interpretation places his readers and his countrymen under a deep debt of gratitude. I am greatly struck with the rich variety of material contained in the *Yogavasistha*, and with your laborious research in finding parallel passages in the writings of modern philosophers. May *Yogavasistha* and you receive the recognition which you both richly deserve. I shall look forward with interest to your further works on the subject."

Paul Brunton :—

"I have just completed writing an article on your book, and I have done my best to give it a highly favourable commendation to Western readers............I consider it ought to be brought to wider notice."

Dr. Sir Radhakrishnan :—

"He gives an admirable account of the main ideas of the system and his comparisons with western views are as a rule stimulating. The range of the author is as wide as his judgement is measured. Dr. Atreya's work is certain to rank among the dependable English treatises on Samskrit philosophical classics."

Prof. S. N. Dasgupta (Calcutta) :—

"It is a very elaborate work which testifies to the great industry of the writer in going carefully through the problems of Yogavasistha and of arranging them in a modern form... There is no doubt that the writer bestowed immense time and labour in digesting the material of this great work and in attempting to give it a modern shape. He also gave a very lucid and clear exposition of the general position of Yogavasistha Philosophy."

Dr. Bhagavan Das :—

"Your judicious and excellently classified selection of verses from the vast original, printed under significant headings which briefly but clearly indicate the essential meaning of what follows, will, I feel sure, facilitate the study of this important work and make it more widely known."

Prof. B. P. Adhikari (Benares) :—

"Has done here something which is not known to have been attempted hitherto by any writer with such thoroughness ....I cannot but admire the degree of perseverence with which this has been done and the extent of studies undertaken for the purpose......... .. ..In the actual presentation of the position......... the author.........evinces a thoroughness which is simply admirable...........He displays, throughout the work, a deep analytic penetration into and a thorough intelligent grasp of the thoughts dispersed in the original work ....The exposition is on the whole simple and direct,"...........“The concluding chapter is devoted to the discussion of some of the most important problems of the present day philosophy of the West and the place the Yoga-vasistha can occupy in connection with them .. ..Has made out a case for this position on the problems, which is thought-provoking and deserves due consideration from any thinker."

Principal Gopi Nath Kavirai (Benares) :—

"I have glanced through the pages of Prof. Atreya's "Vasistha Darshanam." The arrangement of the Sanskrit text in the way it has been done will prove highly useful, not only to the students of the particular work, but also to all who are interested in the history of Indian Philosophy in general.........Certainly a distinct service to the cause of Indian Philosophy." (8-11-27).

A. B. Dhruva (Ex-Pro : Vice-Chancellor, Benares Hindu University) :—

"I commend to every earnest student of Vedanta this book of selections from the *Yogavasistha* which has been carefully

and lovingly gathered and classified by my friend Dr. B. L. Atreya."

Dr. Ganga Nath Jha (in the *Leader*, Allahabad) :—

"The *Yogavasistha 'Ramayana'* is one of those works in Sanskrit which deserves most to be read, and yet is the least read by students of Sanskrit literature. It is a work wherein philosophy has been brought down as near as possible to practical life...The *Yogavasistha* embodies within itself the quest of a bewildered soul—that of Rama, the ideal man, faced by practical problems of life—as met by Vasistha, his guide, philosopher and friend. The book under review is an attempt,—and a fairly successful attempt,—at bringing within easy reach of the modern student, just those teachings that allayed the striving heart of Sri Ramachandra..................The work is a comprehensive one: dealing with the entire field of Indian philosophy...It has to be confessed that the outlook of the work is mainly, if not entirely, *Vedantic* ; but that is as much to say that it represents the essence of Indian philosophy. Like all roads leading to Rome, all principle '*Darshanas*' lead but to one Goal, the *Universal Absolute*, which is attainable only by the path of *Universal Brotherhood*. And herein lies the value of Prof. Atreya's work at the present moment, when in India, and in the world at large, every individual and every community is trying to trangle the other......The professor deserves to be congratulated on having presented to us the main teachings of the great text in a readable and understandable form."

Prof. V. Subrahmanya Iyer (Mysore) :—

"You have done splendid research work in a very important field of Indian thought. My most hearty congratulations to you."

Prof. V. Subrahmanya Iyer (Mysore) :—

"The valuable work you have been doing in the field of Indian Philosophy...Your researches in the teachings of Yogavasistha are of *first rate* importance. Your new publication, *Yogavasistha & Modern Thought*" is another piece of work not less valuable. It also bears the impression of a wide range

of study combined with equally critical thinking. The parallels you have quoted reveal not only your extensive knowledge of Western and Eastern thinkers of eminence, but also your great insight".

Prof. Ranade (Allahabad) :—

"I am sure the book will be widely appreciated".

Dr. Girindra Shikhar Bose (Calcutta) :—

"I found it extremely interesting. You have a remarkable gift of clear exposition and you write from deep appreciation... The probable date of composition of the present work has been very likely correctly fixed by you".

Dr. G. Bose (Calcutta) :—

"Dr. B. L. Atreya, M. A., D. Litt., has been a keen student of Yogavasistha Ramayana for several years past and to him belongs the credit of drawing the attention of modern scholars to the great worth of this book. The original work is a voluminous one and in preparing an abridged edition Dr. Atreya has done a great service to students of indology and Indian Philosophy. He has discussed the different aspects of this great work in an extremely lucid manner and has shown wonderful judgment in his selection of material. The work teems with passages which may truly be called literary gems. The philosophy of Vasistha is the well known Vedantic Monism but the way of approach is something quite original. It has a freshness which is charming. Prof. Atreya's "Vasistha darshanam" will be undoubtedly recognised as the best introduction to "Yogavasistha Ramayana."

Prof. Hiriyanna (Mysore) :—

"Your account of the work is very interesting and you have made it clear that it deserves to be closely studied by all students of Indian Philosophy."

Dr. J. N. Sinha (Meerut) :—

"Nothing is more gratifying to me than to find that the Banaras Hindu University is doing something to spread the light of Hindu culture. Such an intensive study of a particular aspect of Indian Philosophy and its intepretation in terms of

modern concepts of philosophy is the thing most needed in India today. Please accept my hearty congratulations on your achievement."

Principal Pramath Nath Tarkabhushana (Benares) :—

"He has rendered a valuable service to the thinkers of Hindu Philosophy."

Dr. Naga Raja Śarma (in the *Hindu*, Madras) :—

"Dr. B. L. Atreya has made a laudable effort to push into the focus of modern philosophical thought the truths embodied in *Yogavasistha*."

Prof. N. G. Damle (Poona) :—

"I have liked your book so much".

Prof. P. M. Bhambhani (Agra) :—

"It is an excellent piece of literature and forms a very valuable addition to it."

Prof. Shiva Prasad Bhattacharya (Calcutta) :—

"I congratulate you heartily for the really admirable presentation of the many of the prominent philosophical doctries of the Yogavasistha".

Janakdhari Prasad (Muzaffarpur) :

"Your book has given me a new insight of life and I hava found peace, solace and rest which I could not succeed in getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. Yogavasistha in original was in itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling. Your book has cleared up everything and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude. May I make one request ? Will you bring out a Hindi Edition of the book for the understanding of those who do not know English ? It is clear that it was the teaching of Yogavasistha which made India so great. We are now fallen because we have quite forgotten it. May this book of yours infuse a new life into the decaying nerves of India ? Every step should be taken to popularise this teaching."

M. K. Acharya *in The Federated India*, (**Madras**) :—

"In the present pamphlet an attempt is made to point out "the agreement of the East and the West on fundemental problems." The author has selected some forty-three of such problems...and under each heading he has given the teachings of *Yogavasistha* along with the conclusions or findings of some great modern writer or journal on the subject. He has drawn from over eighty modern thinkers to corroborate the findings of *Yogavasistha* of old. A recognition of this truth that the greatest minds in every age have come particularly to the same conclusions on the higher problems of life should go towards building a common World-Culture which, as Dr. Atreya says, "is the crying need of the times."

P. C. Divanji (**Jalgaon**) :—

"I was very much pleased to find that you were able to lay your hands on the works of a host of leaders of modern thought for the purpose of showing that Western science has now advanced so much as to enable the thinkers of the West to meet those of the East on a common platform to discuss the nature of the absolute..................Your work is an eloquent testimony of your firm determination to raise the *Yogavasistha* in the eyes of the intelligentia of the world and the possession by you of the inexhaustible fund of energy for the realisation of that ideal.

Prof. Phani Bhushan Adhikari (**Benares**) :—

"The pains the candidate appears to have so carefully taken in this work of compilation and the analytic judgement he has displayed in the selection of relevant texts and in their classification according to topics, evince by themselves the importance of the undertaking. This Sanskrit part of the thesis can by itself form a separate and independent book bearing on the philosophical position of Yogavasistha, which may be utilised with facility by scholars who would like to refer to the original sources on points of interest. The candidate has, in my opinion, done here something which has a value of its own."

Principal Gopinath Kaviraj (Benares) :—

"An attempt, made perhaps for the first time in the history of the work, to sum up the philosophical teachings of the Yogavasisth Ramayana in a consistent and systematic manner. The earlier attempts of Abhinand (900 A. D.) and Mahidhara (1690) and others did not claim to be any more than abridged redactions of the text, but to Professor Atreya belongs the credit of presenting briefly the philosophy of this unique treatise in the language of the original text, with the topics arranged in logical sequence....It is unfortunate that a work of such monumental grandeur (the *Yogavasistha*), the like of which is hardly to be met with even in Sanskrit literature, should have been allowed to remain obscure and neglected so long. It is hoped that interest in the study of Yogavasistha will again be revived and that the present booklet will serve as an humble introduction to this study."

Mr. P. C. Divanji (Jalgaon) :—

"Your study of the work is very comprehensive and many sided ; . . . . I have a profound regard for your intelligence, patience and industry."

Mr. B. Subba Rao (Kanara) :—

"It is a book containing highly inspiring selected thoughts which every one should ponder over in everyday life."

R. V. Subrahmanyam (Tirupattur) :—

"I congratulate you on your splendid and original contribution on *Yogavasistha*—a rare Sanskrit work and not handled by any scholar upto date."

Mr. R. V. Subrahmania Iyer (Tirupattur) :—

"It is a piece of original research and you have thrown much light on what is altogether a closed book to many modern students of philosophy and religion."

Pt. Ram Narayan Misra (Benares) :—

"Your attempt to bring the East and the West together is laudable. The book is inspiring."

The Leader **(Allahabad) :—**

"The author has really rendered valuable service by presenting in a simple, yet scientific way, the essence of a philosophical thought as contained in the extensive and voluminous work known as *Yogavasistha.*

The Leader **(Allahabad) :—**

"This is a comparative, critical and synthetic survey of the philosophical ideas of Vasistha as presented in the *Yogavasistha Maharamayana* ...... The author has shown by his original researches that the *Yogavasistha* existed before the time of Shankara and Gaudapada .... The author must be congratulated on his able presentation of the details of Vasistha's philosophy in a systematic and coherent manner .,.. He has not only pointed out similarities in the thoughts of other thinkers, ancient and modern, Indian and Western but also has brilliantly summed up the salient features of this philosophy. There is a chapter at the end dealing with the critical estimate of the philosophical position of Vasistha ...... Every library worth the name ought to have a copy of this book."

The Hindu **(Madras) :—**

"Dr. Atreya......is to be congratulated on making available to the English knowing render so comprehensive an account of a work which has hardly received from modern scholars the attention that it reserves............. The volume is divided into two main sections. The first of them deals with general points touching the work. like its date and place in the philosophical literature of India; and the second, which is by far the bigger. is devoted entirely to an elucidation of its teaching.. Dr. Atreya, with his intimate knowledge of the work, has succeeded in giving us a full and connected account of it. He writes in a simple and interesting manner; and his exposition is interspersed throughout with free renderings into English of passages from the original. These passages are printed in Deva Nagari characters at the foot of the page for ready reference. Another noteworthy feature of the exposition is the comparison he now and then

institutes between Vasistha's teachings and the views of modern thinkers. The printing and the get-up of the book, are excellent."

The Theosophy in India (**Benares**) :—

"The *Yogavasistha* is a very important book, but its philosophy is somewhat difficult, so that writers on Indian philosophy give it scant attention. Dr. Atreya has made a special study of it and tries to make it popular by placing the fruits of his labour in easy manuals before the public. The author's researches on this book have necessitated modification of certain opinions held by western Orientalists, and this is high praise of his work......All the works of this writer are written in a popular style. He is doing a great service to the country by making the philosophy of the *Yogavasistha* available to the public in simple and short form. We would recommend all the books of this writer on *Yogavasistha* to our readers."

The Vaitarani (**Cuttack**) :—

"It is an excellent specimen of lucid exposition............ Such contributions, it is hoped, will soon be classed according to Ruskin amongst the books for all times."

The Hindustan Times (**Delhi**) :—

"Yogavasistha is a very important field of Indian mataphysics, and any scientific research in it naturally requires a good deal of sustained effort......Dr. Atreya has treated his subject in the true spirit sf a scholar.

The Madras Mail :—

"Dr. Atreya...is deservedly proud that he has been the first to give the rightful place that that work (the *Yogavasistha*) deserves. The range of the author's knowledge is wide and his judgements are tendentious. The book has the merit of making comparison between Eastern and Western philosophy and this work is proud to rank as a first rate work in English among other philosophical classics."

The Parasaki Magazine, **(Bangalore)** :—

"Dr. B. L. Atreya has won for himself an undying reputation for making a most brilliant contribution satisfying all canons of true scientific spirit and modern criticism, upon a very important but least known section of Indian Philosophical and Religious literature "*Yoga Vasistha*" by presenting in an illuminating manner the essence of the reputed system of thought in a series of books of which three are already published and the other two are in preparation. A careful perusal of its Contents and the Bibliography reveals the author's phenomenal industry and unflagging enthusiasm to dispel from the reader's mind the erroneous belief that "the East is East and the West is West and never the twain shall meet" and seeks to impress unequivocally the cardinal Principle that in the world's Great plan, East and West, past or present, nay future too, do not differ fundamentally in their outlook and visualisation of a common World Culture towards which some of the International movements are aiming......I have no hesitation in saying that this book and indeed all his books deserve to be classed according to Ruskin as "the Books for all Times."

The Federated India **(Madras)** :—

"A most valuable contribution to a study of ancient Indian philosophical systems—very valuable both to the general study of Indian thought, and to the specialist interested in the evolution of the Advaita system."

The United India and Indian States **(Delhi)** :—

"The writer claims, and with considerable justification, that he has been the first to draw the attention of modern scholars to the unique position of *Yogavasistha* which has made a unique and important contribution not only to Indian wisdom, but to the thought of the world as well."

The Young Builder **(Karachi)** :—"An excellent introduction to the study of Yogavasistha."

Prof. Shyama Charan (Agra):—

"The other day...I came across your book "The Philosophy of the *Yogavasistha*"...All the Philosophies, Mysticisms, Occultisms and Yogas are there—well classified and presented in an orderly sequence".

Prof. Khitish Chandra Chakravarty (Katmandu):—

"......Prof. Atreya has, in a finely analytical and scientifically accurate manner, here, laid bare the truths of the highest human philosophy for the modern English-knowing reader, who must admire the true spirit of research that permeates his whole work. The book, a monument of devoted and learned industry, is the best, reliable and thoroughgoing English treatise, I have yet seen, in the realm of Indian Idealistic interpretation of the Philosophy of Religion. It opened up before my wondering gaze a new and pleasant vista uniting the Eastern and Western modes of approach to the Truth of life; and......I have every reason to congratulate the modern *savant* on his splendid success and service done to the cause of the revival of ancient Indian Learning and Wisdom at this proper hour."

Durlabhram Jyestharam Bhatt (Ahmedabad):—

"I have no words to thank you and to admire your labours. How can I praise your efforts? Yogavasistha was for me like a dense and thick forest with no roads and paths in it. You are a man who has surveyed the whole forest, cut paths and roads on it......I have found greatest solace in your books in my old age. Now I am reading Yogavasistha again through the specks of your efforts...I am confident that you are a fit man to stand in the line of Sir Radhakrishnan and Dasgupta".

The Divine Life—October 1939—(Rishikesh):—

"Prof. Sri B. L. Atreya is the ornament of the Banaras Hindu University. He is spending his leizure hours in the research on this mighty work (*Yogavasistha*). He has already published several books on this subject. All his books will certainly adorn a library. He has done incalculable good to the philosophical world. May he live long and continue his noble research work in philosophy and religion".

Seth Amb l l Sarabhai (Ahmedabad) :—

"I have been wanting to write to you to tell you that I derived great pleasure and benefit by reading your *Philosophy of Yogavasistha.* I believe that you can just be proud of your study of the subject and the manner in which you have summarised and presented the philosophy of Vasistha. I have been studying Philosophy and Religion for the last few years. It has been my good fortune to read several books on the subject, and I consider your *Philosophy of Yogavasistha* to be one of the best......In your book I find what I want in brief and concise manner. I often feel that most writers do not do credit to the intelligence of the readers. You cannot be blamed for doing so in your *Philosophy of Yogavasistha.*"

Dr. P. Narasimhayya (Delhi) :—

"I have recently read your books and articles with real interest. Especially your *Yogavasistha* is a pioneering and real contribution to Indian Philosophical literature."

Dr. V. S. Srouthulu (Kaja, Kistan Dst.) :—

"I had the fortune to have a copy of "The Philosophy of the Yogavasistha" from a friend of mine. It is with utmost zeal and interest that I have gone through it. I am very much pleased and immensely benefited. How ably you have dealt with the subject, and in how nice a manner you have presented it to the modern world, leading it to the cultural heights with the most sublime philosophy of the Yoga Vasistha in all its entirety. You have fulfilled a longfelt need of the many, who with a sincere hankering after knowledge had been looking forward for Vasistha Darshana, to have a clearer understanding of the dynamics of the Mind, a chosen subject of Swami Rama Tirthaji. Many of the eminent Orientalists and writers on Philosophy have enriched themselves and their works on the darshanic lore of Yogavasistha, yet all of them have failed to correctly express it. You alone have the good fortune. I offer my sincerest thanks to you for all that you have done in this respect. Yogi Vasistha is speaking through you. I feel you are the embodiment of Truth and Knowledge Absolute".

Captain D. Mansingh (Jhansi):—

"These days I am studying your "Philosophy of the Yoga-vasistha" .... This is our most wonderful book; one of the best books I have ever read."

P. K. Gode, ex. Editor, "Review of Philosophy and Religion" in *the Oriental Literary Digest*:—

"As Sir Radhakrishnan observes in his foreword to the volume under review, Dr. Atreya's work will help to correct the defect noticeable in the recent historical accounts of Indian philosophy which hardly do justice to the importance of the *Yogavasistha*, as he gives an "admirable account of the main ideas of the system and his comparisons with western views are as a rule stimulating". "The range of the author is as wide as his judgment is measured. Dr. Atreya's work is certain to rank among the dependable English treatises on Sanskrit philosophical classics" .. The analysis of the subject-matter of the *Yogavasistha* and its synthesis in Part IV of Book II of the present volume reminds us of Deussen's analysis and synthesis of the *magnum opus* of Sri Shankaracharya, viz., the *Shankara-Bhashya* .... Dr. Atreya's critical estimate of the philosophical position of the *Yogavasistha* is quite artistic and "measured", not to say "dependable", as Sir Radhakrishnan puts it....In fact, the last two chapters should be read by all lovers of Indian Philosophy, as they contain in a nut-shell everything that a general student of Philosophy is expected to know. It is difficult to do full justice in this brief notice to the varied contents of the *Yogavasistha* or its present analysis and synthesis by Dr. Atreya, who has devoted a major part of his life to these studies. Dr. Atreya has done well in creating our interest in the study of this remarkable book and its doctrines, and hence deserves our best thanks for this labour of love."

Janakdhari Prasad, Esq. (Muzaffarpur):—

"Your book has given me a new insight of life and I have found peace, solace and rest which I could not succeed in

getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. *Yogavasistha* in original was itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling. Your book has cleared up everythiug, and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude."

Swami Narayanananda (Calcutta):—

"No doubt, you have taken much pain in bringing out this present volume of *the Philosophy of the Yogavasistha* in an adequate and efficient form, as to suit the taste of the modern man successfully. Surely it is the blessing of the Lord that has enabled you, as you put it, to deal with the work skilfully, we want men like you to bring forth from every nook and corner of Hinduism all hidden treasures and broadcast them all over the world for the welfare of the whole humanity. I sincerely wish your earnest work will meet with full success."

Swami Sivananda Rishikesh:—

"This is a splendid research work. It is a valuable companion for a student of Vedanta. The exposition is lucid."

K. K. Murti, Esq.:—

"I feel quite incompetent to express my proud feelings of high respect for "Yogavasistha" as presented by you with comparative modern views on every problem of life, besides the critical, analytical and synthetic survey."

Swami Bhumanand (Kamakhya):—

"I am highly pleased or rather glad to get your publications on *Yogavasistha*. You are the first man I see who had read the beok or rather studied it so carefully and critically."

Sri Hanuman Prasad Poddar (editor, Kalyana, Gorakhpur):—

"Your noble work is bound to meet appreciation at every quarter which it so nobly deserves......Your contibution to the cause of *Yogavasistha* will create a landmark in the history of Indian Philosophy and your name will go down in history as an npholder of a cause which forms really the corner stone of Hindu philosophy and Hindu culture. You are heartily to be

congratulated for your intense passion for this most monumental but most neglected piece of spiritual encyclopedia."

Rohini Prasad Pant (Gyaneswar. Nepal):—

"*The Philosophy of the Yogavasistha*, an ever-lasting service to the country."

Nagin (Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry):—

"Please note that your book "The Philosophy of Yoga-vasistha" is much read here. I could get it for my reading two months after you sent it to me. Many people are still very eager to read it now."

Sri Ramana Maharishi (Tiruvannamalai):—

"In this particular field of philosophy your services have elicited universal appreciation."

A. G. Bhatt (Ahmedabad):—

"I have no words to express my sincere admiration of your excellent work, "The Philosophy of Yogavasistha." As a Professor of Sanskrit, teaehing various systems of Philosophy to my students, I have found your work of immense value to me. In fact, I should like to keep your book as my constant guide and companion."

Piara Mall (Amritsar):—

"The more I read your exposition of the Yogavasistha the more I admire you".

Dr. D. Appalanarasayya (Salur, Vizagapatam):—

"Your Philosophy of the Yogavasistha...is so wonderfully interesting that I have been reading some pages from it almost daily".

Dr. R.D. Khan (Solan):—

"I have read with great pleasure and profit your great and excellent work, "The philosophy of the Yogavasistha".

"I have been a student of philosophy for the last forty years. As a student I sat at the feet of Ladd, Royce, Munsterberg and Hocking in America and Windelband, Falckenberg and Rudolf Eucken in Germany.

I feel it my duty as a student of the philosophic history of India to say a few words in appreciation of your monu. mental work.

"To read your work is to read the entire history of modern Western thought as well as the ancient Indian thought. The chief merit of your work, as far as I can judge, is this. You have been quite successful in your comparison of the thoughts of the Yogavasistha with those of the Western thinkers and other great Indian thinkers. In another direction also your achievement is quite unique. To have been able to find the exact equivalents of the Sanskrit technical terms in English is a great credit not only to your intelligence and scholarship but to your wide acquaintance with and your sympathetic understanding of the thoughts of others.

"Certainly the author of the Yogavasistha was one of the greatest minds that the world has ever produced and requires a long focal distance to be seen. His massive intellect has hardly any parallel in the long history of human thought .....The author of the Yogavasistha was a mystic of unering vision and soaring imagination and has vastly enriched the storehouse of human knowledge by offering us some of the most original and boldest views on life that are rarely to be met with in the thought and speculations of all the great system builders of the East and the West put together.

"In a sense your work on Yogavasistha is a more valuable contribution to the present day philosophical thought than the volumes on Indian philosophy by Prof. Radhakrishnan...Such a work as yours was greatly needed and you have rendered a great service to the cause of philosophy by bringing the views of Yogavasistha within the easy reach of modern students of Eastern and Western thought. It has a colour and worth all its own. What Tilak has done for the Gita, Ranade for the Upanishads, M. N. Sarkar for the Vedanta, and Nath for the Chaitanya Charitamrita, you have done for the Yogavasistha. But more credit is due to you in as much as you have proceeded

to your task almost unaided and independent, as an explorer in an unknown region and untrodden field.

"I do highly commend your intelligent scholarship and your calm and penetrating insight into the larger philosophical issues. I have a decided respect for your intellectual honesty and balanced judgment.

"I congratulate you heartily on your wholehearted devotion to the *Yogavasistha* and your signal success as a critic and expounder of this greatest of all philosophical classics".

Chandra Mohan Nath Chak (Fyzabad) —

"I enjoyed it thoroughly, and learnt a great deal from it. I owe you a great debt of gratitude for introducing me to this great work".

Brahma Shum Sher Jang Bahadur Rana (Babar, Mahal Nepal):

"Your works give in a comparatively short and lucid form the great and immortal teachings of one great Rishis (Prophets). They are no doubt a valuable contribution and help to the students and aspirants of the modern age, Please accept my congratulations".

"I have heard much about you and the valuable work you and Sir Radhakrishnan are doing for the revival of our great cultural (Hindu) heritage".

Miss E. V. James (Meerut):—

"I have really no words to express my grateful appreciation. I am so very interested in your book that I have to force myself to direct my attention to my work".

Madan Bihari, Advocate, (Motihari):—

"Needless to say your contributions, specially on Yogavasistha, are obviously enriching the world spiritually".

The Hindustan Times (Delhi):—

"*Yogavasistha* is a very important field of Indian metaphysics, and any scientific research in it natually requires a good deal of sustained effort......Dr. Atreya has treated his subject in the true spirit of a scholar."

Dr. K. C. Varadachari (Tirupati) :—

"I shall prize it highly as a work of great importance for Indian Idealism".

Pro. A. C. Mukerjee (Allahabad) :—

"I had a mind to tell you something about your exeellent book "*Yogavasistha and Its Philosophy*"......You know I have a very strong rationalistic prejudice....When I read your book, I was naturally glad to find in a student of mine a rationalistic tendency of equal strength. What surprised me all the more was Vasistha's rationalism as discovered by you; and thought that Vasistha's position should be known to a wider publio in view of the current notion that Vedantism in India has always stood on a dogmatic foundation. Your small volume...... abounds in materials that, as far as I can see, might easily be moulded into a rationalistic system of philosophy which will effectively dissipate the prevailing impression on the foundation of Indian monism. And, I believe, you are the best person to undertake the work."

P. Viranjaniyulu (Kanchakacherla, Kistna Dst.) :—

"I studied the whole book and found it very instructive. The researches you have made on the stupendous and voluminous work which was very long neglected are very laudable and no amount of appreciation can repay the labour and intelligence you spent in presenting the book to the Ehglish reading public."

The Parasakti Magazine (Bangalore) :—

"Dr. B. L. Atreya has won for himself an undying reputation for making a most brilliant contribution satisfying all canons of true scientific spirit and modern criticism, upon a very important but least known section of Indian Philosophical and Religious literature "*Yoga Vasistha*" by presenting in an illuminating manner the essence of the reputed system of thought in a series of books of which three are already published and the other two are in preparation. A careful perusal of its Contents and the Bibliography reveals the author's phenomenal

industry and unflagging enthusiasm to dispel from the reader's mind the erroneous belief that "the East is East and the West is West and never the twain shall meet" and seeks to impress unequivocally the cardinal Principle that in the world's great plan, East and West, past or present, nay future too, do not differ fundamentally in their outlook and visualisation of a common World Culture towards which some of the international movements are aiming.........I have no hesitation in saying that this book and indeed all his books deserve to be classed according to Ruskin as "the Books for all Times." "

Y. Subrahmanya Sarma, Editor, Adhyatma Prakasa (Holenarsipur) :—

"I have now gone through your excellent work *Sri Vasistha-darshanam* and also *Sri Yogavasistha-sara.* It is an admirable synopsis and a very valuable exhibition of the spiritual gems found in the voluminous work in Sanskrit".

Sri Satyacharan Mukerjee (Konnagar, Hooghly) :—

"I am an ardent devotee of *Yogavasistha*...Your first class selection and excellent classification are helping me a great deal in wading through the big sheet of *Yogavasistha* waters."

5. Yogavasistha aur uske Siddhanta (*Hindi*)

Sri Hanuman Prasad Poddar: (Editor, (*Kalyan*) Gorakhpur :—

"I am very grateful to you for your valuable gift of the "Yogavasistha aur uske Siddhanta"......Your contribution to the cultural history of India is remarkable. My very hearty congratulations to you."

Seth Narayan Das Bajoria (Calcutta) :—

"You have indeed rendered a signal service to the cause of Indian philosophy by your very laborious and enthusiastic study of the great book of our Rishis."

B. Subba Rao Esq. (Mudbidri) :—

"I am glad to see that the book has been neatly printed and is really charming to see; the paper used and the cover

also being satisfactory, so much so that I can say that it is just like our Adyar Theosophical Publications, and therefore the price is not high."

Sri Lalit Mohan Garg (Bangarmau, Unao) :—

"May I take this opportunity of expressing my gratitude to you for popularising this classic work of the Hindus and bringing it in a form which would suit the man of today and making the message of it within the means of every body".

Dr. R.D. Khan (Solan) :—

"The more I read your Hindi Yogavasistha the more I wonder how it was possible for you to produce such a remarkable work."

"Whenever I read your Yogavasistha in Hindi I feel that it would have been impossible for any modern student to understand *Yogavasistha* without the help of your excellent work. I am personally very grateful to you since you have made it possible for me to come into contact with one of the greatest minds of the world. My only desire is to see your *Yogavasistha* in the hands of every man and woman of our land".

"We can now burn all our libraries for their value is in this single book. May your immortal work bring peace and comfort to thousands of our countrymen."

6. *The Elements of Indian Logic*

Prof. A. B. Keith (Edinburgh) :—

"It seems to me to be a very simple and straight-forward presentation of the essentials of the topic, and it will, I trust, serve the useful purpose of giving beginners a sound elementary basis on which they may proceed to enlarge their knowledge of the classical form of Indian logic."

Prof. H. von Glasenapp (Konigsberg) :—

"It is very useful and I shall make use of it for my lectures and recommend it to my students."

His Holiness

The Jagatguru Sri Sankaracharya Swamigal Mutt of

SRI KANCHI KAMAKOTI PITHA.

"श्रीमता अद्वैतमतप्रतिपादकेषु ग्रन्थेषु अत्युत्तमतया परिगणिते योगवासिष्ठग्रन्थे तदीयमार्मिकभावोद्घाटनार्थं यत्परिश्रान्तं यच्च ग्रन्थान्तरैस्साकं तुलनादिकं कृतम्, तेनात्यीव सन्तुष्यत्यस्माकं चेतः। एतावत्पर्यन्तं भारतीयैर्वैदेशिकैर्वा विपश्चिद्भिर्विशेषेण अपरिक्षुण्णेऽस्मिन् पथि विचरतोऽपि भवतः प्राचीनाद्दत्तात्पथः न मनागपि च्युतिरासीत् इत्येतदस्मिन् ग्रन्थे दृष्ट्वा विशेषेण सन्तुष्यामः। पश्यन्तो वयमनेनोत्तमोत्तमेन भवतः परिश्रमेण महान्तमुपकारं दार्शनिकानां विशेषतोऽद्वैतिनां भवतः परमस्य श्रेयसः प्राप्त्य पुनर्नारायणस्मृतिं कुर्मः। प्रार्थयामश्च भगवन्तं चन्द्रमौलीश्वरं एतादृशस्य विद्याभिवर्धककार्यस्याभिवृद्धये भवतश्चिरजीवित्वादिसमग्रसाधनसम्पत्सम्पादनेन भवन्तमनुगृह्णात्विति—"

श्री प्रमथनाथतर्कभूषणशर्म्मणः (Director of Sanskrit Studies, College of Oriental Learning, Banaras Hindu University :—

"अस्मिन् खलु निबन्धे योगवासिष्ठीयाद्वैतवादस्य श्रीमद्भगवत्पादशङ्कराविर्भावात्प्रागपि विद्यमानत्वं तथा नितरां वैलक्षण्यं सम्प्रति प्रचलदद्वैतवादात् संस्थापयितुं श्रीमता भवता या युक्तयः सप्रमाणाः समुद्भाविताः, ताः प्रायेण अकाट्यत्वात् विद्वज्जनसम्मताश्चेति निःसंकोचं वक्तुमुत्सहे। योगवासिष्ठीयदर्शनस्य दुर्लभ्यानि बहूनि तत्त्वानि स्फुटीकुर्वता भवता भारतीयदार्शनिकेषु ऐतिहासिकेषु च निबन्धेषु सम्यक्पर्यालोचनपाटवं सुमहच्च पाण्डित्यं सर्वथा व्यवस्थापितं सहृदयेषु समभिज्ञेषु। भवत्प्रणीतोऽयं निबन्धः नवोदितप्रदीपकल्पो भारतीयप्राचीनदर्शनमहाटवीप्रदेशे निगूढमहार्हरत्नविशेषसंदर्शनसाहाय्यसम्पादनेनानुशीलनपराणां विदुषां महान्तमुपकारं विधास्यतीति मे सुदृढो निश्चय इति।"

पं० बालकृष्ण मिश्रः (प्रिंसिपल, संस्कृत कालिज, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) :—

"आत्रेयोपनाम्ना डाक्टर श्री भीखनलालशर्मणा एम० ए० महोदयेन परिश्रमानुसारि प्रकाशितं वासिष्ठदर्शनमेतत्कालोचितमालोचनरूपेण दृष्टा सम्यगवलोकयन्। अत्र विषयबाहुल्यप्रयुक्ते गरिमाणे सत्यपि योगवासिष्ठग्रन्थेन प्रतिपादितानामियता संक्षिप्तरूपेण संग्रहः कलशे सागरानयनं विडम्बयति। विषयाणां विनियोगः स्थापनक्रमश्च चारुतमतामञ्चति। मुद्रणप्रकारोऽपि

श्लाघनीयतामश्नुते। तदिदं स्तुत्यं कार्यं विपश्चितां पुरस्तादुपस्थापितमेतेन, स्वकीयनैपुण्यपरिचयोऽपि प्रदत्तः। इदमहं विश्वसिमि यत्पुस्तकमिदं वेदान्तविद्यानुरागविवशीकृतमनसां विदुषामन्तःसन्तोषमाधातुमिष्टे।"

राजा सूर्यपालसिंह जी (आवागढ़):—

"हमको 'योगवासिष्ठ एण्ड मौडर्न थॉट' नामकी किताब पढ़कर बड़ा सन्तोष और आनन्द हुआ और यह भरोसा हो गया है कि हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा हिन्दू धर्म का रक्षण और हिन्दू जाति का कल्याण अवश्य होगा! ...... सम्पादक जी के उपकार के उपलक्ष में उनके चरणों की भेंट हम मु० १००१) भेजते हैं। उनके अमूल्य ग्रन्थ की किञ्चित् मात्र यह भेंट बराबर नहीं है, किन्तु अंग्रेज़ी पढ़े लिखों का इस ओर ध्यान आकर्षित करने में अगर सहायता दे सके तो हम अपना कर्तव्य पूरा हुआ समझेंगे।"

श्री विष्णुराम गिरधरलाल सनावद्या (नीमाड़) :—

" "श्री वासिष्ठदर्शनसार" को मैंने बड़े ही ध्यान पूर्वक आद्योपान्त पढ़ा। आपने गागर में सागर समाने का अच्छा प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। पुस्तक की छपाई सफाई तो बहुत ही उत्तम है। आप की अनुवादिक भाषा बड़ी सरल एवं सुबोध है...... 'योगवासिष्ठ' जैसे संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम अध्यात्म-ग्रन्थ का गूढ़-रहस्य आपने १६० श्लोकों में सफलतापूर्वक समझाने का प्रयास किया, इस कठिन प्रयास के हेतु आप धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तिका अध्यात्म विषय प्रेमियों को अधिक रुचिकर होगी।"

प्रताप (कानपुर) :—

"श्री योगवासिष्ठ-महारामायण संस्कृत साहित्य में संसार का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ बहुत बृहत् है इसमें ३२००० श्लोक हैं।......... प्रस्तुत पुस्तिका के संग्रहकर्ता ने इसी बृहत् अध्यात्म ग्रन्थ के २५०० चुने हुए श्लोकों को लेकर 'वासिष्ठदर्शन' नामक एक क्रमबद्ध संग्रह तैयार किया है। यह पुस्तिका हिन्दी अनुवाद सहित उसी संग्रह का १६० श्लोकों में सार है। विद्वान् संग्रहकर्ताने को शिश की है कि इतने ही श्लोकों में योगवासिष्ठ के सारे सिद्धान्त आ जाये। अनुवाद की भाषा बहुत सरल और स्पष्ट है। इस छोटी पुस्तिका के पढ़ने से श्री योगवासिष्ठ का निचोड़ सर्व साधारण के सामने आ जायगा। पुस्तिका की छपाई सफाई भी अच्छी है।"

Phulchand Murarka, Esq., (Tulsihatta, Maldah):—

"आप की हिन्दी "योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त" नामक पुस्तक पढ़ रहा हूँ। पुस्तक क्या है मानो ज्ञान रूपी समुद्र का आनन्द रूपी रत्न है। ऐसे अमूल्य रत्न को संसार के सामने रखकर आपने मानव मात्र का जो उपकार किया है उसका वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ। धन्य हैं आप। विश्व मानव की मुक्ति के लिये इस अमूल्य ग्रन्थ के जोड़ की दूसरी कोई पुस्तक नहीं है।"

Guru Narayan Shorawala, Esq., (Etawah):—

"आपने अपना बनाया हुआ योगवासिष्ठ की टीका (योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त) देकर मुझे दीवाना बना दिया। अब इस दास की यह हालत है :—"ज़ाहिर में गो कि बैठा लोगों के दरम्यां हूँ। पर यह खबर नहीं है, मैं कौन हूँ और कहां हूँ"। इन्हीं कारणों से मैं आपको अपना गुरु स्वीकार करता हूँ। क्योंकि आपने मेरे साथ वह उपकार किया है जो मुझको शेष का मुख मिलने पर भी उस उपकार का बदला नहीं दिया जा सकता; 'ज्ञान के अञ्जन की आंखों में सलाई फेर दी। कौन दे सकता है निर्भय गुरुकृपा का बदला।" मैंने वेदान्त के निम्न लिखित ग्रन्थ पढ़े हैं। बल्कि बहुत से ग्रंथ और भी पढ़े हैं जिनका नाम इस समय याद नहीं पड़ता और लाइब्रेरी की जो सूची है—जिसमें १००० के करीब पुस्तकें हैं—सो इतनी बड़ी सूची को देख कर जो वेदान्त के ग्रंथ पढ़े हैं उनके नाम लिखना मैं जरूरी नहीं समझता :—दसों बड़े उपनिषद्, १०८ छोटे उपनिषद्, गीतायें—जो कि अनेक तरह की भगवद्गीता को छोड़कर छपी हैं वे सब, श्रीमद्भगवद्गीता के सब भाष्य जो आज तक भाषाटीका सहित छपे हैं जैसे शाङ्कर भाष्य, रामानुज भाष्य, मधुसूदन भाष्य, स्वामी चिद्घनानन्द का भाष्य, नारायण स्वामी का भाष्य, ज्ञानेश्वरी भाष्य इत्यादि, ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य, ब्रह्मसूत्र प्रभुदयाल कृत रामानुजभाष्य, पञ्चदशी वृत्तिप्रभाकर व विचार सागर स्वामी निश्चलदास कृत, तत्त्वानुसन्धान विचार दीपक, विचार पर स्वामी ब्रह्मनाथ की लिखी पुस्तक योगवासिष्ठ के ६ प्रकरण—बम्बई छापा व नवलकिशोर छापा केवल भाषा में प्रश्नोत्तरी बाबा नगीनासिंह के सब उर्दू के ग्रन्थ, स्वामी रामतीर्थ के सब ग्रन्थ, स्वामी निर्भयानन्द के सब ग्रन्थ, इनके अलावा बहुत से ग्रन्थ हिन्दी उर्दू में—परन्तु न मालूम अब तक मुझे इतना अनुभव क्यों नहीं हुआ था जो आप के योगवासिष्ठ भाष्य के पढ़ने से एक दम हो गया। अब तो यही हालत है—"या

निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।" ये तमाम बातें हृदय खोल कर आप के सामने इस कारण रखनी पड़ीं कि मैं आपको अपना गुरु मान चुका हूँ और पूर्ण आशा ही नहीं वरन् दृढ़ विश्वास है कि आप मुझको अपने शिष्यों में स्वीकार करेंगे।"

The Hindustan (New Delhi) :—

लेखक ने दर्शनशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें अंग्रेज़ी और संस्कृत में कोई डेढ़ दर्जन लिखी हैं, लेकिन हिन्दी में लिखने का यह पहिला ही प्रयास है और उसमें उन्हें पूरी सफलता प्राप्त हुई है। दर्शन सरीखे रूखे विषय को भी उन्होंने इतना सरल बना दिया है कि पाठक कथा कहानी की तरह उसे पढ़ सकता है। ········दर्शनशास्त्र के प्रेमियों के लिये पुस्तक बहुत काम की है। संस्कृत ज्ञान रहित व्यक्ति भी इसके स्वाध्याय से योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का पूरा परिचय प्राप्त कर सकता है। श्री आत्रेय जीने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी भाषी जनता पर एक उपकार कर उसके ज्ञान की भी वृद्धि की है।

संन्यासी श्रीरामआश्रम आतुर (भवाना, मेरठ)

हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक श्रीमान् प्रोफेसर पं० भीखनलाल जी, एम० ए०, डी० लिट्०, ने संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध योगवासिष्ठ नामक महान् वेदान्त ग्रन्थ का एक "योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त" नाम से सारभूत (संक्षिप्त) ग्रंथ लिखा है। वास्तव में प्रोफेसर साहब के इस बड़े उद्योग ने गागर में सागर भरने का काम किया है। विषयों का चुनाव इस प्रशंसनीय ढङ्ग से किया है कि जिसने इस छोटी सी पुस्तक द्वारा उस महान् ग्रन्थ को हस्तामलकवत् बना दिया है। इस ग्रंथ को आद्योपान्त पढ़कर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि जिस योगवासिष्ठ ग्रंथ रूपी हीरेका, बहुत काल तक अज्ञान मतों में पड़े रहने के कारण मैल चढ़ जाने से, असली रूप धुंधला गया था उसको नवीन विचार रूपी शान पर चढ़ाकर चमकदार ज्ञान हीरा बना दिया है। आप ने केवल योगवासिष्ठ का संक्षेप मात्र लिखकर ही लोकोपकार नहीं किया, अपि तु उन २ अकाट्य प्रमाणों द्वारा और अनथक परिश्रम तथा अन्वेषण द्वारा जो उक्तग्रन्थ की ऐतिहासिक प्राचीनता सिद्ध की है इसके लिये भी संस्कृत साहित्य तथा हिन्दू जाति आपकी चिरऋणी रहेगी।

सनातनधर्म (काशी) :—

"हाल ही में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक डॉ० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्०, ने योगवासिष्ठ पर विशेष चिन्तन और मनन करके हिन्दी भाषा-भाषियों के लिये श्री योगवासिष्ठ के ३२००० श्लोकोंका सार १५० श्लोकों में निकाल कर रख दिया है। यह प्रयास सचमुच ही गागर में सागर रखने का है। ......आशा करते हैं कि हिन्दी जानने वाले इस श्री वासिष्ठ दर्शनसारका उचित आदर और स्वागत करेंगे। प्रत्येक धार्मिक पुरुष और स्त्रीके लिये यह अत्यन्त अमूल्य निधि है।"

हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पादक कल्याण, गोरखपुर)।

"योगवासिष्ठ को प्रकाश में लाकर तथा उसके दार्शनिक उच्च सिद्धान्तों को जनता के सम्मुख रखकर, विशेषतः विदेशी विद्वानों की आँखें खोलकर, आपने भारतीय गौरव और आदर्शका मुख उज्ज्वल किया है। वस्तुतः इस दिशा में यदि आप प्रयत्नशील नहीं होते तो अभी बहुत दिनों तक यह ग्रन्थरत्न अन्धकार में ही पड़ा रहता तथा भारतवर्ष और बाहर के लोग इसके विषय में सर्वथा अनभिज्ञ होते। भारतीय संस्कृति के इतिहासको गौरव प्रदान कर आप कोटि कोटि हृदयों के धन्यवाद के पात्र हैं।"

नारायण स्वामी (सुजानगढ़) :—

आप की पुस्तक निरन्तर देख रहा हूँ। दो बार देख चुका हूँ, किन्तु जब कभी भी इसको उठाता हूँ तो कोई न कोई नवीन आदेश प्राप्त हो जाता है। इस अद्भुत ग्रन्थ को छोड़ने को जी नहीं चाहता ... स्वामी रामतीर्थ ने मुजफ्फर नगर के ऑनरेरी लाला निहालचन्द से कहा था कि योगवासिष्ठ का एक पुस्तक लाला इसी जिले में होगा। यह बात उन्होंने किशनगढ़ के एक विद्यार्थी से भी कही थी। वह विद्यार्थी आज ६०-६५ वर्ष का है एवं जोधपुर में प्रसिद्ध सर्जन है। उसने स्वामी रामतीर्थ की वाणी का पात्र मुझे घोषित कर दिया था किन्तु उसका भ्रम दूर हटाने को मैंने आज उसे पत्र लिखकर असली ऋषिका 'जुडा' का पता लिख दिया है।"



लेखक की योगवासिष्ठ-सम्बन्धी पुस्तकें

1. Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy
2. Yogavāsiṣṭha and Modern Thought
3. The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
4. An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
5. Deification of Man
6. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत) (With English Introduction)
7. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत)
8. वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी)
9. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (हिन्दी)
10. वासिष्ठयोगः (संस्कृत)

